कबीर-कोश

सम्पादक
आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
डॉ० महेन्द्र

स्मृति प्रकाशन
१२४, शहराराबाग, इलाहाबाद–२११००३

प्रस्तावना



कवीर साहव की अनगढ़ तथा अटपटी वानियाँ दीर्घकाल तक या तो कवीर-पंथियों अथवा संत मतावलंवियों के सीमित दायरे में श्रद्धा-पूर्वक दुहरायी जाती रहीं या लोक-कंठों में निवास करती रहीं। देश के कोने-कोने में स्थित तीर्थों तथा धार्मिक मेलों में रमते-विचरते संत-साधुओं ने इनके मौखिक प्रचार-प्रसार में उल्लेखनीय योगदान दिया और धीरे-धीरे ये लोकप्रिय वन गईं। भारतीय मनीषा और विद्वत्मंडली ने इनकी ओर तव तक ध्यान नहीं दिया जव तक विदेशी विद्वानों ने इनका संकलन कर इन पर अपना मत अथवा विचार प्रकट करना आरंभ नहीं कर दिया। परन्तु मौखिक परंपरा में प्रचलित होने के कारण इनकी विभिन्न पाठ-परंपराएँ संकलित हुईं जिनमें पाठ-भेद का होना अनिवार्य था। फिर भाषा संवंधी कठिनाई के साथ-साथ गायकों और संकलन-कर्त्ताओं की अपनी-अपनी सीमाएँ तथा मर्यादाएँ थीं। फलस्वरूप उनमें यदा-कदा विकृतियाँ भी क्रमशः प्रवेश पा गईं।

भारतीय धर्म-साधना के अंग और अवयव परिचित होने पर भी उनकी विधि तथा क्रिया-प्रणालियाँ उनके अनुयायियों तक ही ज्ञात अथवा सीमावद्ध रहीं। उनके लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के अर्थ-वोध सर्व-सुलभ नहीं रहे। फिर एक ही शब्द, संदर्भ तथा सांप्रदायिक मान्यताओं के अनुसार विविध अर्थों में व्यवहृत होता रहा। इसलिए इनका ठीक-ठीक अर्थ लगा पाना सवके लिए सव समय संभव नहीं हो पाता। फलस्वरूप इनकी टीकाओं तक में इतना अंतर पाया जाता है।

कवीर-साहित्य का अध्ययन करते समय मुझे एक ऐसे पारिभाषिक कोश की आवश्यकता अनुभव हुई थी जिनकी सहायता से कवीर साहव के अंतर-भावों तथा सूक्ष्म विचारों को हृदयंगम किया जा सके। परंतु इसे पूरा करने में कई प्रकार की वाधाएँ तथा कठिनाइयाँ थीं। उन्हें जिस सीमा तक दूर किया जा सका है उसी के अनुरूप यह 'कवीर-कोश' है। इसलिए इसके सर्वांगपूर्ण होने का दावा नहीं है। इस दिशा में प्रयास करने वालों को यदि यह यत्किंचित् प्रेरणा प्रदान कर सका तो इसकी सार्थकता सिद्ध होगी। इसे तैयार करने में मुख्यतः सभा-संस्करण को ही आधार वनाया गया है और अन्य संस्करणों से अपेक्षित सहायता ली गई है। वास्तव में संत-साहित्य जीवंत साहित्य है और 'कवीर-कोश' संत-साहित्य की कुंजी है।

ह कार्य काय-क्लेशादि के कारण धीरे-धीरे चलता रहा और एक सिलसिले में
किया जा सका। कभी-कभी तो इसका पूरा होना तक संदिग्ध बन जाता रहा।
रे अनुज श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी के अदम्य उत्साह से आज यह संभव हुआ कि
कोश' प्रकाशित होने जा रहा है। डॉ० भोलानाथ तिवारी की प्रेरणा से यदि इस
ां० महेन्द्र ने मनोयोगपूर्वक इस श्रम-साध्य कार्य को पूरा करने में हाथ न बँटाया
ो यह अधूरा काम कदाचित् इतनी जल्दी पूरा न हो पाता। इसलिए इन्हें मैं
धन्यवाद देता हूँ और इनके उज्ज्वल भविष्य के लिए अपनी शुभ कामनाएँ प्रकट
हूँ।

परशुराम चतुर्वेदी

ा

ावरात्रि

२०२९ विक्रमी

संकेत

पु०	—	पुंलिंग
सं०	—	संज्ञा
सा०	—	साखी
र०	—	रमैनी
प०	—	पद
वी०	—	वीजक
पा०	—	पाठान्तर
नो०	—	नोट
टि०	—	टिप्पणी
वा०	—	वाराखड़ी
दे०	—	देखिए
उ०	—	उदाहरण
वि०	—	विशेषण
(सं०)	—	संस्कृत
स्त्री०	—	स्त्रीलिंग
क्रि०	—	क्रिया
स०	—	सकर्मक
अ०	—	अकर्मक
प्रा०	—	प्राकृत
हि०	—	हिन्दी
अव्य०	—	अव्यय
फा०	—	फारसी
अनु०	—	अनुकरणात्मक
प्रत्य०	—	प्रत्यय
देश०	—	देशज
√	—	व्युत्पत्ति निर्देशक
यौ०	—	यौगिक
(अ०)	—	अरबी
चौं०	—	चौंतीसी
सर्व०	—	सर्वनाम
मुहा०	—	मुहावरा

अ

अंक—सं० पु० (सं०)—अंग, अँकवार में। उ० अंक भरे भरि भेटिया, मन मैं नांहीं धीर। (सा० ५–२५–१)।

अंकमाल—सं० पु० (सं०)—आलिंगन करके। अंकमाल दे भेटिये, मांनों मिले गोपाल। (सा० ३०–६–२)।

अंकार—दे० 'उंकार'। ओम् शब्द। (र० १–टि० ७)।

अंकुर—सं० पु० (सं०) अँखुआ, कोंपल। उ० ग्यांन अंकुर न ऊगई, भावै निज प्रमोध। (सा०–२०–२०–२)।

अंकुस—सं० पु० (सं० अंकुश)–(१) रोक, दबाव। उ० अब न कोई तेरै अंकुस लावै। (प० १४६-१)।
(२) गजबाग। उ० जबहीं चालै पीठि दै, अंकुस दे दे फेरि। (सा० १३-१६-२)

अंखियन—दे० 'अंखियां' आँखों में (पा० सा० २–३६–१)।

अंखियां—सं० स्त्री० (सं० अक्षि, प्रा० अक्खि, हि० आँख)—नेत्र। उ० मेरी अंखियां जान सुजांन भई। (प० ३०४-१)

अंग—सं० पु० (सं०)—(१) शरीर, अंश। उ० भीजि गया सब अंग। (सा० १–३३–२)।
(२) भेद, प्रकार, लक्षण। उ० विपिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह। (सा० २६–१–२)।

अंगा—अंगों में। उ० चोवा चंदन चरचत अंगा। (प० ६३–५)।

अंगि—शरीर में। उ० अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूंटि। (सा० १-८-२)

अंगनां—सं० पु० (सं० अङ्गण)–आंगन। उ० घर अंगनां फिरि आवै। (प० २०७-३)।

अंगना—(पा० प० १५-६)।

अंगहि—दे० 'अंग'। अंग को। (पा० प० १६०-८)।

अंगहि–उ० अंगहि अंग न छुवांऊँ। (प० २३१-७)

अँगार—दे० 'अंगार'। उ० ऊँ नभि दिखाई बादली, वर्षण लगे अँगार। (सा० ५१-२-१)।

अंगार—सं० पु० (सं०)—आग, चिनगारी, दुःख। उ० धवणि धवंती रहि गई, बुझि गये अंगार। (सा० ४६-२१-१)।

अंगारे—सं० पु० (सं० अंगार)—दहकता कोयला। उ० चकवा वैसि अंगारे निगलैं, समंद अकासां धावा। (प० १२-८)।

अंगारै—(पा० प० ११४-८)।

अंगिया–क्रि० स० (सं० अंग, हि० अंगेरना) –अंगीकार कर लिया, सह लिया। उ० दो जग तौ हम अंगिया, यहु डर नाहीं मुझ। (सा० ११-७-१)।

अंगीठ—सं० पु० (सं० अग्नि + स्था = ठहरना)—आतिसदान, बोरसी। उ० जे सिर राखौं आपणां, तौ पर सिरिज अंगीठ। (सा० १३-६-२)।

अंगुरी–सं० स्त्री० (सं० अंगुलि)–उँगली। उ० कर पकरैं अंगुरी गिनैं, मन धावै चहुँ वोर। (सा० २४-२-१)।

अंच–दे० 'असंच'। (सा० ५०-१२-१)।

अंचलि–सं० पु० (सं० अंचल)—आँचल, पल्ला। उ० तव अंचलि किस कै लागेगा। (प० २४४-५)।

'-क्रि०अ० (सं० आचमन, हि० अँच-
ा)—आचमन करता है। (पा० प०
{२-१३) ।
ा—सं०पु०(सं०)-सुरमा, काजल। उ०
तन मंजन करै ठगौरी। (प० १३६-७)
नी—सं० स्त्री० (सं०)-माया। (बी०
।-६-१) ।
री—सं०स्त्री० (सं०अञ्जलि)-अंजलि,
रमित। उ० जल अंजुरी जीवन जैसा,
का है किसा भरोसा। (प० २६६-२१)
—सं० पु० (सं०)-(१) ब्रह्मांड, विश्व।
० मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल
कासां जोइ। (सा० १३-६-२) ।
२) अंडा, अंडज। (बी०र० ३-४) ।
णीं—सं० स्त्री० (सं० अणि, हि० अनी)
नोक। उ० साध सती अरु सूर का, अंणीं
ऊपिला खेल। (सा० ४५-३२-२) ।
—सं० पु० (सं०)-समाप्ति, अवसान।
उ० तौ मुख तैं मोती झड़ैं, हीरे अंत
ा पार। (सा० ३४-८-२) ।
तकालि—दे० 'अंतिकालि'। (पा० सा०
१५-४१-२) ।
तर—(१) सं० पु० (सं० अंतर)-हृदय,
अंतःकरण। उ० तिनसूं अंतर खोलि।
(सा० १२-५०-२) ।
(२) क्रि० वि० (सं० अंतर)-अंदर,
भीतर। (बी० र० २-१)।
तरगति—सं० स्त्री० (सं० अन्तर्गति)-
अभिलाषा, भावना। (पा०प० १७०-२)
ंतरजांमीं-वि० (सं० अन्तर्यामिन्)-मन
की बात जानने वाला।(पा०प० १७-२)
ंतरजोति-सं० स्त्री० (सं० अन्तर्ज्योति)
-प्रत्येक चेतन अन्तरात्मा। (बी०र०१-१)
ंतरा—(१) सं० पु० (सं० अंतराल)—
विघ्न, बाधा। उ०हरि बिचि घालै अंतरा,
माया बड़ी बिसास। (सा० १६-५-२)।
अंतरा—(२) क्रि० वि० (सं० अन्तर)—
भीतर, मध्य, निकट। उ० द्वादस गम
के अंतरा, तहाँ अमृत कौं ग्रास। (प०
१८-५) ।
अंतरि—क्रि०वि० (सं० अन्तर)—भीतर,
अन्दर। उ० अंतरि भीगी आत्मां, हरी
भई बनराइ। (सा० १-३४-२) ।
अंतरिछ—सं० पु०—(सं० अंतरिक्ष)—
आकाश। (बी० र० ५५-५) ।
अंतरै—क्रि० वि० (सं० अंतर)—भीतर,
अन्दर। उ० गंग जमुन उर अंतरै, सहज
सुंनि ल्यौ घाट। (सा० १०-३-१) ।
अंतहकरन—सं० पु० (सं० अंतःकरण)—
संकल्प, विकल्प, निश्चय आदि करने
वाली भीतरी इंद्रिय। (सा० १५-२-
नो० ३) ।
अंति—दे० 'अंत'। अवसान, आखीर।
उ० आदि अंति सब सोधिया, दूजा
देखौं काल। (सा० २-५-२) ।
अंतिकाल—दे० 'अंतिकालि'। (पा० र०
१५-४) ।
अंतिकालि—सं० पु० (सं० अंतकाल)—
अंतिम समय, मृत्यु के समय। उ०
अंतिकालि सिरि पोटली, ले जात न
देख्या कोई। (प० २६६-१२) ।
अंतिरु—यौ० (सं० अंत+और)—अंत
और। उ० रहिस्यूं अंतिरु आदि।
(सा० ३१-६-२) ।
अंतु—दे० 'अंत'। (पा० प० १५५-१४)
अंते—क्रि० वि० (सं० अन्यत्र, हि०
अनत)—और जगह। (बी०र० १५-२)
अंतैं—दे० 'अंत'। अंत में, अवसान में,
आखीर में भी। उ० आदैं गगनां अंतैं
गगनां, मधे गगनां माईं। (प० ४४-६)।

अंतै—(पा० प० १६४-७)।

अंदेस—सं० पु० (फ़ा० अंदेशा)—संशय, खटका, भय। उ० कलंक उतारी केसवा, भांनौं भरंम अंदेस। (सा० ५६-४-२)।

अंदेसड़ा—खटका, चिंता। उ० अंदेसड़ा न भाजिसी, संदेसी कहियां। (सा० ३-६-१)।

अंदेसा—चिंता, संदेह, संशय। उ० चली चलां सबको कहै, मोहि अंदेसा और। (सा० १४-४-१)।

अंदेह—दे० 'अदेह'। (पा० प० १३-३)।

अँदोह—सं० पु० (फ़ा०)—शोक। उ० जिहि घरि जिता बँधावणां, तिहिं घरि तिता अँदोह। (सा० १६-२८-२)।

अंध—सं० पु० (सं०)—अंधा। (पा० प० ६७-५)।

अंध अँधेरा—वि० (सं० अंध+अंधेरा) नितान्त अंधकारमय। उ० संसार अंध अँधेरा। (प० २३८-४)।

अंधकूप—सं०पु०(सं०)—घना अंधकार। उ० रजनी अंधकूप ह्वै आई। (र० ३-२१)।

अंधरा—सं० पु० (सं० अंधा)—अंधा। (पा० प० १५७-६)।

अँधरे—वि० (सं० अंध, हि० अंधा) —मन ने, अंधे ने। (बी० र०५३-७)।

अंधरे कौं—सं० पु० (सं० अंध)—अंधे को। उ० पांणी में अगनि जरै, अंधरै कौं सूझै। (प० १६०-२)।

अंधरैं—अंधे को। (पा० प० २३-८)।

अंधला—वि० (सं० अंध)—अंधा प्राणी। उ० जाका गुर भी अंधला, चेला खरा निरंध। (सा० १-१५-१)।

अंध सों—सं० पु० (सं० अंध+सम)—अंधे के बराबर। (बी० र० ३२-१)।

अंधा—वि० (सं० अंध)—(१) अंधा जीव। उ० अंधै अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पड़ंत। (सा० १-१५-२)। (२) विवेकशून्य, अज्ञानी। उ० अंधा नर चेतै नहीं, कटै न संसै सूल। (सा० २०-१७-१)।

अँधारा—सं० पु० (सं० अंधकार, प्रा० अंधयार)—अंधियारा। उ० द्वै द्वै दीपक घरि घरि जोया, मंदिर सदा अँधारा। (प० ८१-७)।

अँधारी—सं० स्त्री० (हि० अंधियारी) अंधेरी। उ० कबीर माया मोह की, भई अँधारी लोइ। (सा० १६-२४-१)।

अँधियारा—सं० पु० (सं० अंधकार, प्रा० अंधयार)—अंधेरा, अज्ञान। उ० सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या मांहि। (सा० ५-३५-२)।

अँधियारी—सं० स्त्री० (हि० अँधारी)—अँधेरी, अज्ञान। उ० निस अँधियारी मिटि गई, बाजे अनहद तूर। (सा० ५-४३-२)।

अंधियारै—सं० पु० (सं० अंधकार)—अंधेरे में ही। उ० अंधियारै दीपक चहिये, तब बस्त अगोचर लहिये। (प० २६२-४)।

अंधी—वि० (हि० अंधा का स्त्री० रूप)—बिना आँख की। उ० कबीर यहु जग अंधला, जैसी अंधी गाइ। (सा० ४८-५-१)।

अंधे—दे० 'अंधै'। (पा० प० ७२-१२)।

अंधेरी—दे० 'अँधारी'। (पा० सा० ६-३६-२)।

अंधै—सं० पु० (सं० अंध)—दृष्टिरहित मनुष्य को, अंधजीव को। उ० अंधै अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पड़ंत। (सा०

;-१५-२) ।

ाड़ियाँ—सं० स्त्री० (हि० आँख से)—ाँखों में । उ० अंषड़ियाँ झांई पड़ी, पंथ नेहारि निहारि । (सा० ३-७२-१) ।

इर—अव्य० (सं० अपर)—और, अन्य । (पा० प० २६-२) ।

उरो—दूसरा । (पा० प० १६२-३) ।

ऊत—वि० (सं० अपुत्र, प्रा० अउत्त)—निपूता, निःसन्तान । उ० रांम सुमिर निरभै हुवा, सब जग गया अऊत । (सा० ३०–७–२) ।

ाकथ—वि० (सं० अकथ्य)—अकथनीय, जो कहा न जा सके । उ० अकथ कहांणी प्रेम की, कह्यां न को पत्याइ । (सा० ४१-१०-२) ।

ाकथे—अनिर्वचनीय । उ० कथ्यौ न जाई आहि अकथे । (र० ३–४४) ।

अकन—सं० पु० (सं० अंक)—चिह्नों से, लक्षणों से, आजन्म । उ० काली मूंड कौ एक न छोड़चौ, अजहूं अकन कुवारी। (प० २३१-३) ।

अकरम—सं० पु० (स० अकर्म)—अकरणीय कर्म । (बी० र० ५६-३) ।

अकर्दि—सं० पु० (अ०)—शेख़ अकर्दी नामक एक मुसलमान पीर । (बी० र० ४८-६) ।

अकल—वि० (सं०)—अवयवरहित, अखंड, सर्वागपूर्ण । उ० अविगत अकल अनूपम देख्या, कहतां कह्या न जाई । (प० ६-७) ।

अकलप—वि० (सं० कल्पन, हि० कलपना) निर्द्वंद्व, निश्चिन्त । उ० मैं मंता अविगत रहा, अकलप आसा जीति । (सा० ६-६-१) ।

अकलि—सं० स्त्री० (अ० अक्ल)—बुद्धि, समझ, ज्ञान । उ० गुरु प्रसादि अकलि भई तो कौं नहीं तर था बेगांनां । (प० ८-२) ।

अकह—वि० (सं० अकथ, प्रा० अकह)—अकथनीय, अनिर्वचनीय । (र० १-टि० १०) ।

अकहुआ—अकथनीय । (बी० र० ५१-१) ।

अकाज—सं० पु० (सं० अ+हिं० काज)—हानि, हर्ज । उ० उस संम्रथ का दास हौं, कदे न होइ अकाज । (सा० ११-१७-१) ।

अकारथ—वि० (सं० अकार्यार्थ)—निष्फल, व्यर्थ । उ० कहै कबीर रांम भजि बौरे, जनम अकारथ जात । (प० ४००-८) ।

अकास—सं० पु० (सं० आकाश)—ब्रह्मांड आसमान, स्वर्ग । (बी० र० २८-२) ।

अकासहिं—आकाश को । (पा० प० १२२-१२) ।

अकासहि—आकाश को । उ० धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहु पुरिसां की बांणीं । (प० १६२-१६) ।

अकासां—आसमान । उ० मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल अकासां जोइ (सा० १३-६-२) ।

अकासा—(पा०प० ३४-७) ।

अकासि—आकाश में । उ० चंदा बसै अकासि । (सा० ४४-१-१) ।

अकासू—आकाश । (बी० र० ७-४) ।

अकिलि—दे० 'अकलि' । (पा० प० १३४-२) ।

अकुल—वि० (सं० अकुलीन)—बुरे कुल का । उ० भले रे पोच अकुल कुलवंता, गुणी निरगुणीं धनं नीधन वंता । (र० ३-५) ।

अकुलांनां—क्रि० अ० (सं० आकुलन)—घबराना, व्याकुल होना। उ० नहीं तहां रूप रेख गुन बांनां, ऐसा साहिब है अकुलांनां। (र० बा—३६)।

अकूर—सं० पु० (सं० अक्रूर)—श्री कृष्ण का चाचा लगने वाला एक यादव जो उन्हें मथुरा ले गया था। उ० जाके सुक उधव अकूर, हणवंत जागे लै लंगूर। (प० ३८७-५)।

अकूरु—दे० 'अकूर'। (पा०प० १६८-५)

अकेल—दे० 'अकेला'। (पा० सा० १६-२६-१)।

अकेला—वि० (सं० एक+ला (प्रत्य०)-एकाकी। उ० मैं अकेला ए दोइ जणां, छेती नांहीं कांइ। (सा० ४६-८-१)।

अकेली—स्त्री रूप। दे० 'अकेला'। (पा० प० १६०-६)।

अकेलौ—दे० 'अकेला'। उ० वह देखिहु हंस अकेलौ। (प० २४१-८)।

अक्खर—दे० 'अखिर'। (पा०प० २१-५)।

अक्खिर—दे०'अखिर'। (पा०प० ६१-५)।

अक्खिरां—दे० 'अखिर'। (पा० सा० १-७-२)।

अक्यारथ—दे० 'अकारथ'। उ० नहिं तौ जन्म अक्यारथ जाइ रे। (प० ४-६)।

अखंड—वि० (सं०)—अटूट, लगातार, बेरोक। उ० तरिपै बरिपै अखंड धारा, रैंनि भांमनी भया अँधियारा। (र० ३-२३)।

अखिर—सं० पु० (सं० अक्षर)—अक्षर। उ० र रांम मां दोई अखिर सारा। (प० २७६-५)।

अखै—वि० (सं० अक्षय)—अमर, अविनाशी। (र० १-टि० १२)।

अगनि (सूं)—सं० स्त्री० (सं० अग्नि)—आग से। उ० कबीर तन मन यौं जल्या, बिरह अगनि सूं लागि। (सा० ३-३८-१)

अगम—वि० (सं० अगम्य)—बुद्धि के परे, पहुँच के बाहर। उ० कहै कबीर सुनहु रे संतौ, अगम ग्यांन पद मांहीं। (प० १०-७)।

अगमन—क्रि० वि० (सं० अग्रवान् या अग्रम्)-आगे, सामने। (बी०र० ३०-४)

अगमपुर—(यौ०) अगम्यपुर। (पा० प० ५६-७)।

अगम्य—दे० 'अगम'। अज्ञेय। (बी०र० ७-५)।

अगह—वि० (सं० अग्राह्य)—वर्णन, स्वचिंतन के बाहर। उ० दास कबीर अगह रहे ल्यो लाई। (र० १-२४)।

अगाध—वि० (सं०) अपार, अथाह। उ० ओ अगाध एका कहैं, भारी अचिरज होइ। (सा० ६-१-२)।

अगिणत—वि० (सं० अगणित)—असंख्य, अनेक। उ० प्रलै काल कहूं कितेक भाष, गये इंद्र से अगणित लाष। (प० ३५-३)

अगिनि—दे०'अगनि'। (पा० प० ६-२)।

अगिवानीं—सं० स्त्री० (हि० अगवान)-अभ्यर्थना, अतिथि के निकट पहुँचने पर सादर मिलना। उ० जिनकै तुम्ह अगिवानीं कहियत, सो पूंजी हंम पासा। (प० २५४-४)।

अगुआ—सं०पु० (सं० अग्र+हि०आ)—अग्रसर, अग्रणी, पथ-प्रदर्शक। (बी० र० १५-१)।

अगुण—वि० (सं०)—गुणरहित। उ० निरगुण अगुण संग करै। (प० १८३-८)

अगोचर—वि० (सं०)—इंद्रियातीत, अप्रत्यक्ष। उ० यहु पद अगम अगोचर मांहीं। (प० १४१-४)।

ाचरी—इंद्रियातीत। उ० नैनां बैन गोचरी, श्रवनां करनी सार। (र० ा०—१६)।

ग—सं० स्त्री० (सं० अग्नि, प्रा० ग्गि, हि० आग)—आग, ज्वाला। ० मति वै राम दया करै, बरसि ,झावै अग्गि। (सा० ३-११-२)।

यांनीं—वि० (सं० अज्ञानिन्)-अबोध, ज्ञानी। उ० अग्यांनी पुरिष कौं भोलि ोलि खाई (प० २३२-२)।

ा—सं० पु० (सं०)—पाप, घातक, ु:ख। (सा० ५-२६-नो०)।

घट—दे० 'अघट्ट'। (सा० १-१२-नो०)

घट्ट—वि० (सं० अ+घट)—जो न टे, अक्षय। उ० दीपक दीया तेल भरि, ाती दई अघट्ट। (सा० १-१२-१)।

घरनीं—क्रि० अ० (प्रा०अग्घाण, हि० अघाना ?)—अघाकर। उ० मधुकरि ज्यूं लेहि अघरनीं। (र० ४-६७)।

घाइ—क्रि० अ० (सं० आघ्राण)—अघाता है, तृप्त होता है। उ० रांम नांम करि बोंहडा, बांही बीज अघाइ। (सा० ३५-४-१)।

ाघाई—तृप्त होते हैं, छकते हैं। उ० पीवत अजहूँ न अघाई (प० ७४-२)।

ाचंभा—सं० पु० (सं० असंभव, पु०हि० अचंभव, अचंभो)—आश्चर्य, अचरज, विस्मय। उ० कहै कबीरा संत हौ, बड़ा अचंभा मोहि। (सा० ६-२-२,।

ाचंभौ—विस्मय, आश्चर्य। (पा० प० ११०-४)।

ाचरज—दे० 'अचिरज'। (पा० प० १३३-३)।

ाचरजु—दे० 'अचिरज'। (पा० प० २००-३)।

अचरिज—दे० 'अचिरज'। (सा० ५०-३-१)।

अचल—वि० (सं०]—निश्चल, स्थिर, स्तब्ध। उ० जे थे सचल अचल ह्वै थाके, करते वाद विवाद। (प० २८१-८)।

अचलि—सं० स्त्री० (सं० अचल)—अचलता, अनश्वरता। उ० संसारी कै अचलि टिरी। (प० ३७०-६)।

अचानक—क्रि० वि० (सं० आ=अच्छी तरह+चक=भांति अथवा सं० अज्ञानात्—सहसा, अकस्मात्)। उ० लाषौं मांहि तैं लेत अचानक, काहू न देत दिखाई। (प० ६७-६)।

अचारज—सं० पु० (सं० आचार्य)—आचार्य। (पा० प० ६०-४)।

अचारा—सं०पु० (सं० आचार)-विधि। (बी० र० ७४-६)।

अचित—वि० (सं० अ+चिंता)=चिंता-रहित। (पा० सा० ३२-५-१)।

अचिरज—सं० पु० (सं० आश्चर्य, प्रा० अश्चरीय)—अचंभा, आश्चर्य। उ० ओ अगाध एका कहैं, भारी अचिरज होइ। (सा० ६-१-२)।

अचीन्ह—वि० (हि० चीन्हता)—अपरि-चित। उ० जे अचीन्ह ते भये पतंगा। (र० बा०—३०)।

अचेत—वि० (सं०)—व्याकुल, बेसुध, बेपरवाह, नासमझ। उ० माला पहरे मनमुषी, बहुतैं फिरैं अचेत। (सा० २४-४-१)।

अचेतहि—अज्ञानी, बेख़बर। (बी० र० ४७-६)।

अच्यंत—वि० (अ+चिन्त)—चिन्तारहित, निश्चित। उ० च्यंता न करि अच्यंत रहु, सांई है संम्रथ। (सा० ३५-६-१)।

अछत—क्रि० वि० ('अछना' का कृदन्त रूप)–रहते हुए, होते हुए। (पा० सा० १०-११-२)।

अछते—रहते हुए। उ० बिन नैनन के सब जग देखैं, लोचन अछते अंधा। (प० १७५-७)।

अंछित—होते हुए, रहते हुए। उ० लोचन अछित सबै अंधियारा, बिन लोचन जग सूझै। (प० १५७-१०)।

अछता—वि० (सं० अक्षत)–अखंड, समूचा। उ० लोभ बड़ाई कारणै, अछता मूल न खोइ। (सा० १२-४१-२)।

अछै—क्रि० अ० (सं० अस् से, प्रा० अच्छ)–रहता है, वर्तमान है। उ० अछै अभिअंतरि नियरै दूरी। (र० ४-८७)

अजंच—सं० पु० (सं० अ+याचक)–जो मांगने वाला नहीं है। (पा० सा० ८-१५-१)।

अजगूता—सं० पु० (सं० अयुक्त, प्रा० अजुगुति)—अचंभे की बात, असाधारण बात। (बी० र० १०-२)।

अजपा—वि० (सं०)–जिसका उच्चारण न किया जाए, बिना उच्चारण का मंत्र जो सहज रूप में किया जाय। उ० अजपा जाप उनमनीं तारी। (प० २०४-२)।

अजब—वि० (अ०)—विलक्षण, अद्भुत। (पा० प० २-१)।

अजर—दे० 'अजरा'। (पा०प० १४५-१)

अजरा—वि० (सं० अजर)–जो सदा एक रस रहे, जरा रहित। उ० अजरा अमर कथैं सब कोई, अलख न कथणां जाई। (प० १८०-४)।

अजराइल—वि० (सं० अजर)–निर्भय, बलवान। उ० ऐसैं जौ अजराइल मारै, मस्तकि आवै भाग रे। (प० ३५०-४)।

अजरावर— वि०(सं० अजर)–चिरस्थायी, अमर। उ० मरनैं पहली जे मरैं, तो कलि अजरावर होइ। (सा० ४१-८-२)।

अजहुं—क्रि० वि० (हि० आज+हूँ= आज भी)–फिर भी, अभी तक। (पा० प० ३६-४)।

अजहूँ—अभी तक। उ० अजहूँ बेरा समंद मैं, बोलि बिगूचैं कांइ। (सा० ८-५-२)।

अजांण—वि० (सं० अज्ञान)–अनजान, अनभिज्ञ। उ० जे वो एक न जांणियां, तो सबहीं जांण अजांण। (सा० ११-८-२)।

अजांनि—सं० पु० (सं० अज्ञान)—अनजान में, बिना जाने। उ० जांनि अजांनि जिन्है विष खावा। (र० ३-७३)।

अजामेल—सं०पु० (सं० अजामिल)–एक प्रसिद्ध पापी ब्राह्मण। (प० ३२०-५)।

अजीज–सं०पु०(अ० अज़ीज)-सुहृद्, मित्र। उ० महल माल अजीज औरति, कोई दस्तगीरी क्यूं नांहि। (प० २५७-२)।

अजौं—क्रि०वि० (सं० अद्य, प्रा० अज्ज) –अब भी। उ० यहु जिव आया दूरि थैं, अजौं भी जासी दूरि।(सा०-४६-२३-१)

अटक—सं० स्त्री० (हि० अटकना)–रोक, रुकावट। (पा०प० ३४-६)।

अटका—क्रि० अ० (सं० अ+टिक्)–अड़ गया, ठहर गया। (पा०सा० २१-६-२)

अटक्यौ—अड़ा हुआ, ठहरा हुआ। उ० चित चंचल रहै न अटक्यौ, विषै बन कूं जाइ। (प० ३०६-२)।

अटल—वि० (सं०अ+टल)—स्थिर, निश्चल। उ० दास ध्रू कौं अटल पदवौ, रांम को दीवांन। (प० ३०१-६)।

अठ—वि० (सं० अष्ट)—आठ। उ० मानौं अठ सिध्य नवनिधि ताकै, ह र

ृरषि जस बोलै। (प० ३७२-२)।

ठसठ—दे० 'अठसठि'। (पा० प० ३५-८)।

ठसठि—वि० (सं० अष्टषष्टि, प्रा० अट्ठसट्ठि)—अड़सठ, अनेक। उ० तूंबी अठसठि तीरथ न्हाई, कड़वापन तऊ न जाई। (प० २७७-३)।

सिधि—सं०स्त्री० (सं०अष्ट सिद्धि)—अणिमा, गरिमा आदि आठ सिद्धियां। उ० अठ सिधि नव निधि नांव मंझारि। (प० १२३-७)।

ठारह—वि० (सं० अष्टादश)—अठारह। उ० कोटि समुद्र जाकै पणिहारा, रोमावली अठारह भारा। (प० ३४०-११)।

ठासी—दे० 'अठचासी'। (पा० प० ५-७)।

व्यासी—वि० (सं० अष्टाशीति, प्रा० अट्ठासीइ, अपभ्रंश अट्ठासि)—अस्सी और आठ। उ० मुनियर सहस अठ्यासी। (प० १-७)।

ड़बंद—सं०पु० (हि√अड़+सं०बंध)—मृतक को पहनाया जाने वाला कोपीन। (पा०प० १४३-६)।

ढ़ाई—वि० (सं० अर्द्ध द्वितीय, प्रा० अड्ढाइय, हि० ढ़ाई)—दो और आधा। उ० अढ़ाई मैं जे पाव घटै तौ, करकस करै बजहाई। (प० १९३-५)।

णआया—क्रि० अ० (सं० अन्+हि० आया)—न आना। उ० आया अणआया भया, जे बहुरता संसार। (सा० १२-२६-१)।

णगांयां—वि० (सं० अन्+गांयां)—जिन्होंने गाया नहीं। उ० गाया तिनि पाया नहीं, अणगांयां थैं दूरि। (सा० ३५-२१-१)।

अणच्यंत्या—वि० (सं० अन्+चिन्ता)—अचिन्तित, जिसका ख्याल न रहा हो। उ० अणच्यंत्या हरिजी करैं, जो तोहि च्यंत न होइ। (सा० ३५-६-२)।

अणजांणे—वि० (सं० अनजान)—अबोध, अनजान। उ० जांण भगत का नित मरण, अणजांणे का राज। (सा० २९-७-१)।

अणबोल्या—वि० (सं० अन्+बोलना) न बोला हुआ। उ० गांवणहारा कदे न गावै, अणबोल्या नित गावै। (प० १६२-१३)।

अणब्यावर—वि० (सं० अन्+ब्यावर)—बे ब्याई हुई। उ० आंगणि बेलि अकासि फल, अणब्यावर का दूध। (सा० ५८-४-१)।

अणमिलता—वि० (सं० अन्+मिलना) बेमेल, बेजोड़। (सा० २५-५-नो० ६)।

अणरता—वि० (सं० अन्+रक्त)—अरक्त, विरक्त। उ० अणरता सुख सोवणां, रातै नींद न आइ। (सा० २९-५-१)।

अणरागी—वि० (सं० अनरागिन्)—विरागी, विरक्त। उ० कहै कबीर कुंदर भजि करता, अमर भणे अणरागी। (प० २९९-१०)।

अणांवै—क्रि० सं० (सं० आनयनम्, हि० अनना)—माँगता है, ला देता है। (सा० २८-११-नो० १२)।

अणीं—सं० स्त्री० (सं० अणि)—सीमा, हद, किनारा। उ० बेलड़िया द्वै अणीं पहूंती, गगन पहूंती सैली। (प० १६३-३)।

अणी—सं०स्त्री० (सं० अणि)—नोक। उ० अणी सुहेली सेल की, पड़तां लेइ उसास। (सा० ३९-१-१)।

अति—वि० (सं०)—अधिक, बहुत। उ० अति आतुर ऊदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मंद। (सा० १-१८-२)।

अतिमाया—सं०स्त्री० (सं०)—सबसे बढ़कर मोह की वस्तु। उ० माया माता माया पिता, अतिमाया अस्तरी सुता। (प० ८४-७)।

अतिर—वि० (सं० अतिरणीय)—जिसका पार न पाया जा सके। (र० १-टि० ३९)।

अतीत—(१) सं०पु० (सं०)—वीतराग, संन्यासी, विरक्त। उ० कवीर भेष अतीत का, करतूति करै अपराध। (सा० २७-१-१)।
(२) वि० (सं०)—न्यारा, अलग। उ० सबद अतीत अनाहद राता, इहि विधि तृष्णां षांडी। (प० १०-२)।

अतीता—दे० 'अतीत' (१)। (पा० प० ११३-६)।

अतीति—वि० (सं० अतीत)—विरक्त या मृत। उ० राम अमलि माता रहै,जीवत मुकति अतीति। (सा० ६-६-२)।

अथि—क्रि०अ० (सं० अस्ति)—अस्तित्व। (वी० र० ८४-११)।

अथई—क्रि० अ० (सं० अस्तयन, हि० अथवना)—अस्त हो गया, नहीं रहा। (वी० र० १३-६)।

अथरबन—सं० पु० (सं० अथर्व)—अथर्ववेद। उ० रुग न जुग न स्यांम अथरबन, वेद नहीं व्याकरनां। (प० २१९-६)।

अथाह—वि० (सं० अ०+स्था)—बहुत गम्भीर या गहरा। उ० अति अथाह जल गहर गंभीर। (प० ३४१-३)।

अथाहु—दे० 'अथाह'। (पा०प० ४३-७)।

अथिर—वि० (सं० अस्थिर)—चंचल। उ० काची काया मन अथिर, थिर थिर कांम करंत। (सा० ४६-३०-१)।

अदबुद—दे० 'अदभूता' (वी०र० ४-३)।

अदभूता—वि० (सं० अद्भुत)—विलक्षण, अलौकिक। उ० ताकी हत्या होइ अदभूता, षट दरसन मैं जैंन विगूता। (र० ५-५५)।

अदया—सं०स्त्री० (सं०अ+दया)-दया-शून्यता। उ० अदया अलह रांम की, कुरहै ऊँणीं कूप। (सा० १२-४७-२)।

अदिष्ट—वि० (सं० अदृष्ट)—दिखलायी न पड़ने वाला। (वी० र० ८-८)।

अदिष्टि—वि० (सं० अ+दृष्टि)—अविचारी, दुष्ट। उ० कहै कवीरा दूरि करि, आतम अदिष्टि काल। (सा० १५-१-२)।

अदीठ—वि० (सं० अदृष्ट, प्रा० अदिट्ठ) –अनदेखा, गुप्त। उ० इस मन कौं विसमल करौं, दीठा करौं अदीठ। (सा० १३-९-१)।

अदेख—वि० (सं० अ+देख)—छिपा हुआ। (पा० चौ० र० २३-१)।

अदेह—सं० पु० (फ़ा० अंदेशा, हि० अंदेस)—चिंता, फ़िक्र, आशंका। उ० सबको कहै तुम्हारी नारी, मोकौं इहै अदेह रे। (प० ३०७-२)।

अद्भुत—दे० 'अदभूता,। उ० अद्भुत गति विस्तार जी। (प० ३०-५)।

अद्रिष्टि—वि० (सं० अदृष्ट)—अदृश्य, न दीखने वाला। उ० द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा। (र० ३-४२)।

अधकी—दे० 'अधिक'। उ० दिन दिन अधकी लाइ। (सा० २३-६-२)।

अधकूचा—वि० (सं० अर्द्ध+कूचना)—अपूर्ण। (वी० र० ३०-७)।

धर—क्रि० वि० (सं० अधोध:)—एक म नीचे, रसातल में। उ० अधधर डूबे ार न पारा। (प० १३२-५)।

फर—सं० पु० (सं० अर्द्ध+फलक)—ंतरिक्ष में।

बुध—सं० पु० (सं० अर्द्धबुध)—अध- चरा ज्ञानी, अज्ञानी। (बी० र० २-३)।

म—वि० (सं०)—नीच, निकृष्ट। ० दास अधम गति कबहूँ न जाई। प० १४५-८)।

र—सं० पु० (सं० अ+धृ=धरना)—बिना आधार के, शून्य स्थान में। उ० नवां तौ अधर वस्या, बहुतक झीणां ोइ। (सा० १३-१४-१)।

रम—सं० पु० (सं० अधर्म)—पाप। ० जीव वधत अरु धरम कहत हौ, अधरम कहाँ है भाई। (प० ३६-७)।

ार—सं० पु० (सं० आधार)—आश्रय, हारा। उ० एक कबीरा ना मुवा, जनिके राम अधार। (सा० ४१-६-२)।

ारा—सहारा। (पा० र० १३-६)।

ारी—सं० स्त्री० (सं० आधार)—काठ के डंडे में लगा हुआ काठ का पीढ़ा, जिसे साधु लोग सहारे के लिए रखते ं। उ० प्रगट कंथा गुपत अधारी, तामैं ुरति जीवनि प्यारी। (प० २०५-३)।

धिक—वि० (सं०)—अधिक, बहुत, वेशेष। उ० राम रसाइन प्रेम रस, ीवत अधिक रसाल। (सा० ६-२-१)।

धिकाइ—दे० 'अधिकाई'। (पा०प० ६-२)।

धिकाई—वि० (सं० अधिक से)—बहुत, वेशेष। उ० जल मैं अगनि उठी अधि- काई। (प० १२०-२)।

अधिकार—वि० (सं० अधिक से)—बहुत अधिक। उ० ऊँचा कुल कै कारणैं, बंस बध्या अधिकार। (सा० ५५-११-१)।

अधिकारी—सं० पु० (सं०)—जिज्ञासु, योग्यपात्र। (बी० र० ८-२)

अधिकी—दे० 'अधिक'। (पा०सा० २६-१०-२)।

अधिकै—दे० 'अधिक'। (पा०र० ७-५)।

अधूरी—वि० (सं० अर्द्ध, हि० अध+पूरा या उरा (प्रत्य०)—अपूर्ण। उ० कबीर सतगुर नां मिल्या, रही अधूरी सीप। (सा० १-२७-१)।

अधौरी—सं० स्त्री० (हि० अध+औड़ी (प्रत्य०)—चरखे पर पूरे चमड़े का सिलाया हुआ आधा टुकड़ा जो मोटा होता है। उ० चमरा ह्वै करि रंगौं अधौरी, जाति पाँति कुल खोऊँ। (प० ३८६-४)।

अनंगु—सं०पु० (सं० अनंग)—कामदेव। (पा०प० १२१-२)।

अनँत—वि० (सं०)—(१) अनन्त, अपार। उ० सतगुर की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार। (सा० १-३-१)। (२) विष्णु, ईश्वर। उ० लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार। (सा० १-३-२)।

अनंत—दे० 'अनँत' (२)। उ० कबीर तेज अनंत का, मानौं ऊगी सूरज सेणि। (सा० ५-१-१)।

अनंता—दे० 'अनंत'। उ० परंपुरिख तहाँ देव अनंता। (प० ४०३-८)।

अनंद—सं० पु० (सं० आनंद)—सुख, हर्ष। उ० तब केता होइ अनंद रे। (प० ५-१४)।

अनंदा—सं० पु० (सं० आनंद)—आनन्द-स्वरूप ब्रह्म । उ० तहाँ देख्या एक अनंदा । (प० ३१-१७) ।

अनंदियै—क्रि० अ० (हि० अनंदना)—आनन्द अनुभव करते हैं । उ० काहे नैंन अनंदियैं, सूझत नहीं आगि । (प० ३६८-३) ।

अनंदी—वि० (सं० आनन्दी)—प्रसन्न, सुखी, आनंद अनुभव करने वाला । उ० आतमां अनंदी जोगी, पीवैं महारस अंमृत भोगी । (प० २०४-१) ।

अनंदू—सं० पु० (सं० आनन्द)—आमोद, प्रमोद ।

अनंवासी—सं०पु० (सं० अरावंश)-गाँठ, पूला । उ० तांणैं वाणैं पड़ी अनंवासी, सूत कहै बुणि गाढी । (प० १०-६) ।

अन—अव्य० (सं० अन्)—निषेधसूचक अव्यय । (पा० र० ११-६) ।

अनआया—दे० 'अणआया' । (पा० सा० १५-५७-१) ।

अनकीया—वि० (सं० अन्+किया)—विना किया हुआ । उ० कबीर किया कछू न होत है, अनकीया सब होइ । (सा० ३८-२-१) ।

अनखांहीं—क्रि० अ० (हि० अनखाना)-रुष्ट होते हैं, खीभते हैं । उ० माटी सूं माटी मेलि करि, पीछैं अनखांहीं । (प० १९०-८) ।

अनगाया—दे० 'अणगांया' । (पा० सा० ३२-१४-१) ।

अनगु—वि० (सं० अनुग)—पीछे चलने वाला, फेर में पड़ने वाला । उ० वपु वाड़ी अनगु मृग, रचिहीं रचि मेलैं । (प० २१०-२) ।

अनगुनी—सं० पु० (सं० अनगुणिन)—निर्गुणोपासकों का । (बी०र० ४-४) ।

अनचीन्हे—वि० (सं० अन्+चीन्हा)-विना पहचान किये । (पा० र० ११-६) ।

अनजांनत—वि० (सं० अन्+हि०जानना)—अज्ञ, नासमझ होने पर । उ० अनजांनत दुख भारी । (प० १७६-७) ।

अनजांनें—दे० 'अणजांणे' । (पा० सा० ४-२७-१) ।

अनत—क्रि० वि० (सं० अन्यत्र)—और कहीं, दूसरी जगह । उ० मुकताहल मुकता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहि । (सा० ५-३९-२) ।

अनदिन—क्रि० वि० (सं० अनुदिन)—नित्यप्रति, प्रतिदिन । उ० अनदिन ग्यान कथै घरियार, धूवाँ धौलह रहै संसार । (प० ३७४-३) ।

अनवावैं—क्रि० स० (सं० अन्+बोवे)-विना बोवे । उ० अनवावैं लोहा दाहिणैं वोवैं सु लुणतां होइ । (सा० ३४-२-२) ।

अनवेधल—वि० (सं० अन्+वेधना)—अखंड, अविद्ध जीवात्मा । (बी० र० १८-४) ।

अनवोला—दे० 'अणवोल्या' । (पा० प० १२२-९) ।

अनव्यावर—दे० 'अण व्यावर' । (पा० सा० १३-३-१) ।

अनभूत—वि० (सं० अन्+भव=होना)—अपूर्व, अलौकिक । उ० रांम राइ तूं ऐसा अनभूत अनूपम, तेरी अनभै थैं निस्तरिये । (प० २६७-१) ।

अनभेदू—वि० (हि० अन+भेदी)—भेद न जानने वाला । (पा०प० १४६-५) ।

अनभै (१)—सं० पु० (सं० अनुभव)—तजुर्बा । उ० जस अनभै कथिया

निनि तैसा। (र० ३–५३)।

(२) सं० पु० (सं० अ+भव)—अचम्भा, आश्चर्य। उ० अनभै उपजि न मन ठहराई। (र० चौ–३२)।

अनभै (२)—वि० (सं० अन्+भय)—निर्भय, भयरहित। उ० कबीर जुलाहा भया पारषू, अनभै उतरया पार। (सा० ५–४७–२)।

अनभौभाव—सं० पु० (सं०)—आत्मभाव। (बी० र० ३१–६)।

अनमिलता—दे० 'अणमिलता'। (पा० सा० २४–१८–१)।

अनल—सं० पु० (सं०)—अग्नि। उ० मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल अकासां जोइ। (सा० १३–६–२)।

अनलजोति—सं० स्त्री० (सं० अनल+जोति)—तीनों तापों की ज्वाला। (बी० र० २३–३)।

अनवा—दे० 'अरवा'। (पा०प० ५३-४)।

अनहद—वि० (सं० अनाहत)—बिना बजाया हुआ, आभ्यंतरिक शब्द जो साधना विकास के अनुसार मधुरतर होता चला जाता है। उ० निस अँधियारी मिटि गई, बाजे अनहद तूर। (सा० ५–४३–२)।

अनहित—सं० पु० (सं० अन्०+हित)—हानि, अपकार। उ० भूख पियास अनहित हित कीन्हां। (र० ३–६)।

अनाज—सं० पु० (सं० अन्नाद्य)—अन्न। (पा० प० ६७–६)।

अनाथ—वि० (सं०)—असहाय, लावारिस। उ० मैं अनाथ प्रभू कहूं काहि, अनेक विगूचै मैं को आहि। (प० ३८४–४)।

अनाथा—नाथहीन। उ० तिहि विवोग तजि भए अनाथा, परे निकुंज न पावै पंथा। (र० ३–२४)।

अनादि—वि० (सं०)—जिसका आदि न हो। (पा० र० ११–७)।

अनाहद—दे० 'अनहद' उ० सबद अतीत। अनाहद राता, इहि विधि तृष्णां षांडी। (प० १०–२)।

अनि—वि० (सं० अन्य)—भिन्न, और ही। उ० अंतर गति अनि अनि वांणी (प० १६८–१)।

अनिआई—वि० (सं० अन्यायिन्, हि० अन्यायी)—अनुचित कार्य करने वाला। उ० सेवग सुत जे होइ अनिआई, गुन औगुन सब तुम्हि समाई। (र० ४–८)।

अनिक—दे० 'अनेक'। (पा० प० २६–१२)।

अनिन—वि० (सं० अनन्य)—विचित्र, अद्भुत। उ० अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ। (सा० ५-२६-२)।

अनियाले—दे० 'अन्ययाले'। (पा० प० ८-१)।

अनिल—सं०पु०(सं०)—हवा के झोंके में। उ० अनिल झूठ दिन धावै आसा, अंध दुरगंध सहै दुख त्रासा। (र० ४-७९)।

अनीं—दे० 'अणी'। (पा० प० ५६-१)।

अनुरागी—वि० (सं० अनुरागिन्)—प्रेमी, अनुराग करने वाला। (पा० प० १३४-३)।

अनुसारा—वि०(सं० अनुसार)—अनुकूल। (बी० र० ६२–१)।

अनूप—वि० (सं० अनुपम)—अद्वितीय, बेजोड़। उ० पड़ि गया नजरि अनूप। (सा० ५–२४–२)।

अनूपम—वि० (सं० अनुपम)—अपूर्व। उ० पांडल पंजर मन भवर, अरथ अनू-

पम वास। (सा०–३५–१६–१)।

अनूपु—दे० 'अनूप' (पा० प० ८०–३)।

अनेक—वि० (सं०)—असंख्य, वहुत। उ० छापा तिलक वनाइ करि, दगध्या लोक अनेक। (सा० २४–१६–२)।

अन्न—सं० पु० (सं०)—अनाज, खाद्य। (पा० प० १३–५)।

अन्ययाले—वि० (सं० अ+न्यारा)—अनोखा, निराला। उ० रांम वांन अन्ययाले तीर। (प० ११८–१)।

अपंडी—वि० (सं० अपिंडी)–पिंडरहित, अशरीरी, निराकार। उ० वसे अपंडी पंड मैं, ता गति लषै न कोइ। (सा० ६-२-१)।

अपणीं—दे० 'अपनी'। उ० दिल अपणीं का साछ। (सा० १-५-१)।

अपणें—अपने। उ० अपणें रूप कौं आपहि जांणें। (प० १५८–२)।

अपणैं—अपने। उ० सांई अपणैं कारणैं, रोइ रोइ रंतड़ियां। (सा० ३-२५-२)।

अपनउं—सर्व० (हि० अपने+इ)–स्वयं भी। (वी० र० ५५–७)।

अपनपैं—सर्व० (हि० अपना से)—स्वयं ही। उ० आपै मैं तव आपा निरख्या, अपनपैं आपा सूझ्या। (प० ६-१५)।

अपनपौ—(पा० र० ७–१)।

अपनां—सर्व० पु० (सं० अत्मनो, प्रा० अत्तणो, अप्पणो, हि० अपना)–आत्मीय, स्वजन। उ० हरि विन अपनां को नहीं, देखे ठोकि वजाइ। (सा० ३७-१०–२)।

अपनीं—स्त्री० (पा०प० १५–१०)।

अपनी—स्त्री०–आत्मीय वस्तु आदि। (वी० र० ५५–६)।

अपने—अपने। उ० कवीर अपने जीवतैं, ए दोइ वातैं धोइ। (सा० १२-४१-१)।

अपनैं—(पा० प० २७–२)।

अपनौं—अपना। (पा० प० १३१-८)।

अपमारग—सं० पु० (सं० अपमार्ग)—कुमार्ग, कुपथ। उ० मैं तैं तजैं तजैं अपमारग, चारि वरन उपरांति चढ़ै। (प० १८३–७)।

अपरंपार—वि० (सं० अपर+हि० पार)- असीम, अनन्त। उ० अपरंपार पार परसोतम, वा मूरति की वलिहारी। (प० १६५-७)।

अपरचै—सं० पु० (सं० अपरिचय)—अपरिचित होने का भाव। उ० देखा देखी पाकड़ै, जाइ अपरचै छूटि। (सा० २६–१–१)।

अपरवल—दे० 'अप्रवल'। (पा० सा० २–५१–१)।

अपराध—सं० पु० (सं०) पाप, दोष, भूल, चूक। उ० कवीर भेप अतीत का, करतूति करै अपराध। (सा० २७-१-१)।

अपराधी—सं० पु० (सं० अपराधिन्)—पापी। उ० सो जनमत काहे न मूवौ अपराधी। (प० १२५–२)।

अपरोगी—सं० पु० (सं० अप+रोगी)–स्वयं रोगी होकर। (पा०प० १६१-४)।

अपवादैं—सं० पु० (सं० अपवाद)—निंदा में, वुराई में। उ० पर निंद्या पर धन पर दारा, पर अपवादैं सूरा। (प० १६१–४)।

अपसर—सं० पु० (सं० अपसरण)—नीचा स्थान। उ० सर अवसर समझै नहीं, पेट भरण सूं काज। (सा० २६–७–२)।

अपांन—सं० पु० (हि० अपना)—आपा, आत्मगौरव, प्रतिष्ठा। उ० इक सकल सिध राखैं अपांन। (प० ३८६–६)।

अपार—वि० (सं०)—बहुत अधिक, असंख्य। उ० कबीर हीरावण जिया, महँगे मोल अपार। (सा० ४५-२८-१)।

अपारिष—वि० (सं० अ+पारिख)—जो परीक्षा न कर सके, गंवार। (सा० ४८–शीर्षक) अपारिष कौ अंग।

अपूठा—क्रि० वि० (सं० आ+पृष्ठि)—पीछे की ओर, उलटकर। उ० ताकू केरे सूत ज्यूं, उलटि अपूठा आंणि। (सा० १३–१–२)।

अप्रबल—वि० (हि० अपूर्व)—अनोखी, अनुपम। उ० पाणीं मांहैं प्रजली, भई अप्रवल आगि। (सा० ४–६–१)।

अबंधू—वि० (सं० अबद्ध)—स्वतन्त्र, बे बन्धन का। उ० बँधे करम जो आहि अबंधू। (र० ३–७)।

अब—क्रि० वि० (सं० अथ या अद्य से)—इस समय, इस घड़ी। उ० जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैं गल मलि मलि न्हाइ। (सा० ६–७–१)।

अबकी बेर—मुहा०—इस बार। उ० अब की बेर बकसि बन्दे कौं, सब खत करौं नबेरा। (प० २२२–१२)।

अबहिं—अभी। (पा० प० १६०–७)।

अबध—वि० (सं० अबद्ध)—बेबँधा हुआ, मुक्त। उ० धरती अरु असमान बिचि, दोइ तूं बड़ा अबध। (सा० २१-११-१)।

अबधौं—अव्य० (हि०अब)–ऐसी दशा में, ऐसा होते हुए भी। (बी०र० ७३–६)।

अबरन—वि० (सं० अवर्ण्य)–अकथनीय, अनिर्वचनीय। उ० अबरन कौं का बर-नियें, मोपैं लख्या न जाइ। (सा० ३८–६–१)।

अबरांउं—सं० पु० (सं० आम्रराजी, हि० अँवराव)—आम का बगीचा। उ० चंदन की कुटकी भली, नां बंबूर की अबरांउं। (सा० ३०–१–१)।

अबास—सं० पु० (सं० आवास)—रहने का स्थान। उ० अगम निगम गढ रचिले अबास, तहुवां जोति करैं परकास। (प० ३२८–२)।

अबिगत—दे० 'अविगति'। (पा० प० ८८–७)।

अबिगति—वि० (सं० अ+वि+गत)–जो जाना न जा सके, अज्ञेय। उ० अविगति की गति लखी न जाई। (प० ४६–२)।

अबिचल—वि० (सं०)–अचल। उ० धू अविचल नहीं रहसी तारा। (प० २४७-४)।

अबिद्या—सं० स्त्री० (सं० अविद्या)–मिथ्या ज्ञान, अज्ञान। उ० ग्यांन न पायौ बावरे, धरी अविद्या मैंड (र०चौ०-५)।

अबिनासी—सं० पु० (सं० अविनाशिन्)—अक्षय, ईश्वर, ब्रह्म, देवता आदि। उ० अविनासी मोहि ले चल्या, पुरई मेरी आस। (सा० ५०-२-२)।

अबिरथा—क्रि० वि० (सं० वृथा)—व्यर्थ। उ० ज्यूं वन फूली मालती, जन्म अविरथा जाये रे। (प० ३९८-४)।

अबिहड़—वि० (सं० अ+विघट)—अखंड, अनश्वर। उ० आदि मधि अरु अंत लौं, अविहड़ सदा अभंग। (सा० ५९-३-१)।

अबीरा—सं० पु० (अ० अबीर)—गुलाल—उ० परत धूरि सिरि कहत अबीरा। (प० ६८-३)।

अबूझ—वि० (सं० अबुद्ध, प्रा० अबुज्झ)—अबोध, नादान। उ० पूंणै पड्या न छूटियो, सुणि रे जीव अबूझ। (सा०

४५-२-१)।

अवूझी—नादान, अज्ञानी। उ० मैंर अवूझी वूझिया, पूरी पड़ी वलाइ। (सा० २९-६-२)।

अबोल—सं० (सं० अ+बोल)—अनिर्वचनीय। (र० १-टि० ६)।

अबोलै—क्रि० अ० (सं० अ+बोलना)—विना बोले ही। उ० नारी पुरिष वसैं इक संगा, दिन-दिन जाइ अबोलै। (प० ३१६-६)।

अभंग—वि० (सं०)—अटूट, लगातार, अखंडित। उ० आदि मधि अरू अंत लौं, अविहड़ सदा अभंग। (सा० ५९-३-१)।

अभाग – सं० पु० (सं० अभाग्य)—दुर्दैव, दुर्भाग्य, बुरा दिन। उ० सिर फोड़ै सूझै नहीं, को आगिला अभाग। (सा० २०-२१-२)।

अभागा—वि० (सं० अभाग्य)—भाग्यहीन। (पा० प० १९७-१)।

अभागी—स्त्री० (हि० अभागिन)—वदक़िस्मत। (सा० ४६-१९-नो-३०)।

अभागे—भाग्यहीन। (प० १२७-नो०-१३०)।

अभाव—सं० पु० (सं०)—अनस्तित्व। उ० कह्यां न उपजै उपज्यां नहीं जांणैं, भाव अभाव विहूंनां (प० १७९-७)।

अभिअंतर—क्रि०वि० (सं० अभ्यंतर)—भीतर, अंदर। (पा०प० १३०-१०)।

अभिअंतरा—भीतर। उ० अगम अगोचर अभिअंतरा, ताकौ पार न पावै धरणीं धरा। (प० ३२८—५)।

अभिअंतरि—अंदर। उ० अभिअंतरि मन रंग समानां। (प० २७—३)।

अभिमांन—सं० पु० (सं० अभिमान)—अहंकार, गर्व। उ० तूं छाड़ि कपट अभिमांन रे। (प० ५—६)।

अभिमांनां—गर्व। (पा०प० ३२-३)।

अभिमांना—उ० निंद्या अस्तुति मांन अभिमांना, इनि झूठै जीव हत्या गियांना। (र० ३-९)।

अभेद—वि० (सं० अ+भेद)—भेदशून्य। उ० अविगत अलख अभेद विधाता। (प० २९७-५)।

अभै—वि० (सं० अभय)-निर्भय, वेडर। उ० मेरे रांम की अभै पद नगरी, कहै कवीर जुलाहा। (प० १३४-८)।

अभैपददाता—वि० (सं० अभयपद-दाता)—निर्भय पद देने वाला। उ० हरि कौ नांव अभैपददाता, कहै कवीरा कोरी। (प० ३४६-७)।

अभ्यास—सं० पु० (सं०)—आदत, ढेव, वान। उ० जिभ्या रांम नांम अभ्यास, कहौ कवीर तजि गरभ वास। (प० ३७४-६)।

अंन—सं०पु० (सं० अन्न)-अनाज, खाद्य पदार्थ। उ० अंन पान जहां जरैं, तहां तैं अनल न चपियौ। (सा० ३५-१-४)।

अंनहि—अनाज को। उ० अंनहि छांड़ि इक पीवहि दूध, हरि न मिलै विन हिरदैं सूध। (प० ३८०-६)।

अंब—सं०पु० (सं० आम्र, प्रा० अंब)—आम। उ० वोवै पेड़ वंवूल का, अंब कहां तैं खाई। (सा० १३-२७-२)।

अंबर—सं०पु० (सं०)-आकाश, ऊपर। उ० कहौ भइया अंबर कासूं लागा। (प० १४१-१)।

अंबरि—अंबर में, आकाश में। उ० अंबरि दीसै केता तारा, कौंन चतुर ऐसा चितरनहारा। (प० १४१-३)।

अंबरीष—सं० पु० (सं०)—प्रसिद्ध सूर्य-

वंशी वैष्णव राजा। उ० राजा अंबरीष के कारणि, चक्र सुदरसन जारै। (प० १२२-७)।

अंवली—सं० स्त्री० (सं० अमली)—इमली नाम का पेड़। उ० आंब चढ़ी अंवली रे अंवली, बबूर चढ़ी नगबेली रे। (प० ७६-३)।

अंवुकि—सं० पु० (सं० अंबु+की)—जलनिर्मित देहादि संघात। (बी० र० ४१-१)।

अंम्रित—दे० 'अंमृत'। (पा०प० २०-८)

अंमीरस—सं० पु० (सं० अमृत, प्रा० अमिअ, हि० अमिय)—अमृत-स्राव जो चन्द्र से होता रहता है अथवा रामरस, प्रेमरस। उ० नीभर झरै अंमीरस निकसै। (प० १५५-७)।

अंमृत—सं० पु० (सं० अमृत, प्रा० अमिअ, हि० अमृत)—सुस्वादु, मधुर, अमृत। उ० रोम-रोम विष भरि रह्या, अंमृत कहाँ समाइ। (सा० ५५-८-२)।

अमइँगे—क्रि० अ० (हि० अमर से)—अमरत्व प्राप्त कर लेंगे। उ० पहुँचेंगे तब कहैंगे, अमड़ैंगे उस ठांइ। (सा० ८-५-१)।

अमर—वि० (सं०)—चिरजीवी, देवता। उ० सापी गोरखनाथ ज्यूं, अमर भये कलि मांहि। (सा० २६-१२-२)।

अमरपद—सं० पु० (सं०)—अमर लोक, निजात्मा। (बी० र० ३०-८)।

अमरापुर—सं० पु० (सं०)—अमरपुर, स्वर्ग। उ० हरि चरनूं चित राखिये, तौ अमरापुर होइ। (सा० २४-६-२)।

अमल—सं० पु० (अ०)—साधन, कार्यविधि (बी० र० ४८-५)।

अमलि—सं०पु० (अ०)—नशा, मादकता। उ० नाम अमलि माता रहै, जीवत मुकति अतीति। (सा० ६-६-२)।

अमांनि—सं०स्त्री० (सं० अमान)—मानराहित्य, गर्वशून्यता। उ० मांनि अमांनि जीव के करमां। (र० चौ०-२६)।

अमावस—सं० स्त्री० (सं० अमावस्या)—कृष्ण पक्ष की अंतिम तिथि। (पा० प० १६६-६)।

अमिलन—वि० (सं० अ+मिलन)—न मिलना। (पा० प० १३०-१५)।

अमी—सं० पु० (सं० अमृत, प्रा० अमिअ, हि० अमिय)—अमृत। उ० कामीं अमी न भावई, विषई कौं लै सोधि। (सा० २०-१६-१)।

अमीरस—अमृतरस। (पा० प० १६३-२)।

अमीता—सं०पु० (सं० अमित्र)—शत्रु। (पा०प० ६४-५)।

अमृत—दे० 'अंमृत'। उ० जिनि यह अमृत चाखिया, सो ठाकुर हंम दास। (प० १८-६)।

अमृतदाता—सं० पु० (सं० अमृतदाता)—अमरत्व प्रदान करने वाले। उ० काहे न जिवावौ मेरे अमृतदाता। (प० ८३-२)।

अमोल—वि० (सं० अ+हि० मोल)—अमूल्य। उ० वस नांहीं गोपाल सौं, विनसै रतन अमोल। (सा० ५१-१-२)।

अमोलिक—वि० (सं० अ+हि० मोल)—अमूल्य, क़ीमती। उ० जन्म अमोलिक जात है, चेति न देखै कोई। (प० १२७-२)।

अम्रित वस्तु—सं०पु० (सं० अमृत वस्तु)—निजरूप, अमरत्व। (बी०र० १०-७)।

अयांन—सं० पु० (सं० अज्ञान)—अज्ञानता। उ० सब अयांन जो आपै जांन। (र० ३-१)।

अयांनां—अज्ञानता। (पा०प० ४७-३)।

अयानां—अनजानपन, अज्ञानता। उ० हरि बिन सकल अयानां। (प० ३४-३)

अयानैं—वि० (सं० अ+जान)—अनजान में। उ० जानि बूझि मैं भया अयानैं। (र० ३-२५)।

अरंभ—सं० पु० (सं० आरम्भ)—उत्थान, उत्पत्ति। (बी० र० ३-१)।

अर (२)—सं०स्त्री० (हि० अड़)-जिद। (पा० प० १६५-७)।

अरचा—सं० स्त्री० (सं० अर्चा)—अर्चना, आराधना। उ० जप तप संजम पूजा अरचा, जोतिग जग बौरानां। (प० ३४-५)।

अरचित—वि० (सं०)-अनिर्मित, जिसको बनाया न हो। उ० अरचित अविगत है निरधारा। (र०वा०-३३)।

अरज—सं०स्त्री०(अ०)-विनय, निवेदन। उ० दिन की बेठि खसम सूं कीजैं, अरज लगीं तहां ही। (प० १९३-६)।

अरत—वि० (सं० अ+रत)—जो लीन न हो, विरक्त। (पा० सा० ४-४१-१)।

अरथ—सं०पु० (स० अर्थ)—(१) अभिप्राय, मतलब। उ० पांडल पंजिर मन भवर, अरथ अनूपम बास। (सा० ३५-१६-१)।

(२) धन। (बी० र० ६-५)।

अरर्थाहि—अभिप्राय को। उ० जो या अरथहि बूझै। (प० १५७-११)।

अरथि—हेतु, निमित्त। उ० स्वारथ अरथि वधैं ए गाई। (र० ५-२८)।

अरदास—सं० स्त्री० (फ़ा० अर्जदाश्त)—निवेदन के साथ में, प्रार्थना। उ० यहु अरदास दास की सुंनिये, तन की तपति बुझाइ। (प० ३०६-७)।

अरध—(१) वि० (सं० अर्द्ध)—आधा। उ० चौपड़ि माँड़ी चौहटै, अरध उरध बाजार। (सा० १-३१-१)।

(२) अव्य० (सं० अधः)—नीचे की ओर। उ० उरध पाव अरध सीस, बीस पपां इम रषियौ। (सा० ३५-१-३)

अरधक उरधक—वि० (सं० अधः और ऊर्ध्व)-अधोस्थिति का ऊर्ध्वस्थ कर देने की साधना करने वाले। उ० अरधक उरधक ये संन्यासी, ते सब लागि रहैं अविनासी। (र० १-२१)।

अरधमुखि—वि० (सं० अधोमुख)—नीचे की ओर मुख किए हुए। उ० ते बिधना बागुल रचे, रहे अरधमुखि झूलि। (सा० १२-२८-२)।

अरर्धाहि—दे० 'अरध' (२)—नीचे। (पा० चौं० र० २४-२)।

अरधाई—सं०स्त्री० (हि० आधा)-आधा। उ० तीनि हाथ एक अरधाई, ऐसा अंबर चीन्हौं रे भाई। (प० १४१-५।)

अरधैं—दे० 'अरध (२)। (पा० चौ० र० २४-१)।

अरधैं—दे० 'अरध' (२)। (पा० चौ० र० २४-१)।

अरवा—क्रि० स० (सं० आरव, हि० अरवना)—बुलाने पर, बुलाया हुआ। उ० पठए न जांऊं अरवा नहीं आंऊं। (प० ५०-५)।

अरस—सं० पु० (अनु०)-स्पर्श से परस; उसके अनुकरण पर अरस। (पा० प० १७६-७)।

अरहट—सं० पु० (सं० अरघट्ट)—रहट। माला पहरयां हरि मिलै, तौ अरहट कै गलि देप। (सा० २४-६-२)।

अरहटमाल—सं० पु० (सं० अरघट्ट+

माला)—रहट के पहिये या चक्कर या माला। (सा० ४६–१९–नो० ३५)।

अराधा—क्रि० स० (सं० आराधन, हि० आराधना)—उपासना की, ध्यान दिया। उ० भाव भगति सूं हरि न अराधा। (र० चौ०–९)।

अरि—सं० पु० (सं०)—शत्रु, चक्र। (र० १–टि०–९)।

अरु—दे० 'अरू'। (पा० प० १४–३);

अरुझि–दे० 'उरझि'। (पा०प० ८९-७)

अरुझांनां—क्रि० स० (हि० उलझाना)–फँसाना, अटकाना। (पा०प० १८०-५)।

अरू—अव्य० (हि० और)—और, तथा। उ० दुखिया दास कबीर है, जागै अरू रोवै। (सा० ३–४५–२)।

अरूप—वि० (सं०)—रूपरहित, निरा–कार। (पा० र० २–३)।

अरे—अव्य० (सं०)– सम्बोधनार्थक, ओ। उ० अरे भाई दोइ कहां सो मोहि बतावौ। (प० ५६–१)।

अरोकि—वि०(सं० अरोगी)–भला-चंगा। उ०होइ अरोकि बूँटी घसि लावै,गुर बिन जैसैं भ्रमत फिरै। (प० १८३-३)।

अर्थ—सं०पु० (सं०)–इन्द्रियों के विषय, मतलब। उ० माया मोहे अर्थ देखि करि, काहे कूं गरबांनां। (प० ५५–७)।

अर्धउर्ध—वि० (सं० अर्द्ध+ऊर्ध्व)—अधोभाग एवं ऊर्ध्व भाग। उ० अर्ध उर्ध बिचि आंनि उतारा। (र० १–१०)।

अलख(१)–वि० (सं० अलक्ष्य)—अदृश्य, अप्रत्यक्ष। उ० देख्या चंद बिहूंणां चांदिणां, तहां अलख निरंजन राइ। (सा० ५–१५–२)।

अलख (२)—सं० पु० (सं० अलक्ष्य)—अदृश्य, मन (निरंजन)। (बी० र० २९–७)।

अलगा—वि० (सं०अलग्न, प्रा० अलग्ग)–न्यारा, अलहदा, निर्लिप्त। उ० सबही करि अलगा रहौं, सो बिधि हमहिं बताइ। (सा० ५७–१–२)।

अलगे—अलग। उ० उत्यम ते अलगे रहैं, निकटि रहैं तें नीच। (सा० २०-१४-२)

अलप—वि० (सं० अल्प)—थोड़ा, न्यून, जरा सा। उ० मैं बपरौ का अलप मूंढ मति, कहा भयौ जे लूटे। (प० १९२-५)

अलपै—थोड़ा भी, ज़रा भी। (बी० र० ३०–६)।

अलष—वि०दे० 'अलख' (१)। उ० करे अलप की सेव। (सा० ५–४१–२)।

अलह—सं० पु० (अ० अल्लाह)—पर-मेश्वर। उ० अदया अलह राम की, कुरहै ऊँणीं कूप। (सा० १२-४७-२)।

अलहजा—सं०पु० (अ० अलहजल)–इधर उधर की बात। (पा०सा० १६-३९-२)

अला—सं० पु० (अ० अल्लाह)—पर-मेश्वर। उ०ता अला की गति नहीं जांनी, गुरि गुड़ दीया मीठा। (प० ५१-५)।

अलूझिया—क्रि० अ० (सं० अवरुन्धन, प्रा० ओरुज्झन)—उलझ गया। उ० नौ मण सूत अलूझिया, कबीर घर घर बारि। (सा० ३३–५–१)।

अलेख—वि० (सं०)—दुर्बोध, अज्ञेय। उ० जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख। (सा० ५–१२–२)।

अलेखा—बहुत अधिक, बे हिसाब। उ० माया मोह धन अगम अलेखा। (र० ४–५०)।

अलेखै—अज्ञेय। उ० कहै कबीर कछू समझि न परई, या कछू बात अलेखै।

(प० १८१–८)।

अलोप—दे० 'अलीप' । (पा० र० १३–२)।

अलौप—वि० (सं० लोप)—गुप्त दशा में रहता हुआ। (वी० र० १६–२)।

अल्लह—दे० 'अलह'। ईश्वर। (पा०प० १७७–१)।

अल्ला—दे० 'अलह'। ईश्वर। (पा० प० १८५–५)।

अल्लाह—दे० 'अलह'। (पा० प० ८७–९)।

अवगुन—दे० 'औगुंण'। (पा० प० ३७–२)।

अवतरि—क्रि० अ० (सं० अवतरण, हि० अवतरना)–जन्म लेकर (पा०र० ३-३)

अवतरिया—प्रगट हुआ, जन्म लिया। उ० कृतम सो जु गरभ अवतरिया, कृतम सो जु नाव जस धरिया। (र० ५–२२)।

अवतरी—प्रगट हुई, जन्मी। (वी० र० २–२)।

अवतारा—सं०पु० (सं० अवतार)–विष्णु के मानव योनि संबंधी रूप। उ० मानिख जनम अवतारा, नां ह्वै है बारंबारा। (प० २९६-१६)।

अवधि—सं० स्त्री० (सं०)—समय, मियाद। उ० यामैं कछु नांहि तेरी, काल अवधि आई। (प० ३२०–४)।

अवधू—दे० 'अवधूत'। उ० अवधू ग्यांन लहरि धुनि मांडी रे। (प० १०-१)।

अवधूत—सं० पु० (सं०) प्रतिद्वन्द्वी के रूप में दीख पड़ने वाला योगी, विरक्त या फ़कीर। उ० ग्यांन बिना फोकट अवधूत। (प० १२६-४)।

अवनि—सं० स्त्री० (सं०)—पृथ्वी। पांणीं पवन अवनि नभ पावक, तिहि संगि सदा बसेरा। (प० १७२-७)।

अवर—वि० (सं० अपर, प्रा० अवर)—दूसरा, अन्य, भिन्न, और। उ० तवहि रांम अवर नहीं कोई। (प० ६६-६)।

अवरिलगि—(सं० अपर+लगि)–दूसरों के लिए। (वी० र० ५५-६)।

अवरै—और ही। (पा० प० १३४-२)।

अवलि—सं० पु० (अ० वली का बहुव० औलिया)—पहुंचे हुए फ़कीर। उ० अवलि आदम पीर मुलांनां, तेरी सिफति करि भये दिवांनां। (प० ६३-४)।

अवलिया—औलिया, फ़कीर। उ० सुर नर मुनिजन पीर अवलिया, मीरां पैदा कीन्हां रे। (प० ३६६–५)।

अवस्था—सं० स्त्री० (सं०)—समय। (पा० प० ६९–८)।

अवास—सं० पु० (सं० आवास)—स्थान, घर, मकान। उ० कवीर कहा गरवियौ, ऊँचे देखि अवास। (सा० १२-१०-१)।

अविगत—वि० (सं०)—अज्ञेय, नित्य। उ० मैमंता अविगत रता, अकलप आसा जीति। (सा० ६-६-१)।

अविचल—दे० 'अविचल'। (वी० र० २७-९)।

अविद्य—सं० स्त्री० (सं०)–अज्ञान। (सा० १६-१-नो० २)।

अव्वलि—वि० (अ० अव्वल)–पहले, प्रथम। (पा० प० १८५-३)।

अषंड—वि० (सं० अखंड)–अविच्छिन्न, सम्पूर्ण। उ० निराकार अषंड मंडल मैं, पांचौं तत्त समावै। (प० १५७-९)।

अषंडित—वि० (सं० अखंडित)–अविच्छिन्न, खंडरहित। उ० आतम लीन अपंडित रांमां, कहै कवीर हरि मांहि समांनां। (प० २०३-६)।

षिर—दे० 'अखिर'। अक्षर। उ० कोइ एक अषिर मन बस्या, दह मैं पड़ी वहोड़ि। (सा० १३-२४-२)।

ष्टंगी—सं० स्त्री० (सं० अष्टांगिनी)-आद्या प्रकृति जिसके भूमि, जल, अग्नि आदि आठ अंग होते हैं। (वी० र० २७-४)।

ष्ट—वि० (सं०)-आठ। उ० अष्ट बिन होत नहीं क्रम काया। (प० १९९-१२)।

ष्टकँवल—सं० पु० (सं० अष्ट कमल)-आठ कमल। उ० अष्ट कँवल दल भीतरा, तहाँ श्रीरंग केलि कराइ रे। (प० ४-५)।

अष्ट कष्ट—यौ० (सं० अष्ट+कष्ट)-पंच क्लेश तथा तीन गुण, जो बंधन में डालते हैं। (वी० र० ६-१)।

अष्षिरां—दे० 'अखिर'। अक्षरों से। उ० जे बेधे गुर अष्षिरां, तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध। (सा० १-२२-२)।

असंखि—वि० (सं० असंख्य)-अनगिनत। उ० असंखि कोटि जाकै जमावली, रांवण सेन्यां जाथैं चली। (प० ३४०-१२)।

असंच—(अंच) दे० 'अजंच'। उ० कबीर जाचण जाइथा, आगैं मिल्या असंच (अंच)। (सा० ५०-१२-१)।

असंत—वि०(सं०)-बुरा, दुष्ट। उ० संत न छाड़ै संतई, जे कोटिक मिलैं असंत। (सा० २९-२-१)।

अस—(१)वि०(सं०एष)-ऐसा, इस प्रकार का। उ० वेद पुरांन पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसैं भारा। (प० ३९-३)।
(२) सं० पु० (सं० अस्त्र)-हथियार। उ० अस बिन पाषर गज बिन गुड़िया, बिन षंडै संग्रांम जुड़िया। (प० १५८-४)।

असति—वि० (सं० असत्)-मिथ्या, अस्तित्वविहीन। उ० सति असति कछू नहीं जानूं, जैसैं बजावा तैसैं बाजा। (प० २९२-३)।

असतुति—सं स्त्री० (सं० स्तुति)-प्रशंसा। उ० असतुति निंद्या आसा छांड़ै, तजै मांन अभिमांनां। (प० १८४-५)।

असथिर—वि० (सं० स्थिर)—शांत, निश्चल। उ० भागा भर्म भया मन असथिर, निद्रा नेह नसांनां। (प० १५७-१६)।

असथिरु—शांत, स्थिर। (पा०प० १३०-१८)।

असथूल—वि० (सं० स्थूल)—जड़। उ० नां जाणौं किस जड़ी थैं, अमर भये असथूल। (सा० ४७-२-२)।

असनांन—दे० 'असनान'। उ० मांनसरोवर करि असनांन। (प० ३२८-१४)।

असनांनु—(पा० प० १३०-१३)।

असनान—सं० पु० (सं० स्नान)-नहाना, आनन्दानुभव। उ० हद छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान। (सा० ५-११-१)।

असमांन—दे० 'असमान'। (पा० प० ८७-७)।

असमांनु—दे० 'असमान'। (पा० प० १६७-३)।

असमान—सं० पु० (फ़ा० आसमान)—आकाश। उ० पंषि उड़ानीं गगन कूं, उड़ी चढ़ी असमान। (पा० ५-२१-१)।

असमाना—सातवाँ आसमान। (वी० र० ३२-३)।

असर—सं० पु० (अ०)—प्रभाव। (पा० प० ३४-४)।

असरार—क्रि० वि० (हि० सर सर)—लगातार, निरंतर। उ० केसौ कहि कहि

कूकिये, ना सोइयैं असरार। (सा० २-१६-१)।

असरारा—सं० पु० (फ़ा० शरीर का बहुवचन)—दुष्टता। उ० मनमथ करम करैं असरारा।(र० ५-५४)।

असराल—दे० 'असरार'। लगातार। उ० नैन-नीर असराल वहै। (प० २४३-७)।

असवार—सं० पु० (फ़ा० सवार)—सवार। उ० कवीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार। (सा० ४५-२७-१)।

असवारा—सवार। उ० जन कवीर ऐसा असवारा, वेद कतेव दुहूँ थैं न्यारा। (प० २५-४)।

असवारी—सं० स्त्री० (फ़ा० सवारी)—चढ़ने की क्रिया। उ० अपनें विचारि असवारी कीजै, सहज कै पाइड़ै पाव जव दीजै। (प० २५-१)।

असाढ़—सं० पु० (सं० आषाढ़)—आषाढ़ का महीना। उ० मास असाढ़ रवि धरनि जरावै। (र० ४-३)।

असाध—वि० (सं० असाधु)—दुष्ट। उ० वाहरि दीसै साध गति, माहैं महा असाध। (सा० २७-१-२)।

असार—वि० (सं०)—साररहित। (सा० ३२-१-नो० २)।

असारा—दे० 'असार'। तुच्छ, निः—सार। उ० कवन सार को आहि असारा, को अनहित को आहि पियारा। (र० ३-८८)।

असी—वि० (सं० अशीति, पा० असीनि, हि० अस्सी)—आठ का दस गुणा। उ० चार लाप अरु असी ठीक दे, जनम लिख्यौ सव चोटैं। (प० १०८-४)।

असीस—सं० स्त्री० (सं० आशिष्)—आशीर्वाद। उ० माया दासी संत की, ऊँभी देइ असीस। (सा० १६-१०-१)।

असुर—सं० पु० (सं०,—दैत्य, राक्षस। उ० सुर नर मुनियर असुर सव, पड़े काल की पासि। (सा० ४६-२९-२)।

असूझि—वि० (सं० अ+सूझना)—जिसके लिए उपाय न सूझे। उ० परे असूझि वार नहीं पारा। (र० ४-३७)।

असोस—वि० (सं० अ+शोष)—जो सूखे नहीं। उ० कवीर मन का वाहुला, ऊँडा वहै असोस। (सा० ५७-३-१)।

अस्त—सं० पु० (सं०)-लोप, तिरोधान। उ० उदै न अस्त सूर नहीं ससिहर, ताकौ भाव भजन करि लीजै। (प० १५७-६)।

अस्तरी—सं० स्त्री० (सं० स्त्री)-औरत, भार्या। उ० माया माता माया पिता, अति माया अस्तरी सुता। (प० ८४-७)

अस्त्री—दे० 'अस्तरी'। स्त्री। (र० १-टि०-७४)।

अस्थांन—सं० पु० (सं० स्थान)—दशा। उ० त्री अस्थांन अंतर मृग छाला, गगन मंडल सींगीं वाजै। (प० १५३-२)।

अस्थांनां—पद, दशा। उ० अजरा अमर एक अस्थांनां। (र० ५-२)।

अस्थान—(पा० सा० ९-२१-१)।

अस्थूल—दे० 'असथूल'। (पा०सा० १७-५-२)।

अस्नान—सं०पु० (सं० स्नान)—नहाना। उ० क्या जप क्या तप संजमां, क्या तीरथ व्रत अस्नान। (प० १२१-१२)।

अहं—सं० पु० (सं०)—अहंकार, अभिमान। उ० मन मार्‌या ममिता मुई, अहं गई सव छूटि। (सा० ४१-७-१)।

अहंकार—सं० पु० (सं०)—अभिमान। उ० मुई सुरति वाद अहंकार, वह न मुवा जो बोलणहार। (प० ४२-५)।

अहंकारा—अभिमान। उ० नहीं तन नहीं मन नहीं अहंकारा, नहीं सत रज तम तीनि प्रकारा। (प० ३८-३)।

अहंकारी—वि० (सं० अहंकारिन्)—घमंडी। उ० गालिब नगरी गाँव बसाया, हाँम काँम अहंकारी। (प० १३४-५)।

अहंयेउ—दे० 'अहंमेव'। (पा० प० ७७-५)।

अहंमेव—सं० पु० (सं० अहं एव)—अहंकार, गर्व, घमंड। उ० इक मैं मेरी मैं वीझैं, इक अहंमेव मैं रीझैं। (प० २७६-४)।

अहई—क्रि० अ० (हि० अहै,)—है। (बी० र० ५७-१)।

अहटि—क्रि० अ० (सं० आहत)—दुःखी होकर, दुःख मानकर। उ० जे दिठ ग्याँन न ऊपजै, तौ अहटि रहै जिनि कोइ रे। (प० ५-१०)।

अहनिसि—क्रि० वि० (सं० अहर्निश)—रात-दिन, निरन्तर। उ० अहनिसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूँ पावै दुरलभ जोग। (सा० २-२८-२)।

अहमक—वि० (अ०)—जड़, मुर्ख, नासमझ। उ० लहुरैं थकैं दुहि पीया खीरो, ताका अहमक भकै सरीरो। (र० ५-३०)।

अहरखि—दे० 'अहरषि'। (पा० प० ६५-१)।

अहरणि—सं० स्त्री० (सं० आ+धरण)—अहरन, निहाई। उ० घण अहरणि बिचि लोह ज्यूँ, घड़ीं सहै सिर चोट। (सा० १२-५१-२)।

अहरनि—दे० 'अहरणि'। (पा० सा० ६-८-२)।

अहरषि—सं० स्त्री० (अ० हिर्स)—देखा-देखी उत्पन्न इच्छा के उमंग में। उ० मन रे अहरषि वाद न कीजै। (प० १०५-१)।

अहला गया—क्रि० अ० (सं० आहलन)—काँप गया। उ० ऐ सबहीं अहला गया, जबहीं कह्या कुछ देह। (सा० ३५-१४-२)।

अहलाद—दे० 'अहिलाद'। (पा० सा० ३०-२३-१)।

अहिलाद—सं० पु० (सं० आह्लाद)—आनन्द, हर्ष। उ० कांमीं लज्या नां करै, मन मां है अहिलाद। (सा० २०-२३-१)।

अहीरा—सं० पु० (सं० अभीर, हि० अहीर)—ग्वाल। उ० इहि बंनि खेलै राही रुकमनि, उहि बंनि कान्ह अहीरा रे। (प० ७६-१०)।

अहील्हि—सं० स्त्री० (सं० अहिल्य)—गौतम ऋषि की पत्नी को। (बी० र० ८१-३)।

अहेड़ी—सं० पु० (हि० अहेर से)—शिकारी। उ० अहेड़ी दौं लाइया, मृग पुकारे रोइ। (सा० ४-८-१)।

अहेड़ै—सं० पु० (सं० आखेट)—शिकार। उ० तू माया रघुनाथ की, खेलण चढ़ी अहेड़ै। (प० १८७-१)।

अहेर—सं० पु० (सं० आखेट)—शिकार, विषयोपभोग। (बी० र० ४६-५)।

अहेरा—दे० 'अहेड़ै'। शिकार। उ० सायर जलै सकल वन दाझै, मंछ अहेरा खेलै। (प० ९-६)।

अहेरी—दे० 'अहेड़ी'। (पा० सा० १६-३-२)।

अहेरै—दे० 'अहेड़ै'। (पा० प० १६१-१)।

अहै—दे० 'अहई'। है। (पा० सा० २६-२-१)।

आ

आंऊंगा—क्रि० स० (हि० आना से)—जन्म लूंगा। उ० तो मैं बहुरि न भौजलि आंऊंगा। (प० ३१-१)।

आंकुस—सं० पु० (सं० अंकुश)—प्रतिबंध, रोक। (पा० सा० २६-१६-२)।

आंखड़ियां—दे० 'आंषि'। (पा० सा० १६-८-२),

आंखि—दे० 'आंषि' (पा० सा० २-४३-२)।

आंखिन—(पा० प० १३७-२)।

आंखी—(पा० प० १६५-५)।

आंगणि—सं० पु० (सं० अङ्गण)—घर के भीतर के सहन में। उ० निंदक नेड़ा राखिये, आंगणि कुटी बंधाइ। (सा० ५४-३-१)।

आंगन—(पा० सा० १३-३-१)।

आंगनि—(पा० सा० २३-४-१)।

आंगिया—क्रि० अ० (?)—अंगीकार कर लिया। (पा० सा० ११-१६-१)।

आंगुल—सं० पु० (सं० अंगुल)—आठ जौ की लम्बाई। उ० तहां दस आंगुल का बीच रे। (प० ४-७)।

आंटी—सं० स्त्री० (हि० अंटी)—गाँठ, गिरह, ऐंठन। (पा० प० १६५-१२)।

आँण—सं० स्त्री० (स० आणि)—मर्यादा, ढङ्ग, दिखावा। उ० जब लग घट मैं दूजी आंण। (प० ३६२-१६)।

आंणि—क्रि० स०-(सं० आनयन, हि० आनना)—लाओ, लाकर। उ० उलटि अपूठा आंणि। (सा० १३-१-२)।

आंणिया—लाये। उ० दीपक पावक आंणिया। (सा० ४-१-१)।

आंणीं—लाई गई। उ० गाडर आंणीं ऊन कूं, बांधी चरै कपास। (सा० १७-३-२)।

आंणैं—लाता है। उ०मन मैं आंणैं नाहिं। (सा० ४५-१०-२)।

आंण्या—लाया। उ० तेल भी आंण्या संग। (सा० ४-१-१)।

आंथवै—क्रि० अ० (सं० अस्तमन, प्रा० अत्थवन, हि० अथवना)-अस्त हो जाता है। उ०जो ऊग्या सो आंथवै, फूल्या सो कुमिलाइ। (सा० ४६-११-१)।

आंधरा—दे० 'आंधा'। (पा० सा० १-६-१)।

आंधरि—वि० (सं० अंध, हि० आंधर)-अंधी, अनिश्चित, बेसमझी। (बी० र० ११-१)।

आंधां—विवेकशून्य, अंधा। उ० जांणैं बूझै कुछ नहीं, यौं ही आंधां रूंड। (सा० १८-५-२)।

आंधी—सं० स्त्री० (सं० अंध)—अंधड़। उ० संतौ भाई आई ग्यांन की आंधी रे। (प० १६-१)

आंनंदकंदो—सं० पु० (सं० आनंदकंद)-आनंद के मूल कारण भगवान। उ० सब सुख आंनंदकंदो रे। (प० ३६८-२)।

आंन—दे० 'आन'। उ० तजै आंन की आस। (सा० ५२-३-१)।

ाहि आंन—यौ०–दूसरे का दूसरा, अंड
ड। उ० निरमल तन मन सब करै, बकि
कि आंनहिं आंन। (सा० ५४-४-२)।
नां—क्रि०स० (सं० आनयन)–लाया।
ा० और सबै दुखयादि न आंनां। (र०
-५८)।
नि—लाकर। उ० अर्ध उर्ध विचि
ांनि उतारा। (र० १-१०)।
निघे रयौ—(मुहा०)–घेर लिया। उ०
टी फौज आंनि गढ़ घेरयौ। (प० ६६-७)
निया—लाया। (पा० सा० २-३०-१)
नीं—लाई। (पा० प० १७-३)।
नैं—ले आया। (पा० प० १२८-७)।
ब—सं०पु० (सं० आम्र, हि० आम)–
ाम, रसाल। (पा० प० १३१-३)।
वण जांणी—दे० 'आवन जांनां'।
० आंवण जांणी मिटि गई, मन
नहि समाई। (प० १५६-८)।
वौं—क्रि० अ० (सं० आगमन)—
ायेंगे, आऊँगा। उ० वहुरि न आँवौं
ट्ट। (सा० १-१२-२)।
ष—सं० स्त्री० (सं० अक्षि, प्रा०
क्खि)—नेत्र, आँख। उ० जीवत
ांपि मूंदि किन देखौ, संसार अंध
धेरा। (प० २३८-४)।
ू—सं० पु० (सं० अश्रु, प्रा० अस्सु)–
श्रु–जल। उ० सोई आँसू सजणां सोई
ोक विडांहि। (सा० ३-२६-१)।
ी—दे० 'आहि'। उ० मति करि
न कवन गुन आंही। (र० ३-४६)।
—क्रि० अ० (हि० आना)—आकर,
ाता है। उ० तब गुर मिलिया आइ।
ा० १-१३-२)।
करि—आकर। उ० कवीर कलिजुग
इ करि। (सा० ११-१३-१)।

आइ देखैं–आकर देखो। (सा० १२-१-२)
आइ मिली—आकर मिल गई। (सा० ३-३-१)।
आइकै—आकर। (पा०सा० २-४५-२)।
आइया—आया। उ० कौंण देस कहां आइया, कहु क्यूं जांण्यां जाइ। (सा० १४-१-१)।
आइर—आकर के। उ० मन रे आइर कहां गयौ। (प० २६३-१)।
आइसी—आवेगा। उ० चंद सूर की आइसी बारा। (प० २४७-४)।
आई—प्राप्त हुई। उ० आई सूति कवीर की, पाया राम रतंन। (सा० २-७-२)
आऊँ—आऊँ। (पा० प० ५३-४)।
आऊंगा—आऊँगा। (पा०प० १६३-१)।
आए—आए, पहुँच गए। (पा०प० ५-२)
आयां—आने पर, आने को। उ० कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पासि गयां। (सा० ३-६-२)।
आया—पहुँचा। उ० ज्यूं आया त्यूं जाव। (सा० २-१८-२)।
आये—पहुँच गए। उ० आये टोपा दीन। (सा० १२-२४-२)।
आयें—आने पर। उ० तेऊ न आयें छूटे। (प० १९२-६)।
आयो—आया। (पा० सा० १६-३७-२)।
आयौ—आया। (पा० प० ७३-५)।
आव—आ जाओ। उ० नैनां अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झंपेउं। (सा० ११-२-१)
आवई—आता है, आती है, आते हैं। उ० विषिया फिरि फिरि आवई, राजा रांम न मिलै वहोरी। (प०१२७-१०)।
आवत—आते हुए। उ० आवत देख्या दास। (सा० ४५-२३-२)।
आवहिं—आते हैं। (पा०प० १९२-४)।

आवहिगे—आयेंगे। उ० वहुरि हम काहै कूं आवहिगे। (प० १५०-१)।

आवा—आया। (पा० र० १-५)।

आवं—आता है। (पा० प० ३३-१)।

आवैं—आता है, आवे। उ० सो दिन आवै मोंहि। (सा० ३-३३-२)।

आवैगी—आएगी। (पा० प० ६२-२)।

आवैहि—आता ही है। उ० ते हरि के आवैहि किहि कामां। (प० १३७-१)।

आवौं—आऊँ। (पा० सा० १-१५-२)।

आवो—आओ। (पा० प० १५-६)।

आइनैं—वि० (सं० अन्य)—दूसरे भी, अपरिचित भी। उ० आइनैं दिसावरि रे रांम जपि लाहौ लीजै। (प० २३४-२)

आउ—सं० स्त्री० (सं० आयु)—उम्र, वय, आयु। उ० पल पल आउ घटै तन छीजै। (प० २४२-४)।

आक—सं० पु० (सं० अर्क, प्रा० अक्क)—मदार। उ० वैठ्या आक पलास। (सा० २८-७-१)।

आकार—सं० पु० (सं०)—स्वरूप, मूर्त्ति। उ० दूजा यहु आकार। (सा० १-२६-१)।

आकासि—सं० पु० (सं० आकाश)—आकाश में, शून्य स्थान, ब्रह्मांड में। (पा० प० १५६-३)।

आकासे—ब्रह्मांड। उ० आकासे मुखि औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि। (सा० ५-४५-१)।

आकासैं—ब्रह्मांड। (पा० प० ११२-६)।

आकासैं—ब्रह्मांड (पा०सा० ६-३८-१)।

आकुल—वि० (सं०)—व्यस्त, व्यग्र। उ० आकुल किनहूं न जानां। (प० ३४-४)

आखर—सं० पु० (सं० अक्षर)—हरफ़, अकारादि वर्ण। (पा० सा० २८-७-१)।

आखिर—हरफ़। उ० सो आखिर इनमैं नांहि। (र० १-टि० २)।

आखै—क्रि० स० (सं० आख्यान, पा० आक्खान, पं० आखना)—वोले। उ० कूड़े आखै वैन। (सा० ४३-१०-१)।

आगण—दे० 'आंगणि'। (सा० ४१-१-नो० १)।

आगम—सं० पु० (सं०)—आप्तवाक्यात्मक ग्रन्थ वेदशास्त्रादि। उ० तव आगम निगम झूठ करि जाना। (प० ३७-६)।

आगरी—वि० (सं० आकर)—श्रेष्ठ, उत्तम, चतुर। उ० दोऊ कुल हम आगरी, जो हम झूलैं हिंडोल। (प० १८-८)।

आगि—सं० स्त्री० (सं० अग्नि, हि० आग)—आग, ज्वाला। उ० जांणौंगे यहु आगि। (सा० ३-३८-२)।

आगिला—वि० (हि० आगे से अगला)—आगे का होने वाला। उ० सिर फोड़ै सूझै नहीं, को आगिला अभाग। (सा० २०-२१-२)।

आगी—क्रि० वि० (सं० अग्र, प्रा० अग्ग, हि० आगे)—आगे, सामने, अनन्तर। उ० कनड़ा पाइक आगी। (प० २६६-३)।

आगे—वढ़ा चढ़ाकर, मर्यादा के वाहर। (बी० र० २४-४)।

आगैं—सम्मुख, सामने। उ० आगैं आया दुख। (सा० ११-६-१)।

आगैं आग—आगे आगे, भविष्य में भी। (सा० ३५-८-नो० १०)।

आगैं थैं—सामने, इसके वाद। उ० आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि। (सा० १-११-२)।

आग्यांकार—वि० (सं० आज्ञापालक)—आज्ञा पालन करने वाला। (पा० प० १७६-६)।

ग्या—सं०स्त्री० (सं० आज्ञा)—आदेश, क्म। उ० मोहि आग्या दई दयाल दया रि, काहू कूं समझाइ। (प० ३१८-७)
घु—सं० पु० (सं० अर्घ)—मूल्य, क़ीमत। (सा० १४-१६-२)।
चरी—क्रि० स० (सं० आचरण, हि० ाचरना)—उत्पन्न कर दी। उ० अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ। सा० ५-२६-२)।
चरूं—आचरण करूँ, रखूँ, स्थापित रूँ। उ० नैनां अंतरि आचरूं, निस देन निरपौं तोंहि। (सा० ३-३३-१)।
चार—सं० पु० (सं०)—(१) शुद्धि, फाई। उ० विधि न खेद पूजा आचार। प० २५२-३)।
२) चरित्र, चालढाल। उ० आचार यौहार सब भये मलीनां। (र० ४-७७)।
छा—वि० (सं० अच्छ)—स्वच्छ, नर्मल, भला, वढ़िया, श्रेष्ठ। उ० फल ो आछा रांम का नांमां। (र० २-४)।
छे—अच्छा मन। (बी० र० ८०-३)।
छै—भले-चंगे। उ० आछै रहै ठौर नहीं ड़ै। (प० १५६-४)।
ज—क्रि० वि० (सं० अद्य, पा० अज्ज)—व, इस समय। (पा० प० ७-५)।
जक—अव, इस समय। उ० आजक ल्हिक निस, हमैं मारगि माल्हंतां। सा० ४६-२-१)।
जक काल्हिक—(मुहा०) थोड़े दिन ो। (सा० ४६-२-१)।
जि—आज के दिन। उ० आजि मरै काल्हि। (सा० ४-२-२)।
जु—(पा० प० ७४-२)।
जु काज—(यौ०) (सं० अद्य+कार्य)—ाज अर्थात् इस जन्म के लिए। (बी० र० १३-४)।
आजुहिं—आज। (पा०सा० १६-२४-२)
आट—सं० स्त्री० (हि० अटक)—टेक। उ० प्रेम आट हंम कीन्ह। (सा० ४५-२२-२)।
आटा—सं० पु० (वै० अत्र, प्रा० अट्ट)—चून, आटा। उ० ह्वैसी आटा लूंण ज्यूं सोना सँवा सरीर। (सा० १२-४८-२)।
आटा लूंण—मुहा० (आटा+लवण)—मिश्रित, वेमेल मिला हुआ। (सा० १२-४८-२)।
आटै—आटा। उ० रलि गया आटै लूंण। (सा० १-१४-१)।
आठ—वि० (सं० अष्ट)–सात और एक। (पा० सा० २-४०-२)।
आठ पहर—मुहा०—दिन रात, सदा। उ० आठ पहर का दाझणां मोपें सह्या न जाइ। (सा० ३-३५-२)।
आठ मिथुन—यौ० (सं० अष्ट मिथुन)—दर्शन, स्पर्शन, केलि, कीर्त्तन, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय, क्रिया निर्वृत्ति—आठ मैथुन। (बी० र० १३-७)।
आठौं—आठौ। (पा० सा० २४-१०-२)।
आड़—सं० स्त्री० (सं० अल)—ओट, रोक, अड़ान। (पा०प० ३४-६)।
आड़ी—वि० (सं० आलि)—रेखा, वेड़ी, टेढ़ी। उ० आड़ी-तिरछी फिरती है। (प० १०६-२)।
आणौं—क्रि० स० (हि० आनना)—लाऊँ। उ० वांणीं सुरंग सोधि करि आंणौ, आणौं नौ रंग धागा। (प० २११-२)।
आतम—सं०पु० (सं० आतमा)—जीव। उ० आतम अदिष्टि काल। (सा० १५-१-२)।

आतमरांम—सं० पु० (सं० आत्मा + राम)—राममय आत्मा। उ० आतमरांम न चीन्हां सोई। (प० ३४६-१)।

आतमारांम—(पा० प० १७३-२)।

आतमलीन—वि० (सं० आत्मलीन)—स्वसंवेद्य। उ० आतमलीन अपंडित रांमां, कहै कबीर हरि मांहि समांनां। (प० २०३-६)।

आतम लीनां—उ० प्रगट जोति तहां आतम लीनां। (प० ४०३-६)।

आतमसाधन—सं०पु० (सं० आत्मसाधन)—आत्मसाधना, आत्मज्ञान। उ० केवल कहि समझाइया आतम साधन सार रे (प० ५-१६)।

आतस—सं०स्त्री० (फ़ा० आतश)—आग, अग्नि। उ० पहनांम परदा ईत आतस, जहर जंगम जाल। (प० २५८-४)।

आतुर—(१) सं० स्त्री० (सं० आतुरता)—व्यग्रता, अधीरता। उ० रांम भंजै सो जांनिये, जाके आतुर नांहीं। (प० ३६३-१)।

(२) क्रि०वि० (सं०)—शीघ्रता से, उत्सुकता से। उ० अति आतुर ऊदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मंद। (सा० १-१८-२)।

आतुरताई—सं० स्त्री० (सं० आतुरता + ई (प्रत्य०)—उतावलापन, शीघ्रता। उ० कहै कबीर अति आतुरताई। (प० २२५-५)।

आत्मां—दे० 'आतम'।—अन्तःकरण, मन। उ० अंतरि भीगी आत्मां, हरी भई वनराइ। (सा० १-३४-२)।

आत्मांरांम—दे० 'आतमरांम'। आत्मज्ञान का आनंद। उ० रंगि रमहु आत्मांरांम। (प० ३००-१)।

आथवै—क्रि० अ० (सं० अस्त)—अस्त हुआ है। (पा० सा० १६-१९-१)।

आथि—क्रि० अ० (सं० अस्ति, प्रा० अत्थि)—होकर, होने से ही। उ० जा कारंनि हम ढूंढ़त फिरते, आथि मरचो संसारा। (प० २६७-४)।

आथिहै—वर्त्तमान है। उ० आपैं आप आथिहै एही। (र० वा० १४)।

आथी—है। उ० और न दुनियां आथी। (प० २६८-७)।

आदम—सं० पु० (अ०)—अरबी लेखकों व मुसलमानों के अनुसार आदि प्रजापति। उ० अवलि आदम पीर मुलांनां। (प० ६३-४)।

आदर—सं० पु० (सं०)—सम्मान, प्रतिष्ठा। उ० तिनकूं आदर होइ। (सा० १७-८-२)।

आदरै—क्रि० स० (सं० आदर)—आदर करते हैं, मानते हैं। उ० ताहि न कबहूँ आदरै, प्रेम पुरिष भरतार। (सा० ५२-२-२)।

आदि—सं० पु० (सं०)—मूल कारण, आरम्भ। उ० आदि अंति सब सोधिया, दूजा देखौं काल। (सा० २-५-२)।

आदिउ—सं० स्त्री० (सं० आदि + हि० और)—आदि और। (बी० र० २३-१)।

आदित—सं० पु० (सं० आदित्य)—आदित्यवार। उ० आदित करै भगति आरंभ। (प० ३६२-२)।

आदी—दे० 'आदि'। (पा०प० १४७-३)

आदेस—सं०पु० (सं० आदेश)—उपदेश या नमस्कार। उ० आदि कौं आदेस करत, कहै कबीर ग्यांनां। (प० १६०-८)।

आदैं—सं० पु० (सं० आदि)—आरंभ से। उ० आदै गगनां अंतैं गगनां, मधे गगनां भाई। (प० ४४-६)।

—(पा० प० १६४-७) ।
—वि० (सं० अर्द्ध) —आधा । उ०
आध उबरंत । (सा० १-२०-२) ।
ा—उ० अरध सरीरी नारि न छूटै,
धा हिंदू रहिये । (प० ५६-६) ।
ी—स्त्री०—अधूरी । उ० आधी
षी सिरि कटै, जोर बिचारी जाइ ।
ा० ३३-६-१) ।
ा प्रधा—वि० (हि० आधा+परधा)
ड़ा-थोड़ा । उ० आधाप्रधा ऊबरै,
ते सकै तौ चेति । (सा० १२-१५-२) ।
ारी—वि० (सं० आधारिन्)—
ध्रुओं की टेवकी या अड्डे के आकार
लकड़ी जिसका सहारा लेकर वे
ते हैं । उ० परम तत आधारी मेरे,
व नगरी घर मेरा । (प० १६६-७) ।
ीन—वि० (सं० अधीन)—वशीभूत,
वश । उ० माया के आधीन । (सा०
६-१८-२) ।
द—सं० पु० (सं०)—सुख, हर्ष,
न्नता । उ० आनंद ठांयें ठांइ । (सा०
-२-१) ।
—(१) वि० (सं० अन्य)—दूसरा ।
करै आन का जाप । (सा० २-२२-
।
) सं० पु० (सं० अन्न)—भोजन ।
आन न भावै नींद न आवै । (प०
०७-४) ।
हि आन—और का और । उ० लोग
ई सब आनहिं आन । (प० ४७-२) ।
न—दे० 'आन' ।
—सर्व० (सं०आत्मन्, प्रा० अत्तणो,
पणो, हि० आपनो)—आप । उ०
आपा मांहैं आप । (सा० ५-२३-२) ।
आप कूं—(यौ०) अपने आपको । उ०
आप आपकूं काटिहैं, कहै कबीर विचारि ।
(सा० १२-४४-२) ।
आपकी—(पा० सा० १-१६-१) ।
आपकौं—(पा० सा० १५-६०-२) ।
आपतैं—(पा० प० १-२) ।
आपण—(१) सर्व० (सं० आत्मन्, हि०
अपना)—अपनी अथवा स्वयं । उ०
तव हरि सेवा आपण करै, मति दुख
पावै दास । (सा० ४१-१-२) ।
(२) सं० पु०अपनापन, आत्मीयता । उ०
लोभ मिठाई हाथि दे आपण गया भुलाइ ।
(सा० ३-३१-२) ।
आपणीं—दे० 'आपण' (१) ।—अपनी,
निज की । उ० कबीर नौबति आपणीं,
दिन दस लेहु बजाइ । (सा० १२-१-१) ।
आपणैं—दे 'आपण' (१) —अपने,
स्वकीय । उ० बलिहारी गुर आपणैं,
द्यौं हाड़ी कै बार । (सा० १-२-१) ।
आपदा—सं०स्त्री० (सं०)—संकट, दु:ख ।
उ० मन की आपदा खोई । (प० २१६-७)
आपन—दे० 'आपण' (१)—अपना ।
(पा० प० ४३-६) ।
आपनपौ—सं० पु० (हि० अपना+पौ
या पा (प्रत्य०)—आत्मस्वरूप । उ०
अपनैं मैं रँगि आपनपौ जानूं । (प०
२६-१) ।
आपनां—दे० 'आपन' । (पा० सा० ५-
१३-१) ।
आपनीं—दे० 'आपनी' । अपनी । (पा०
सा० ६-५-२) ।
आपनी—दे० 'आपणी' । अपनी, स्वयं
की । (सा० ३७-५-नो०-८) ।
आपनैं—दे० 'आपणै' । अपने । (पा०
र० ५-६) ।
आपनौं—दे० 'आपन' । अपनी । (पा०

र० ८-२)।

आपस—अव्य० (हि० आप+से)—परस्पर, एक दूसरे का भाव। (पा० प० १६१-६)।

आपहिं—सर्व० (सं० आत्मन्+ही)—आपही। (पा० प० १०-४)।

आपहिंआप—मुहा०—आपही आप, विना किसी प्रेरणा के। उ० आपहिं आप बँधाइया, द्वै लोचन मरहिं पियाम रे। (प० ५-४)।

आपा—सं० पु० (हि० आप से)—अपनी सत्ता, अहंकार, गर्व। उ० मन का आपा खोइ। (सा० ३४-६-१)।

आपि—दे० 'आप'। स्वयं। (पा० प० १६०-४)।

आपु—दे० 'आप'। स्वयं। (पा० प० ६८-१०)।

आपुन—दे० 'आप'। अपने। (वी० र० ३३-२)।

आपुनमें—अपने में। उ० आपुन मैं जे करै निवाजा, सो मुलनां सरवत्तरि गाजा। (र० १-८)।

आपुहि—आपही। (पा० र० १०-१)।

आपूही—सर्व०—आपही, स्वयं ही। (वी० र० ४-७)।

आपैं—सर्व० (सं० आत्मन्)—स्वयं, आप ही। उ० तौ आपैं करता सोइ। (सा० १३-१०-२)।

आपै—दे० 'आपैं'। (पा०प० ११६-२)।

आपै आप—मुहा०—आपही आप। उ० कहन सुनन कौं कीन्ह जग. आपै आप भुलांन। (र० २-११)।

आब—(१) सं० स्त्री० (फ़ा०)—आभा, प्रतिष्ठा। उ० यौहीं खोवै आव। (सा० २३-३-२)।

(२) सं०पु०(सं०आम्र०, हि०आम)–आम का वृक्ष। उ० आव चढ़ी अंवली रे अंवली, ववूर चढ़ी नगवेली रे। (प० ७६-३)।

आभ—सं० पु० (फ़ा० आव)—पानी, जल (परमेश्वर)। उ० ओसों प्यास न भाजई, जव लग धसैं न आभ। (सा० २-२१-२)।

आमन—सं० पु० (सं० उन्मना, प्रा० उम्मण, राज० आमण)–उदास, खिन्न। उ० यहु मन आमन घूमनां, मेरौ तन छीजत नित जाइ। (प० ३०२-२)। उ० दे० अंतरि आमण दूमणा-'ढोला मारूरादूहा'—२१८।

आमिख—वि० (सं० आमिष)—मांस। (पा० सा० २०-११-२)।

आरंभै—क्रि० अ० (सं० आरंभण, हि० आरंभना)—उठाना, शुरू करता है। (र० १-टि० ४२)।

आरणि–सं०पु० (सं० अरण्य)–जंगल में, वन में। उ० कवीर आरणि पैसि करि, पीछैं रोहै सु सूर। (सा० ४५-५-१)।

आरनि—(पा० सा० १४-८-१)।

आरति—दे० 'आरती'। उ० आरति करि करि विनवैं सेवा। (र० ४-६६)।

आरतिवंत—वि० (सं० आर्त्ति+वन (प्रत्य०))—दुःखित, पीड़ित। उ० देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कवीर। (प० ३०५-८)।

आरती—सं० स्त्री० (सं० आरात्रिक)—किसी मूर्ति के ऊपर या सामने दीपक घुमाना। उ० ऐसी आरती त्रिभुवन तारै। (प० ४०३-१)।

आरसी—सं० स्त्री० (सं० आदर्श)—दर्पण, शीशा।(पा० सा०१५-११-१)।

आरा—सं० पु० (सं०)—लकड़ी चीरने

दाँतदार पटरी। उ० सिर ऊपरि
रा सहै, तऊ न दूजा होइ। (सा०
:-४-२)।

ाधैं—क्रि० स० (सं० आराधन, हि०
राधना)—उपासना करते हैं, पूजते
। उ० इक आराधैं सकति जीव।
० ३८०-४)।

जाल—वि० (देश० ऊलूलजल)—
ास्वद्ध, अंटसंट। उ० मोहि कहा
ावै आलजाल। (प० ३७६-४)।

ाम—सं० पु० (अ०)—जन समूह।
› आलम दुनीं सवै फिरि खोजी।
› ३४-३)।

ा—सं० स्त्री० (हि० अड़)—हठ,
ा। उ० नित उठि करती आलि।
[० ४६-१६-१)।

ाकत—क्रि०स० (सं० आलोकन से)–
ते ही। उ० आलोकत सचु पाइया,
ाहूं न न्यारा सोइ। (सा० १३-
-२)।

ाति—वि० (सं० अविगत)—अज्ञेय,
नर्वचनीय। उ० आवगति अंतरि
टै, लागै प्रेम धियान। (सा० ५-
-२)।

ाणां—सं० पु० (सं० आवर्त, प्रा०
ाट्ट) हलचल, ऊहापोह। उ० तिहि
ा आवटणां धणा। (सा० २६-८-१)।

टे—क्रि० स० (सं० आवर्त्त, प्रा०
ाट्ट, हि० आवटना)—औंटकर, खौल
। उ० आपैं आप आवटि जग
ता। (र० बा०-२२)।

ा—(सं० आयुध)–हथियार, साधन।
पु० (सं० अयोध्या)–अयोध्या नगरी
। उ० आवध रांम सबै करम
ाहूं। (प० ३८६-१)।

आवन—सं०पु०(सं० आगमन)—आना।
(पा० सा० १६-४०-२)।

आवन जांनां—सं० पु० (आवागमन)—
पुनर्जन्म। मिटि गया आवन जांनां।
(प० ६-१८)।

आवागवन—सं० पु० (सं० आवागमन)–
जन्म मरण का वंधन। (वी० र०
३४-७)।

आश—दे० 'आस'। उम्मीद। उ० एक
पल जीवन की आश नांहीं। (प०
२४०-५)।

आशरमां—सं०पु० (सं० आश्रम)–जीवन
की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में। उ० लागि
रहे इनकै आशरमां। (र० ५-३४)।

आश्रम—सं०पु०(सं०)–ठिकाना, अवलंव।
जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ। उ०
आश्रम अनेक करसि रे जियरा, रांम बिना
कोई न करै प्रतिपाल। (र० २-३३)।

आषर—सं० पु० (सं० अक्षर, प्रा०
अक्खर)—अक्षर। (प० ५-नो०-६)।

आषौं—क्रि० स० (सं० आख्यान, पा०
अक्खान, पं० आखना)—कहूँगा, कह
डालूँगा। उ० तौ सव दुख आषौं रोइ।
(सा० ५४-६-१)।

आस—सं० स्त्री० (सं० आशा)—आशा
में, उम्मीद में। उ० नेह कये की
आस रे। (प० ५-३)।

आसण—सं० पु० (सं० आसन्)—स्थान,
अस्तित्व। उ० ब्रह्मा का आसण
खिस्या, सुणत काल की गाज। (सा०
२-१५-२)।

आसणि—दे० 'आसण'। वैठने की जगह
पर। उ० आसणि रही विभूति। (सा०
४-४-२)।

आसति—सं० स्त्री० (सं० आसक्ति)—

अनुरक्ति, लगन, प्रेम । उ० आसति कहूँ न देखिहूँ, विन नांव तुम्हारे। (प० १६०-४)।

आसन—दे० 'आसण'। (पा० प० १४२-५)।

आसन—दे० 'आसणि'। (पा० सा० २-५-२)।

आसरमां—दे० 'आशरमां'। (पा० र० ७-२)।

आसा—सं० स्त्री० (सं० आशा)–उम्मीद, वासना। उ० अकलप आसा जीति। (सा० ६-६-१)।

आसा पास—सं० पु० (सं० आशा+पाश)—आशा-बंधन। उ० वाभि परचौ सब आसा पास। (प० ४७-४)।

आसामुखी—वि० (सं० आशा+मुख से)–आशान्वित। (पा० सा० २६-८-२)।

आसामुषी—दे० 'आसामुखी'। उ० आंधा नर आसामुपी, यौहीं खोवै आव। (सा० २३-३-२)।

आसिपासि—क्रि० वि० (अनु०)—(आस+हि० पास)—निकट में। उ० आसिपासि तुरसी कौ विरवा, मांहि द्वारिका गाऊं रे। (प० ७६-११)।

आसिरैं—सं० पु० (सं० आश्रय)—सहारा, प्रतीक्षा, अवलम्व। उ० लालचि लागि आसिरै रहाई। (र० ३-४६)।

आसी—क्रि० अ० (हि० आना)—आ जाएगा। उ० जुरा मरण भौ संकट आसी। (प० २४२-२)।

आसु—दे० 'आस'। आशा। (पा० प० ८२-३)।

आस्रम—दे० 'आश्रम'। (पा० र० १४-४)।

आहर—सं० पु० (सं० अहन्)—समय। (पा० प० ६५-१)।

आहि—क्रि० अ० (सं० अस्=होना से)–है। उ० मेरा मन रामहिं आहि। (सा० २-८-१)।

आहौं—दे० 'आहि'। हूँ। उ० मन मैले मैं फिर फिरि आहौं, तुम सुनहुं न दुख विसरावन हो। (प० ७७-२)।

इ

इंछया—सं० स्त्री० (सं० इच्छा)—कामना, अभिलाषा, लालसा। उ० तिहिं धेन थैं इंछया पूगी। (प० १५२-५)।

इंदऊँ—सं० पु० (सं० इंदूर)—चूहा, मूस। उ० तिहि चढ़ि इंदऊँ करत गवंसियां। (प० ७७-४)।

इंद्र—सं० पु० (सं०)—देवों का राजा। (सा० ३७-८-२)।

इंद्रादिक—इंद्र आदि। (पा० प० १६५-७)।

इंद्रलोक—सं० पु० (सं०)—स्वर्ग। (सा० ५०-३-१)।

इंद्री—सं० स्त्री० (सं० इंद्रिय)—वाहरी विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के साधन स्वरूप शरीर के भिन्न-भिन्न अवयव। (सा० १३-२-२)।

इंद्रचा—सं० पु० (सं० इंद्रिय)—इंद्रियों। उ० करि इंद्रचा सूं भूझ। (सा० ४५-२-२)।

इक—वि० (सं० एक)—अकेला, अद्वितीय। उ० तहां वसैं इक राजा। (प० ३१-६)।

इक दिन—क्रि० वि० (हि० एक+दिन) –एक दिन, एक न एक दिन। उ० इक दिन ऐसा होइगा। (सा० १२-६-१)।

इकठी—क्रि० वि० (सं० एकत्र)—एक स्थान में। (पा० प० १६४-३)।

इकताई—सं० स्त्री० (फ़ा०)—अकेले रहने की बान, एकांत सेविता। (प० ५०-६)।

इकतार—वि० (हि० एक+तार)—एक रस, बराबर, लगातार। उ० एकादसी इकतार करै। (प० १८३-५)।

इकतिल—क्रि० वि० (हि० एक+तिल)– तनिकसा, ज़रा सा भी। उ० तिल इक घट मैं संचरै। (सा० ६-८-२)।

इकत्र—क्रि० वि० (सं० एकत्र)—एकट्ठा, एक जगह। उ० सकल वरण इकत्र ह्वै। (सा० २२-१४-१)।

इकीस—वि० (सं० एकविंशत्, प्रा० एक्कवीस. हिं० इक्कीस)—वीस और एक। उ० सहंस इकीस छ सै धागा। (प० ६९-६)

इच्छा—सं० स्त्री० (सं०)—वासना से उत्पन्न भाव। (बी० र० २०-६)।

इच्छा-रूपि—वि० (सं० इच्छारूपिणी)— इच्छामयी, इच्छा के रूप में। (वी० र० २-२)।

इत—क्रि० वि० (सं० इत:)—इधर, इस ओर; यहाँ। उ० इत के भए न उत के। (सा० १२-२५-२)।

इत उत—मुहा०—इधर-उधर। उ० इत उत चितवत कठवन लीन्हां। (प० २०-५)।

इततैं—इधर से। (पा० सा० १०-३-२)।

इतथैं—इधर से। उ० इतथैं सबै पठाइये। (सा० १४-२-२)।

इतना—वि० (सं० एतावत, प्रा० इत्तिअ अथवा पु० हि० ई+तना (प्रत्यय)— इस क़दर, बहुत अधिक। गरव करै क्या इतना। (प० ९२-२)।

इतबारा—सं० पु० (अ० एतबार)— विश्वास, भरोसा। (पा० प० १५२-१)।

इती—वि० (हि० इतना)—इतना। उ० सिध सोई जो साधै इती। (प० ३२७-७)।

इन—सर्व० (हि० यह से, सं० एषः)— निर्दिष्ट। उ० इन ग्रिह मन डहके सबहिन के, काहू को परचौ न पूरौ रे। (प० ८५-३)।

इनका—सर्व० (हि०इसका का बहु वचन)– इन सबका। उ० इनका इहै विजोग (सा० १६-३-२)।

इनके—सर्व० (सं० एष:, हि० 'इस' का बहुवचन)—इन लोगों का, अद्वैतवादियों का। (बी० र० ८-१)।

इनकै—इनके लिए, इन सबका। उ० इनकै काजी मुलां पीर पैकंवर। (प० ५८-३)।

इनकौं—इन सब का। (सा० ३३-९-२)।

इनतैं—इनसे। (पा० र० ७-४)।

इनमैं—इनमें। (पा० प० १४२-९)।

इनहीं—इनहीं। (पा० चौ० र० १-१)।

इनि—इसने। (सा० १६-२४-नो० २६)।

इन्ह—इन। (पा० सा० ४-१६-१)।

इन्हके—इनके, इन लोगों का। (वी० र० ८-२)।

इन्हमैं—इनमें। (पा० प० २०-४)।

इफतरा—सं० पु० (अ० इफ्तिरा)— तोहमत, लांछन। (पा० प० ८७-३)।

इब—सं० पु० (हिं० अब)=(वस्तु स्थिति के अनुसार) अव। (सं० इभ्य)—धन-

वान, राजा। उ० इव तूं हसि प्रभू मैं कुछ नांहीं (प० ६५-१)।

इम—क्रि० वि० (सं० एवम्, हि० इमि)–इस प्रकार, इस तरह। उ० बीस पर्पा इम रपियौ। (सा० ३५-१-३)।

इला—सं० स्त्री० (सं० इड़ा)—रीढ़ की वाईं ओर से नाक तक साँस-मार्ग, प्रधान नाड़ी विशेष। उ० इला प्यंगुला सुषमन नांहीं। (प० ३२-३)।

इव—क्रि० वि० (सं० अथ, प्रा० ऊह, हि० अव)—अब, इस क्षण। उ० इव कुछ लिया न जाइ। (सा० ४८-३-२)।

इवैं—सर्व० (सं० एषः)—इस पर, इसी ओर। उ० भ्रमि भ्रमि इवैं पड़ंत। (सा० १-२०-१)।

इष्ट—सं० पु० (सं०)–इष्टदेव, भगवान। उ० मोहि भरोसा इष्ट का। (सा० ३५-११-२)।

इस्ट—(पा० सा० ३२-७-२)।

इस—वि०—(सं० एषः) यह शब्द का विभक्ति के साथ प्रयुक्त रूप। उ० ते नर इस संसार में। (सा० २-१७-२)।

इसका—सर्व०। (पा० प० १६२-६)।

इसहिं—इसको। (पा० प० २३-५)।

इसहि—सर्व०—इसको, इसे। उ० इसहि मरांऊं घालौं काटी। (प० ३६५-४)।

इसु—वि०—(पा० प० ४३-३)।

इसी—वि० (सं० ईदृशी, हि० ऐसी)—ऐसी ही। उ० पांणीं केरा बुदबुदा, इसीं हमारी जाति। (सा० ४६-१४-१)।

इसौ—ऐसा ही। उ० खांड़े की धार जन कौ धरम इसौ रे। (प० २३३-२)।

इस्वर—सं० पु० (सं० ईश्वर)–परमेश्वर, भगवान। उ० इस्वर जोग खरा जब लीन्हां। (र० ३-३६)।

इहंईं—क्रि० वि० (सं० इह)—यहीं। (पा० प० १७७-१२)।

इह—सर्व० (हि० यह)—यह। (पा० प० ११३-६)।

इहर—सर्व० (हि० यह)—इसने। (सा० ४६-१९-नो० २०)।

इहां—क्रि० वि० (हि० यहाँ)—इस जगह पर। उ० हरत इहाँ ही हारिया। (सा० १२-३२-२)।

इहि—सर्व० (हि० यह)—इसी। (पा० प० १०-६)।

इहि भाँति—क्रि० वि० (हि० इस+भाँति)—इसी प्रकार। उ० इहि भाँति भयानक उद्र में। (सा० ३५-१-५)।

इहि—सर्व०, वि० (हि० इस+ही)—इसी, इसही। उ० इहि कबीर कछु पाई हो। (प० ५०-९)। उ० इहि औसरि चेत्या नहीं। (सा० १२-२९-२)।

इहीं—वि० (हि० इस+ही)—इसी। (पा० सा० २१-२४-१)।

इही—वि० (हि० इस+ही)—इसी। उ० इही उदर कै कारणै। (सा० १७-२-१)।

इहु—वि० (हि० यह)—यह। (पा० प० २२-१)।

इहै—सर्व० (हि० यह+ही)—यही, यह ही। उ० इनका इहै विजोग। (सा० १६-३-२)।

ई

ईंछूं—क्रि० स० (सं० इच्छा, हि० ईछना)—चाहता हूँ, इच्छा करता हूँ। उ० जाणौं ईंछूं क्या नहीं। (सा० ४३-१५-१, पाद टिप्पणी)।

ई—सर्व० (सं० ई)—१. निकट का संकेत, यह। २. यही। उ० संतौ ई मुरदन कै गांउं। (पा० प० १०५-१)।

ईट—सं०स्त्री०(सं० इष्टका, पा० इट्ठका, प्रा० इट्ठआ)—ईंट। (सा० १२-१८-१)

ईंधण—सं० पु० (सं० इन्धन)—जलाने की लकड़ी। (सा० १३-३-१)।

ईमांन—सं० पु० (अ०)—धर्म, चित्त की सद्वृत्ति, आस्तिक्य बुद्धि, विश्वास। (प० ३५५-३)।

ईश्वर—सं० पु० (सं०)—१. महादेव, शिव। २. परमेश्वर। (प० ७१-४)।

ईस—सं० पु० (सं० ईश)—ईश्वर। (प० ३६-३)।

उ

उंचेरा—वि० (सं० उच्च)—ऊँची। उ० काहे कूं छाऊं ऊँच उंचेरा। (प० ३६१-५)।

उंदरी—सं० स्त्री० (सं० उँदुर से)—चुहिया। उ० उंदरी बपुरी मंगल गावै, कछू एक आनंद सुनावै। (प० १२-६)।

उंभू—वि० (हि० ऊभना)—ऊँचा, ऊँची जगह पर। (सा० २४-९-नो० १२)।

उकठी—क्रि० अ० (सं० उत्कषण, हि० उकसना)—उभड़ आई, निकली। (सा० १-२९-नो०)।

उक्ती—सं० स्त्री० (सं० उक्ति)—अनुमान से। (बी० र० ३-२)।

उगनींसा—वि० (सं० एकोनविंशति)—उन्नीस, दश और नौ। उ० नव गज दस गज गज उगनींसा, पुरिया एक तनाई (प० १९३-२)।

उघड़त—क्रि० अ० (सं० उद्घाटन, प्रा० उग्घाड़न, हि० उघड़ना)—आवरण रहित होते, खुलते। उ० उघड़त बार न होई। (प० २३-४)।

उघरी—वि० (सं० उद्घाटन)—खुली, उघरी। (पा० प० १४०-३)।

उघाड़िया—क्रि० स० (सं० उद्घाटन, प्रा० उग्घाड़न)—खोल दिया, आवरण रहित कर दिया। उ० लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार। (सा० १-३-२)।

उघाड़ीं—खोल दिया। उ० प्रेम उघाड़ीं पौलि। (सा० ५-४८-१)।

उघारिया—(पा० सा० १-१३-२)।

उघाड़ै—वि० (सं० उद्घाटन)—उघड़े हुए, नंगे। उ० अंगि उघाड़ै लागिया। (सा० १-८-२)।

उघारैं—(पा० सा० १-२३-२)।

उघोरा—क्रि० स० (सं० उद्धरण)—उखाड़ना, उखाड़ देगी, बिखेर देगी। (सा० ४६-१८-नो० २६)।

उचरे—क्रि० स० (सं० उच्चारण)—निकले, उच्चरित हुए। उ० जिहि मुखि

राम न उचरे, तिहि मुख फेरि कहाइ। (सा० २-२३-२)।

उचरै—उच्चरित होता है। (पा० प० १९६-३)।

उचार—क्रि० स० (सं० उच्चारण, हि० उचारना)—उच्चारण करेंगे, पाठ करेंगे उ० ब्रह्मा वेद उचार। (प० १-५)।

उचारा—उच्चारण करेंगे। (पा० प० ५-५)।

उचारैं—क्रि० स० (सं० उच्चाटन, हि० उचारना)—नोचते हैं, उखाड़ते हैं। (वी० र० ३०-५)।

उछकि—क्रि० अ० (हि० उचकना)—चौंकता है, चेत में आता है। उ० दास कबीर इहि रसि माता, कबहूँ उछकि न जाई। (प० ७४-१०)।

उछाह—सं० पु० (सं० उत्साह)—उमंग उ० तिनह उछाह सोक नहीं व्यापै, कहै कबीर करता आपै। (प० १८३-१०)।

उछाहा—उत्कंठा, इच्छा, उमंग। उ० मनिकां मनि कै भये उछाहा। (र० ४-६)

उजल—वि० (सं० उज्ज्वल, प्रा० उज्जल, हि० उजला)—श्वेत, सफेद, स्वच्छ। उ० उजल हूवा न छूटिए। (सा० १२-५३-२)।

उजागर—वि० (सं० उज्जाग्रत)—प्रकाशित, प्रकट। (पा० प० १७६-७)।

उजाड़—सं० पु० (हि० उजड़ना से)—उजड़ा हुआ स्थान, ध्वस्त जगह। उ० होत उजाड़ सबै कोई जानैं। (प० ८१-६)।

उजार—निर्जन स्थान। (वी०र० ६६-५)

उजाला—वि० (सं० उज्ज्वल)-प्रकाश। उ० तऊ उजाला सोइ। (सा० २६-१६-२)।

उजारा—उजाला। (पा० प० ८०-६)।

उजारे—उजाले। (पा० प० ६१-१)।

उजालै—प्रकाश। (पा० प० १७६-५)।

उजास—सं० पु० (हि० उजाला+स (प्रत्य०)—प्रकाश, उजाला। उ० रवि ससि बिना उजास। (सा० ५-२-१)।

उजिआरा—सं० पु० (सं० उज्ज्वल)—प्रकाश। (पा० प० ५६-२)।

उजियारा— (१) वि०—भाग्यशाली, प्रतापी। उ० जग उजियारा सोइ। (सा० २४-३-२)।

(२) सं० पु०—उजाला, प्रकाश। उ० मंदिर मांहि भया उजियारा। (प० २-४)।

उजियारी—प्रकाश, रोशनी। (पा० प० १४५-४)।

उजीणीं—सं०स्त्री० (सं० उज्जयिणी)—उज्जैन नगरी, मालवा की राजधानी। (प० २९९-४)।

उज्जल—(१) क्रि० वि० (सं० उद् = ऊपर+जल)—बहाव से उलटी ओर (२) वि० दे० 'उजल'। उ० उज्जल निर्मल नीर। (सा० ७-१-१)।

उझकै—क्रि० अ० (हि० उचकना से उझकना)—उछलता है, कूदता है। (सा० ४६-२६-नो०-२६)।

उझकि—क्रि० अ० (हि० उचकना, उझकना)—सजग होकर, सिर ऊपर उठाकर। उ० चेरा कबहूँ उझकि न देखै, चेरा अधिक चितेरा। (प० २३८-१०)।

उझरी—क्रि० स० (सं० उज्झरण, हि० उझलना)—ढाल दी गई, छोड़ दी गई, समाप्त कर दी गई। उ० गये पषनियां उझरी बाजी। (प० ६२-८)।

उठाई—क्रि० स० (हि० उठना से)—निर्माण की गई। (बी० र० ५५-४)।
उठाए—हटाये। (सा० ४६-२२-नो०-४०)।
उठावा—तैयार किया। उ० सेप सहज मैं महल उठावा, चन्द सूर बिचि तारी लावा। (र० १-६)।
उठि—क्रि० अ० (सं० उत्थान, पा० उट्ठान)—उठो, उठकर, तैयार होकर। उ० करम किरांणां बेचि करि, उठि ज लागे बाट। (सा० १२-५७-२)।
उठी—उठ आई, उग आई। उ० जिमीं मांहि उठी हरियाई। (र० ४-५)।
उठै—उठती है। उ० पछिम दिसा उठै धूरि। (सा० ५-४६-१)।
उठ्या—उठा। उ० मृतक उठ्या धनक कर लीयै। (प० ६-५)।
उड़ये—क्रि० अ० (हि० उड़ना)—उड़ने में। (बी० र० ७१-३)।
उडांनी—दे० 'उड़ानीं' (पा० प० ५२-२)।
उड़ा—उड़ गया। (पा० प० ७०-४)।
उड़ाइ—उड़ाकर। (पा० सा० १६-३७-२)।
उड़ांनां—उड़ने जाता है। उ० तर पंखी जेम उड़ांनां। (प० २६६-१७)।
उडानीं—उड़ी। उ० पंषि उड़ानीं गगन कूं, उड़ी चढ़ी असमान। (सा० ५-२१-१)।
उड़ावत—उड़ाते। उ० कऊव। उड़ावत मेरी बहियां पिरांनीं। (प० ३६०-४)।
उड़ि—उड़कर। उ० अब उड़ि अनत न जाहिं। (पा० ५-३६-२)।
उड़िउड़ि पड़ैं—उड़-उड़कर गिर पड़ते हैं। उ० तब उड़ि उड़ि पड़ैं पतंग। (सा० ४-१-२)।
उड़िया—उड़ती है, चलती-फिरती है। उ० जब लग पवन तबै लग उड़िया। (प० ६१-२)।
उड़िबौ—उड़ना, उड़ने की क्रिया। उ० उड़िबौ लागौ कांहीं। (प० २६६-३)।
उड़ी—उड़कर। उ० उड़ीं चढ़ी असमान। (सा० ५-२१-१)।
उड़े—उड़ती है। उ० पंषि उड़े नहीं जाइ। (सा० १०-१-१)।
उड्या—उड़ गया, पृथक होकर लुप्त हो गया। उ० उड्या विहंगम खोज न पाया, ज्यूं जल जलहि समांनां। (प० ६-१२)।
उतंग—वि० (सं० उत्तुंग)—बहुत ऊँचा, बुलन्द, महान। उ० हरि उतंग मैं जाति पतंगा। (र० ४-२६)।
उत—क्रि० वि० (सं० उत्तर अथवा हि० उस+त (प्रत्य०)—उधर, उस ओर। उ० इत के भए न उत के। (सा० १२-२५-२)।
उततें—उधर से। (पा० सा० १०-३-१)।
उतपति—सं० स्त्री० (सं० उत्पत्ति)—पैदायश। (सा० १५-२-नो०३)।
उतपनां—क्रि० अ० (सं० उत्पन्न)—उत्पन्न हुआ। उ० पंचतत अविगत थैं उतपनां, एकैं किया निवासा। (प० ४४-२)।
उतपात—सं० पु० (सं० उत्पात)—शरीरादिक की सृष्टि, आकस्मिक घटना (बी० र० ३६-५)।
उतपाति—सं० स्त्री० (सं० उत्पत्ति)—सृष्टि, उद्भव। उ० कीया है उतपाति। (र० ५-२५)।
उतपाती—दे० 'उतपानी'। (पा० र० ५-४)।

उतपानी—क्रि० स० (सं० उत्पन्न)—उत्पन्न किया। (बीं र० ७-१)।

उतरदषिण—वि० (सं० उत्तर)— उत्तर दिशा व दक्षिण दिशा, चारों ओर के। उ० उतर दषिण के पंडिता, रहे बिचारि-बिचारि। (सा० ४-५-२)।

उतरसि—क्रि० अ० (सं० अवतरण)— उतर सकता है। (पा० प० ४६-६)।

उतरा—उतर गया। (पा०सा० ८-९-२)।

उतरि—उतर कर। उ० सेऊ उतरि पारि गये, राम नाम लीन्हां। (प० १२०-६)।

उतरे—उतर गए। (पा० प० १६५-१)।

उतरै—उतरता है। (पा०प० १८६-४)।

उतरया—पार लगा, मुक्त हुआ। उ० अनभै उतरया पार। (सा० ५-४३-२)।

उतरया चाहै—(यौ०) उतरना चाहता है। (सा० १७-२०-२)।

उतरानी—क्रि० अ० (सं० उत्तरण, हि० उतराना)—पानी की सतह पर उतराते हुए। (बीं र० ४५-६)।

उतानै—क्रि०स० (सं० उत्पन्न)—बनाना। (सं० उत्तान) चित्त अर्थात् पीठ के बल लेटे हुए ही। (पा०प० १००-२)।

उतारा—क्रि० स० (सं० अवतारण, हि० उतारना)—पहुँचाया। उ० आनि कबीरा राहि उतारा। (प० ११३-३)।

उतारि—उतार कर। (पा०प० १८८-८)

उतारिया—पहुँचाया, उतारा। (पा० सा० १४-१७-१)।

उतारी—पार की, पहुंचाई। (पा० सा० ३१-१७-२)।

उतारै—(१) लावे, ले जाए (२) देता है, हटाता है। उ० तऊ न हेत उतारै माता। (प० १११-४)।

उतारी—दूर करो। उ० कलंक उतारी केसवा, मांनीं मरम अंदेस। (सा० ५६-४-२)।

उतावला—वि० (सं० उद्+त्वर)—जल्दी मचाने वाला, व्यग्र। उ० पवनां वेगि उतावला, सो दोसत कबीरै कीन्ह। (सा० १३-१९-२)।

उतीथैं—क्रि० वि० (हि० उत से)—उधर से। उ० उतीथैं कोइ न आवई, जाकूं बूझौं धाइ। (सा० १४-२-१)।

उत्तम—वि० (सं०)—श्रेष्ठ, अच्छा। (पा० सा० ३०-२०-१)।

उत्तिम—उ० मनिषा जन्म उत्तिम जो पाया। (र० २-६४)।

उत्यम—उ० उत्यम ते अलगे रहैं। (सा० २०-१४-२)।

उधि—क्रि० वि० (हि० उस+त (प्रत्य०), उत)—उधर, उस ओर। (सा० १२-५७-नो०)

उदकि—दे० 'उदिक'। (पा०प० १३२-६)

उदमादि—सं० पु० (सं० उद्+माद)—उन्मत्तता, पागलपन। उ० बंध्यौ न जांनै जल उदमादि। (प० ८६-५)।

उदया—क्रि० अ० (सं० उदय से, हि० उदयना)—उदय हुआ। उ० उदया सूर निस किया पयांनां, सोवत थें जब जागा। (प० ६-६)।

उदर—सं० पु० (सं०)—पेट, जठर। उ० इही उदर कै कारणै, जग जांच्यौ निस जाम। (सा० १७-२-१)।

उदरि—(पा० प० ६०-४)।

उदरु—(पा० प० १६६-५)।

उदात—वि० (सं० उदात्त)—बड़ा, विशद। (पा० प० १७६-७)।

उदार—वि० (सं०)—ऊँचे दिल का, बड़ा। (पा० प० ४५-३)।

उदास—वि० (सं०)—दुःखी, विरक्त। उ० भया कबीर उदास। (सा० १२-१६-२)।

उदासा—खिन्न चित्त, दुःखी। उ० मेघ न बरिखै जांहि उदासा। (र० ४-११)

उदासी—सं० पु० (सं० उदास+ई (प्रत्य०)—विरक्त पुरुष, त्यागी व्यक्ति। उ० तामैं एक उदासी, तिहि तणि वुणि सबै विनासी। (प० २८९-४)।

उदिकंथैं—सं० पु०(सं० उदक से)—जल, कभी वीर्य, रज। उ० उदिकंथैं पंड प्रगट कियौ। (सा० ३५-१-१)।

उदिक—सं० पु० (सं० उदक)—जल, पानी। उ० ज्यूं बिंबहि प्रतिबिंब समांनां, उदिक कुंभ बिगरांनां। (प० १७९-९)।

उदित—वि० (सं०)—उत्पन्न हुआ, निकला। उ० जाकै नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गंग तरंग रे। (प० ३९०-५)।

उदिध—सं० पु० (सं० उदधि)—समुद्र। उ० संकट सकति सकल सुख खोये, उदिध मथित सब हारे। (प० १६८-७)।

उदेस—दे० 'आदेस'। (पा०प० १३७-६)

उदै किया—क्रि० अ० (सं० उदय से)—उगे, निकले। उ० अति आतुर उदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मंद। (सा० १-१८-२)।

उदै भया—उ० उदै भया जब सूर का। (सा० १७-१६-२)।

उद्यक—सं० पु० (सं० उदक)—जल, पानी। उ० काचै कुंभ उद्यक भरि राख्यौ, तिनकी कौन बड़ाई। (प० २४१-४)।

उद्र—दे० 'उदर'। इहिं भाँति भयानक उद्रमें, उद्र न कबहू छंछरै। (सा० ३५-१-५)।

उधव—सं० पु० (सं० उद्धव)—श्रीकृष्ण का एक यादव सखा। उ० जागे सुक उधव अकूर। (प० ३८७-५)।

उधरिया—क्रि० अ० (सं० उद्धरण, हि० उधरना)—प्रगट हुए। उ० धरनी वेद लेन उधरिया। (र० बा० ५४)।

उधारन—क्रि० स० (सं० उद्धार)—उद्धार करना, छुड़ाना। (पा० प० १४९-१०)।

उधारा—सं० पु० (सं० उद्धार)—(१) निस्तार, छुटकारा (२) बिना मूल्य के। उ० कौंण जीव का करहु उधारा। (र० १-१५)। उ० पीव क्यूं बौरी मिलहि उधारा। (प० ३७१-२)।

उधारि—वि० (हि० उधराना)—मनमाना काम करने वाला। उ० इंद्री अजहु उधारि। (सा० १३-१५-२)।

उधारै—क्रि०स० (सं० उद्धार)—उद्धार किया। (पा० प० २६-१२)।

उन—सर्व० (?)—उन्, वह का बहुवचन रूप। (पा० प० ४२-६)।

उनकै—उनके (पा० प० ३४-१२)।

उनइस—वि० (सं० एकोनविंशति)—दे० 'उगनींसा'। (पा० प० १११-३)।

उनथैं—सर्व० (हि० वह से बहुवचन उन+थैं)—उनसे, उनकी तुलना में। उ० सिध साधिक उनथैं कहु कोई। (र० ३-३७)।

उनमति—सं० पु० (सं० उन्माद)—पागलपन, बावलापन। (प० ७२-नो०)।

उनमन—वि० (सं० अन्यमनस्क, हि० उनमुना)—मौन, चुपचाप। उ० मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल अकासां जोइ। (सा० १३-९-२)।

उनमनि—सं० स्त्री० (सं० उन्मनी)—प्रपंच में पड़े मन को निर्विषय कर देने अथवा उसे मार डालने की उनमुनी मुद्रा। उ० उनमनि लागि रह्यो जे ताकैं। (र० बा० ६८)।

उनमनीं—दे० 'उनमन'। उ० हँसै न बोलै उनमनीं, चंचल मेल्ह्या मारि। (सा० १-६-१)।

उनमन्न—वि० (सं० अन्यमनस्क, हि० अनमना से)—सहज समाधि में। उ० मन लागा उनमन्न सौं, गगन पहुँचा जाइ। (सा० ५-१५-१)।

उनमांन—वि० (सं० अनुमान)—अनुरूप, समान, बराबर। उ० बित उनमांन छिबुवा इक पावा। (र० ४-८२)।

उनमांनां—क्रि० स० (हि० उनमान से उनमानना)—सोचा है, अनुमान किया है। उ० जो धागा उनमांनां। (प० ३२-६)।

उनमान—दे० 'उनमांन'। अनुमान। उ० पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान। (सा० ५-३-१)।

उनमानां—दे० 'उनमांन'। समझ, अटकल, अनुमान। उ० सुमिरत हूँ अपनैं उनमानां (र० ४-२६)।

उनमुनां—दे० 'उन्मन'। (पा० सा० ४-२६-२)।

उनमुनि—दे० 'उन्मनि'। (पा० सा० ९-४०-२)।

उनयां—क्रि० अ० (सं० उन्नमन, हि० उनवना)—छाया, घिर आया। उ० बादल बांनी रांम घन उनयां। (प० १५१-३)।

उनवैं—दे० 'उनयां'। उ० माया मोह उनवैं भरपूरी। (र० ३-२२)।

उनहुँ—सर्व० (हि० उन+हू=भी)—उन्होंने भी। (बी० र० ३४-३)।

उनहूं—उन्होंने भी। उ० मन की गति उनहूं नहीं जानीं। (प० ३३-३)।

उनि—उन्होंने। उ० उनि माला उनि तसबी लई। (प० ५६-४)।

उन्मन—वि० (सं० उन्मना)—उदासीन, निर्लिप्त, मौन। उ० सो संन्यासी उन्मन रहै। (र० १-२२)।

उन्मनि—सं० स्त्री० (सं० उन्मनी)—खेचरी आदि पाँच मुद्राओं में से एक जिसमें दृष्टि को नाक की नोक पर गड़ाते व भौं को ऊपर चढ़ाते हैं। उ० उन्मनि चढ्या मगन रस पीवै, त्रिभवन भया उजियारा। (प० ७२-२)।

उपकारी—वि० (सं० उपकारिन्)—उपकार करने वाला। (पा०प० ६१-५)।

उपगार—सं०(सं० उपकार)—भलाई। उ० अनँत किया उपगार। (सा० १-३-१)।

उपगारी—दे० 'उपकारी'। उ० दाता तरवर दया फल, उपगारी जीवंत। (सा० ४७-७-१)।

उपज—दे० 'उपजि'। (पा० सा० २२-१५-२)।

उपजत—क्रि० अ० (हि० उपजना)—उत्पन्न होते-होते, उपजते। उ० उपजत उपजत बहुत उपाई। (प० १७-५)।

उपजा—उत्पन्न हुआ। (पा०प० ५५-६)।

उपजि—(१) क्रि०अ० (हि० उपजना)—उत्पन्न होकर। उ० उपजि बये बेकाम। (सा० २-१७-२)।
(२) सं० स्त्री० (हि० उपजना)—उद्भावना, सूझ। उ० उपजि बिनां कछू समझि न परई। (प० २८४-२)।

उपजित—उत्पन्न होने पर, उगने पर।

उदास—वि० (सं०)—दुःखी, विरक्त। उ० भया कबीर उदास। (सा० १२-१६-२)।

उदासा—खिन्न चित्त, दुःखी। उ० मेघ न बरिखै जांहि उदासा। (र० ४-११)

उदासी—सं० पु० (सं० उदास+ई (प्रत्य०)—विरक्त पुरुष, त्यागी व्यक्ति। उ० तामैं एक उदासी, तिहि तणि बुणि सबै विनासी। (प० २८९-४)।

उदिकंथैं—सं० पु०(सं० उदक से)—जल, कभी वीर्य, रज। उ० उदिकंथैं पंड प्रगट कियौ। (सा० ३५-१-१)।

उदिक—सं० पु० (सं० उदक)—जल, पानी। उ० ज्यूं बिंबहि प्रतिब्रिंब समांनां, उदिक कुंभ बिगरांनां। (प० १७९-९)।

उदित—वि० (सं०)—उत्पन्न हुआ, निकला। उ० जाकै नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गंग तरंग रे। (प० ३९०-५)।

उदिध—सं० पु० (सं० उदधि)—समुद्र। उ० संकट सकति सकल सुख खोये, उदिध मथित सब हारे। (प० १६८-७)।

उदेस—दे० 'आदेस'। (पा०प० १३७-६)

उदै किया—क्रि० अ० (सं० उदय से)—उगे, निकले। उ० अति आतुर उदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मंद। (सा० १-१८-२)।

उदै भया—उ० उदै भया जब सूर का। (सा० १७-१६-२)।

उद्यक—सं० पु० (सं० उदक)—जल, पानी। उ० काचै कुंभ उद्यक भरि राख्यौ, तिनकी कौन बड़ाई। (प० २४१-४)।

उद्र—दे० 'उदर'। इहिं भाँति भयानक उद्रमें, उद्र न कबहू छंछरै। (सा० ३५-१-५)।

उधव—सं० पु० (सं० उद्धव)—श्रीकृष्ण का एक यादव सखा। उ० जागे सुक उधव अक्रूर। (प० ३८७-५)।

उधरिया—क्रि० अ० (सं० उद्धरण, हि० उधरना)—प्रगट हुए। उ० धरनी वेद लेन उधरिया। (र० वा० ५४)।

उधारन—क्रि० स० (सं० उद्धार)—उद्धार करना, छुड़ाना। (पा० प० १४९-१०)।

उधारा—सं० पु० (सं० उद्धार)—(१) निस्तार, छुटकारा (२) विना मूल्य के। उ० कौंण जीव का करहु उधारा। (र० १-१५)। उ० पीव क्यूं बौरी मिलहि उधारा। (प० ३७१-२)।

उधारि—वि० (हि० उधराना)—मन-माना काम करने वाला। उ० इंद्री अजहु उधारि। (सा० १३-१५-२)।

उधारै—क्रि०स० (सं० उद्धार)—उद्धार किया। (पा० प० २६-१२)।

उन—सर्व० (?)—उन्, वह का बहुवचन रूप। (पा० प० ४२-६)।

उनकै—उनके (पा० प० ३४-१२)।

उनइस—वि० (सं० एकोनविंशति)—दे० 'उगनींसा'। (पा० प० १११-३)।

उनथैं—सर्व० (हि० वह से बहुवचन उन+थैं)—उनसे, उनकी तुलना में। उ० सिध साधिक उनथैं कहु कोई। (र० ३-३७)।

उनमति—सं० पु० (सं० उन्माद)—पागलपन, बावलापन। (प० ७२-नो०)।

उनमन—वि० (सं० अन्यमनस्क, हि० उनमुना)—मौन, चुपचाप। उ० मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल अकासां जोइ। (सा० १३-९-२)।

उनमनि—सं० स्त्री० (सं० उन्मनी)—प्रपंच में पड़े मन को निर्विषय कर देने अथवा उसे मार डालने की उनमुनी मुद्रा। उ० उनमनि लागि रह्यौ जे ताकैं। (र० वा० ६८)।

उनमनीं—दे० 'उनमन'। उ० हँसै न बोलै उनमनीं, चंचल मेल्ह्या मारि। (सा० १-६-१)।

उनमन्न—वि० (सं० अन्यमनस्क, हि० अनमना से)—सहज समाधि में। उ० मन लागा उनमन्न सौं, गगन पहुँचा जाइ। (सा० ५-१५-१)।

उनमांन—वि० (सं० अनुमान)—अनुरूप, समान, बराबर। उ० वित उनमांन ढिवुवा इक पावा। (र० ४-८२)।

उनमांनां—क्रि० स० (हि० उनमान से उनमानना)—सोचा है, अनुमान किया है। उ० जौ धागा उनमांनां। (प० ३२-६)।

उनमान—दे० 'उनमांन'। अनुमान। उ० पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान। (सा० ५-३-१)।

उनमानां—दे० 'उनमांन'। समझ, अटकल, अनुमान। उ० सुमिरत हूँ अपनैं उनमानां (र० ४-२६)।

उनमुनां—दे० 'उन्मन'। (पा० सा० ४-२६-२)।

उनमुनि—दे० 'उन्मनि'। (पा० सा० ६-४०-२)।

उनयां—क्रि० अ० (सं० उन्नमन, हि० उनवना)—छाया, घिर आया। उ० वादल बांनी रांम घन उनयां। (प० १५१-३)।

उनवैं—दे० 'उनयां'। उ० माया मोह उनवैं भरपूरी। (र० ३-२२)।

उनहुँ—सर्व० (हि० उन+हू=भी)—उन्होंने भी। (वी० र० ३४-३)।

उनहूं—उन्होने भी। उ० मन की गति उनहूं नहीं जानीं। (प० ३३-३)।

उनि—उन्होंने। उ० उनि माला उनि तसबी लई। (प० ५६-४)।

उन्मन—वि० (सं० उन्मना)—उदासीन, निर्लिप्त, मौन। उ० सो संन्यासी उन्मन रहै। (र० १-२२)।

उन्मनि—सं० स्त्री० (सं० उन्मनी)—खेचरी आदि पाँच मुद्राओं में से एक जिसमें दृष्टि को नाक की नोक पर गड़ाते व भौं को ऊपर चढ़ाते हैं। उ० उन्मनि चढ्या मगन रस पीवैं, त्रिभवन भया उजियारा। (प० ७२-२)।

उपकारी—वि० (सं० उपकारिन्)—उपकार करने वाला। (पा०प० ६१-५)।

उपगार—सं०(सं० उपकार)–भलाई। उ० अनँत किया उपगार। (सा० १-३-१)।

उपगारी—दे० 'उपकारी'। उ० दाता तरवर दया फल, उपगारी जीवंत। (सा० ४७-७-१)।

उपज—दे० 'उपजि'। (पा० सा० २२-१५-२)।

उपजत—क्रि० अ० (हि० उपजना)—उत्पन्न होते-होते, उपजते। उ० उपजत उपजत वहुत उपाई। (प० १७-५)।

उपजा—उत्पन्न हुआ। (पा०प० ५५-६)।

उपजि—(१) क्रि०अ० (हि० उपजना)—उत्पन्न होकर। उ० उपजि वये वेकाम। (सा० २-१७-२)।
(२) सं० स्त्री० (हि० उपजना)—उद्भावना, सूझ। उ० उपजि विनां कछू समझि न परई। (प० २८४-२)।

उपजित—उत्पन्न होने पर, उगने पर।

उदास—वि० (सं०)—दुःखी, विरक्त। उ० भया कवीर उदास। (सा० १२-१६-२)।

उदासा—खिन्न चित्त, दुःखी। उ० मेघ न वरिखै जांहि उदासा। (र० ४-११)

उदासी—सं० पु० (सं० उदास+ई (प्रत्य०)—विरक्त पुरुष, त्यागी व्यक्ति। उ० तामैं एक उदासी, तिहि तणि वुणि सवै विनासी। (प० २८९-४)।

उदिकंथैं—सं० पु०(सं० उदक से)—जल, कभी वीर्य, रज। उ० उदिकंथैं पंड प्रगट कियौ। (सा० ३५-१-१)।

उदिक—सं० पु० (सं० उदक)—जल, पानी। उ० ज्यूं विवहि प्रतिविंव समांनां, उदिक कुंभ विगरांनां। (प० १७९-६)।

उदित—वि० (सं०)—उत्पन्न हुआ, निकला। उ० जाकै नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गंग तरंग रे। (प० ३९०-५)।

उदिध—सं० पु० (सं० उदधि)—समुद्र। उ० संकट सकति सकल सुख खोये, उदिध मथित सव हारे। (प० १६८-७)।

उदेस—दे० 'आदेस'। (पा०प० १३७-६)

उदै किया—क्रि० अ० (सं० उदय से)—उगे, निकले। उ० अति आतुर उदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मंद। (सा० १-१८-२)।

उदै भया—उ० उदै भया जव सूर का। (सा० १७-१६-२)।

उद्यक—सं० पु० (सं० उदक)—जल, पानी। उ० काचै कुंभ उद्यक भरि राख्यौ, तिनकी कौन वड़ाई। (प० २४१-४)।

उद्र—दे० 'उदर'। इहिं भाँति भयानक उद्रमें, उद्र न कवहू छंछरैं। (सा० ३५-१-५)।

उधव—सं० पु० (सं० उद्धव)—श्रीकृष्ण का एक यादव सखा। उ० जागे सुक उधव अकूर। (प० ३८७-५)।

उधरिया—क्रि० अ० (सं० उद्धरण, हि० उधरना)—प्रगट हुए। उ० धरनी वेद लेत उधरिया। (र० वा० ५४)।

उधारन—क्रि० स० (सं० उद्धार)—उद्धार करना, छुड़ाना। (पा० प० १४९-१०)।

उधारा—सं० पु० (सं० उद्धार)—(१) निस्तार, छुटकारा (२) विना मूल्य के। उ० कौंण जीव का करहु उधारा। (र० १-१५)। उ० पीव क्यूं वौरी मिलहि उधारा। (प० ३७१-२)।

उधारि—वि० (हि० उधराना)—मन-माना काम करने वाला। उ० इंद्री अजहु उधारि। (सा० १३-१५-२)।

उधारैं—क्रि०स० (सं० उद्धार)—उद्धार किया। (पा० प० २६-१२)।

उन—सर्व० (?)—उन्, वह का वहुवचन रूप। (पा० प० ४२-६)।

उनकै—उनके (पा० प० ३४-१२)।

उनइस—वि० (सं० एकोनविंशति)—दे० 'उगनींसा'। (पा० प० १११-३)।

उनथैं—सर्व० (हि० वह से वहुवचन उन+थैं)—उनसे, उनकी तुलना में। उ० सिध साधिक उनथैं कहु कोई। (र० ३-३७)।

उनमति—सं० पु० (सं० उन्माद)—पागलपन, वावलापन। (प० ७२-नो०)।

उनमन—वि० (सं० अन्यमनस्क, हि० उनमुना)—मौन, चुपचाप। उ० मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल अकासां जोइ। (सा० १३-९-२)।

उवरंत—क्रि० अ० (सं० उद्धारण, पा० उव्वारन, हि० उवरना)—वच गए, मुक्त हो गए, शेप हो गए। उ० एक आध उवरंत। (सा० १-२०-२)।

उवर पावै—निस्तार पा सकता है। उ० कोई जन उवर न पावै। (प० ३६७-५)।

उवरहुगे—निस्तार पाओगे, छूटोगे। उ० सबै जीव सांईं के प्यारे, उवरहुगे किस वोलै। (प० ६२-८)।

उवरे—वचता है। उ० सो उवरे जे खाइ। (सा० १६-१२-२)।

उवहै—क्रि० स० (सं० उद्वहन, पा० उव्वहन, हि० उवहना)—उलीचता है, ढरकाता है। (बी० र० ४३-५)।

उवार—सं० पु० (सं० उद्धारण)-उद्धार, निस्तार, वचाव, रक्षा। (बी० र० ६०-५)।

उवारा—उद्धार, रक्षा, वचाव। उ० जैन जीव का करहु उवारा। (र० १-१५)।

उवारै—क्रि० स० (सं० उद्धारण, हि० उवारना)—उद्धार करता है, मुक्त करता है। उ० भगत की सरन उवारै। (प० १२२-८)।

उभेपै—वि० (?)—आश्चर्यचकित। उ० ऐसा अद्‌भुत मेरे गुरि कथ्या, मैं रह्या उभेपै। (प० १६१-१)।

उमगे—क्रि० अ० (हि० उमंग+ना (प्रत्य०)—उभरे, निकले। (बी० र० ५६-१)।

उमति—सं० स्त्री० (अ० उम्मत)—जमात, मंडली, समाज। उ० अलह सोई जिनि उमति उपाई। (प० ३२७-४)।

उमा—सं० स्त्री० (सं०)—पार्वती। (बी० र० ५३-१)।

उमाहा—सं० पु० (सं० उद्+मह)—उमंग, उत्साह, जोश। उ० कहति कवीर मोहि भगति उमाहा। (प० २७१-७)।

उर—सं० पु० (सं० उरस्)—हृदय, मन। उ० गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुंनि ल्यौ घाट। (सा० १०-३-१)।

उरझाई—क्रि० स० (हि० उलझाना)—उलझाकर, वंधन में डालकर। उ० प्रेम प्रीति राखौं उरझाई। (प० ३-४)।

उरझाना-उलझाना। (पा०प० १८०-४)।

उरझि पुरझि करि—(यौ०)—उलझन में पड़कर। उ० उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिउं वेदां माहिं। (सा० १७-१०-२)।

उरझै—उलझता है। (पा०प० ६७-५)।

उरझेरा—सं० पु० (हि० उलझना से उलझेड़ा)—खींचातानी, वखेड़ा। उ० जनमि जनमि उरझेरा। (प० २३८-११)।

उरझयो—दे० 'उरझाई'। लपेट में पड़ा हुआ। उ० उरझयो सूत पांन नहीं लागै, कूच फिरै सव लाई। (प० १०६-३)।

उरध—क्रि० वि० (सं० ऊर्ध्व)—ऊपर, उधर की ओर। उ० उरध पाव अरध सीस, वीस पषां इम रपियौ। (सा० ३५-१-३)।

उरधरिया—क्रि० स० (सं० उद्धरण)—विखराना, फैलाना, उधेड़ना। (पा० प० ११२-५)।

उरधैं—दे० 'उरध'। (पा० चौ० र० २४-१)।

उरवारा—दे० 'उवारा'। (र० वा०-२८)।

(सा० १५-२-नो० ३)।

उपजी—उत्पन्न हुई। उ० मूंदे मदन सहज धुनि उपजी। (प० १५५-६)।

उपजे—उत्पन्न हुए। (पा०प० १६६-६)।

उपजै—उत्पन्न हो, प्राप्त हो। उ० उपजै ब्रह्म गियान। (सा० ५-४४-१)।

उपदेश—सं० पु० (सं० उपदेश)–सिद्धांत-निर्णय, शिक्षा। उ० सब काहू उपदेश। (सा० २-२-२)।

उपदेस—शिक्षा। (पा० प० १८८-१०)।

उपदेसा—शिक्षा। (पा० प० १६७-२)।

उपदेसी—वि०—शिक्षा देने वाले। (पा० प० १८६-५)।

उपना—दे० 'उतपनां'। (प० ४०-नो० ४२)।

उपनाया—क्रि० स० (हि० उपजाना)—उत्पन्न किया। उ० अला एकै नूर उपनाया, ताकी कैसी निंदा। (प० ५१-३)।

उपनिषद—सं० पु० (सं० उपनिषद्)—वेदों की शाखाओं के ब्राह्मणों के वे अंतिम भाग, जिनमें ब्रह्म विद्या का निरूपण है। (बी० र० ८-१)।

उपनौं—क्रि० अ० (हि० उपनना से)—उपजा, उत्पन्न हुआ। उ० ग्वाड़ा मांहैं आनंद उपनौं, खूंटै दोऊ बांधी रे। (प० १५२-६)।

उपमां—सं० स्त्री० (सं० उपमा)–सादृश्य, तुलना। उ० ऐ उपमां हरि किती एक ओपै (प० ३३५-३)।

उपर—क्रि० वि० (सं० उपरि)—ऊँचाई पर। उ० छीको छोडि उपर हिंडौ बांधौ, ज्यूं जुगि-जुगि रहौ समांइ। (प० २२-४)।

उपरि—ऊपर। उ० डागल उपरि दौड़णां, सुख नींदड़ी न सोइ (सा० १२-५६-१)।

उपरांति—क्रि० वि० (सं० उपरान्त)—अनंतर, बाद में। उ० चारि वरन उपरांति चढ़ै। (प० १८३-७)।

उपांनीं—क्रि० स० (सं० उत्पन्न, प्रा० उप्पन्न)—उत्पन्न की गई, रची गई। उ० जब नही होती सिष्टि उपांनीं। (र० ५-६)।

उपाइ—(१) क्रि० स० (सं० उत्पन्न, प्रा० उप्पन्न)—उत्पन्न करके, पैदा करके। उ० अंतरि रोस उपाइ। (सा० ३-३२-१)।
(२) सं० पु० (सं० उपाय)—साधन। उ० बिष फल कीए उपाइ। (सा० २०-११-१)।

उपाई—उत्पन्न की। उ० अलह सोई जिनि उमति उपाई। (प० ३२७-४)।

उपाड़ौं—क्रि० स० (सं० उत्पाटन, हि० उपाटना)—उखाड़ डालूं। उ० दाँत उपाड़ौं पापणी, जे संतौ नेड़ी जाइ। (सा० १६-२१-२)।

उपाधि—सं० स्त्री० (सं०) उपद्रव, उत्पात। उ० तन मैं होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधि। (प० १५-३)।

उपानें—दे० 'उपांनीं'। (पा० प० १७७-१३)।

उपाया—क्रि० स० (सं० उत्पन्न, प्रा० उप्पन्न, हि० उपाना)—पैदा किया। उ० सूक बिरख यहु जगत उपाया। (र० २-७)।

उपारूं—दे० 'उपाडौं'। (पा० सा० ३१-८-२)।

उपावा—सं० पु० (सं० उपाय)—साधन, युक्ति, तदबीर। उ० ताकूं तैसा कीन्ह उपावा। (र० २-२०)।

उवरंत—क्रि० अ० (सं० उद्धारण, पा० उव्वारन, हि० उवरना)—बच गए, मुक्त हो गए, शेष हो गए। उ० एक आध उवरंत। (सा० १-२०-२)।

उवर पावै—निस्तार पा सकता है। उ० कोई जन उवर न पावै। (प० ३९७-५)।

उवरहुगे—निस्तार पाओगे, छूटोगे। उ० सबै जीव सांई के प्यारे, उवरहुगे किस बोलै। (प० ६२-८)।

उवरै—बचता है। उ० सो उवरै जे खाइ। (सा० १६-१२-२)।

उवहै—क्रि० स० (सं० उद्वहन, पा० उव्वहन, हि० उवहना)—उलीचता है, ढरकाता है। (बी० र० ४३-५)।

उवार—सं० पु० (सं० उद्धारण)-उद्धार, निस्तार, बचाव, रक्षा। (बी० र० ६०-५)।

उवारा—उद्धार, रक्षा, बचाव। उ० जैन जीव का करहु उवारा। (र० १-१५)।

उवारै—क्रि० स० (सं० उद्धारण, हि० उवारना)—उद्धार करता है, मुक्त करता है। उ० भगत की सरन उवारै। (प० १२२-८)।

उभेषै—वि० (?)—आश्चर्यचकित। उ० ऐसा अद्भुत मेरे गुरि कथ्या, मैं रह्या उभेषै। (प० १६१-१)।

उमगे—क्रि० अ० (हि० उमंग+ना (प्रत्य०)—उभरे, निकले। (बी० र० ५६-१)।

उमति—सं० स्त्री० (अ० उम्मत)—जमात, मंडली, समाज। उ० अलह सोई जिनि उमति उपाई। (प० ३२७-४)।

उमा—सं० स्त्री० (सं०)—पार्वती। (बी० र० ५३-१)।

उमाहा—सं० पु० (सं० उद्+मह)—उमंग, उत्साह, जोश। उ० कहति कबीर मोहि भगति उमाहा। (प० २७१-७)।

उर—सं० पु० (सं० उरस्)—हृदय, मन। उ० गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुंनि ल्यौ घाट। (सा० १०-३-१)।

उरझाई—क्रि० स० (हि० उलझाना)—उलझाकर, बंधन में डालकर। उ० प्रेम प्रीति राखौं उरझाई। (प० ३-४)।

उरझाना—उलझाना। (पा०प० १८०-४)।

उरझि पुरझि करि—(बी०)—उलझन में पड़कर। उ० उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिउं वेदां माहिं। (सा० १७-१०-२)।

उरझै—उलझता है। (पा०प० ६७-५)।

उरझेरा—सं० पु० (हि० उलझना से उलझेड़ा)—खींचातानी, बखेड़ा। उ० जनमि जनमि उरझेरा। (प० २३८-११)।

उरझयो—दे० 'उरझाई'। लपेट में पड़ा हुआ। उ० उरझयो सूत पांन नहीं लागै, कूच फिरै सब लाई। (प० १०६-३)।

उरध—क्रि० वि० (सं० ऊर्ध्व)—ऊपर, उधर की ओर। उ० उरध पाव अरध सीस, बीस पषां इम रषियां। (सा० ३५-१-३)।

उरधरिया—क्रि० स० (सं० उद्धरण)—बिखराना, फैलाना, उधेड़ना। (पा० प० ११२-५)।

उरधैं—दे० 'उरध'। (पा० चौ० र० २४-१)।

उरवारा—दे० 'उवारा'। (र० वा०-२८)।

उलंघै—क्रि० स० (सं० उल्लंघन, हि० उलंघना)—फाँद करके, कूदता है। (पा० प० १५७-७)।

उलंघ्यां—डाँक करके, फाँद करके। उ० जगत उलंघ्यां जाइ। (सा० ४८-४-२)।

उलझि पुलझि—दे० 'उरझि पुरझि'। (सा० १७-१०-नो०)।

उलझी—क्रि० अ० (सं० अवरुन्धन, पा० ओरुज्झन)—फँस गई, गुँथ गई। उ० उलझी आसा फंध। (सा० १६-२६-१)।

उलटा—क्रि० स० (सं० उल्लुंठन, हि० उलटना)—पलट कर, फेर कर। (पा० प० १४२-८)।

उलटि—फेर कर, पलट कर। उ० ताकू केरे सूत ज्यूं, उलटि अपूठा आंणि। (सा० १३-१-२)।

उलटि ले—उलट ले। उ० आपा जांनि उलटि ले आप। (प० १५-६)।

उलटि लै—(पा० प० १०७-६)।

उलटी ले—(पा० प० ११५-५)।

उलटै—उलटता है। (पा० प० १२२-६)।

उलट्या—पलटा, पीछे मुड़ा। उ० मन उलट्या दरिया मिल्या, लागा मलि मलि न्हांन। (सा० ७-२-१)।

उलटी—(१) सं० स्त्री० (सं० उल्लुंठन से)—विपरीत धारा। उ० वलिहारी ता दास की, उलटी मांहि समाइ। (सा० २८-११-२)।
(२) वि० (हि० उलटा का स्त्री० रूप)—नाड़ी के प्रवाह को उलटने पर उसकी गति। उ० उलटी गंग संमुद्रहि सोखै। (प० १६२-३)।

उल्हास—सं० पु० (सं० उल्लास)—हर्ष, आनंद। उ० मन मैं परा उल्हास। (सा० २४-२५-१)।

उल्हासा—वि० (सं० उल्लासिन्, हि० उल्लसी)—हर्षित, मुदित। उ० भया अनंद जीव भए उल्हासा। (र० ४-२)।

उस—सर्व० (हि० वह से)–उस, विशिष्ट। उ० अमड़ेंगे उस ठांइ। (सा० ८-५-१)।

उसदा—उसका। उ० उसदा पोज न जांनां (प० ६२-९)।

उसही—उसी। उ० तो उसही पुरिस कीं लाज। (सा० ११-१७-२)।

उसारि—सं० पु० (सं० उपशाल, हि० उसारा या ओसारा)–दालान, बरामदा। (सा० ४६-१८-नो० २७)।

उसारै—दालान के लिए। उ० माटी खोदहिं भींत उसारै। (प० ९२-३)।

उसास—सं० स्त्री० (सं० उत्+श्वास)–लम्बी साँस, ठंडी साँस। उ० पड़तां लेइ उसास। (सा० ३९-१-१)।

उहवां—दे० 'उहां'। (पा०प० १२५-४)।

उहां—क्रि० वि० (हि० वहाँ)—वहाँ, उस जगह। उ० उहां हीं तैं गिरि पड्या, मन माया के पास। (सा० १३-२५-२)।

उहार—सं० पु० (सं० अवधार)—रथ या पालकी पर पड़ा पर्दा। उ० भूभर घांम उहार न छावा। (प० ९०-७)।

उहै—सर्व० (हि० वही)—वही। उ० कै मरि जाइ कै उहै पियावै। (र० ४-१२)

ऊ

ऊं—सर्व० (हि० वह)—वह। उ० काया हाँडी काठ की, ना ऊँ चढ़ै वहोड़ि। (सा० १२-३१-२)।

ऊंकार—सं० पु० (सं० ओंकार)—ओं

शब्द, ॐ तत्त्व । उ० ऊंकार आदि है मूला, राजा परजा एकहि सूला । (चौ० र०-१) ।

ऊंकारे—ओं शब्द । उ० ऊंकारे जग ऊपजै । (प० १२१-२) ।

ऊंखड़ियां—सं० पु० (सं० इक्षु)—ईख, ऊख । (सा० ४६-१९-नो० ३३) ।

ऊँच—वि० (सं० उच्च)—ऊँची, उन्नत । उ० जे करणीं ऊँच न होइ (सा० २५-७-१) ।

ऊँचा—ऊपर उठा हुआ । उ० करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूंड । (सा० १८-५-१) ।

ऊँचि—ऊँची । (पा० सा० ३३-७-१) ।

ऊँचे—उन्नत, बड़े-बड़े । उ० कबीर कहा गरवियौ, ऊँचे देखि अवास । (सा० १२-१०-१) ।

ऊँट—सं० पु० (सं० उष्ट्र, प्रा० उट्ट)—ऊँट । (प० १७७-५) ।

ऊंडा—वि० (सं० कुंड)—गहरा, गंभीर । उ० कबीर मन का बाहुला, ऊंडा बहै असोस । (सा० ५७-३-१) ।

ऊँडै—गहरा । उ० पहली थाह दिखाइ करि ऊँडै देसी आंणि । (सा० २७-३-२) ।

ऊँणीं—दे० 'ऊंडा' । गहरी । उ० कुरहै ऊँणीं कूप । (सा० १२-४७-२) ।

ऊँधै—सं० पु० (हि० औंधा)—ढालुए किनारे से, ढाल से । उ० जीवत जिस घरि जाइये, ऊँधै मुपि नहीं आवै । (प० १५४-८) ।

ऊँनमि—क्रि० अ० (सं० उन्नमन)—घिर कर, झुककर । उ० ऊँनमि बिआई बादली, बर्सण लगे अंगार । (सा० ५१-२-१) ।

ऊ—सर्व० (हि० वह)—दे० 'ऊँ' । (बी० र० ४८-२) ।

ऊकटि—क्रि० अ० (सं० अव+काष्ठ, हि० उकठना)—सूख गया । उ० जौ परि दूध तिवास का ऊकटि हूवा आक । (सा० ३७-२-२) ।

ऊखर—दे० 'ऊसर' । (पा०प० २००-६)

ऊगंते—क्रि० अ० (सं० उद्गमन, प्रा० उग्गवन)—उगते-उगते । (पा० सा० १५०-७०-२) ।

ऊगण—उगना, निकलना । उ० अजहूँ बीज अंकुर है, भी ऊगण की आस । (सा० ५८-६-२) ।

ऊगवैतै—उगते-उगते, निकलने पर,प्रकट होने पर । (सा० १२-६२-नो० ८४) ।

ऊगा—निकला, उदित हुआ । (पा०सा० ९-३६-१) ।

ऊगी—निकली, उदित हुई । उ० कबीर तेज अनंत का, मानौं ऊगी सूरज सेणि । (सा० ५-१-१) ।

ऊगेदेसी—उगने दे । उ० देवलि-देवलि धाहड़ी, देसी उठो सूरि । (सा० ३-४४-२) ।

ऊगै—उदित हुआ है, निकला है । (पा० सा० १६-१९-१) ।

ऊग्या—उगा, उदय हुआ, प्रगट हुआ । उ० ऊग्या निर्मल सूर । (सा० ५-४३-१) ।

ऊघट—वि० (सं० अव+घट्ट)—औघट, विकट, दुर्गम, कठिन । उ० ऊघट चले सु नगरि पहूंते । (प० १७५-३) ।

ऊघड़ि आये—क्रि० अ० (सं० उद्घाटन, प्रा० उग्घाटन)—खुल गये । उ० कबीर सुपनै रैनिकै, ऊघड़ि आये नैन । (सा० १२-२२-१) ।

ऊघरि आए—(पा० सा० १५-९-१) ।

ऊघारिके—क्रि० स० (हि० उघड़ना से)-नंगी करके, प्रकट करके। (बी० र० ७३-७)।

ऊचरै—क्रि० स० (सं० उच्चरना)—उच्चारण करना, बोलना। उ० ब्रह्मा कोटि वेद ऊचरै। (प० ३४०-३)।

ऊचरं—(पा० प० १२२-६)।

ऊजँड़—वि० (हि० उजड़ना से)—उजड़ा हुआ, ध्वस्त, वीरान। उ० रांम सनेही बाहिरा, ऊजँड़ मेरे भाइ। (सा० ३०-२-२)।

ऊजड़—(पा० सा० ४-४-२)।

ऊजड़ि जाइ—क्रि० अ० (सं० अव, उ = नहीं + जड़ना = उजड़ना)-तितर-बितर हो जाते हैं। (सा० २८-११-नो० १२)।

ऊजरा—वि० (सं० उज्ज्वल, हि०उजला) –सफेद, मल रहित। (पा०सा० २२-३-२)

ऊजल—दे० 'ऊजरा'। उ० चूना ऊजल माह। (सा० ३१-९-१)।

ऊजला—(पा० सा० ६-३०-२)।

ऊजलौ—उ० मन कै मैलौ बाहरि ऊजलौ किसी रे। (प० २३३-१)।

ऊझड़—(१) वि० (सं० उद् = बहुत + झड़ = उज्झड़)—झक्की, मनमौजी। (सा० २८-११-नो० १२)।
(२) वि० (हि० उजड़ना से)—वीरान जगह, बिना बस्ती का स्थान। उ० ऊझड़ जातां बाट बतावै। (प० १४३-३)

ऊठण—क्रि० अ० (हि० उठना)-उठना। उ० झूठा ऊठण झूठा बैठण, झूठी सबै सगाई। (प० २४६-४)।

ऊठि—दे० 'ऊठी'। (पा०सा० २-५३-२)

ऊठी—क्रि० अ० (सं० उत्थान, पा० उट्ठान)—उत्पन्न हुई, जागी, अचानक आरम्भ हो गई। उ० झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि। (सा० ४-४-१)

ऊठै भी—उठने पर भी। उ० बिरहिन ऊठै भी पड़े, दरसन कारनि राम। (सा० ३-७-१)।

ऊड़ि—क्रि० अ० (हि० उड़ना से)—उड़कर। उ० ऊँचा चढ़ि असमान कूँ, भेद ऊलंघे ऊड़ि। (सा० ५०-४-१)।

ऊत—क्रि० वि० (हि० उधर)—उधर। (पा० सा० १५-५६-२)।

ऊतरिपड़े—क्रि० अ० (सं० अवतरण, प्रा० उत्तरण)—उतर पड़े, अलग हो गये। उ० भेरा देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पड़े फरंकि। (सा० १-२५-२)।

ऊतिम—वि० (सं० उत्तम)—श्रेष्ठ, अच्छा। (पा० प० ११०-५)।

ऊदारैगी—क्रि० स० (सं० उदारण, हि० उदारना)—गिराना, तोड़ना. नष्ट करना। (पा० सा० १५-८४-२)।

ऊदै—वि० (सं० उदित)—उदित, निकला हुआ, प्रगट, प्रकाशित। (पा० सा० १-४-२)।

ऊधरिया—क्रि० स० (सं० उद्धरण)—उद्धार करना। (पा० र० ३-५)।

ऊधरचौ—क्रि० अ० (हि० उदरना)—फटना, नष्ट हो गए। उ० ऊधरचौ कूप घाट भयौ भारी। (प०१४०-५)।

ऊधो—सं० पु० (सं० उद्धव)—कृष्ण के सखा यादव। (बी० र० ८-५)।

ऊधौ—(पा० प० १९८-५)।

ऊन—सं० पु० (सं० ऊर्ण, प्रा० उराण)-भेड़ आदि का रोंया। उ० गाड़र आंणी ऊन कूं, बांधी चरै कपास। (सा० १७-३-२)।

ऊन्हां— वि० (सं० उष्ण)—गर्म। (सा० ५०-५-नो० ७)।

ऊपजै—क्रि० अ० (सं० उपजन)–उत्पन्न हुए, उपजते हैं, जन्म लेते हैं। उ० मनि परतीति न ऊपजै, जीव वेसास न होइ। (सा० १२-५५-२)।

ऊपनां—क्रि० अ० (सं० उत्पन्न)–उत्पन्न हुआ, उपजा। उ० सचु पाया सुख ऊपनां। (सा० ५-२६-१)।

ऊपनीं—उत्पन्न हुई। (पा०प० ११०-३)

ऊपरि—क्रि० वि० (सं० उपरि)-आधार पर, सहारे, सतह पर, ऊपर। उ० सूली ऊपरि नट विद्या। (सा० २-२९-२)।

ऊपरै--(पा० सा० १६-२८-२)।

ऊपिला—उ० अंणीं ऊपिला खेल। (सा० ४५-३२-२)।

ऊवरणां—क्रि० अ० (सं० उद्धारण)—उद्धार, निस्तार। उ० कहूं न ऊवरणां (प० २४८-६)।

ऊवरा—क्रि० अ० (सं० उद्धारण, प्रा० उव्वारण, हि० उवरना)—उद्धार पाया, मुक्त हुआ। (पा० सा० १-१०-१)।

ऊवरे—मुक्त हुए, वच गए। उ० मैं वुनि करि सिरांनां हों रांम, नालि करम नहीं ऊवरे। (प० २०-१)।

ऊवरै—उद्धार होता है, मुक्त होता है। (पा० सा० १५-३७-१)।

ऊवरौं—उद्धार पाऊँ, मुक्त होऊँ। उ० जे जम आगैं ऊवरौं, तो जुरा पहूँती आइ। (सा० ४६-८-२)।

ऊवरया—उद्धार पा गया, वच गया। उ० तिणका वपुड़ा ऊवरया। (सा० ४-७-२)।

ऊवारयौ—क्रि० स० (सं० उद्धारण, हि० उवारना)—वचाया, उद्धार किया। उ० प्रहिलाद ऊवारयौ अनेक वार। (प० ३७९-१२)।

ऊभर—वि० (हि० उभरना)—उभरा हुआ, खाली। उ० ऊभर था ते सूभर भरिया। (प० २८१-२)।

ऊभा—क्रि० अ० (सं० ऊर्ध्व या उद्भवन, प्रा० उब्भा, गुज० ऊभू)—उठे हुए, खड़े हुए। उ० सवही ऊभा मेल्हि गया। (सा० १२-५-२)।

ऊभी—खड़ी हुई। उ० विरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी वूझै धाइ। (सा० ३-५-१)।

ऊरध—वि० (सं० ऊर्ध्व)—ऊपर की ओर मुख वाले। उ० ऊरध पंकज थैं सूधा धरै। (प० ३६२-६)।

ऊलंघे—क्रि० स० (सं० उल्लंघन, हि० उलँघना)—डाँकते हैं। उ० ऊँचा चढ़ि असमान कूं, पेर ऊलंघे ऊड़ि। (सा० ५०-४-१)।

ऊले—वि० (देश०)–ऊलजलूल, अशिष्ट, वेसिरपैर का। उ० कहै कवीर विचार करि, ये ऊले व्योहार। (र० वा० ५८)।

ऊषरायां—क्रि० स० (हि० उखड़ना से)—किसी जमी हुई वस्तु को हटा कर जमा न रहने देना। उ० चींटी परवत ऊषरायां, ले राख्यौ चौड़ै। (प० १६१-५)।

ऊसर—वि० (सं० ऊषर)—वह जमीन जिसमें तृण या पौधा उत्पन्न न होता हो। उ० जस कासी तस मगहर ऊसर, हिरदै रांम सति होई। (प० ४०२-८)।

ऊहां—अव्य० (हि० वहाँ)—उस जगह, उस स्थान पर। (पा० प० १३०-१२)।

ए

ए—सर्व० (सं० एष)—यह, ये। उ० ए पुर पटन ए गली, बहुरि न देखै आइ। (सा० १२-१-२), (सा० १४-४-२)।

एई—वि०—ये ही। उ० एई खेत सबनि का चरिगा। (पा० प० ३५३-३)।

एउ—सर्वं०—यह। उ० भूली मालिनीं हैं एउ। (पा० प० १८७-१)।

एकंतरि—क्रि० वि० (सं० एकत्र)—इकट्ठा, एक जगह। उ० चंद सूर एकंतरि कीया। (प० २११-३)।

एक—वि० (सं०)—१. अनुपम, वेजोड़, २. एक ही, केवल एक, ३. कोई एक, ज़रा सा। उ० एक जु बाह्या प्रीति सूँ। (सा० १-६-२), (सा० १२-३८-२), (सा० ३-५-२)।

एकन—एक, किसी। (पा० प० १६४-६)।

एकनि—एक को, किसी को। (प० १०५-४)।

एकहिं—एक ही। (पा० प० २५-८)।

एकहि—एक ही। उ० जांनूं एकहि रांमां। (प० १२२-५)।

एकहीं—एक ही। उ० एकहीं रूप दीसै सब नारी। (प० ११८-३)।

एका—अद्वितीय, वेजोड। उ० ओ अगाध एका कहैं। (सा० ६-१-२)।

एकु—एक। उ० नाइकु एकु वनिजारै पांच। (पा० प० १२६-३)।

एकैं—(हि० एक+ही से एकइ)—एक ही ने, उसी ने। उ० एकैं किया निवासा। (प० ४४-२)।

एकै—एक को, एक ही, केवल एक। उ० एकै हरि के नाँव बिन। (सा० १२-२-२)।

एको—एक ही। (पा० प० १३३-८)।

एकौ—एक भी। उ० मन रे सरचौ न एकौ काजा। (प० २६४-१)।

एक आध—थोड़े, कोई-कोई, विरले ही। (सा० १-२०-२)।

एक एक—एक ही। (प० ५५-१)।

एक दिनां--एक न एक दिन। (सा० २-११-२)।

एक सयान—अद्वैतवादी, एक का ज्ञान रखने वाला। (बी० र० ३६-१)।

एकइस—वि० (सं० एकविंशत्, प्रा० एक्कवीस, हि० इक्कीस)—बीस और एक। (बी० र० ४८-३)।

एकज—वि० (सं० एक+एव, प्रा० ज्जेव)—एक ही, एक मात्र। (सा० ३-१३-२)।

एकधूं—क्रि० वि० (हि० एकधों)—एक समान, एक ही ढंग का। उ० भेष अनेक एकधूं कैसा, नांनां रूप धरै नट जैसा। (प० ११०-३)।

एकबमेख—वि० (सं० एकमेक)—एक ही, ईश्वर। उ० चित धरि एकबमेख। (सा० ४५-३७-१)।

एकमेक—वि० (सं०)—एक ही, नितांत एक में। उ० एकमेक ह्वै मिलि रह्या। (सा० २१-३-२)।

एकसर—वि०(हि० एक+सर)—अकेला उ० मरण बेर एकसर दुख पावै। (पा० प० १६७-४)।

एकादसी—सं० स्त्री० (सं० एकादशी)—प्रत्येक चांद्रमास के शुक्ल और कृष्ण

पक्ष की ग्यारहवीं तिथि जिस दिन व्रत करने वाले रात को जागते हैं। उ० नौमीं नेम दसमीं करि संजम, एकादसी जागरणां। (प० २५०-७)।

एता—वि० (सं० इयत्)—इतना, इस माया का। उ० काहे कौं एता किया पसारा। (प० ६४-३)।

एती—इतनी। उ० सोई करीम जे एती करै। (प० ३२७-५)।

एथि—क्रि० वि० (सं० इतः)—इधर, इस ओर। (सा० १२-५३-१ पाद टिप्पणी)।

एरंड—सं० पु० (सं०)—रेंड़, एक बड़ा पौधा जिसके बीजों से तेल निकाला जाता है। (पा० प० १५७-५)।

एह—सर्व० (सं० एषः)—यह। उ० पुड़ी ज बाँधी एह। (सा० १२-२०-१)।

एहि—वि०—यही। (पा० प० ११३-२)।

एही—सर्व०—यही। उ० आपैं आप आथिहै एही। (र०वा० १४)। वि०—यही। उ० मनिसा जनम कौ एही लाहु। (प० ३४८-२)।

एहु—सर्व० यह। उ० तब ओही ओहु एहु न होई। (पा० चौ० र० ३९-२)।

ऐ

ऐंचै—क्रि० सं० (हि० खींचना, पू०हि० हींचना से ऐचना)—खींचता है। उ० जब धरि ऐंचै तब धरि चहई। (र० ३-६५)।

ऐंड़ी (अंड़ी)—वि० (हि० ऐंठा)—ऐंठा हुआ। उ० अंड़ी टेढ़ी जात। (पा० प० ७३-२)।

ऐ—वि० (हि० ये)—ये, निर्दिष्ट। उ० ऐ सबही अह लागया। (सा० ३५-१४-२)।

ऐक—वि० (सं० एक)—एक। उ० खंभा ऐक गइंद दोइ। (सा० १२-४२-१)।

ऐकत—एक तो, कोई-कोई तो। उ० ऐकत छाँड़ि जाँहि घर घरनीं। (प० १९२-९)।

ऐसा—वि० (सं० ईदृश)—इस प्रकार का, ऐसे ढंग का। उ० ऐसा कोई नां मिलै। (सा० ४३-१-१)।

ऐसहि—ऐसा ही। उ० जन जागे का ऐसहि नांण। (प० ३५२-३)।

ऐसी—इस प्रकार की। उ० ऐसी वेदन मुझ। (सा० ३-४२-२)।

ऐसें—इस प्रकार के। उ० गोविंद हम अैसें अपराधी। (पा० प० ४०-१)।

ऐसे—इस प्रकार के। उ० ऐसे लोगनि सूं का कहिये। (प० १४४-१)।

ऐसैं—क्रि० वि०—इस ढंग से। उ० कबीर ऐसैं ह्वै रह्या (सा० ४१-१३-२)

ऐसो—वि०—इसी प्रकार। उ० रांम ऐसो ही जांनि जपौ नरहरी। (प० ३७४-१)।

ऐसौ—वि० इस प्रकार का। उ० दास कबीर कौ ठाकुर ऐसौ। (प० १५४-६)।

औरै—और ही, दूसरे ही। उ० जे मन के औरै कांम। (सा० २४-१४-२)।

औरों—दूसरों। उ० औरों कौं प्रमोधतां। (सा० १७-१५-२)।

औरति—सं० स्त्री० (अ० औरत)—स्त्री। (प० ५६-५)।

औलौ—वि० (देश०)—असावधानी या लापरवाही से भरी। (प० २६६-४)।

औलू—क्रि० स० (हि० ओल)—आड़ से ओलना, परदा कर लूँ, छिपा लूँ। उ० इहि अंगि औलू भाइ जिसी। (सा० ३-३२-२ पादटिप्पणी)।

औलौं—वि० (सं० अवर)—नीचे का भी। (प० ८-४)।

औलोती—सं० स्त्री० (हि० ओलमना या ओलती)—ढलुवाँ पत्थर का वह भाग जहाँ से वर्षा का पानी नीचे गिरता है, ओरी। उ० घर जाजरी बलीडौ टेढौ, औलोती डर राइ। (प० २२-२)।

औसर—सं० पु० (सं० अवसर)—१ समय, काल, २ मौक़े पर। उ० औसर मुवा न कोइ। (सा० ४१-५-१)।

औसरि—मौक़े पर, समय पर। (सा० १२-२६-२)।

औसेरि—सं० स्त्री० (सं० अवसेरु, हि० अवसेर)—चिंता, उचाट, हैरानी, बेचैनी। उ० तेरी औसेरि आवै मोहि रे। (प० ५-२)।

क

कंक—सं० पु० (सं० कर्कर, प्रा० कक्कर, हि० कंकड)—पत्थर का छोटा टुकड़ा। उ० जांसूं हिरदै की कहूं, सो फिरि मांडै कंक। (सा० ४३-६-२)।

कंकर—दे० 'कंक'। (पा०प० १३१-५)।

कंगन—सं० पु० (सं० कंकण)—कलाई में पहनने का आभूषण। (पा० प० १७-४)।

कंगुरै—सं० पु० (फ़ा० कंगुरा)—शिखर पर, चोटी पर। उ० धड़ सूली सिर कंगुरै, तऊ न विसारौं तुझ (सा० ४५-२६-२)।

कंचन—सं० पु० (सं० कांचन)—सोना, स्वर्ण। उ० कसणी दे कंचन किया, ताइ लिया तत सार। (सा० १-२८-२)।

कंचुकी—सं० स्त्री० (सं०)—अंगिया, चोली। उ० विना चोलनैं विना कंचुकी, विनहीं संग संग होई। (प० १५६-७)।

कंठ—सं० पु० (सं०)—गला, टेंटुआ। उ० काल कंठ तैं गहैगा, रूंधै दसूं दुवार। (सा० २-२६-२)।

कंत—सं० पु० (सं० कान्त)—पति, स्वामी, ईश्वर। उ० हँसि हँसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ। (सा० ३-२९-१)।

कंता—दे० 'कंत'। पति, स्वामी। उ० सो स्यावज जिनि मारै कंता, जाकै रगत मांस न होई। (प० २१२-४)।

कंथा—सं० स्त्री० (सं०)- गुदड़ी, कथड़ी। उ० प्रगट कंथा गुपत अधारी, तामैं मूरति जीवनि प्यारी। (प० २०५-३)।

कंद—सं० पु० (फ़ा०)—जमाई हुई चीनी, मिश्री। उ० जोग मूल कौ देइ बंद, कहि कबीर थिर होइ कंद। (प० ३७७-७)।

कंदमूल—सं० पु० (सं० कंदमूल)—कंद और मूल। उ० कवीर जोगी वनि वस्या,, षणि खाये कंदमूल (सा० ४७-२-१)।

कंदलि—सं० पु० (सं० कन्दल)—एक प्रकार का कचनार वृक्ष। उ० गोव्यंदे तुम्हारै वन कंदलि, मेरो मन अहेरा खेलै। (प० २१०-१)।

कंदा—सं० पु० (सं० कंद)—शकरकंद आदि जड़। उ० घर तजि वनखंडि जाइये खानि खइये कंदा। (प० १७८-३)।

कंदू—सं० पु० (सं० कर्दम, पा० कद्दम)–कीचड, पंक। उ० अगनि जु लागी नीर मैं, कंदू जलिया झारि। (सा० ४-५-१)।

कंदूरी—सं० पु० (फ़ा०)—वह खाना जिससे मुसलमान किसी पीर के नाम का फ़ातिहा करते हैं। उ० विसमल तांमस भरम कंदूरी, पंचूं भषि ज्यूं होइ सवूरी। (प० ६१-५)।

कंद्रप—सं० पु० (सं० कंदर्प)—कामदेव। उ० कंद्रप कोटि जाकै लांवन करैं, घट घट भीतरि मनसा हरैं। (प० ३४०-१६)।

कंध—सं० पु० (सं० स्कंध)–गले के पास का पीठ का ऊपरी भाग, कंधा। (पा० सा० १५-३०-१)।

कंध न देइ—मुहा०—सहारा नहीं देता। (वी० र० ५६-२)।

कंधि—कंधे पर। उ० कवीर सव जग हंटिया, मंदिल कंधि चढ़ाइ। (सा० ३७-१०-१)।

कंपन—क्रि० अ० (हि० कँपना)–काँपने। उ० सीस चरन कर कंपन लागे, नैंन नीर असराल वहै। (प० २४३-७)।

कंपै—काँपती है, धड़कती है। उ० घन गरजत कंपै मेरी छाती। (प० २७३-२)।

कंवल—सं० पु० (सं० कमल)—कमल। उ० चरन कंवल चित लाइये, रांम नांम गुन गाइ। (प० ५-१७)।

कँवलपत्र—सं० पु० (सं० कमलपत्र)—कमल का पत्ता। (वी० र० ७४-२)।

कंवला—सं० स्त्री० (सं० कमला)—लक्ष्मी। उ० सेस नाग जाकै गरड़ समांनां, चरन कंवल कंवला नहीं जांनां। (प० ४९-४)।

कंवला कंत—सं० पु० (सं० कमला + कंत)—श्रीकृष्ण, विष्णु, ईश्वर। (पा० प० १३०-१०)।

कँवारी–वि० (सं० कुमारी, प्रा० कुँवारी) —अविवाहिता। उ० जव लग जीव परचा नहीं, कन्यां कँवारी जांणि। (सा० २४-२४-१)।

कंवारी—सं० स्त्री० (सं० कुमारी)—कुमारी कन्या। उ० संसारी साषत भला, कंवारी कै भाइ। (सा० ४२-२-१)।

कंसा (१)—सं० पु० (सं०)—कांसा, मंजीरा। उ० कंसा नाद वजाव ले, धुंनि निमसि ले कंसा। (प० १५४-५)।

कंसा (२)—सं० पु० (सं०)—मथुरा के राजा उग्रसेन का पुत्र, कंस। (वी० र० ४५-१)।

क—दे० 'का'। (पा० प० ११०-१)।

कउ—दे० 'कूँ'। को। (पा० प० १२८-६)।

कउवा—दे० 'कऊवा'। कौआ। (पा० प० २८-५)।

कऊवा—सं० पु० (सं० काक, प्रा०काओ, हि० कौआ)—कौआ। उ० धौल मंद-

लिया, बैंल रबावी, कऊवा ताल वजावै। (प० १२-३)।

कचा—दे० 'काचा'। कच्चा। (सा० १२-३६-१)।

कच्छ—दे० 'कछ'। (पा० र० ३-६)।

कछ—सं० पु० (सं० कच्छप)—(१) कछुआ। उ० मद मछर कछ मछ, हरपि सोक तीरा। (प० ३२१-४)। (२) कच्छपावतार। उ० गंडक सालिक रांम न कोला, मछ कछ ह्वै जलहि न डोला। (र० वा० ५५)।

कछु—वि० (सं० किंचित, प्रा० किंची, पू०हि० किछु)—कुछ, कोई। उ० देखौ कर्म कवीर का, कछु पूरव जनम का लेख। (सा० ५-१२-१)।

कछुआ—दे० 'कछ'। कछुआ। (पा०प० ११४-६)।

कछू—दे० 'कुछ'। कुछ, कोई। उ० जो कुछ था सोई भया, अव कछू कह्या न जाइ। (सा० ५-१७-२)।

कजरी—सं० स्त्री० (सं० कज्जल)—वह गाय जिसकी आँखों के किनारे काला घेरा हो। (पा० सा० २६-२-१)।

कजौड़ा—सं० पु० (कज्जव+ड़ा)—कंजास, ढेर, समूह। उ० फूस कजौड़ा दूरि करि (सा० ४५-३६-२)।

कटक—सं० पु० (सं०)—दल, समूह। उ० राम नाम जाण्या नहीं, पाल्यो कटक कुटुंव। (सा० १२-३३-१)।

कटावै—क्रि० स० (हि० काटना से)—कटवावे। उ० पेड़ा रोटी खाइ करि, गला कटावै कौंण। (सा० २२-१२-२)।

कटि—क्रि०अ० (सं० कर्त्तन, हि०कटना)—कटकर। उ० जौर षुदाइ तुरक मोहि करता, तौ आपै कटिकिन जाई। (प० ५६-४)।

कटी—कट गई। (पा०सा० ३२-३-१)।

कटै—कटता है, दूर होता है। उ० गुण गायें गुण ना कटै, रटै न राम वियोग। (सा० २-२८-१)।

कटोरा—सं० पु० (हि० कांसा+ओरा (प्रत्य०)—कसोरा, धातु का प्याला। उ० आप कटोरा आपै थारी, आपैं पुरिखा आपैं नारी। (प० ३३१-३)।

कठठाई—क्रि० अ० (हि० काठ+आना (प्रत्य०)—कठियाता है, काठ की भाँति कड़ा हो जाए। उ० सापित सण का जेवड़ा, भींगीं सूं कठठाइ। (सा० १७-११-१)।

कठवन—सं० स्त्री० (हि० काठ+औता (प्रत्य०)—कठौता। उ० इत उत चित-वत कठवन लीन्हां, मांस चलवनां डऊवा हो राम। (प० २०-५)।

कठिन—वि० (सं०)—दुष्कर, दुःसाध्य। उ० जौ रिझऊँ तौ महा कठिन है, विन रिझयें थैं सब खोटी। (प० ५४-५)।

कठिनाई—सं० स्त्री० (सं० कठिन+आई)—मुश्किल। उ० कवीर कठिनाई खरी, सुमिरंता हरि नाम। (सा० २-२६-१)।

कठिया—सं० स्त्री० (हि० कंठ=तट, किनारा)—एक प्रकार की भांग जो झेलम नदी के किनारे वहुत होती है। उ० मुठी एक मठिया मुठि एक कठिया, संगि काहू कै न जाइ। (प० ३१५-२)।

कठोर—वि० (सं०)—निर्दय, निष्ठुर। उ० कहै कवीर कठोर कै, सबद न लागै सार। (सा० ५५-७-१)।

कड़ई—वि० (सं० कटुक, प्रा० कडुअ,

हि० कड़ुई)—कटु, अप्रिय स्वाद की। उ० कबीर कड़ई बेलड़ी, कड़वा ही फल होइ। (सा० ५८-५-१)।

कड़छी—सं० स्त्री० (सं० कर+रक्षा, हि० कलछी)—बड़ा चम्मच जिससे दाल आदि परसते हैं, कलछी। उ० जूठी कड़छी अंन परोस्या, जूठे जूठा खाया। (प० २५१-६)।

कड़वा—दे० 'कड़ई'। कटु, अप्रिय। (सा०५८-५-१)।

कड़वापन—सं० पु० (सं० कटुक+पन) —कड़ुवापन, अप्रियता। उ० तूंबी, अठसठि तीरथ न्हाई, कड़वापन तऊ न जाई। (प० २७७-३)।

कड़िया—सं० स्त्री० (हि० कड़ा से)—जंजीर, सलाख़ (पा० सा० १६-३८-२)।

कड़ियाली—सं० स्त्री० (सं० कलिकारी, हि० करियारी)—लगाम। उ० मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम। (सा० १६-४-२)।

कड़ुवापन—दे० 'कड़वापन'। (पा०सा० ३१-११-२)।

कत—अव्य० (सं० कुतः, प्रा० कुतो)—क्यों, किसलिए, किस प्रकार। उ० समंद समाना बूंद मैं, सो कत हेरया जाइ। (सा० ७-४-२)।

कतहुँ—कहीं। (पा० चौ० र० १६-२)।

कतहूँ—कहीं, किसी जगह भी। उ० जे तुम्ह कृपा करौ जग जीवन, तौ कतहूँ भूलि न परिये। (प० २६७-२)।

कतरनीं—सं० स्त्री० (हि० कतरना)—काटने वाला एक औज़ार, कैंची। (पा० प० ६४-३)।

कतरैं—क्रि० स० (सं० कृंतन)-काटना। उ० स्यंघ बैठा पान कतरैं। (प० १२-५)।

कतेब—सं० पु० (अ० किताब ?)—पुस्तक, क़ुरान। उ० जन कबीर ऐसा असवारा, वेद कतेब दहूँ थैं न्यारा। (प० २५-४)।

कथणीं—सं० स्त्री० (सं० कथन+ई) —कथन, कहना। उ० कथणीं बिना करणीं कौ अंग। (सा० १९-शीर्षक)।

कथत सुनत—मुहा०—कहना-सुनना। उ० हरि गुंन कथत सुनत बौरांनूं। (प० १४७-६)।

कथनीं—दे० 'कथणीं'। बात। (पा० सा० ३३-४-१)।

कथसि—दे० 'कथिसि'। कहता है। (पा० प० १८०-२)।

कथा—सं० स्त्री० (सं०)—गुणगान (भगवान का), बात। उ० अनिन कथा तनि आचरी हिरदै, त्रिभुवन राइ। (सा० ५-२९-२)।

कथि (गया)—क्रि० स० (हि० कथना, कहना)—कह गया, कह चुके हैं। उ० कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेश। (सा० २-२-१)।

कथिया—कहा। उ० हरि पद दुरलभ अगम अगोचर, कथिया गुर गमि बिचारा। (प० २६७-३)।

कथिसि—कहता है, बकता है। उ० तौ पंडित का कथिसि गियाना। (प० ३८-२)।

कथी—कही। उ० कथणीं कथी तौ क्या भया जे करणीं नां ठहराइ। (सा० १८-१-१)।

कथे—कहे। (पा० र० ११-३)।

कथै—कहो, बखानो। उ० ऐसा अद्-

भुत जिनि कथै, अद्भुत राखि लुकाइ। (सा० ८-३-१)।

कथौ—कहो। उ० फूटा कुंभ जल जलहि समांनां, यहु तत कथौ गियानीं। (प० ४४-५)।

कथीर—सं० पु० (सं० कस्तीर, प्रा० कत्थीर)—रांगा। उ० पहली काच कथीर था, फिरता ठांवै ठाउं। (सा० ५०-८-२)।

कदली—सं० स्त्री० (सं०)–केला, शरीर। उ० गगन गरजि अंमृत चवै, कदली कवल प्रकास। (सा० ५-४०-१)।

कदाचि—क्रि० वि० (सं० कदाचित्)—कभी, शायद कभी। उ० राग द्वेष दहूँ मैं एक न भापि, कदाचि ऊपजै तौ चिता न राषि। (प० १०७-३)।

कद्दू—सं० पु० (फ़ा०)—कद्दू, लौकी। (सा० ४६-१६-नो०३२)।

कदे—अव्य० (सं० कदा)—कब, किस समय। उ० उस संम्रथ का दास हौं, कदे न होइ अकाज। (सा० ११-१७-१)।

कनक—सं० पु० (सं०)—सोना। उ० रांम नांम बिन बूडिहै, कनक कांमणी कूप। (सा० १६-१६-२)।

कनड़ापा—सं० पु० (सं० कृष्णपाद)—प्रसिद्ध योगी कृष्णपाद। उ० हसती छोड़ा गांव गढ़ गूडर, कनड़ापा इक आगी। (प० २६६-३)।

कनफूंका—सं० पु० (हि० कान+फूंक)–कान फूंक कर दीक्षा देने वाला योगी। (पा० प० १६५-६)।

कनराई–वि० (सं० काण, हि० कानड़ा)–कानी, कम बिगड़ी हुई। उ० हिन्दू तुरक दोऊ रह तूटी, फूटी अरू कनराई। (प० ५८-७)।

कनाऊ—सं० पु० (?)—बरतन। (बी० र० २६-२)।

कनिहार—सं० पु० (सं० कर्णधार, प्रा० कण्णहार)—पतवार पकड़ने वाला, मल्लाह। उ० नाद व्यंद की नावरी, रांम नांम कनिहार। (प० १८-११)।

कनीर—सं० पु० (सं० कणेर)—कनेर का फूल। उ० जालूं कली कनीर की, तन रातौ मन सेत। (सा० ४२-१-२)।

कन्यां—सं० स्त्री० (सं० कन्या)—क्वांरी लड़की। उ० जब लग पीव परचा नहीं, कन्यां कँवारी जांणि। (सा० २४-२४-१)।

कन्या—दे० 'कन्यां'। (पा० सा० १५-७३-१)।

कपट—सं० पु० (सं०)—छल, दंभ। उ० कबीर तहाँ न जाइए, जहाँ कपट का हेत। (सा० ४२-१-१)।

कपटी—वि० (सं०)—कपट करने वाला (सा० ४२-शीर्षक)।

कपड़—दे० 'कपड़ा'। उ० काया मंजन क्या करै, कपड़ धोइम धोइ। (सा० १२-५३-१)।

कपड़ा—सं० पु० (सं० कर्पट, प्रा० कप्पट, कप्पड़)–वस्त्र, कपड़ा, पहनावा। उ० उजल कपड़ा पहरि करि, पान सुपारी खांहि। (सा० १२-५४-१)।

कपाट—सं० पु० (सं०)—किवाड़, द्वार। उ० पाषंड भरंम कपाट खोलि कैं, अनभै कथा सुनाई। (प० १८६-५)।

कपास—सं० पु० (सं० कर्पास)—रूई का पौधा। उ० गाडर आंणीं ऊनकूं,

बांधी चरै कपास। (सा० १७-३-२)।

कपूर—सं० पु० (सं० कर्पूर)—कपूर नामक प्रसिद्ध द्रव्य। उ० छांड़ि कपूर गांठि विष बांध्यौ, मूल हुवा ना लाहा। (प० १३४-७)।

कप्पड़ा—दे० 'कपड़ा'। वस्त्र। उ० पासि बिनंठा कप्पड़ा, क्या करै बिचारी चोल। (सा० १-२४-२)।

कफ—सं० पु० (सं०)—बलगम, श्लेष्मा। (प० ५-नो०-६)।

कब—क्रि० वि० (सं० कदा)—किस समय। उ० माधौ कब करिहौं दया। (प० ३०८-१)।

कबलगि—कब तक। (पा० सा० १५-७१-२)।

कबहुं—कभी। (पा० प० १७-६)।

कबहुंक—कभी भी। (पा० सा० ३-४-२)।

कबहूँ—कभी भी। उ० रात दिवस कै कूकणैं, (मत) कबहूँ लगै पुकार। (सा० २-१६-२)।

कबहू—कभी भी। उ० इहि भांति भयानक उद्र में, उद्र न कबहू छंछरै। (सा० ३५-१-५)।

कबर—क्रि० वि० (हि० कब+रे)—अरे! कब तक। उ० एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैगे आइ। (सा० ३-५-२)।

कबरु—उ० पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम। (सा० ३-२४-२)।

कबाइ—सं० पु० (अ० कबा, हि० कबाय)—एक ढीला पहनावा। उ० एकज दोसत हम किया, जिस गलि लाल कबाइ। (सा० १३-११-१)।

कबि—सं० पु० (सं० कवि)—कविता करने वाला। (पा० प० ४३-६)।

कबित—सं० पु० (सं० कवित्व)—कविता का छंद-विशेष। (पा० प० ८५-५)।

कबिता—दे० 'कविता।' (पा०प० ८५-५)।

कबिरा—दे० 'कबीर'। (पा० सा० ६-४-२)।

कबिरै—कबीर से। (पा०सा० ६-४-२)।

कबिलास—दे० 'कविलास'। (पा० प० १५५-३)।

कबीनैं—क्रि० स० (हि० करना)—रचते-रचते। उ० कवि कबीनैं कविता मूये, कापड़ी के दारौं जाई। (प० ३१७-५)।

कबीर—सं० पु० (अ०)—बड़ा, श्रेष्ठ, कवि-विशेष। उ० कहै कबीर कछू बिलम न कीजै, कौनै देखी काल्हि। (प० ३१२-८)।

कबीरै—कबीर ने। उ० तहाँ कबीरै मठ-रच्या, मुनि जन जोवैं बाट। (सा० १०-३-२)।

कबीरा—दे० 'कबीर'। (पा० प० ४८-८)।

कबीरैं—(पा० प० ११८-१०)।

कबुलावैं—क्रि० स० (हि० कबूलना से)—स्वीकार कराया करता है। (बी० र० ४६-७)।

कबोल—सं० पु० (हि० कुबोल)—बुरा बोल। (सा० ३७-३-नो० ४)।

कमंडल—सं० पु० (सं० कमंडलु)—सन्यासियों का जल पात्र। उ० कया कमंडल भरि लिया, उज्जल निर्मल नीर। (सा० ७-१-१)।

कमल—दे० 'कँवल'। (पा० प० २४-२)।

कमांण—सं० स्त्री० (फ़ा०)—धनुप। उ० सतगुरु लई कमांण करि, वांहण लागा तीर। (सा० १-६-१)।

कमाइ करि—क्रि० स० (हि० काम से)—संचय कर, कमा करके। उ० पहली बुरा कमाइ करि, वाँधी विप की पोट। (सा० २-१६-१)।

कमाई—सुधार कर तैयार किया। उ० कुँभरा एक कमाई माटी, वहु विधि जुगति वणाई। (प० १०५-२)।

कमाया—उपार्जन किया। उ० वरियाँ वीती वल गया, अरू बुरा कमाया। (स० ४६-२६-१)।

कमांन—दे० 'कमांण'। धनुप। (पा० प० ४-४)।

कमांनहिं—धनुप को। (पा० सा० २२-४-२)।

कमिवखत—सं० स्त्री० (फ़ा० कमवख्ती)—वदनसीवी, दुर्भाग्य, अभाग्य। उ० नैंक नजरि हम ऊपरि नांही, क्या कमिवखत हंमारे। (प० ३२३-३)।

कमींनां—वि० (फ़ा०)—ओछा, नीच। उ० आइ हमारैं कहा करौगी, हम तौ जाति कमींनां। (प० २७०-६)।

कमोदनीं—सं० स्त्री० (सं० कुमुदिनी)—कुंई। उ० कमोदनीं जलहरि वसै, चंदा वसे अकासि। (सा० ४४-१-१)।

कया—दे० 'काया'। शरीर। उ० कया कमंडल भरि लिया, उज्जल निर्मल नीर। (सा० ७-१-१)।

करंक—सं० पु० (सं०)—पंजर, ठठरी। उ० नां जांणौं किस व्रिष तलि कूड़ा होइ करंक। (सा० ५४-७-२)।

करंककी—सं० पु० (सं०)—मस्तक की, माथे की, हड्डियों की। उ० लेखणि करूं करंककी लिखि-लिखि राम पठाऊँ (सा० ३-१२-२)।

करंत—क्रि० स० (सं० करण)—करते-करते। (पा० सा० १६-२४-२)।

करंतड़ा—वि० (हि० करना से)—करने वालों का। उ० आज ही कालिह करंतडां, औसर जासीं चालि। (सा० ४६-५-२)।

करंता—दे० 'करंत'। करते-करते। उ० मुनियर पीर डिगंवर मारे, जतन करंता जोगी। (प० १८७-३)।

कर (१)—सं० पु० (सं०)—हाथ। उ० कर गहि केस करै जौ घाता, तऊ न हेत उतारै माता। (प० १११-४)।

करां—हाथ के। उ० पैर विन निरति करां विन वाजै। (प० १६५-४)।

कर (२)—सम्बन्ध कारक चिह्न—का। (पा० र० ४-६)।

कर (३)—क्रि० स० (हि० करना)—करके। (पा० प० १२२-८)।

करई—करता है, लाता है। उ० राति दिवस न करई निद्रा। (प० २०६-२)।

करउं—दे० 'करौं'। करूँ। (पा० प० २२-३)।

करउ—करता हूँ। (पा० प० ८७-६)।

करणें (जोग)—करने। उ० नां कुछ किया न करि सक्या नां करणें जोग सरीर। (सा० ३८-१-१)।

करत—करते। उ० जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी वार। (सा० १-२-२)।

करतां—करता हुआ। उ० दैहि पईसा व्याज कौं, लेखाँ करतां जाइ। (सा० १७-७-२)।

करता (१)—करता हुआ। उ० तूं तूं करता तूं भया, मुझ मैं रही न हूँ।

(सा० २-६-१)।

करती—करती है। (पा० सा० १६-२६-१)।

करते—करते हुए। (पा० प० ८०-४)।

करतौं—करते थे। (सा० ४६-१६-नो०)।

करसी—करोगे या करेगा। उ० अब की घरी मेरो घर करसी। (प० २२६-१)।

करहिं—करते हैं। (पा० प० १५५-३)।

करहिंगे—करेंगे। (पा० सा० ८-१-१)।

करहि—करता है। (पा० प० ६१-३)।

करहीं—करते है। (पा० प० ७७-५)।

करहु—करो। (पा० प० ४१-७)।

करहू—करो। (पा० र० १२-८)।

करि (१)—करके। उ० तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंच तत बराती। (प० १-३)।

करिछै—करेगा। (पा० प० १६७-१)।

करिया—कर दिया। (पा० प० ११२-४)।

करिलै—कर लो। उ० तहां प्रभू पाइसि करिलैं च्यंत। (प० ३२८-११)।

करिहूँ—करूँगी, करूँ। उ० तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंच तत बराती। (प० १-३)।

करिहै—करेगा। उ० नां जांनू का करिहै पीव। (प० ३६०-३)।

करिहौं—करूँगा। (पा० प० ५-३)।

करिहौ—करोगे। उ० माधौ कब करिहौ दया। (प० ३०८-१)।

करी—किया, की। उ० जब गोविंद कृपा करी, तब गुर मिलिया आइ। (सा० १-१३-२)।

करीजै—कीजिए। उ० कबीर संगति साध की, वेगि करीजै जाइ। (सा० २८-२-१)।

करूं (१)—कर दूँ, बनाऊँ। उ० लेखणि करूं करंककी, लिखि लिखि राम पठाऊँ। (सा० ३-१२-२)।

करे—करता है। उ० कबीर सूता क्या करे, जागि न जपै मुरारि। (सा० २-११-१)।

करैं—करते है। उ० गोरप भरथरी गोपीचंदा, ता मन सौं मिलि करैं अनंदा। (प० ३३-६)।

करैंगे—करेंगे। (पा० सा० १५-५६-१)।

करै—करता है। उ० कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि। (सा० २-१२-१)।

करैगा—करेगा। (पा० सा० २-१४-२)।

करौं—करूँ। उ० चरननि लागि करौं बरिआई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई। (प० ३-४)।

करौ—करो। (पा० प० १५८-२)।

करक—सं० पु० (हि० कड़क)—रुक रुक कर होती हुई पीड़ा, कसक। उ० लागी चोट सरीर मैं, करक कलेजे मांहि। (सा० ४०-५-२)।

करकच—सं० पु० (देश०)—झगड़ा। (पा० प० १११-६)।

करकस—दे० 'करकच' झगड़ा। उ० अढाई मैं जे पाव घटै तौ, करकस करै बजहाई। (प० १६३-५)।

करगह—दे० 'करगहि'। (पा० प० १५०-३)।

करगहि—सं० पु० (फ़ा० कारगह, हि० करगह)—जुलाहों के कारख़ाने की नीची जगह। उ० करगहि बैठि कबीरा नाचै। (प० १६-६)।

करगी—सं० स्त्री० (हि० कर + गहना)—बंधन, पाश। (बी० र० १०-१)।

करछी—दे० 'कड़छी'। (पा० प० १९२-६)।

करज—सं० पु० (अ० कर्ज़)—ऋण, उधार। (पा० प० १९५-१२)।

करणीं—वि० (सं० करणीय)—कर्त्तव्य करने योग्य। (सा० १८-शीर्षक)।

करतब—सं० पु० (स० कर्त्तव्य)—करतूत, करनी। उ० जोरत कटक जु घेरत सब गढ, करतब झेली झेला। (प० ३१९-३)।

करता (२)—स० पु० (सं० कर्त्ता)—परमेश्वर। उ० जे मन राखै जतन करि, तौ आपैं करता सोइ। (सा० १३-१०-२)।

करता कौ—विधाता की, कर्त्ता की। उ० करता की गति अगम है, तूं चलि अपणैं उनमान। (सा० ८-४-१)।

करतार—सं० पु० (सं० कर्त्तार)—ईश्वर। उ० आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार। (सा० १-२६-२)।

करतारा—ईश्वर। (पा० प० १०३-५)।

करतारि—ईश्वर। उ० नांनां वांणि बोलिया, जोति धरी करतारि। (सा० ३३-४-२)।

करतूता—दे० 'करतूति'। (पा० र० ६-२)।

करतूति—सं० स्त्री० (हि० करना+ऊत)—करनी, कर्म। उ० कबीर भेष अतीत का, करतूति करै अपराध। (सा० २७-१-१)।

करद (१)—सं० स्त्री० (फ़ा० कारद)—छुरी या बड़ा छुरा। उ० दिल थैं दींन विसारिया, करद लई जब हाथि। (सा० २२-७-२)।

करद (२)—क्रि० स० (हि० करना)—करता है। उ० पंजर जसि करद दुसमन, मुरद करि पैमाल। (प० २५८-२)।

करदन—दे० 'करदावूद'। (प० ८७-७)।

करदावूद—करती है। उ० असमांन ग्यांनैं लहंग दरिया, तहां गुसल करदावूद। (प० २५८-७)।

करनीं—सं० स्त्री० (हि० करना)—करतूत, करतब। उ० जोनि उपाइ रची द्वै धरनीं, दीन एक बीच भई करनीं। (प० ५६-३)।

करबाल—दे० 'करवाल'। (पा० र० ८-४)।

करबै—सं० पु० (सं० करक, हि० करवा)-मिट्टी का टोंटीदार लोटा। उ० कांचै करबै रहै न पांनीं, हंस उड़्या काया कुम्हिलांनीं। (प० ३६०-२)।

करम—सं० पु० (सं० कर्म)-कार्य, कृत्य, करणी। उ० कोटि करम फिल पलक मैं, (जब) आया हरि की ओट। (सा० २-१९-२)।

करमहि—कर्म को। (पा०प० १५६-६)।

करमां—दे० 'करम'। कर्मो। (पा० प० १५८-१०)।

करमियाँ—वि० (सं० कर्मी)—कर्म करने वाले, कर्मठ लोग। उ० कबीर मूंडठ करमियाँ, नष सिष पाषर ज्यांह। (सा० ५५-५-१)।

करमो—सं० पु० (सं० कर्म)—कर्मफल। उ० तिनकूं होय सवाय करमो। (र० ५-४१)।

करमौं—कर्मफल। उ० करमौं के वसि जीव कहत हैं। (प० २९३-३)।

करवट—सं० स्त्री० (सं० कर्वट)—वह स्थिति जो पार्श्व के बल लेटने में हो। (पा० प० १९-२)।

करवत—सं० पु० (सं० करपत्र)—वे प्राचीन आरे या चक्र जिनके नीचे लोग शुभ फल की आशा से प्राण देते थे। (पा० प० १६-३)।

करवा—दे० 'करवै'। टोंटीदार लोटा। (पा० प० १६७-५)।

करवैं—दे० 'करवै'। (पा० प० ७०-४)।

करवाल—सं० पु० (सं०)–तलवार। उ० जो आवध गुर ग्यांन लखावा, गहि करवाल धूप धरि धावा। (र० ५-४५)।

करहल—क्रि० स० (?)—क्रीड़ा की। उ० आंब कै बौरै चरहल करहल, निबिया छोलि छोलि खाई। (प० १७७-७)।

करहा (१)—सं० पु० (देश०)—सफ़ेद सिरिस का वृक्ष। उ० अस हरि जाहु रांम के करहा, प्रेम प्रीति ल्यौं लाये रे। (प० ७६-२)।

करहा (२)—सं०पु० (सं० करभ)–ऊँट। उ० ह्वै थर चढ़ि गयौ रांड को करहा, मनहु पाट की सैली रे। (प० ७६-४)।

कराइ—क्रि० स० (हि० करना का प्रे० रूप)—करने में लगाकर। (पा० प० १७८-५)।

कराउँ—कराता हूँ, करता हूँ। उ० जिहि जिहि भेषां हरि मिलैं, सोइ सोइ भेष कराउँ। (सा० ३-४१-२)।

कराया—करवाया। उ० तौ भीतरि खतनां क्यूँ न कराया। (प० ४१-१०)।

कराँहि—कराते हैं, करते हैं। उ० मान सरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराँहि। (सा० ५-३६-१)।

कराड़ै—सं० पु० (सं० कराल=ऊँचा, हि० करारा)—नदी का ऊँचा किनारा जो कटने से बने। उ० ठाढ़ी माइ कराड़ै टेरै, है कोई ल्यावै गहि रे (प० १५१-२)।

करारी—सं० पु० (अ० करार)—धैर्य, संतोष। उ० टुक दम करारी जे करैं, हाजिरां सूर खुदाइ। (प० २५७-६)।

कराल—वि० (सं०)—भयंकर, विकराल (पा० प० १४५–६)।

कराहै—क्रि० अ० (अ० कराहत)—आह भरता है। (पा० सा० २–१२–२)।

करि (२)—सं० पु० (सं० कर)—हाथ में उ० सतगुरु लई कमांण करि, वांहण लागा तीर। (सा० १–६–१)।

करिमत—स्वमतानुसार। (बी० र० ३६-२)।

करींम—सं० पु० (अ० करीम)—ईश्वर, कृपामय। उ० कर्म करींम भये कर्तूता वेद कुरान भये दोऊ रीता। (र० ५-२१)।

करीम—दे० 'करींम'। (पा० प०–८७-१०)।

करीमां—दे० 'करींम' उ० करम करीमां लिखि रह्या, अब कछू लिख्या न जाइ। (सा० ३५–७–१)।

करीला—सं० पु० (अ० करीना)—क्रम, तरतीब। उ० पंचूं भइया भये सनमुखा, तब यहु पांन करीला। (प० १०६-६)।

करुणां कारणि—सं० स्त्री० (सं० करुणा) दया–दृष्टि के लिए। उ० रंचक करुणां कारणि केसो, नांव धरण कौं तोहीं। (प० ३६-४)।

करुणांमय—वि० (सं० करुणामय)—दयालु, कृपालु, ईश्वर। उ० कहै कबीर करुणांमय आगैं। (प० २२३-७)।

करू (२)—वि० (सं० कटुक, हि० कड़ुआ)—अप्रिय, कड़ुआ। उ० कवन साच कवन है झूठा, कवन करूं को लागै मीठा। (र० ३–८६)।

करूप—वि० (सं० कुरूप)—बदसूरत, बेडौल। उ० रांम भगति विन कुचल करूप। (प० १२५–८)।

करेजा—सं० पु० (सं० कालेय—जिगर)-हृदय, दिल। (पा० प० १६५–४)।

करेजै—दे० 'कलेजै'। दिल में। (पा० सा० १–६–२)।

करोड़ि—वि० (सं० कोटि)—करोड़, वहुत धन सम्पत्ति। उ० नागे हाथू ते गये, जिनकै लाख करोड़ि। (सा० १२-३७–२)।

करोड़ी—दे० 'करोड़ि'। (पा० प० ४२-५)।

करोरा—सं० पु० (हि०)—करोड़पति। (वी० र० ६६-८)।

करोरि—दे० 'करोड़ि'। (पा० सा० १५-८-२)।

कर्तूता—सं० स्त्री० (हि० करना + ऊत (प्रत्य०))—करतूत, करनी से। उ० कर्म करीम भये कर्तूता, वेद कुरान भये दोऊ रीता। (र० ५-२१)।

कर्म—सं० पु० (सं०)—कार्य, कर्म का फल, भाग्य। उ० आस नहीं पूरिया रे, रांम विन को कर्म कारणहार। (प० ११६-१)।

कर्मनां—क्रि० वि० (सं० कर्मन् से)—कर्म से। (पा० सा० ३–७-२)।

कलंक—सं० पु० (सं०)—लांछन, बदनामी, दोष। उ० काल पासि जु मुगध बांध्या, कलंक कांमिनीं लागि। (प० २४५-६)।

कल—सं० स्त्री० (सं० कला?)—पुरजा, ढंग। (पा० सा० १६-३३-२)।

कलउ—दे० 'कलिजुग'। कलिकाल। (पा० प० १४३-६)।

कलतर—सं० पु० (हि० कल + दार)—कलदार, वह सिक्का जो आवाज करे। उ० कहा भयौ व्यौपार तुम्हारै, कलतर बढ़ै सवाया। (प० १०८–२)।

कलप—सं० पु० (सं० कल्प)—काल का एक विभाग जो ब्रह्मा का एक दिन है। उ० सहज समाधें सुख मैं रहिबौ, कोटि कलप विश्राम। (प० ६-२)।

कलपत—क्रि० अ० (सं० कल्पन, हि० कलपना)—दुःख की कल्पना करते-करते-कलपते-कलपते। उ० मनमथ करम करै असरारा, कलपत बिंद धरै तिहि द्वारा। (र० ५-५४)।

कलपै—विलाप करता है। उ० जाकी दिले में हरि वसै, सो नर कलपै कोइ। (सा० ३५-१८-१)।

कलपनां—सं० स्त्री० (सं० कल्पना)—विचार, ध्यान। उ० काल कलपनां मेटि करि, चरनूं चित राखै। (प० ३६३-६)।

कलमां—सं० पु० (अ० कलमा)—मुसलमान धर्म का मूलमंत्र। उ० गुरमुखि कलमां ग्यांन मुखि छूरी, हुई हलाल पंचूं पुरी। (प० २५६-३)।

कलमैं—दे० 'कलमां'। कलमा से। उ० रोजा करै निवाज गुजारैं, कलमैं भिसत न होई। (प० २५५-५)।

कलवारिन—सं० स्त्री० (सं० कल्यपाल)-कलवार जाति की कन्या जो शराब बनाती और बेचती है। (पा० प० १६४-५)।

कलस—सं० पु० (सं० कलश)—घड़ा। उ० कंचन कलस उठाइ लै मंदिर रांम कहे विन धूरो रे। (प० ८५-२)।

कलसु—सं० पु० (सं० कलश)-मंदिरादि का कंगूरा जो कलश की आकृति का होता है। (सा० ४६-१८-नो०-२८)।

कला—सं० स्त्री० (सं०)—(१) कौशल। उ० नटे वहु रूप खेलै सब जांनैं कला केर गुन ठाकुर मांनैं। (र० ३-२६)। (२) मानव-शरीर के १६ आध्यात्मिक विभाग, ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ प्राण, मन या बुद्धि। उ० कला अतीत आदि निधि निरमल। (प० १५७-२)।

कलानिधि—सं० पु० (सं०)—भगवान, कलानिधान। उ० रांम मोहि सतगुर मिलै अनेक कलानिधि, परम तत सुखदाई (प० १८९-१)।

कलापी—सं० पु० (सं० कलापिन्)—झुंड में रहने वाले लोग जो मयूरपिच्छ धारण करते हैं। उ० इक हूंहि दीन एक देहि दांन, इक करैं कलापी सुरा पांन। (प० ३८६-५)।

कलाल—सं० पु० (सं० कल्यपाल)—कलवार, मद्यविक्रेता। उ० कबीर पीवण दुलभ है, मांगै सीस कलाल। (सा० ६-२-२)।

कलाली—सं० स्त्री० दे० 'कलाल'। मद्य वेचने वाली। उ० काया कलाली लांहनि करिहूं, गुरू सवद गुड़ कीन्हां (प० १५५-३)।

कलि—सं० पु० (सं०)—कलियुग। उ० कलि का स्वामी लोभिया, पीतलि धरी पटाइ। (सा० १७-६-१)।

कलिजुग—दे० 'कलियुग'। कबीर कलि-जुग आइ करि, कीये वहु तज भीत। (सा० ११-१३-१)।

कलित—सं० स्त्री० (सं० कलत्र)—स्त्री भार्या। उ० कांसिक डूंवा सुत कलित दाझण वारंवार। (सा० १७-२२-२)।

कलियाँ—सं० स्त्री० (सं० कली)— खिले फूल। (सा० ४६-९-नो०-११)।

कलियुग—सं० पु० (सं०)—चारों में चौथा युग। उ० कलियुग ह लड़ि पड़्या मुहकम मेरा वाछ। (सा १-५-२)।

कली—सं० स्त्री० (सं०)—(१) [illegible] खिला फूल। उ० रज वीरज की कली तापरि साज्या रूप। (सा० १६-१९- (२) ऐसी कन्या जिसका पुरुष से सम गम न हुआ हो। (बी० र० ७-२)।

कलुवा—सं० पु० (हि० काला+उवा) एक देवता जिसकी दुहाई मंत्रों में जाती है। (पा० प० १४२-९)।

कलू—दे० 'कलियुग'। कलिकाल। झूठे फोकट कलू मंझारा। (प०-२७ ५)।

कलेजा—सं० पु० (सं० कालेय, अथ सं० यकृत (विपर्यय), कृत्य, कृज्ज) दिल में। (पा० सा० २-३३-२)।

कलेजैं—दिल में। उ० लागत ही मैं [illegible] गया, पड़्या कलेजै छेक। (१-७-२)।

कलेस—सं०पु० (सं० क्लेश)—दु: कष्ट। उ० मींठा सो जो सहजैं अति कलेस थैं करू कहावा। (३—१०२)।

कवन—सर्व० (सं० क:, हि० कौन) कौन, किससे। उ० रांणा राव कवन कहिये, कवन वैद को रोगी। (१८६-४)।

कवनां—दे० 'कवन'। कौन। (पा० प० २१-३)।

कवल—दे० 'कमल'। कमल का फूल, हृदय। उ० कवल ज फूल्या फूल विन, को निरषै, निज दास। (सा० ५-५-२)।

कवलाकंत—सं० पु० (सं० कमलाकंत)—परमेश्वर, विष्णु। उ० दांन एक मांगों कवलाकंत, कवीर के दुख हरन अनंत। (प० ११०-४)।

कवलापति—सं० पु० (सं० कमलापति)—विष्णु, भगवान। उ० काया मंधे कवलापति, काया मधै बैकुंठवासी। (प० १७१-४)।

कवि—सं० पु० (सं०)—काव्य को रचने वाला। उ० पंडित गुंनीं सूर कवि दाता, ऐ जु कहैं वड़ हंमहीं। (प० १३३-६)।

कविता—सं० स्त्री० (सं०)—काव्य। उ० कवि कवीनैं कविता मूये, कापड़ी के दारौं जाई। (प० ३१७-५)।

कविला—सं० पु० (अ० करवला)—वह स्थान जहाँ मोहर्रम में ताज़िए दफ़न हों, पश्चिम दिशा की ओर। उ० मन करि मथा कविला करि देही, वोलनहार जगत गुर येही। (प० ६१-३)।

कविलास—सं० पु० (सं० कैलाश)—कैलाश पर्वत। उ० जाकै सूरिज कोटि करै परकास, कोटि महादेव गिरि कविलास। (प०३४०-२)।

कष्ट—सं० पु० (सं०)—दुःख। (वी० र० ६-१)।

कष्टैं कष्ट—दे० 'काष्ठ'। लकड़ी द्वारा, लकड़ी से ही। उ० कष्टैं कष्ट अग्नि पर जरई, जारै दार अग्नि समि करई। (र० ४-६०)।

कस—क्रि० वि० (सं० कीदृश)—कैसे, क्योंकर। उ० दीठा है तौ कस कहूं, कह्यां न को पतियाइ। (सा० ८-२-१)।

कसणी दे—क्रि० स० (हि० कसाव से)—कसैली वस्तु में डुवोने की क्रिया दे कर। उ० कसणी दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार। (सा० १-२८-२)।

कसतूरी—सं० स्त्री० (सं० कस्तूरी)—कस्तूरी नामक सुगंधित द्रव्य, सुगन्ध। उ० मुंख कसतूरी महमहीं, वांणी फूटी वास। (सा० ५-१४-२)।

कसदम—सं० पु० (अ० दमकार)—दमकार, शक्तिशाली। उ० खोटौ महतौ विकट वलाही, सिर कसदम का पारैं। (प० २२२-७)।

कसदीन्हां- क्रि० स० (सं० कषण, हि० कसना)—कसाव तैयार किया, कस दिया। उ० काम क्रोध मोह मद मंछर, काटि-काटि कस दीन्हां। (प० १५५-४)।

कसनि—सं० स्त्री० (हि० कसना)—वह रस्सी जिससे बाँधकर कोई वस्तु कसते हैं। उ० नव वहियां दस गौंनि आहि, कसनि वहतरि लागे ताहि। (प० ३८३-३)।

कसनी—सं० स्त्री० (हि० कसाव)—परख, परीक्षा। (पा०सा० १-३०-२)।

कसवी—सं० स्त्री० (अ० क़सव से)—वेश्या, रंडी। (पा० प० १९३-३)।

कसाइयां—क्रि० अ० (हिं० कसाना)—करसिया गईं। उ० अंपड़ियाँ प्रेम कसाइयां, लोग जांणैं दुखड़ियां। (सा० ३-२५-१)।

कसाई—सं० पु० (अ० क़स्साव)—वधिक, घातक। उ० आपन तौ मुनिजन ह्वै वैठे, का सनि कहौं कसाई। (प० ३९-८)।

कसाव—सं० पु० (सं० कषाय)—कसैलापन, कसाव। उ० लै कसाव रस रांम चुवावा। (प० ७३-३)।

कसि लेइ—क्रि० स० (सं० कषण, हि० कसना)—परखने के लिए सोने आदि को कसौटी पर घिसता है। उ० कनक कसौटी जैसैं कसि लेइ सुनारा। (प० १७-३)।

कसूं—क्रि० स० (सं० कर्षण, प्रा० कस्सण)—खींचूं। उ० काया कसूं कमांण ज्यूं, पंचतत्त करि बांण। (सा० १३-३०-१)।

कसौ—दे० 'कसूं'। (पा० सा० २९-२०-१)।

कसौटी—सं० स्त्री० (सं० कषपट्टी)—सोना परखने का पत्थर। उ० खरी कसौटी रांम की, खोटा टिकै न कोइ। (सा० ४१-९-१)।

कस्तूरियां—वि० (हि० कस्तूरी से)—कस्तूरी वाला। (सा० ५३-शीर्षक)।

कहं—दे० 'कहाँ'। (पा० प० ३-७)।

कहँ लों—क्रि० वि० (हि० कहां+लों)—कहाँ तक। (बी० र० ५-१)।

कह—क्रि० स० (हि० कहना से)—कहता है। (पा० प० ११-५)।

कहइ—कहे। (पा० प० १४०-१)।

कहइत—कहते-कहते। (बी० र० १४-१२)।

कहउं—कहूँ। (पा० प० ४३-४)।

कहत—कहता है। उ० चलन-चलन सबको कहत है, नां जांनौं बैकुंठ कहां है। (प० २४-१)।

कहता—कहता है। (पा० प० १७०-१)।

कहता जात हूँ—कहता जा रहा हूँ। उ० कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ। (सा० २-१-१)।

कहतु—कहते हो। (पा० प० ९०-२)

कहते हैं—कहते हैं। उ० जोरी क जिवहै करैं, कहते हैं ज हलाल। (. २२-८-१)।

कहतैं—कहते। (बी० र० ६१-१)।

कहसि—कहोगे। (पा० प० १८८-२)

कहसी—कहेगा। उ० चंदन होसी बाँ नींब न कहसी कोइ। (सा० २८-१-२

कहहिं—कहते हैं। (पा० प० १९९-३

कहहि—कहता है। (पा० प० १९६-१)

कहहु—कहते हो। (पा० प० ७९-१)।

कहा (१)—कह दिया। (पा० सा० ३४-१)।

कहाजाइ—कहा जा सकता है। उ० भीतरि मन मानियां, बाहरि कहा जाइ। (सा० ५-३१-१)।

कहि—कहकर, कहता है। उ० केसौ कहि कूकिये, ना सोइयै असरार। (सा २-१९-१)। उ० कहि कबीर . भया, गुरु दिखाई बांट। (सा० ५-२)।

कहिअहिं—कहे जाते हैं। (पा० प० ४ ४)।

कहिए—कहना चाहिए, कहिये। (पा०प ३६-७)।

कहिअै—कहिये। (पा०प० २९-६)।

कहिवे—कहने। उ० कहिवे कूं नहीं, देख्या ही परवान। (सा० ५-३ २)।

कहिवौ—कहेगी। उ० जौ तैं रसनां र न कहिवौ। (प० १३१-१)।

कहिय—कहे जाते हैं। उ० सेत्र जु क ह सहस अट्यासी, छपन कोड़ि खे खासी। (प० ३३९-४)।

कहियतु—कहे जाते हो। (पा० प० ४७-४)।

कहियां—कह देना। उ० अंदेसड़ा न भाजिसी, संदेसौ कहियां (सा० ३-९-१)।

कहिये—कहे जाते हैं। उ० यहु सीतल वहु तपति है, दोऊ कहिये आगि। (सा० ३१-२-२)।

कहिसी—कहेगा, कह सकता है। उ० कबीर यौं बिन सूरिवां, भला न कहिसी कोइ। (सा० ४५-४-२)।

कहिहै—कहेगा। उ० नरकि पड़ै पुंनि रांम न कहिहै। (प० १४३-५)।

कही—कह सकता है। (पा०सा० ९-१२-१)।

कहीजै—कहिये, कहना चाहिए। उ० पाँचू राखै पर सती, सहज कहीजै सोइ। (सा० २१-२-२)।

कहु—कहो। उ० कौंण देस कहाँ आइया, कहु क्यूं जाण्यां जाइ। (सा० १४-१-१)।

कहूँ—कह दूं, कह देता हूँ। उ० भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहूँ तौ झूठ। (सा० ८-१-१)।

कहूँ (१)—दे० 'कहूँ'। (प० ५४-२)।

कहें—कहने। उ० राम कहें भला होइगा, नहितर भला न होइ। (सा० २-१-२)।

कहैं—कहते हैं। उ० यहु संसार सकल है मैला, रांम कहैं ते सूचा। (प० १२९-७)।

कहैंगे—कहेंगे, कथन करेंगे। उ० पहुँचैंगे तब कहैंगे, अमड़ैंगे उस ठांइ। (सा० ८-५-१)।

कहै—कहता है। उ० कहै कबीरा संत हौ, पड़ि गया नजरि अनूप। (सा० ५-२४-२)।

कहैला—कहा। (पा० प० १६६-६)।

कहौं—कहता हूँ। उ० भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहूँ तौ झूठ। (सा० ८-१-१)।

कहौ—कहो। उ० हरि जी यहै विचारिया, साषी कहौ कबीर। (सा० ३४-१-१)।

कह्यां—कहना। उ० दीठा है तौ कस कहूँ, कह्याँ न को पतियाइ। (सा० ८-२-१)।

कह्या—कहा। उ० सतगुर हम सूं रीझि करि, एक कह्या प्रसंग। (सा० १-३३-१)।

कह्यौं—कहता हूँ। (पा० प० ६३-१२)।

कह्यौ—कहना, कहा हुआ। उ० वेगि छुड़ाऊ मेरौ कह्यौ मांनि। (प० ३७९-६)।

कहणीं—दे० 'कहन'। (प० १६२-१५)।

कहन—सं० पु० (सं० कथन)—कहने के लिए। उ० कासूं कहूं कहन कौं नाहीं, दूसर और जनां। (प० ५४-२)।

कहन सुनन कौं—मुहा०—कहने भर के लिए, अस्थायी। उ० कहन सुनन कौं जिहि जग कीन्हा, जग भुलांन सो किनहूं न चीन्हां। (र० २-१)।

कहणीं—कथन। उ० कहणीं रहणीं निज तत जांणै, यहु सब अकथ कहाणीं। (प० १६२-१५)।

कहनौं—कथन। (पा० प० २६-६)।

कहल—सं० पु० (सं० कथन)—कहना, सलाह, उपदेश। (वी० र० ६१-४)।

कहवैया—वि० (हि० कहना)—कहने वाला। (वी० र० ५-१२)।

कहाँ—क्रि० वि० (वै० सं० कुहः, कुत्र,

प्रा० कुत्थ)—किस जगह पर। उ० कौंण देस कहां आइया, कहु क्यूं जांण्यां जाइ। (सा० १४-१-१)।

कहां—कहाँ। (पा० प० ८-३)।

कहांणीं—सं० स्त्री० (हि० कहना से)—किस्सा, कथा। उ० अकथ कहांणीं प्रेम की, कह्यां न को पत्याइ। (सा० ४१-१०-२)।

कहाँ थें—क्रि० वि० (हि० कहाँ+तें)—किस प्रकार, कहाँ से। उ० प्रीत न जोड़ी राम सूं, रहण कहाँ थैं होइ। (सा० १४-३-२)।

कहांनीं—दे० 'कहांणीं'। (पा० प० ११२-१)।

कहाँ लौं—दे० 'कहाँ'+तक। कहाँ तक। (वी० र० ६-२)।

कहा (२)—क्रि० वि० (सं० कथम् या कः)—किस प्रकार, कैसे। उ० कबीर कहा गरबियौ, देहा देखि सुरंग। (सा० १२-६-१)।

कहाइ—क्रि० स० (हि० कहना से)—कहलाओ। उ० कबीर आपण राम कहि, औरां राम कहाइ। (सा० २-२३-१)।

कहाई—कहलाता है। उ० वो जीवन भला कहाई। (प० २८२-५)।

कहावत—कहलाता है। उ० एक कहावत मुलां काजी। (प० १४२-३)।

कहावा—कहलाया। उ० चित चेतनि करि पूजा लावा, तेतौ जंगम नांउं कहावा। (र० १-१२)।

कहावैं—कहलाते हैं। (पा० प० १-५)।

कहावै—कहलाता है। (पा० प० १७७-४)।

कहाही—दे० 'कहाई'। कहलाता है। (पा० प० ११८-६)।

कहार—सं० पु० (सं० स्कंध भार)—डोली ढोने वाले। उ० पांच कहार का मरम न जांनां। (प० ६०-५)।

कहीं—क्रि० वि० (सं० कुहः)—कहाँ ही, किसी अनिश्चित स्थान पर। (पा० सा० १५-८७-१)।

कहुं—दे० 'कहीं'। किसी स्थान पर। (पा० सा० २८-५-२)।

कहूं—दे० 'कहीं'। (पा० सा० १६-३६-२)

कां—क्रि० वि० (वै० सं० कुहः या कुत्र, पा० कुत्थ, हि० कहाँ)—कहाँ। उ० कां सिकडूं वा सुत कलित, दाभ्रण वारं-वार। (सा० १७-२२-२)।

कांइ—अव्य० (सं० किम्)—क्यों। उ० कांइ गमावैं देह, कारिज कोई नां सरै। (सा० २०-८-२)।

कांकर—दे० 'कंकर'। पत्थर का टुकड़ा। (पा० सा० १८-६-१)।

कांच—सं० पु० (सं० कांच) एक मिश्र पदार्थ, शीशा। (पा० प० १२६-३)।

कांचली—सं० स्त्री० (सं० कंचुलिका)—साँप की केंचुली। उ० बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं, ज्यूं कांचली भुवंग। (सा० १२-६-२)।

कांचा—दे० 'काचा'। कच्चा। (सा० १२-३८-१)।

काँची—दे० 'कांची'। कच्ची। उ० काँची कारी जिनि करै, दिन दिन वधै बियाधि। (सा० १२-४०-१)।

कांची—वि० (हि० कच्ची)—कच्ची। (पा० सा० २४-६-२)।

काँची कारी करै—मुहा० टालमटोल करता है। (सा० १२-४०-१)।

कांचुरी—दे० 'कांचली'। (पा० सा० १५-२२-२)।

कांचैं—दे० 'काँचैं'। कच्चा। (पा० प० ६८-४)।

कांचै—दे० 'कांचै'। कच्चा। (पा० प० ७०-४)।

कांजी—सं० स्त्री० (सं० काञ्जिक)—एक प्रकार का तैयार किया हुआ खट्टा रस, जो विभिन्न प्रकार से बनाया जाता है। उ० मुरछि मुरछि जीव जरिहै आसा, कांजी अलप बहु खीर विनासा। (र० ३-७५)।

कांटवा—सं० पु० (सं० कंटक, हि० कांटा)—काँटा। (पा० सा० १५-१०-२)।

कांठै—सं० पु० (सं० कंठ)—गले में, मुँह में। उ० राम नांम कांठै रह्या, करें सिषाँ की आस। (सा० १७-४-२)।

कांणि—सं० स्त्री० (हि० कानि)–मर्यादा, संकोच। उ० दुनिया के धोखैं मुवा, चलैं जु कुल की कांणि। (सा० १२-४६-१)।

कांन—दे० 'कान'। कान। (पा० प० १६५-५)।

कांननि—सं० पु० (सं० कर्ण, हि० कान)–कानों में। उ० मूंड़ मुड़ाइ फूलि का बैठे, कांननि पहरि मंजूसा। (प० १३४-३)।

कांनां (१)—वि० (सं० काण)—काना, एक आँख का। उ० आपण अंध और कूं कांनां, तिनकौं देखि कबीर डरांनां। (प० १४४-५)।

कांनां (२)—दे० 'कान'। कान से। (पा० चौ० र० ८-१)।

कांनि—सं० स्त्री० (?)—लोकलज्जा, मर्यादा। दे० 'कांणि'। (पा० सा० १४-४०-१)।

कांनीं—दे० 'कांनां' (१)। कानी। (पा० प० १६३-६)।

कांनें—दे० 'कांनां' (१)। काना। (पा० प० १६७-६)।

कांन्ह—दे० 'कान्ह'। कृष्ण। (पा० प० १३१-६)।

कांम—सं० पु० (सं० कर्म, प्रा० कम्म, हि० काम)—(१) कार्य, क्रिया। उ० जांमण मरण विचारि करि, कूडे कांम निवारि। (सा० १२-१४-१)।
(२) वास्ता, सरोकार, लगाव। उ० झगरा एक नवेरो रांम, जे तुम्ह अपनें जन सूं कांम। (प० २७-१)।
(३) वासना। उ० काम क्रोध अहंकार व्यापै, नां छूटे माया। (प० ३०८-२)।

कांमणी—सं० स्त्री० (सं० कामिनी)—सुंदरी स्त्री, कामवती नारी। उ० रांम नांम बिन बूडिहैं, कनक कांमणी कूप। (सा० १६-१६-२)।

कांमधेन—सं० स्त्री० (सं० कामधेनु)—यथेच्छ देने वाली गाय। उ० अवधू कांमधेन गहि बांधी रे। (प० १५२-१)।

कांमना—सं० स्त्री० (सं० कामना)—इच्छा, मनोरथ। (सा० २०-२७-नो० ३२)।

कांमबांन—सं० पु० (सं० कामबाण)—कामदेव के पाँच बाण—उन्मादन, संतापन, शोषण, स्तंभन और संमोहन। तकि मारै रिदा मैं कांमबांन। (प० ३८५-४)।

कांम रस—सं० पु० (सं० कामरस)—इच्छा-पूर्ति, संभोग। उ० षटरस खाटि कांमरस लीन्हां। (र० ३-१५)।

कांमिनि—दे० 'कामिनि'। (पा० प० १३-६)।

कांमिनीं—दे० 'कामिनि'। (पा० सा० ३०-८-२)।

कांमियां—वि० (सं० कामिन्)—विपयी ने, कामुक ने। उ० भगति विगाड़ी कांमियां, इन्द्री केरै स्वादि। (सा० २०-१८-१)।

कांमीं—दे० 'कामीं'। कामुक। (पा० सा० २१-२६-२)।

कांमु—दे० 'काम'। (पा० प० २५-३)।

कांवली—सं० स्त्री० (सं० कंवल)—कमली, छोटा कंवल। उ० सापित काली कांवली, भावै तहाँ विछाइ। (सा० २८-१३-२)।

कांसि—सं० पु० (सं० कांस्य)—एक मिश्रित धातु, कांसा। (पा० सा० २१-३२-२)।

का (१)—(सं० कृत:)—सम्बन्ध कारक का चिह्न। उ० सतगुरु के सदकै करूँ, दिल अपणीं का साछ। (सा० १-५-१)।

का (२)—सर्व० (सं० क:)—क्या। उ० मैं का जांणौं राम कूं, नैनूं कवहुं न दीठ। (सा० ८-१-२)।

काइ—सर्व० (सं० क:)—कोई, किसी। (पा० सा० १६-२६-१)।

काइथ—दे० 'काइथि'। (पा० प० ४१-२)।

काइथि—सं० पु० (सं० कायस्थ)—यमराज के मुनीम, चित्रगुप्त। उ० काइथि कागद काढ़िया, तव दरिगह लेखा पूरि। (सा० २२-३-२)।

काइर—दे० 'कायर'। डरपोक। उ० काइर हुवां न छूटिये, कछु सूरा तन साहि। (सा० ४५-१-१)।

काई—सं० स्त्री० (सं० कावार)—एक प्रकार का मुर्चा जो धातुओं में लग जाता है, मैल। उ० जव दरपन लागै काई, तव दरसन किया न जाई। (प० २६२-७)।

काएं—अव्य० (सं० किम्)-क्यों। (सा० ४६-१८-नो० २६)।

काकर—सर्व० (हि० कौन)—किसका। उ० व्रह्मादिक सनकादिक सुर नर, मैं वपुरौ धूंका मैं काकर। (प० ४७-५)।

काकरना—मुहा० किस काम का, व्यर्थ है। उ० रांम थोरे दिन कौं का धन करनां। (प० ६६-१)।

काकी—सर्व० (हि० कौन)—किसकी। (प० ५८-६)।

काकै—सर्व० (हि० कौन)—किसके। (प० ३२-८)।

काको—सर्व० (हि० कौन)—किसको। (पा० प० २१-४)।

काकौं—सर्व० (हि० कौन)—किसको। (पा० प० १०२-१)।

काकौ—सर्व० (हि० कौन)—किसका। उ० लोका तुम्ह ज कहत हौ नंद कौ नंदन, नंद कहौं धूं काकौ रे। (प० ४८-१)।

काग—सं० पु० (सं० काक)—कौआ। उ० ते मंदिर खाली पड़े, वैसण लागे काग। (सा० १२-४-२)।

कागद—सं० पु० (अ० काग़ज़)—(१) काग़ज़। उ० मन रे तन कागद का पुतला। (प० ६२-१)।
(२) लिखित व्यौरा, हिसाव-किताव। उ० काइथि कागद काढ़िया, तव परिगह लेखा पूरि। (सा० २२-३-२)।

कागा—दे० 'काग'। कौआ। (पा० प० ६२-४)।

कागि—दे० 'काग'। कौआ। उ० कागि

लगर फांदिया, बटेरै बाज जीता। (प० १६०-६)।

काच—(१) सं० पु० (सं० कांच)—काँच नामक मिश्र धातु। उ० जानि बूझि कंचन तजैं, काठा पकड़ै काच। (सा० २२-१५-२)।

(२) सं० पु० (हि० कच्चा)—कच्चा, असार, मिथ्या। उ० सब कृत काच हरी हित सार, कहै कबीर तजि जग व्यौहार। (प० १३०-५)।

काचा—वि० (सं० कषण या कषाय)—कच्चा, वेपका। उ० यहु काचा खेल न होई, जन षटतर खेलै कोई। (प० १७३-१२)।

काची—वि० (हि० कच्ची)—नश्वर। उ० काची काया मन अथिर, थिर थिर कांम करंत। (सा० ४६-३०-१)।

काचै—वि० (हि० कच्चा)—कच्चा। उ० हरि मोत्यां की माल है, पोई काचै तागि। (सा० ३३-८-१)।

काछ—सं० पु० (सं० कक्ष)—लाँग। (सा० २०-२३-नो० २७)।

काछ खोले—मुहा०—प्रसंग करे। (सा० २०-२३-नो० २७)।

काछा—क्रि० वि० (सं० कक्ष, प्रा० कच्छ, हि० काछे)—निकट, पास। उ० कब लग रहूं नटारंभ काछा। (र० ३-३०)।

काछि—क्रि० स० (सं० कक्ष, प्रा० कच्छ, हि० काछना)—पहनकर, स्वीकार करके। (पा० प० ८६-७)।

काछ्यौ—पहना, स्वीकार किया। उ० सुध बुध होइ भज्यौ नहि सांई, काछ्यौ ड्यंभ उदर कै तांई। (प० २७८-३)।

काज—सं० पु० (सं० कार्य)—काम। उ० कबहूं न सोवै काज संवारे, पांण तिहारी माती। (प० २१६-४)।

काजर—दे० 'काजल'। (पा० प० १७-५)।

काजल—सं० पु० (सं० कज्जल)—(१) कालिख। उ० कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ। (सा० ११-४-१)

(२) राख, क्षार। उ० काजल केरी कोठरी, मसि के कर्म कपाट। (सा० २३-२-१)।

काजा—दे० 'काज'। कार्य। उ० मन रे सरचौ न एकौ काजा। (प० २६४-१)।

काजि—दे० 'काज'। कार्य। (पा० प० १३२-४)।

काजियां—दे० 'काजी'। मुसलमानी न्यायाध्यक्ष। उ० पीरां मुरीदां काजियां, मुलां अरू दरवेस। (प० २५७-३)।

काजी—सं० पु० (अ० क़ाजी)—मुसलमान न्यायाध्यक्ष। उ० साचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज। (सा० २२-५-२)।

कांजु—दे० 'काज'। कार्य। (पा० प० ७१-३)।

काट—सं० स्त्री० (सं० √कृत, प्रा० √कट्ट)—काटने की क्रिया या भाव। (पा० सा० ४-२५-१)।

काटणहार—वि० (हि० काटना)—काटने वाला, नष्ट करने वाला। उ० रांम बिन को कर्म काटणहार। (प० ११६-१)।

काटां—क्रि० स० (सं० कर्त्तन, प्रा० कट्टन, हि० काटना)—काटने पर। उ० काल्हि जु काटां भाजिसी, पहिली क्यूं न खड़ाउं। (सा० ५०-१-२)।

काटि गया—यौ०-मुहा०—काट गया, निकल गया। उ० सब जग तौ फंधै पड़्या, गया कबीरा काटि। (सा० १६-२-२)।

काटिया—काट दिया। (पा० सा० २६-४-२)।

काटिहैं—काटेगा। उ० आप आप कूं काटिहैं, कहै कबीर विचारि। (सा० १२-४४-२)।

काटिहै—काटेगा। (पा० सा० १५-६०-१)।

काटी कूटी—यौ०—काट-काट कर टुकड़े की हुई। उ० काटी कूटी मछली छींकै धरी चहोड़ि। (सा० १३-२४-१)।

काटें—काटने पर। (पा० सा० १३-१-२)।

काटै—काटता है, टुकड़े-टुकड़े करता है। उ० जैसें वाढी काष्ट ही काटै, अगिनि न काटै कोई। (प० ५५-५)।

काटौं—काटूं। उ० जे काटौं तौ डहडही, सींचौं तौ कुमिलाइ। (सा० ५८-३-१)।

काट्यां—काटने पर। उ० वलिहारी ता विरप की, जड़ काटयां फल होइ। (सा० ५८-२-२)।

काठ—सं० पु० (सं० काष्ठ)—लकड़ी। उ० कवीर माला काठ की, कहि समझावै तोहि। (सा० २४-५-१)।

काठहि—काठ को। उ० मनही मांहि विसूरणां, ज्यूं घुणं काठहि खाइ। (सा० ३-२८-२)।

काठा—लकड़ी। उ० जानि वूझि कंचन तजै, काठा पकड़ै काच। (सा० २२-१५-२)।

काठौं—लकड़ी, ईंधन। उ० सती विचारी सत किया, काठौं सेज विछाइ। (सा० ४५-३४-१)।

काठैं—दे० 'कांठैं'। (पा० सा० २१-१३-१)।

काढणां—क्रि० स० (सं० कर्पण, प्रा० कड्ढण, हि० काढ़ना)—काढ़ना। उ० मंदिर लागै द्वार थैं, तव कुछ काढणां न जाइ। (सा० ४६-२४-२)।

काढ़ा—निकाला। (पा० सा० १६-१३-२)।

काढ़ि—निकालकर। उ० तव काढ़ि खड्ग कोप्यो रिसाइ, तोहि राखनहारौ मोहि वताइ। (प० ३७९-९)।

काढ़िया—निकाला। उ० काइथि कागद काढ़िया, तव लेखै वार न पार। (सा० २२-४-१)।

काढ़ी—निकालकर। (पा० प० १६५-४)।

काढ़े—निकाल दिया। उ० मैं वासा मोई किया, दुरिजन काढ़े दूरि। (सा० २४-२६-१)।

काढ़ौ—निकालो, बाहर करो। उ० हंस वटाऊ चलि गया, काढ़ौ घर की छोति। (सा० ४६-१७-२)।

काढ्यौ—निकाला। उ० वड़ै वौहरै सांठो दीन्हौं, कलतर काढ्यौ खोटै। (प० १०८-३)।

कातरा—सं० पु० (सं० कातर)—एक प्रकार की मछली। (सा० ४३-३२-नो० ४३)।

कातरै—दे० 'कतरै'। कतरता है। (पा० प० ११४-५)।

कातल—क्रि० स० (हि० कातना)—कातो। (पा० प० १३६-४)।

काता—कात दिया। उ० कहै कवीर सूत भल काता, रहटां नहीं परमपद दाता। (प० २२८-५)।

काति—कातो, सूत वनाओ। उ० सासू कहै काति वहू ऐसैं, विन कातैं निस तरिवौ कैसैं। (प० २२८-४)।

काती (१)—कातो। (सा० १२-५८-१)

कातैं—काते हुए। (प० २२८-४)।

कातौं—कातूं। (पा० प० ११०-१)।

कातौंगी—कातूंगी, बनाऊँगी। उ० कातौंगी हजरी का सूत, नणंद के भइया की सौं। (प० १३-२)।

काती (२)—सं० स्त्री० (सं० कर्तरी)—कतरनी, कैंची। उ० माला पहरयां कुछ नहीं, काती मन कै साथि। (सा० २४-८-१)।

कात्यां—छोटी तलवार, छुरी। उ० दुहु कात्यां विचि जीव है, दौहनैं संतौ सीप। (सा० ३४-५-२)।

कान—सं० पु० (सं० कर्ण, प्रा० कण्ण)—कान। उ० जिहिं सर मंडल भेदिया, सो सर लागा कान। (सा० ५-२१-२)।

कान्ह—सं० पु० (सं० कृष्ण, प्रा० कण्ह)-श्रीकृष्ण। उ० बजर परौ इहि मथुरा नगरी, कान्ह पियासा जाई रे। (प० ७६-६)।

कापड़ा—दे० 'कप्पड़ा'। कपड़ा। (पा० सा० १-१८-२)।

कापड़ी—सं० पु० (सं० कपछिन, प्रा० कपछी)—एक जाति का नाम। उ० कवि कवीनैं कविता मूये, कापड़ी के दारौं जाई। (प० ३१७-५)।

कापरे—दे० 'कपड़ा'। कपड़े, वस्त्र। (पा० सा० १५-२६-१)।

काबा—दे० 'कावै'। (पा० सा० २०-१०-१)।

कावे—दे० 'कावै'। (पा० प० १८४-६)।

कावै—सं० पु० (अ० कावा)—मक्का शहर का पवित्र स्थान; जहाँ मुसलमान हज्ज करने जाते हैं। (सा० २२-११-१)।

काम—सं० पु० (सं०)-मनोरथ, वासना, इच्छा। उ० काम मिलावै रांम कूं, जे कोई जांणैं राषि। (सा० २९-११-१)।

कामरि—दे० 'कामरी'। (बी० र० १५-२)।

कामरी—सं० स्त्री० (सं० कंवल)—कमली, अविद्या। (बी० र० १५-४)।

कामलड़ी—दे० 'कामरी'। छोटा कंवल। उ० फाड़ि फुटोला धज करौं कामलड़ी पहिराउँ। (सा० ३-४१-१)।

कामिनि—सं० स्त्री० (सं० कामिनी)—कामवती स्त्री, रखैलिन। (बी० र० ७८-३)।

कामीं—वि० (सं० कामिन्)—विपयी, कामुक। (सा० २०-शीर्षक)।

कामो—क्रि० स० (हि० कामना)-कामना करना। (बी० र० १०-८)।

कायर—वि० (सं० कातर)—डरपोक, भीरु। उ० कायर बहु तप गाँवहीं, बहकि न बोलै सूर। (सा० ४५-१४-१)

काया—सं० स्त्री० (सं० काय)-शरीर। उ० काया कलाली लांहनि करिहूं, गुरू सवद गुड़ कीन्हां। (प० १५५-३)।

काया कंचन—यौ०—काया के भीतर सुरक्षित आत्मा। (बी० र० ६४-१)।

कार—सं० पु० (फ़ा०)—काम-धंधा। उ० हम जिमी असमांन खालिक, गुंद मुसिकल कार। (प० २५८-६)।

कारगह—सं० पु० (फ़ा० कारगाह, हि० करगह)—कपड़ा बुनने का यंत्र, करघा। (पा० प० १५०-५)।

कारटा—सं० पु० (सं० करट)—कौआ, काग। (सा० २४-९-नो० १२)।

कारण—सं० पु० (सं०)—हेतु, वजह। (पा० प० १४७-५)।

कारणि—सं० पु० (सं० कारण)—हेतु, आदि, मूल वस्तु। उ० जा कारणि मैं ढूँढ़ता, सनमुख मिलिया आइ। (सा० ५-३६-१)।

कारणैं—दे० 'कारण'। हेतु। (सा० १-१८-१)।

कारन—दे० 'कारण'। (पा० सा० २-९-१)।

कारनि—दे० 'कारण'। वजह से, हेतु से। उ० जिस कारनि तटि तीरथि जांही, रतन पदारथ घटही माहीं। (प० ४२-६)।

कारनैं—दे० 'कारणैं'। (पा० सा० १-४-१)।

कारा—सं० स्त्री० (सं०)—कैद, बंधन। (पा० प० १९२-७)।

कारिज—सं० पु० (सं० कार्य)-प्रयोजन, मतलब। उ० कांइ गमावैं देह, कारिज कोई नां सरैं। (सा० २०-८-२)।

कारिवां— क्रि० स० (हि० करना)—(१) किया गया, रचना हुई। उ० कबीर पटण कारिवां, पंच चोर दस द्वार। (सा० १२-७-१)। (२) सं० पु० (फ़ा० कारवाँ)—यात्रियों का समूह। (सा० १२-७-१)।

कारी—सं० स्त्री० (सं० कलुष, हि० कारिख)—कालिमा। उ० सूझै करकन लागैं कारी, वैद बिधाता करि मोहि सारी। (प० २८५-४)।

कारे—वि० काले। (पा० प० १६०-४)।

काल—सं० पु० (सं०)—मृत्यु, अंतिम काल। उ० आदि अंत सब सोधिया, दूजा देखौं काल। (सा० २-५-२)।

काल चक्र—सं० पु० (सं०)—समय का फेर। उ० काल चक्र का मरदै मांन, तां मुलनां कूं सदा सलांम। (प० ३३०-३)।

कालबूत—सं० पु० (फ़ा० कालबुद)—ढाँचा, कच्चा भराव। उ० कालबूत के कोट ज्यूँ, देषत ही ढहि जाइ। (सा० १८-१-२)।

कालर—सं० पु० (देश० हि० कल्लर, कल्हा)–नोनी मिट्टी, रेत, अनुर्वर, बंजर। उ० ते नर कदे न नीपजैं, ज्यूं कालर का खेत। (सा० २५-३-२)।

काला—वि० (सं० काल)—काले रंग का। उ० वोढैं काला कापड़ा, नांव धरावैं सेत। (सा० २३-७-२)।

कालि—सं० पु० (सं० काल)–समय में। उ० खातां मींठी खाँड सी, अंति कालि विष होइ। (सा० २०-४-२)।

काली—वि० (सं० काल)—(१) काले रंग की, विषैली। उ० कांमणि काली नागणीं, तीन्यूं लोक मंझारि। (सा० २०-१-१)।
(२) अंधकारपूर्ण। उ० इही भरोसैं जे रहे, ते बूड़े काली धार। (सा० २३-१-२)।

काल्हि—क्रि० वि० (सं० कल्प)—पहले, गत दिवस। उ० जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या। (सा० ३-१७-१)।

काल्हिक—क्रि० वि० (सं० कल्प)—कल की। उ० आजक काल्हिक निस हमैं, मारगि माल्हंतां। (सा० ४६-२-१)।

काष्ट—सं० पु० (सं० काष्ठ)—काठ, लकड़ी। उ० जैसैं बाढी काष्ट ही काटै, अगिनि न काटै कोई। (प० ५५-५)।

काष्टै—दे० 'काष्ट'। लकड़ी में।

बिना जुगति कैसै मथिया जाई, काष्टै पावक रह्या समाई। (र० ४-५६)।

का सनि—सर्व० (हि० कौन)—किससे। उ० हा हा करते ते मुये, का सनि करौं पुकार। (सा० ४६-३१-२)।

कासी—सं० स्त्री० (सं० काशी)—काशी प्रदेश। (सा० १७-१६-१)।

कासी कांठैं—कासी के निकट। उ० कासी कांठैं घर करैं, पीवैं निर्मल नीर। (सा० १७-१६-१)।

कासूं—दे० 'का सनि'। किससे। (प० ३०८-७)।

कासौं—दे० 'कासनि'। किससे। (पा० प० ३६-७)।

काहा—क्रि० वि० (सं० कः)—क्या। उ० रांम भगति परि जाकौ हितचित, ताकौ अचिरज काहा। (प० ४०२-५)।

काहि—सर्व० (हि० कौन से)—किसको, किससे। उ० कहै कबीर यहु कहिये काहि, साथ संगति बैकुंठहि आहि। (प० २४-५)।

काहू—सर्व० (सं० कः, हि० हू, प्रत्य०) —किसी, किसी के, किसे। उ० कहै कबीर जा मस्तकि भाग, नां जांनूं काहू देइ सुहाग। (प० ११८-४)।

काहू कौं—किसी को। उ० इन ग्रिह मन डहके सबहिन के, काहू कौ परचौ न पूरौ रे। (प० ८५-३)।

काहे—क्रि० वि० (सं० कथं, प्रा० कहं, हि० काहे)—क्यों, किसलिए। उ० कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि। (सा० २-१२-१)।

काहे कौ—किस बात की, क्या। उ० काहे कौ कुसलात, कर दीपक कूंवै पड़ै। (सा० १३-७-२)।

काहे कूं—क्यों, किसलिए। उ० माया मोहे अर्थ देखि करि, काहे कूं गरवांनां। (प० ५५-७)।

काहेक—क्रि० वि० (सं० कथं, प्रा० कहं) —क्यों, किसलिए। (वी०र० ११-४)।

काहो—दे० 'काहा'। क्या। (पा०प० २००-३)।

किंगरी—दे० 'कींगरी'। (पा० प० १३३-१)।

किंचित—वि० (सं० किंचित्)—थोड़ा-सा, ज़रा-सा। (वी० र० ११-७)।

किंवा—अव्य० (सं० किंवा)—या तो। उ० साधैं सिधि ऐसी पाइये, किंवा होइमहोइ। (प० ५-६)।

किंवार—दे० 'किवाड़'। (पा०प० २५-३)।

कि—अव्य० (सं० किम्)—अथवा। उ० एक जुगति एकै मिलै, किंवा जोग कि भोग। (प० ५-११)।

किएं—क्रि० स० (हि० करना)—दे० 'किया'। किया या करने से। (पा० सा० १७३-५)।

किए—(पा० प० ५०-५)।

किएउं—किया। (पा० प० ११-३)।

किएहु—किया। (पा० प० ८६-४)।

किछु—वि० (सं० किंचित्, प्रा० किंची, पू० हि० किछु)—कुछ। (पा० प० ३६-४)।

किछुवो—कुछ भी। (वी० र० १६-३)।

किछू—कुछ। (पा० प० १२२-५)।

किता—वि० (सं० कियत्)—कितना। (पा० प० १८६-३)।

किती एक—वि० (सं० कियत्+एक)— कई एक, बहुत। उ० बांध्या बार पटीक कै, तापसु किती एक आव। (सा०

४६-२७-२)।

कितेक—वि० (सं० कियदेक)—अनेक, बहुत से। उ० कितेक सिव संकर गए ऊठि। (प० ३५-१)।

कितेब—सं० स्त्री० (अ० क़िताब)—ग्रंथ, कुरान शरीफ। उ० जन कबीर ऐसा असवारा, वेद कतेब दहूँ थैं न्यारा। (प० २५-४)।

किन (१)—क्रि० वि० (सं० किम्+न)—क्यों न। उ० राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होइ। (सा० १२-६-२)।

किन (२)—सर्व० (हि० कौन)—किसने। उ० कहै कबीर सुनहु रे भाई, रांम नांम विन किन सिधि पाई। (प० १३२-६)।

किनहुं—किसी ने। (पा० प० ६६-४)।

किनहूँ—(हि० कौन+हू)—किसी ने भी। उ० पूरी किनहूँ न भोगई, इनका इहै विजोग। (सा० १६-३-२)।

किनहूं—(पा० र० १२-२)।

किनि (१)—दे० 'किन' (१)—(सं० किम्+न)—क्यों न। उ० मीरां मुझ सौं यौं कह्या, किनि फुरमाई गाइ। (सा० २९-२१-२)।

किनि (२)—दे० 'किन' (२)—किसने। (पा० प० ८५-१०)।

किबला—दे० 'कबिला'। करबला। (पा० प० १२९-३)।

किम—क्रि० वि० (सं० किम्)—क्यों। उ० खंडित मूल विनास कहौ किम विगतह कीजै। (सा० ३३-९-३)।

कियां—दे० 'किया'। (सा० १४-२९-२)।

किया—क्रि० स० (हि० करना)—दे० 'कर'। कर दिया। उ० सतगुरु की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार। (सा० १-३-१)।

कियें—करने से। उ० जटा भसम लेपन कियें, कहा गुफा में वास। (प० ३००-४)।

कियौं—किए। (पा० प० ८३-३)।

किरखि—सं० पु० (सं० कर्कट, हि० किरका)—कंकड़ आदि। उ० गुर बीज जमाया किरखि न पाया, मन की आपदा खोई। (प० २१६-७)।

किरखी—दे० 'किरषी'। खेतीहरी। (पा० प० ९१-५)।

किरणि—दे० 'किरन'। (र० १-टि० ९)

किरतिम—दे० 'कृतम'। (पा०र० ६-३)

किरन—सं० स्त्री० (सं० किरण)—किरन। (पा० चौ० र० ६-१)।

किरपा—दे० 'कृपा'। दया। उ० अपना करि किरपा करै, ले उतारै मैदानि। (सा० ४३-२-२)।

किरम—दे० 'क्रम'। कीड़ा। उ० जे जारैं तौ होइ भसम तन, रहित किरम जल खाई। (प० ३११-३)।

किरषी—सं० स्त्री० (सं० कृषि)—किसानी, खेतीहरी। उ० बुधि मेरी किरषी, गर मेरी बिझुका, अखिर दोइ रखवारे। (प० ३६६-५)।

किरसांनां—दे० 'किसांण'। किसान। (पा० प० ४१-३)।

किरांणां—सं० पु० (सं० क्रयाण)—नमक, मसाला आदि नित्य व्यवहार की वस्तु। उ० करम किरांणां बेचि करि, उठि ज लागे बाट। (सा० १२-५७-२)।

किरिम—दे० 'किरम'। कीड़ा। (पा० प० ६८-३)।

किलिकिलि—सं० स्त्री० (अनु० हि० किलकिल)—झगड़ा, वाद-विवाद। उ० किलिकिलि सबै मिटाई हो रांम। (प०

२०-७)।

किस—सर्व० (सं० कस्य, हि० कौन)—किस। उ० सबै जीव सांई के प्यारे, उबरहुगे किस वोलै। (प० ६२-८)।

किसका—(पा० सा० १५-२८-२)।

किसकी—(पा० प० १८७-१०)।

किसके—(सा० ४५-१४-२)।

किसकेरा—(प० २५६-६)।

किसकेरी—किसकी। उ० दिवस चारि भलैं मन रंजै, यहु नांहीं किसकेरी रे। (प० ३६६-४)।

किसकौ—किसका। (सा० १-१७-२)।

किसही—किसी। उ० कबीर माया डाकणीं, सव किसही कौं खाइ। (सा० १६-२१-१)।

किसा—किसका। उ० माया राता मांनवीं, तिन सूं किसा सनेह। (सा० २६-५-२)।

किसा कौं—किसको। उ० देखत हीं दह मैं पड़े, दई किसा कौं दोस। (सा० ५७-३-२)।

किसी के—किसी के। (पा०प० १६३-५)।

किसु—किस। (पा० प० ११३-६)।

किसौ—किसको। उ० नारद से मुनियर गिले, किसौ भरोसौ त्यांह। (सा० १६-३१-२)।

किसांण—सं० पु० (सं० कृषाण, प्रा० किस्सान)–खेतिहर, खेती करने वाला। (सा० १२-१३-नो० २०)।

किसानां—दे० 'किसांण'। (प० १४-४)।

किहि—वि० (हि० किस)—किस। (पा० सा० ३१-२-२)।

किहि काम—किस काम का, व्यर्थ। उ० मूवां पीछैं देहुगे, सो दरसन किहि काम। (सा० ३-७-२)।

किहि विधि—क्रि० वि०—किस प्रकार। उ० कहु धौं किहि विधि राखिये, रुई पलेटी आगि। (सा० १६-३२-२)।

कींगरी—सं० स्त्री० (सं० किन्नरी, हि० किँगरी)—छोटा चिकारा, भिखमंगे योगियों की छोटी सारंगी। उ० जगत गुर अनहद कींगरी वाजै, तहां दीरघ नाद ल्यौ लागै। (प० १५३-१)।

की—सम्वन्ध का चिह्न। उ० सतगुरु की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार। (सा० १-३-१)।

कीआ—दे० 'कीया'। किया। (पा० प० १८३-३)।

कीएं—किए। (पा० प० १७७-५)।

कीए—किए। (पा० प० २६-६)।

कीच—सं० पु० (सं० कच्छ)—कीचड़। (पा० प० १४४-५)।

कीछू—वि० (सं० किंचित्, प्रा० किंची, पू० हि० किछु)—कुछ भी। उ० अरध न उरध रूप नहीं कीछू। (र० वा०-१६)।

कीजिअै—दे० 'कीजिये'। (पा० प० १७३-३)।

कीजिये—क्रि० स० (हि० करना से)—करिए। उ० वनहि वसे का कीजिये, जे मन नहीं तजै विकार। (प० ३००-२)।

कीजै—किया। (पा० प० ६५-१)।

कीट—सं० पु० (सं०)–कीड़ा, मकोड़ा। उ० सूरा होइ सु परमपद पावै, कीट पतंग होइ सव जरिया। (प० १५८-८)

कीटक—सं० पु० (सं० कीट)—कीड़े। (पा० प० १-२)।

कीठोर—वि० (सं० कठोर)—निर्दय, निष्ठुर। उ० जाहि फिरांयां हरि मिलै, सो भया काठ की ठोर। (सा० २४-२-२)।

कीड़ी—सं० स्त्री० (हि० कीड़ा)—छोटा कीड़ा। (सा० ४६-३०-नो० ५१)।
कीता—क्रि० स० (हि० करना)—किया। उ० जोति सरूपी हाथि न आया, कही हलाल क्या कीता। (प० ६२-४)।
कीन—क्रि० स० (सं० करण, हि० करना)—किया। (पा० प० १२५-५)।
कीनीं—की, वनायी। (पा० प० १५६-५)।
कीनु—किया। (पा० प० १५६-५)।
कीन्ह—किया। उ० सात सूत मिलि वनिज कीन्ह, कर्म पयादौ संग लीन्ह। (प० ३८३-४)।
कीन्हां—किया। (पा० प० ६-६)।
कीन्हा—वनाया, तैयार किया। उ० कहन सुनन कौं जिहि जग कीन्हा, जग भुलांन सो किनहूं न चीन्हां। (र० २-१)।
कीन्हि—की। (पा० सा० ४-१४-२)।
कीन्हीं—की। (पा० प० १-७)।
कीन्हें—किए। (पा० प० २०-५)।
कीन्हौं—किया। (पा० प० ८६-५)।
कीयां—क्रि० स० (हि० करना से)—दे० 'किया'। किया। उ० जोरी कीयां जुलम है, मांगै न्याव खुदाइ (सा० २२-६-१)।
कीया—किया। (पा० प० १-६)।
कीये—किए, वनाये। उ० कवीर कलियुग आइ करि, कीये वहुतज मीत। (सा० ११-१३-१)।
कीयौ—किया। उ० कहा कीयौ हम आइ करि, कहा कहैंगे जाइ। (सा० १२-२५-१)।
कीर (१)—सं० पु० (सं०)—तोता, मछुआ, व्याध। (सा० ४६-१६-नो० ३२)।
कीर (२)—क्रि० स० (हि० चीरना, कीरना)—नष्ट कर दो, फाड़ दो। उ० मन रे कागद कीर पराया। (प० १०८-१)।
कीरतन—सं० पु० (सं० कीर्तन)—हरि-कीर्तन, यशोवर्णन। उ० करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूंड। (सा० १८-५-१)।
कीरा—दे० 'कीट'। कीड़ा। (पा० प० १५८-८)।
कीरयौ—क्रि० स० (हि० कीरना)—दे० 'कीर' (२)। फाड़ दिया। उ० अव की वेर न कागद कीरयौ, तौ धर्म राइ सूं तूटै। (प० १०८-५)।
कीलि—क्रि० स० (सं० कीलान, हि० कीलना)—गाड़कर, धँसा करके। (वी० र० २७-३)।
कुंची—दे० 'कूंची'। चाभी। उ० ताला कुंची कुलफ के लागे, उघड़त वार न होई। (प० २३-४)।
कुंज—सं० पु० (सं० क्रौञ्च)—कुरइ नाम का पक्षी। उ० रात्यूं रूंनी विरहनीं, ज्यूं वंचों कूं कुंज। (सा० ३-१-१)।
कुंजड़न—सं० स्त्री० (सं० कुंज+ड़न (प्रत्य०)—तरकारी वेचने वाली जाति की स्त्री। (पा० सा० १८-१२-१)।
कुंजवन—सं० पु० (सं० कुंजवन)—घने जंगल की भूलभुलैया। (वी० र० ६८-१)।
कुंजर—सं० पु० (सं०)—हाथी। उ० सुनहां खेदै कुंजर असवारा। (प० १४५-४)।
कुंजा—दे० 'कुंज'। क्रौञ्च पक्षी। उ० अंवर कुंजां कुरलियाँ गरजि भरे सव ताल। (सा० ३-२-१)।
कुंजी—सं० स्त्री० (सं० कुंचिका)—चाभी,

तालो। (पा० प० ८०-४)।

कुंड—सं० पु० (सं०)–गड्ढा। उ० नारी कुंड नरक का, बिरला थंभै वाग। (सा० २०-१५-१)।

कुंडलि—सं० पु० (सं० कुंडल)—नाभि। उ० कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढै वन मांहि। (सा० ५३-१-१)।

कुंडि—दे० 'कुंड'। गड्ढे में। उ० गरम कुंडि नल जब तूं बसता, उरध ध्यांन ल्यौ लाया। (प० ४०१-३)।

कुंडिल—सं० पु० (सं० कुंडल)—कान का आभूषण। उ० नहीं जैसैं कुंडिल बनित मुख, मुख सोभित बिन राज। (र० २-४०)।

कुंता—सं० स्त्री० (सं० कुंती)—पांडवों की माता। (बी० र० ५५-३)।

कुंभ—सं० पु० (सं०)—घड़ा। उ० जल मैं कुंभ कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पांनीं। (प० ४४-४)।

कुंभक—सं० पु० (सं०)—प्राणायाम का एक अंग जिसमें साँस लेकर वायु को शरीर के भीतर रोक रखते हैं। (पा० प० ११५-८)।

कुँभरा—सं० पु० (सं० कुम्भकार)—कोहार, कुम्हार। उ० कुँभरा एक कमाई माटी, वहु विधि जुगति वणाई। (प० १०५-२)।

कुँभार—दे० 'कुंभरा'। कुम्हार। उ० पाका कलस कुँभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि। (सा० ६-१-२)।

कुँभारा—दे० 'कुँभरा'। कुम्हार। उ० वहु विधि भांडे घड़ै कुँभारा। (प० ५३-२)।

कुँभिलाई—क्रि० अ० (सं० कु+म्लान)–कुम्हला गया, मुरझा गया। (बी० र० २१-६)।

कुंवारी—दे० 'कुवारी'। (पा० प० १६०-४)।

कुइँ—सं० स्त्री० (सं० कुमुदिनी ?)—कुमुदिनी पुष्प। (पा० प० १३१-५)।

कुकड़ी—सं० स्त्री० (सं० कुक्कट)—मुर्गी, वनमुर्गी, कुक्कट। उ० कुकड़ी मारै बकरी मारै, हक हक करि बोलै। (प० ६२-७)।

कुकुरि—सं० पु० (सं० कुकुर)—कुत्ता। (पा० प० १४०-५)।

कुकुरी—दे० 'कुकुरि'। (पा० प० १३६-४)।

कुकुही—दे० 'कुकड़ी'। वनमुर्गी। (पा० सा० १५-१३-१)।

कुचल—वि० (सं० कुचेल, हि० कुचैला)–मैला, गंदा। उ० रांम भगति विन कुचल करूप। (प० १२५-८)।

कुचिल—दे० 'कुचल'। (पा०प० ६४-५)

कुछ—वि० (सं० किंचित्, प्रा० किंची, पू० हि० किछु)—कुछ भी। उ० राम नाम कै पटंतरै, देबे कौं कुछ नांहि। (सा० १-४-१)।

कुछु—दे० 'कुछ'। (पा० प० ३४-४)।

कुटंउ—दे० 'कुटुंब'। परिवार। (सा० १७-१०-नो० ११)।

कुटकी—सं० स्त्री० (हि० काटना से)—छोटा टुकड़ा। उ० चंदन की कुटकी भली, नां बँबूर की अबरांउ। (सा० ३०-१-१)।

कुटवार—दे० 'कुटवाल'। (पा० प० १५५-११)।

कुटवारी—सं० स्त्री० (सं० कोटपाल)—कोतवाली, पहरा। उ० कैसैं नगरि करौं कुटवारी। (प० ८०-१)।

कुटवाल—सं० पु० (सं० कोटपाल)—कोतवाल। वावन कोटि जाकै कुटवाल, नगरी नगरी खेत्रपाल। (प० ३४०-१४)

कुटिल—वि० (सं०)—वक्र, टेढ़ा। (पा० प० ३१-३)।

कुटिलाई—सं० स्त्री० (हि० कुटिल+आई प्रत्य०)—खोटाई, धोखेबाजी। उ० जब मन छाड़ै कुटिलाई, तब आइ मिलै राम राई। (प० १७३-३)।

कुटी—सं० स्त्री० (सं०)—झोपड़ी। उ० निंदक नेड़ा राखिये, आंगणि कुटी बंधाइ। (सा० ५४-३-१)।

कुटुंब—सं० पु० (सं०)—परिवार। उ० राम नाम जाण्यां नहीं, पाल्यो कटक कुटुंब। (सा० १२-३३-१)।

कुटुंबी—सं० पु० (सं० कुटुंबिन्)–परिवार वाले। (पा० प० ६३-५)।

कुटुम—दे० 'कुटुंब'। (पा० र० ८-३)।

कुडुंबा—दे० 'कुटुंब'। परिवार। (पा० सा० २१-३२-२)।

कुत्ता—सं० पु० (देश०)–श्वान, कूकर। उ० कुत्ता कूं लै गई बिलाई। (प० ११-४)।

कुदर—सं० स्त्री० (अ० कुदरत)–ईश्वरी महिमा। उ० कहै कबीर कुदर भजि करता, अमर भणे अणरागी। (प० २९९-१०)।

कुदरति—सं० स्त्री० (अ० कुदरत)—ईश्वरी महिमा। उ० तेरी कुदरति किनहूं न जानीं, पीर मुरीद काजी मुसलमानी। (र० १-२)।

कुबधि—सं० स्त्री० (सं० कुबुद्धि)—बुरे विचार, बुरी बुद्धि। उ० त्रिस्नां छांनि परी घर ऊपरि, कुबधि का भांडा फूटा। (प० १६-४)।

कुबाव—सं० पु० (सं० कुवायु)—बुरी हवा। उ० सेझै कूवा स्वाति अति सीतल, कबहूं कुवाव नहीं रे। (प० २१६-५)।

कुबिज—वि० (सं० कुब्ज)–कुबड़ा। उ० कुबिज होइ अंमृत फल बंछ्या, पहुँचा तब मन पूजी इंछ्यां। (र० ४-३१)।

कुबुधि—दे० 'कुबुधी'। कुबुद्धि। (पा० प० २५-५)।

कुबुधी—वि० (सं० कुबुद्धि)—मूर्ख। उ० पड्या भुलांवां गाफिलां, गये कुबुधी हारि। (सा० १२-२६-२)।

कुबेर—सं० पु० (सं० कुबेर)—इंद्र की निधियों के भंडारी। (प० ३४०-६)।

कुभरा—दे० 'कुंभरा'। कुम्हार। उ० कुभरा ह्वै करि वासन धरिहू, धोवी ह्वै मल धोऊं। (प० ३८९-३)।

कुमति—सं० स्त्री० (सं०)—मूर्खता। उ० पांडे कौंन कुमति तोहि लागी। (प० ३९-१)।

कुमारी—सं० स्त्री० (सं०)—माया, प्रकृति। (बी० र० २७-४)।

कुमिलांनी—कि० अ० (सं० कु+म्लान, हि० कुम्हलाना)—मुरझा गई। उ० काहे री नलनीं तूं कुमिलांनीं। (प० ६४-१)।

कुमिलाइ—मुरझाई रहती है। उ० जवासा के रूप ज्यूं, घण मेहां कुमिलाइ। (सा० १६-१५-२)।

कुम्हिलांनीं—(पा० प० ७०-४)।

कुम्हिलाइ—(पा० सा० १३-२-१)।

कुम्हार—दे० 'कुंभरा'। (पा० सा० १२-१-२)।

कुरंग—सं० पु० (सं०)—(१) बदरंग। उ० रांम नांम रंग लागौ, कुरंग न होई।

(प० २१५-१)।
(२) हिरन। उ० जेठ मास जैसे कुरंग पियासा। (र० ४-७०)।
कुरलियाँ—क्रि० अ० (सं० कलाव व कुरव)—मधुर स्वरों में बोल उठी। उ० अंबर कूंजां कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल। (सा० ३-२-१)।
कुरहै—सं० स्त्री० (हि० कुराह)—कुमार्ग में। उ० अदया अलह राम की, कुरहै ऊँणीं कूष। (सा० १२-४७-२)। अथवा सं० स्त्री० (हि० कुलक्ष)—म्लेच्छ देश-विशेष, कुदेश। (सा० १२-४७-२)।
कुरांन—सं० पु० (अ० कुरान)—मुसलमानी धर्मग्रन्थ। (पा० र० ६-१)।
कुरानौं—कुरान हूँ की। (पा० सा० ७-८-२)।
कुरानौं—कुरान हूँ की। उ० वेद कुरानौं गमि नहीं, कह्यां न को पतियाइ। (सा० ८-३-२)।
कुरिया—दे० 'कुटी'। कुटिया, मकान, महल। (बी० र० ५५-५)।
कुरूप—दे० 'करूप'। (पा० प० ६४-५)।
कुल (१)—सं०पु० (सं० वंश)—परिवार, संबंध। उ० राम निकुल कुल भेंटि लै, सब कुल रह्या समाइ। (सा० १२-४५-२)।
कुल (२)—वि० (अ०)—समस्त, पूरा। उ० कुल खोयाँ कुल ऊवरै, कुल राख्याँ कुल जाइ (सा० १२-४५-१)।
कुलदेव्यां—सं० स्त्री० (सं० कुल देवी)—कुल की देवी। उ० इक कुलदेव्यां कौं जपहि जाप, त्रिभवनपति भूले त्रिविध ताप। (प० ३८०-५)।
कुलफ—सं० पु० (अ० कुफ्ल)—ताला। उ० ताला कुंजी कुलफ के लागे, उघड़त वार न होई। (प० २३-४)।
कुलफु—दे० 'कुलफ'। (पा० प० ८०-४)।
कुलवंता—वि० (सं० कुलवंत)—कुलीन। उ० भले रे पोच अकुल कुलवंता, गुणी निरगुणीं धनं नीधनवंता। (र० ३-५)।
कुलवंती—कुलीन। उ० पहली नारि सदा कुलवंती, सासू सुसरा मांनैं। (प० २२६-५)।
कुलाक्रम—सं० पु० (सं० कुल + हि० आक्रम)—शूरता, पराक्रम। उ० तजि कुलाक्रम अभिमांनां, झूठे भरमि कहा भूलांनां (प० २६३-२)।
कुलाल—सं० पु० (सं०)—कुम्हार। उ० ब्रह्मा एक जिनि सिष्टि उपाई, नांव कुलाल धराया। (प०२६८-३)।
कुलाला—दे० 'कुलाल'। कुम्हार। उ० आपन करता भये कुलाला, बहु विधि सिष्टि रची दर हाला। (र० ५-५८)।
कुलिस—सं० पु० (सं० कुलिश)—वज्र। उ० वज्र थैं तिण खिण भीनरि होई, तिण थैं कुलिस करै फुनि सोई। (र० ४-३५)।
कुवाँ—सं० पु० (सं० कूप, प्रा० कूष, हि० कुँआ) कुँआ। उ० आकासे मुखि औंधा, कुवाँ, पाताले पनिहारि। (सा० ५-४५-१)।
कुवां—दे० 'कुवाँ'। कूप। (पा० प० ६५-३)।
कुवांरी—दे० 'क्वारी'। उ० काली मूंड कौ एक न छोड़्यौ, अजहूँ अकन कुवारी। (प० २३१-३)।
कुसंग—सं० पु० (सं० कुसंगति)—बुरों का संग। (पा० सा० २४-२-१)।
कुसंगी—सं० पु० (हि०)—बुरे साथी।

उ० कहै कवीर कैसें तिरूँ, पंच कुसंगी संग। (सा० १३-२१-२)।

कुसवद—सं० पु० (सं० कुशव्द)—बुरे शव्द, अनुचित वचन। (सा० ३९-शीर्षक)।

कुसम—सं० पु० (सं० कुसुम)—फूल। उ० साखा तत थैं कुसम गियांनां, फल सो आछा रांम का नांमां। (र०-२-४)।

कुसम रस—सं० पु० (सं० कुसुम रस)-लाल रंग का। (र० १-टि० १०)।

कुसमल—सं० पु० (सं० कश्मल)—मोह या पाप। उ० तीनि नदी तहां त्रिकुटी मांहि, कुसमल धोवै अहनिसि न्हांहि। (प० ३६२-११)।

कुसल—सं० पु० (सं० कुशल)—खैरियत, कुशल-क्षेम। उ० गए ते वहुड़े नहीं, कुसल कहै को आइ। (सा० १४-६-२)।

कुसलहिं—दे० 'कुसल'। कुशल-क्षेम। (पा० प० १०२-७)।

कुसलहि—कुशल-क्षेम। उ० कुसलहि कुसल करत जग खींना, पड़ें काल भी पासी। (प० ३६६-६)।

कुसलात—सं० स्त्री० (सं० कुशलता)—कुशल समाचार। उ० काहे कीं कुसलात, कर दीपक कूंवै पड़ै। (सा० १३-७-२)।

कुसूंम—सं०पु० (सं०)—केसर। (पा० प० ९७-६)।

कुसुम—सं० पु० (सं०)—पुष्प। उ० कदली कुसुम दल भीतरां, तहां दस आंगुल का वीच रे। (प० ४-७)।

कुसेवक—सं० पु० (सं० कुसेवक)—वुरा नौकर। उ० हमहि कुसेवग क्या तुम्हहि अजांनां, दुहु मैं दोस कही किन रांमां। (प० ३५८-३)।

कुहाड़ा—सं० पु० (सं० कुठार)—कुल्हाड़ा, टाँगी। उ० पाँइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपणैं हाथि। (सा० १२-४३-२)।

कुहाड़ि—दे० 'कुहाड़ा'। कुल्हाड़ी। उ० यहु तन तौ सव वन भया, करम भए कुहाड़ि। (सा० १२-४४-१)।

कुहाड़ी—दे० 'कुहाड़ा'। (पा० सा० १५-२९-२)।

कुहारि—दे० 'कुहाड़ि'। (पा० सा० १५-६०-१)।

कुहेरा—सं० पु० (सं० कुहेड़ी)—कुहरा, कुहासा। उ० रांम विनां संसार धंध कुहेरा। (प० ३१७-१)।

कूंच (१)—सं० स्त्री० (हि० कूंचा)—नारियल आदि का वना व्रश जिससे जुलाहा अपने ताने साफ करता है। उ० नाचै कूंच पुरानारी, भाई को वीनैं। (प० १९-८)।

कूंच (२)—सं० पु० (तु०)—प्रस्थान, यात्रा। उ० दूरि चलणां कूच वेगा, इहां नहीं मुकांम। (प० २३७-२)।

कूंची—सं० स्त्री० (सं० कुञ्चिका, हि० कुंजी)—चाभी, ताली। (प० चौ० र० २३-२)।

कूंट—सं० पु० (सं० खंड, हि० खूंट)—कोना, ओर, तरफ़। उ० दखिन कूंट जव सुनहां भूकां, तव हम सुगन विचारा। (प० २०-२)।

कूंपल—सं० स्त्री० (सं० कोपल या कुपल्लव, हि० कोंपल)—अंकुर। उ० जालण आंणीं लाकड़ी, ऊठी कूंपल मेल्हि। (सा० ५८-१-२)।

कूंवैं—सं० पु० (सं० कूप, प्रा० कूव)—कूप में, कुएँ में। उ० काहे की कुसलात, कर दीपक कूंवै पड़ै। (सा० १३-७-

२) ।

कूई—दे० 'कुई' । उ० कंकर कूई पतालि पनियां, सूनैं वूंद विकाई रे । (प० ७६-५) ।

कूकणैं—क्रि० अ० (सं० कूजन)—मधुर स्वर में गाए । उ० रात दिवस कै कूकणैं, (मत) कवहूँ लगै पुकार । (सा० २-१६-२) ।

कूकनें—दे० 'कूकणै' । (पा० सा० ३-४-२) ।

कूकर—सं० पु० (सं० कुक्कुर)—कुत्ता । हस्ती चढ़ि नहीं डोलिये, कूकर भुसै जु लाष । (सा० ३५-१२-२) ।

कूकरि—दे० 'कूकर' । (पा० प० १७६-१०) ।

कूकिअै—दे० 'कूकिये' । (पा० सा० ३-४-१) ।

कूकिये—क्रि० अ० (सं० कूजन)—मधुर स्वर में गाइये । उ० केसौ कहि कहि कूकिये, ना सोइयै असरार । (स २-१६-१) ।

कूकुर—दे० 'कुकर' । कुत्ता । अज्ञानी वक्ता । (वी० र० १२-६) ।

कूकुही—दे० 'कुकुही' । (पा० प० ३४-३) ।

कूख—सं० पु० (सं० कुक्षि, प्रा० कुक्खि, हि० कोख)—गर्भ । उ० देवै कूख न औतरि आवा, ना जसवै ले गोद खिलावा । (र० वा०-५२) ।

कूच—दे० 'कूंच' (१) । जुलाहों का ब्रुश । उ० उरझ्यो सूत पांन नहीं लागै, कूच फिरै सव लाई (प० १०६-३) ।

कूट—क्रि० स० (सं० कुट्टन)—कूटना । (पा० सा० ४-२५-१) ।

कूटि—पीटकर, कूटकर । उ० उड़चौ न जाइ वल गयौ है छूटि, तव भवरी हँनी सीस कूटि । (प० ३८८-७) ।

कूटै—पीटै । उ० रेती घटै न तिल वधै, जौ सिर कूटै कोइ । (सा० ३५-८-२) ।

कूड़—वि० (सं० कूट, प्रा० कूड़)—व्यर्थ, झूठी । उ० कूड़ वड़ाई बूड़सी, भारी पड़सी काल्हि । (सा० १२-५२-२) ।

कूड़ा—सं० पु० (सं० कूट) गर्द-गुब्वार । उ० नां जाणौं किस व्रिष तलि, कूड़ा होइ करंक । (सा० ५४-७-२) ।

कूड़े—दे० 'कूड़' । (१) व्यर्थ का । उ० जांमण मरण बिचारि करि कूड़े कांम निवारि । (सा० १२-१४-१) ।

(२) वुरे, अयोग्य । उ० कवीर नाव जरजरी, कूड़े खेवणहार । (सा० १२-६२-१) ।

कूडै—दे० 'कूड़े' (१) । (पा० सा० १५-३६-१) ।

कूता—सं० पु० (देश० कुत्ता)—श्वान, कूकर । उ० कवीर कूता राम का मुतिया मेरा नांउँ । (सा० ११-१४-१) ।

कूतौ—कुत्ता । (सा० २०-२३-नो० २७) ।

कूदत—क्रि० अ० (सं० स्फुंदन, प्रा० कुंदन, हि० कूदना)—उछलते हुए, फाँदते हुए । उ० नाचत कूदत जमपुरि चाले । (प० २६०-४) ।

कूदि—कूदकर । (पा० प० १४-६) ।

कूप—सं० पु० (सं०)—कुँआ । उ० ऊघरचौ कूप घाट भयो भारी । (प० १४०-५) ।

कूपा—'दे०' कूप' । कुँआ । उ० कर-गहि दीपक परहि जु कूपा, यहु अचिरज हम देखि अनूपा । (र० ४-४१) ।

कूर—वि० (सं० क्रूर)—दुष्ट, वुरा । (पा० प० ६३-४) ।

कूरी—सं० स्त्री० (देश०)—एक प्रकार की घास जिसे चमोला या मोतिया भी कहते हैं। उ० जब हम वनली परमल कसतूरी, तब तुम काहे वनली कूरी। (प० २६१-३)।

कूलि—सं० पु० (सं० कूल)—किनारे। उ० पाला गलि पांणी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि। (सा० ५-१८-२)।

कूवटा—सं० पु० (सं० कूप)—कुंआ। ऊपरि कूवटा तलि भरि पांणी। (प० २०२-२)।

कूवाँ—दे० 'कूंवा'। (पा० प० ९-३८-१)।

कूवां—दे० 'कूंवा'। (पा० प० ६८-६)।

कुवैं—दे० 'कुंवैं'। कुएँ में। उ० वनकी हिरनीं कूवैं वियानीं, सल फिरै अकाल। (प० १७७-४)।

कूष—सं० पु० (सं० कोष)—खजाना। उ० अदया अलह रांम की, कुरहे ऊँणीं कूप। (सा० १२-४७-२)।

कृत—(१) सं० पु० (सं० कृत्य)—कार्य। उ० सब कृत काच हरी हित सार, कहै कबीर तजि जग व्यौहार। (प० १३०-५)।

(२) वि० (सं०)—किया हुआ। उ० सुम्रित वेद सबै सुनैं, नहीं आवै कृत काज। (र० २-३९)।

कृतम—वि० (सं० कृत्रिम)—बनावटी। उ० कृतम सो जु गरभ अवतरिया, कृतम सो जु नाव जस धरिया। (र० ५-२२)।

कृपा—सं० स्त्री० (सं०)—दया, अनुग्रह, मेहरबानी। उ० सतगुर की कृपा भई, नहीं तौ करती भांड़। (सा० १६-७-२)।

कृपाल—वि० (सं० कृपालु)—कृपाशील, कृपा करने वाले। उ० कृसन कृपाल कबीर कहि, इम प्रतिपालन क्यों करै। (सा० ३५-१-६)।

कृम—सं० पु० (सं० कृमि)—कीड़ा। उ० जौ जारै तौ होइ भसम तन, रहत कृम ह्वै जाई। (प० २४१-३)।

कृसन—दे० 'कृस्न'। कृष्ण। (सा० ३५-१-६)।

कृस्न—सं० पु० (सं० कृष्ण)—श्री कृष्ण, परमेश्वर। उ० सोई कृस्न जिनि कीयौ संसार। (प० ३२७-२)।

कैंचुली—सं० स्त्री० (सं० कंचुक)—सर्प के शरीर पर का झिल्लीदार चमड़ा जो हर साल गिर जाता है। (पा० सा० २४-१६-२)।

कैंचुवा—सं० पु० (सं० किंचिलिक, प्रा० कैंचुओ)—कैंचुआ नाम का बरसाती कीड़ा। (बी० र० ४५-७)।

के—सम्बन्ध का चिह्न। (सा० १-११-१)

केऊ केऊ—सर्व० (हि० को+ई, भोज० केहू)—कोई-कोई। उ० केऊ केऊ तीरथ व्रत लपटांनां, केऊ केऊ केवल रांम निज जांनां। (र० ५-१)।

केकरि—सर्व० (हि० कौन, पू० हि० केकर)—किसकी। (बी० र० २-४)।

केतक—वि० (सं० कियत)—कितना। (पा० सा० २२-७-२)।

केतकी—सं० स्त्री० (सं०)—केवड़ा। उ० कबीर भया है केतकी, भवर भये सब दास। (सा० ३०-११-१)।

केता—वि० (सं० कियत)—कितना। उ० आपही आप विचारिये, तब केता होइ अनंद रे। (प० ५-१४)।

केती—कितनी। उ० केती लहरि समंद की, कत उपजै कत जाइ। (सा० २८-११-१)।

केते—कितने एक । उ० कवीर भग की प्रीतड़ी, केते गए गडंत । (सा० २०-१३-१) ।

केतिक—वि० (सं० कियत)—कितने । (पा० सा० १५-३९-२) ।

केतु—सं० पु० (सं०)—नवग्रहों में एक ग्रह । (पा० प० १४-३) ।

केतेक—वि०–दे० 'केतक' । कितने एक । उ० केते एक मूये मरहिगे केते, केतेक मुगध अजहूँ नहीं चेते । (प० ३६९-५) ।

केदारौं—सं० पु० (सं० केदार)–गढ़वाल प्रदेश का एक तीर्थ । उ० कवि कवीनैं कविता मूये, कापड़ीं केदारौं जाई । (प० ३१७-५) ।

केर—विभक्ति–(सं० कृत, प्रा० केर)—का । (पा० र० १८-४) ।

केरा—का । उ० वेस्वां केरा पूत ज्यूं, कहैं कौन सूं वाप । (सा० २-२२-२) ।

केरी—की । उ० कागद केरी नाँव री, पांणी केरी गंग । (सा० १३-२१-१) ।

केरे—के । (पा० सा० २-४४-१) ।

केरै—के । (पा० सा० ३०-१४-१) ।

केला—सं० पु० (सं० कद्‌ल, प्रा० कयल)–केले का वृक्ष । उ० मारी मरूं कुसंग की केला काँठै वेरि । (सा० २५-४-१) ।

केलि—सं० स्त्री० (सं०)—खेल, क्रीड़ा । उ० मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं । (सा० ५-३९-१) ।

केवड़ा—सं० पु० (सं० केविका)—प्रसिद्ध केवड़ा नामक फूल का पौधा । (सा० ४६-१९-नो० ३५) ।

केवल—(१) वि० (सं०)—एकमात्र, अकेला । उ० कवीर केवल राम की, तूं जिनि छाड़ै ओट । (सा० १२-५१-१) ।

(२) सं० पु० (सं०)—सर्वोत्तम ईश्वर । उ० निरभै होइ निसंक भजि, केवल कहै कवीर । (सा० १-२३-२) ।

केस—सं० पु० (सं० केश)–सिर के वाल, चोटी । उ० कवीर कहा गरवियौ, काल गहै कर केस । (सा० ११-१२-१) ।

केसा—वाल । (पा० प० १९७-२) ।

केसौं—वालों को । उ० मन मैवासी मूंडि ले, केसौं मूडे कांइ । (सा० २४-१३-१) ।

केसौ (१)—वालों को । उ० केसौ कहा विगाड़िया, जे मूंडै सौ वार । (सा० २४-१२-१) ।

केसव—सं० पु० (सं० केशव)—विष्णु, परमेश्वर । (पा० प० १६३-३) ।

केसौ (२)—सं० पु० (सं० केशव)–ईश्वर, विष्णु । उ० केसौ कहि कहि कूकिये, ना सोइयै असरार । (सा० २-१६-१) ।

केहनैं—क्रि० स० (हि० कहना से)—कहते । (सा० २५-५-नो० ६) ।

केहरि—सं० पु० (सं० केसरी)—सिंह, शेर । उ० जंबक करै केहरी सूं लेखा । (प० १४५-६) ।

केहि—दे० 'किहि' । किस । (पा० प० ९५-१) ।

कै (१)—विभक्ति (सं० कृत, प्रा० केर)–के । उ० वलिहारी गुर आपणैं द्यौं हाड़ी कै वार । (सा० १-२-१) ।

कै (२)—अव्य० (सं० किम्)—या तो, अथवा । उ० कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पासि गयां । (सा० ३-९-२) ।

कै (३)—वि० (सं० कति, प्रा० कइ)—कितने, अनेक प्रकार के । (वी० र० ८२-३) ।

कै (४)—क्रि० स० (हि० करना से)—करके । (वी० र० ६४-१) ।

कैदारैं—दे० 'कैदारों' । (पा० प० ८५-५) ।

कैंसना—क्रि० वि० (हि० कैसा)—किस प्रकार, किस ढंग से । (वी० र० ७३-६) ।

कैसा—वि० (सं० की दृश, प्रा० केरस)—किस प्रकार का, किस ढंग का । उ० पारब्रम्ह के तेज का, कैसा है उनमान । (सा० ५-३-१) ।

कैसें—क्रि० वि० (हि० कैसा)—किस प्रकार । उ० क्या जाणों उस जीव सूं, कैसें रहसी रंग । (सा० ११-१६-२) ।

कैसे—किस प्रकार । (पा० प० ३६-१) ।

कैसैं—किस प्रकार । (पा० प० १२०-१) ।

कैसैं—किस प्रकार । (पा० प० १८-१) ।

कोंपल—सं० स्त्री० (सं० कुड्मल, प्रा० कुंपल)—अंकुर, नई मुलायम पत्ती । (पा० सा० १६-१७-२) ।

कोंहरा—सं० पु० (?) कोंहर, इंदायण, जिसका फल पकने पर अत्यन्त लाल होता है । (पा० प० ७६-४) ।

को—सर्व० (सं० कः, हि० कौन)—कोई । उ० कवल ज फूल्या फूल विन, को निरपै, निज दास । (सा० ५-५-२) ।

कोइ—सर्व० (सं० कोपि, प्रा० कोवि)—कोई एक, अनिर्दिष्ट । उ० मन भवरा तहां लुबधिया, जांणैंगा जन कोइ । (सा० ५-७-२) ।

कोइला—सं० पु० (सं० कोकिल, हि० कोयला)-कोयला, जलता हुआ अंगारा । उ० लोह निहाला अगनि मैं, जलि बलि कोइला होय । (सा० २०-१६-२) ।

कोई—दे० 'कोइ' । कोई । उ० है कोई ऐसा परउपगारी, हरि सूं कहै सुनाइ रे । (प० ३०७-६) ।

कोऊ—कोई । उ० कहा लै आयां यहु धन कोऊ, कहा कोऊ लै जात । (प० ४००-३) ।

कोकिल—सं० स्त्री० (सं०)—कोयल । उ० न तहां कोकिल न तहां सूवा, ऊंचै चढ़ि चढ़ि हंसा सूवा । (प० ६८-५) ।

कोकिला—दे० 'कोकिल' । कोयल । उ० वन कोकिला नाद गहगहांनां, रुति बसंत सब कै मनि मांनां । (र० ४-१६) ।

कोखि—दे० 'कूख' । कोख । (पा० र० ३-३) ।

कोट—सं० पु० (सं०)-गढ़, महल । उ० देपण के सबको भले, जिसे सीत के कोट । (सा० १७-१७-१) ।

कोटि—वि० (सं०)—करोड़ । उ० कोटि करम फिल पलक मैं, (जब) आया हरि की ओट (सा० २-१६-२) ।

कोटिक—करोड़, अनगिनत । उ० संत न छाड़ै संतई, जे कोटिक मिलैं असंत । (सा० २६-२-१) ।

कोटी—करोड़ । उ० कोटी धज साह हस्ती बंध राजा, क्रिपन को धन कौंनैं काजा । (प० ६६-३) ।

कोठड़ी—दे० 'कोठरी' उ० पट चक्र की कनक कोठड़ी, वस्त भाव है सोई । (प० २३-३) ।

कोठरी—सं० स्त्री० (हि० कोठा+री (प्रत्य०)—छोटा कमरा । उ० काजल केरी कोठरी, मसि के कर्म कपाट । (सा० २३-२-१) ।

कोठी—सं स्त्री० (सं० कोष्ठक, हि० कोठा से)—पक्का मकान, हवेली, (पा० सा २१-११-१) ।

कोड़ी—सं० स्त्री० (सं० कोटि)—बीस का समूह, अनगिनत । उ० इंद्र सरीखे

गये नर कोड़ी, पाँचों पांडौं सरिपी जोड़ी। (प० २४७-३)।

कोढ़ी—सं० पु० (सं० कुष्ठ, हि० कोढ़)-कोढ़ रोग से पीड़ित मनुष्य। (सा० २०-२२-नो० २५)।

कोथली—सं० स्त्री० (प्रा० कोत्थल, हि० कोथला)—रुपये-पैसे रखने की लम्बी थैली। (पा० सा० ३१-१५-१)।

कोधौं—क्रि० स० (हि० कहना+तो)-कहो तो। (पा० प० १८०-५)।

कोनैं—सं० पु० (सं० कोण)—कोने में, खूँट में। (पा० सा० १४-६-१)।

कोपि—क्रि० अ० (सं० कोप, हि० कोपना)—क्रुद्ध होकर। उ० हस्ती कोपि मूंड मैं मार्यौ। (प० ३६५-२)।

कोपीन—सं० पु० (सं० कोपीन)—लंगोटी। उ० संत गंठी कोपीन है, साध न मानै संक। (सा० ३७-८-१)।

कोप्यो—दे० कोपि। क्रुद्ध हुआ। उ० तव काढ़ि खड़ग कोप्यो रिसाइ, तोहि राखनहारौ मोहि बताइ। (प० ३७९-९)।

कोप्यौ—दे० 'कोपि'। क्रुद्ध हुआ। (पा० प० २६-९)।

कोयला—दे० 'कोइला'। (पा० सा० २२-३-२)।

कोर—सं० स्त्री० (सं० कोण)-किनारा, सिरा। (पा० सा० २२-१२-२)।

कोरी—सं० पु० (सं० कोल)—हिन्दू जुलाहा। (पा० प० १५०-१)।

कोला—सं पु० (सं० कोल)—वाराहावतार। उ० गंडक सालिकरांम न कोला, मछ कछ ह्वै जलहिं न डोला। (र० वा०-५५)।

कोली—दे० 'कोरी'। जुलाहा। उ० षाड वुणै कोली मैं बैठी, मैं खूंटा मैं गाड़ी। (प० १०-५)।

कोल्हू—सं० पु० (हि०)-तेलियों का तेल निकालने का यंत्र। उ० तेली ह्वै तन कोल्हू करिहौं, पाप पुंनि दोऊ पीरौं। (प० ३८९-५)।

कोस—सं० पु० (सं० क्रोश)—प्रायः दो मील की दूरी। उ० एक कोस वन मिलांन न मेला। (प० ३१९-१)।

कौं—को, के लिए, कर्म, सम्प्रदान का चिह्न। उ० क्यंचिति ह्वै सुपनैं निधि पाई, नहीं सोभा कौं धरी लुकाई। (र० ४-२७)।

कौंन—सर्व० (हि०)—किस, कौन। उ० कौंन पूत को काकौ बाप। (प० ८९-५)।

कौंनैं—किस। उ० कोटी धज साह हस्तीवंध राजा, क्रिपन को दान कौंनैं काजा। (प० ९९-३)।

कौ—दे० 'कौं'। को चिह्न। (पा० प० १०-३)।

कौड़ी—सं० स्त्री० (सं० कपर्दिका, प्रा० कवड्डिय)-तुच्छ मूल्य। उ० यहु हीरा निरमोलि का, कौडी पर वीका। (प० १७८-८)।

कौणें काम—वि० (यौ० किस+काम)-किस काम का, व्यर्थ। उ० पाथर घाटा लोह सब, (तब) पारस कौणें काम। (सा० ३-८-२)।

कौतिकहारी—वि० (सं० कौतुक+हि० हारा (प्रत्य०)—कुतूहलजनक, आश्चर्यजनक, कौतुकशील (बुद्धि)। उ० सदा सदाफल दाख बिजौरा, कौतिकहारी मूली। (प० २१४-२)।

कौतिग (१) सं० पु० (सं० कौतुक)—

कुतूहल, खेल-तमाशा । उ० पति सँगि जागी सुंदरीं, कौतिग दीठा तेणि । (सा० ५-१-२) ।

कौतिग (२) वि० (सं० कौतुकी)–विवाह सम्बन्ध कराने वाले । उ० सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनियर सहस अठ्यासी । (प० १-७) ।

कौतिगहार—वि० (सं० कौतुक+हार)–विनोदशील । उ० सोई रांम सती कहै, सोई कौतिगहार । (सा० ३३-१-२) ।

कौतिगहारे—सं० पु० (सं० कौतुक+हारे)—तमाशा देखने वाले । (सा० १२-१६-नो० २३) ।

कौन सूँ—दे० 'कौंन' । किससे । उ० वेस्वां केरा पूत ज्यूं, कहैं कौन सूं वाप । (सा० २-२२-२) ।

कौनां—सर्व० (प्रा० कवण)–कौन । उ० देही माटी वोलै पवनां, वूझि रे ज्ञानी मूवा स कौनां । (प० ४२-४) ।

कौली—सं० स्त्री० (सं० क्रोड़, हिं० कौरी)–अंकवार, गोद में । उ० कौली घाल्यां वीडरि चालै, ज्यूं घेरीं त्यूं दरवै । (प० १५२-४) ।

क्यंचित—क्रि० वि० (सं० किंचित्)—कुछ-कुछ, थोड़ा-थोड़ा । उ० माया मोह भूले सव लोई, क्यंचित लाभ मांनिक दीयौ खोई । (र० ३-१०८) ।

क्यंचिति—उ० क्यंचिति ह्वै सुपनैं निधि पाई, सोभा कौं धरौ लुकाई । (र० ४-२७) ।

क्या—सर्व० (सं० किम्)-कौन-सी वस्तु । उ० क्या ले गुर संतोपिए, हौंस रही मन मांहि । (सा० १-४-२) ।

क्यारी—सं० स्त्री० (सं० केदार)—नाली । उ० त्रिकुटी चढ्यां पाव ढी ढारें, अरध उरध की क्यारी । (प० २१४-७) ।

क्यूं—क्रि० वि० (सं० किम्)—कैसे, किस निमित्त । उ० कहै कवीर ते क्यूं मिलैं, जव लग दोइ सरीर । (सा० ५-२५-२) ।

क्यूंकरि—कैसे । (पा० सा० २६-१-२) ।

क्यौं—दे० 'क्यूं' । कैसे । (पा०प० २५-१)

क्रंम—सं० पु० (सं० क्रम)—पूर्वापर सम्वन्धी व्यवस्था । उ० अष्ट विन होत नहीं क्रंम काया । (प० १६६-१४) ।

क्रम—सं० पु० (सं० कर्म)–कृत्य, कार्य । उ० कोटि क्रम पेलै पलक मैं, जे रंचक आवै नाउँ । (सा० २-२०-१) ।

क्रमनां—क्रि० वि० (सं० कर्मन् से)—कर्म द्वारा । उ० मनसा वाचा क्रमनां, कवीर सुमिरण सार । (सा० २-४-२) ।

क्रितम—वि० (सं० कृत्रिम)—वनावटी । उ० क्रितम करता कहैं, परमपद क्यूं लहैं । (प० १६६-१७) ।

क्रितिया सूत्र—सं० पु० (सं० कृत्रिम+सूत्र) कच्चा सूत । (वी० र० ५७-१) ।

क्रिपन—वि० (सं० कृपण)—कंजूस । उ० कोटी धज साह हस्ती वंध राजा, क्रिपन को धन कौंनैं काजा । (प० ६६-३) ।

क्रिपा—सं० स्त्री० (सं० कृपा)—दया । उ० तुम्हारी क्रिपा विना यहु त्रिपति न भागे । (प० २२३-८) ।

क्रिपाल—दे० 'कृपाल' । (पा० प० ४०-६) ।

क्रिमि—दे० 'कृमि' । कीड़ा । (पा० प० ६६-३) ।

क्रिसन—दे० 'कृस्न' । कृष्ण । (पा० प० १५८-७) ।

क्रिसनवां—(पा० प० ४१-६)।

क्रिस्न—(पा० प० १४६-५)।

क्रीरा—सं० स्त्री० (सं० क्रीड़ा)—केलि, आमोद-प्रमोद। उ० पुरिष न नारि करै नहीं क्रीरा, धांम न धांम न व्यापै पीरा। (र०-बा०-४१)।

क्रीलाकरी—क्रि० स० (हि० क्रीड़ा+करना)—आनन्द मनाया। उ० जा वन में क्रीला करी, दाझत है वन सोइ। (सा० ४-८-२)।

क्रोध—सं० पु० (सं०)—रोप, गुस्सा। उ० काम क्रोध त्रिष्णां तजै, ताहि मिलै भगवान। (सा० ३-३०-२)।

क्रोधु—(पा० प० ७७-४)।

क्रोधी—सं० पु० (सं० क्रोधिन्)—क्रोध करने वाला व्यक्ति। (पा० सा० २१-२६-२)।

क्वांरी—दे० 'क्वारी'। (पा० प० १६०-३)।

क्वारी—वि० (सं० कुमारी)--विना व्याही। उ० नां हूं पणीं नां हूं क्वारी, पूत जन्यूं द्यौहारी। (प० २३१-२)।

ख

खंखर—वि० (सं० कंक, हि खंख)—छूछा, उजाड़। उ० टेसू फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास। (सा० १२-८-२)।

खंड—सं० पु० (सं०)—टुकड़े, प्रदेश। (बी० र० १-५)।

खंडा—खंड में, प्रदेश में। (पा० प० १४३-६)।

खंडि—खंड में। उ० घर तजि वन खंडि जाइये। (प० १७-८-३)।

खंडन—सं० पु० (सं०)-नष्ट, नाश। उ० माया खंडन करहु हमारा (प० १४६-१०)।

खंडित—वि० (सं०)—टूटा हुआ, अपूर्ण। उ० खंडित मूल विनास कहौ किम विगतह कीजै। (सा० ३३-६-३)।

खंडै—क्रि० स० (सं० खंडन)—टुकड़े-टुकड़े करना। (पा० सा० २८-६-१)।

खंभवा—सं० पु० (सं० स्कंभ या स्तंभ, प्रा० खंभ)—खंभा। उ० चंद सूर दोइ खभवा, वंक नालि की डोरि। (प० १८-३)।

खंभा—खंभा, खूंटा। उ० खंभा ऐक गइंद दोइ, क्यूं करि वंधसि वारि। (सा० १२-४२-१)।

खंदाया—क्रि० स० (सं० खवण, हि० खवना)—खुदाया। (बी० र० २८-२)।

खइये—क्रि० स० (हि० खाना)—खाया जाता है। उ० घर तजि वन खंडि जाइए खानि खइये कंदा। (प० १७८-३)।

खए—क्रि० अ० (सं० क्षय)—नष्ट हो गए। दे 'पये'। (पा० सा० ३-६-२)।

खग—सं० पु० (सं०)—पक्षी। उ० पीया चाहै तौ लै खग सारी। (प० २६८-३)।

खग खोज—(र० ३-३६)।

खग खोजन—सदा उड़ान भरने वाले मन रूपी पक्षी के पीछे। (बी० र० ५७-४)।

खजूरि—सं० पु० (सं० खर्जूर)—खजूर के पेड़ पर, ऊपर। उ० मछली चढै खजूरि। (सा० ५-४६-२)।

खट—वि (सं० षट्)—छः। उ० खट दरसन कहियत हम भेखा। (प० ३३२-३)।

खटचक्र—छः चक्र। (पा० प० १८१-५)।

खटांनां—क्रि० अ० (सं० स्कभ, स्कब्ध, प्रा० खड्ड)–टिके, परीक्षा में ठहरे। उ० कछू एक दिवस खटांनां। (प० ३१६-५)।

खटाइ—सं० स्त्री० (हि० खट्टा+आई प्रत्य०)—खट्टापन, खटाई। (पा० सा० २१-१८-१)।

खटिया—सं० स्त्री० (हि० खाट+इया प्रत्य०)—छोटी चारपाई। (पा० प० १००-२)।

खटीक—सं० पु० (सं० खट्टिक)—एक छोटी जाति जिसका काम फल आदि वेचना है

खटु—दे० 'खट'। छः (पा० प० १३४-३)।

खड—दे० 'खट'। छः। (पा० प० ३४-११)।

खटोला—सं० पु० (हि० खाट+ओला (प्रत्य०)—छोटी चारपाई, शरीर। उ० इक झंझर सम सूत खटोला। (प० ६०-३)।

खड—(१) सं० पु० (सं खात, हि० खड्ड)—गड्ढा। उ० ते भी तेवा खड़। (सा० १२-११-२)।
(२) स० पु० (सं०)—घास, फूस। (सा० १२-१६-नो० २४)।

खड़की—क्रि० अ० (अनु० हि० खट-कना)—खटखट शब्द होना। (पा० सा० १६-३८-२)।

खड़ग—सं० पु० (सं० खड्ग)–तलवार। (पा० प० ४-५)।

खड़ा—वि० (सं० खडक)– उपस्थित, तैयार। उ० तेरे सिर परि जम खड़ा। (सा० ३-१४-२)।

खड़ाऊँ—क्रि० स० (हि० खड़ा+ ना प्रत्य०)–खड़ा कर दूं, रोक दूं। उ० कालिह जुकाटां भाजिसी पहली क्यूं न खड़ाऊँ। (सा० ५०-१-२)।

खड़े—क्रि० वि० (हि० खड़े)—खड़े-खड़े। उ० एक खडे ही लहैं, और खड़ा विल-लाइ। (सा० ३८-४-१)।

खत—सं० स्त्री० (आ० खता)—कसूर, अपराध। उ० अवकी वेर वकसि वंदे कौं, सव खत करौं न वेरा। (प० २२२-१२)।

खतनां—सं० पु० (आ० खतना)–सुन्नत, मुसलमानी। उ० तौ भीतरि खतनां क्यूं न कराया। (प० ४१-१०)।

खतभा—सं० पु० (अ० खुतवा)—स्तुति-विशेप जिसे मुसलमान प्रशंसा स्वरूप पढ़ते हैं। (बी० र० ४८-३)।

खता—दे० 'खत'। उ० मीरां मुझ मैं क्या खता, मुखां न वोलै पीर। (सा० ५६-६-२)।

खताना—क्रि० स० (हि० खाता से)—खतियाना। (बी० र० ६६-५)।

खत्रिया—वि० (सं० क्षत्रिय)—क्षत्रिय वर्ण सम्बन्धी। उ० खत्री करै खत्रिया धरिमो, तिनकूं होय सवाया करमो। (र० ५-४१)।

खत्री—सं० पु० (अ० क्षत्रिय)—क्षत्रिय वर्ण का मनुष्य। उ० खत्री करै खत्रिया धरमो। (र० ५-४१)।

खदेरा—क्रि० स०. (हि० खेदता)—दूर करता। (पा० प० ८६-४)।

खद्ध—क्रि०स० (हि० खाना)–खाया। उ० संसा किनहुं न खद्ध। (सा० १-२२-१)।

खनि—दे० 'खानि'। (पा० सा० १७-५-१)।

खपत—सं० स्त्री० (हि० खप+त (प्रत्य०)-समाई, गुंजाइश। (पा० चौ० र० ४०-१)।

खपर—स० पु० (सं० खर्पर, प्रा० खप्पर)-भिक्षा पात्र। (पा० प० १४२-७)।

खपरा—भिक्षा पात्र। उ० खपरा फूटिम फूटि। (सा० ४-४-१)।

खपसी—क्रि० हा० (सं० क्षेपण)-नष्ट होना, काम में आना। (पा० प० १९५-८)।

खबर—सं० स्त्री० (अ० खबर)-पता, सुधि। (पा० प० ८९-५)।

खबरि—पता। उ० काल जाल की खबरि न जांनीं। (प० ८६-२)।

खबरी—(पा० प० ४४-६)।

खर—सं० पु० (सं०)-गधा, गदहा। उ० खर चंदन जैसैं भारा। (प० ३९-३)।

खरच—सं० पु० (फा० ख़र्च)-व्यय। उ० तेरे सिर परि जम खड़ा, खरच कदे का खाइ। (सा० २-१४-२)।

खरसांनं—दे० 'षरसान'।-तीखीसान। (पा० सा० १७-१८-१)।

खरा—वि० (सं० खर)-तीक्ष्ण, अधिक, एकदम। उ० चेला खरा निरंध। (सा० १-१५-१)।

खरी—तीक्ष्ण, कड़ी। उ० खरी विगूचनि होइगी। (सा० २२-१-२)।

खराब—वि० (आ० ख़राब)—बुरा। उ० सारा पलक खराब किया है, मांनस कहा विचारा। (प० १०६-८)।

खरिहानां—सं० पु० (सं० खलि+स्थान) खलियान। उ० जमुनतीर खरिहानां (प० १४-३)।

खरे—दे० 'खड़ा'। (पा० प० २४-३)।

खलक—सं० पु० (अ०)-सृष्टि के प्राणी, दुनिया। उ० खलक चवीणां काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद। (सा० ४६-१-२)।

खलि—सं स्त्री० (सं० खल)—तेल निकाल लेने पर तिलहन की बची हुई सीठी। (पा० सा० २४-९-२)

खवाई—क्रि० स० (हि० खवाना)—खिलायेगा। उ० कवहूंक खता खवाई। (प० ९७-२)।

खवांयें—खिलाये। उ० का कऊवा कौं कपूर खवांयें, का विसहर कौं दूध पिलांये। (प० २२१-३)।

खसम—सं० पु० (अ०)—पति, खाविंद। उ० भोलें भूली खसम कै, बहुत किया विभचार। (सा० ३६-३-१)।

खसमहिं—खसम को। (पा० चौ० र०-७-२)।

खसै—क्रि० हा० (हिं० खसकना) अपने स्थान से हटता है। (पा० र० ९-६)।

खहु—क्रि० स० (हि० खाना)—खाओगे। (प० १२७-नो० १३०)।

खांउं—क्रि० स० (हि० खाना)—खाता हूँ। उ० गाँठिन बांधौं वेचिन खांउं। (प० ३३३-१)।

खांण—खाना। उ० मीठा खांण मधूकरी। (सा० ३५-१३-१)।

खांहिं—(सं० खादन, प्रा० खाअन)—खाते हैं। उ० चोरी विढ़ता खांहि। (सा० २०-३-१)।

खांहि—खाते हैं। उ० खांहि हलाल हरांम निवारैं। (प० १०२-७)।

खाइ—खा सकते हैं, खा जाय। उ० सो उबरे जे खाइ। (सा० १६-१२-२)।

खाइए—(पा० सा० ३०-१-२)।

खाइअँ—खाइए। (पा० प० ३९-३)।

खाइगा—खायेगा। (पा० प० ७४-६)।
खाइबौ—खाना। उ० धीरैं-धीरैं खाइबौ अनत न जाइबौ। (प० २२७-१)।
खाइयौ—खाना। (पा० प० १३७-३)।
खाई—(१) खा चुकी। उ० पहली खाई आई माई। (प० २२७-३)।
(२) व्यय किया, काम में लाया। उ० धरी रही माया काहू खाई। (प० १००-५)।
खाउँ—भोजन करूँ। उ० जो देवै सो खाउँ। (सा० ११-१५-२)।
खाउ—खा लूँ। (पा० प० १८७-६)।
खाएं—खाते हुए। (पा० र० १२-५)।
खाए—खा लिया। (पा०प० ११४-२)।
खात—खाते हुए। (पा० प० १६५-४)।
खाधा—खाया। उ० अध खाधा साराखैं सोई। (प० ३५३-४)।
खाया—खा लिया। उ० संसै खाया सकल जग। (सा० १-२२-१)।
खायैं—खाता हैं। उ० खायै अरु सोवै। (सा० ३-४५-१)।
खायौ—खा लिया। उ० हरनि खायौ चीता। (प० १६०-५)।
खाव—खाओ, निगल जाओ। उ० तौ घड़णहारे कौं खाव। (प० १९८-६)।
खावा—खाती है। (पा० प० ११४-७)।
खावै—खाती है। (पा० प० १४६-४)।
खाहि—खाते हैं। (पा० सा० १५-२६-१)।
खांची—क्रि० स० (सं० कर्पण या कसन)—रोककर, खींचकर। उ० चंद अरु सूर रहे रथ खांची। (र० ४-९८)।
खाँड़—सं० स्त्री० (सं० खंड)—शक्कर, मिठाई। उ० डारी खांड पटकि करि, अंतरि रोस उपाइ। (सा० ३-३२-१)।
खांड—क्रि० स० (हि० खाना)—भोजन करना। उ० खूब खांड है खीचड़ी, मांहि पड़ै टुक लूंण। (सा० २२-१२-१)।
खांडी—वि० (सं० खडक)—खड़ी हुई। उ० राती खांडी देखि कबीरा, देखि हमारा सिंगारौ। (प० २७०-४)।
खाँडे—सं० पु० (सं० खड्ग)—तलवार। उ० भगति दुहेली रांम की, जँसि खांडे की धार। (सा० ४५-२५-१)।
खांन—सं० पु० (सं० खादन, प्रा० खायन, हि० खाना)—भोजन। उ० झूठा खांन पकाया। (प० २४६-२)।
खाँव—भोजन। (बी० र० २१-७)।
खाई—सं० स्त्री० (सं० खानि, प्रा० खानि)—खंदक। उ० कबीर खाई कोट की, पांणी पिवै न कोइ। (सा० २८-८-१)।
खाक—सं० स्त्री० (फा० ख़ाक)—धूल, मिट्टी। उ० एक ही खाक घड़े सब भांडे, एकही सिरजनहारा। (प० ५५-४)।
खाटा—सं० स्त्री० (सं० खट्वा)—खाट, सूक्ष्म रति जहाँ मन की भी गति नहीं है। (बी० र० ७३-२)।
खाटि—क्रि० स० (हि० काटि)—काट कर, नष्टकर। उ० पट रस खाटि काम रस लीन्हां। (र० ३-१५)।
खाटै—नष्ट करता है, छोड़ता है। (प० ३१३-७)।
खाणि—सं० स्त्री० (सं० खनि)—उत्पत्ति स्थान, खजाना। (सा० १-२९-नो०)।
खातां—क्रि० वि० (हि० खाना से)—खाते समय। उ० खातां मींठी खाँड सी, अंति कालि विष होइ। (सा० २०-४-२)

खाद—क्रि० स० (अनु०)—खादना। (पा० सा० ४-२५-१)।

खान—दे० 'खांन'। (पा० सा० २१-३-१)।

खानि—(१) क्रि० स० (हि० खनना)—खोदकर, फोड़कर। उ० घर तजि बन खंडि जाइये, खनि खनि खइये कंदा। (प० १७८-३)।
(२) सं० स्त्री० (सं० खनि)—प्रकार के, ढंग के, तरह के। उ० चारि खानि विस्तार उपाया। (र० ३-२)।

खावै—सं० पु० (सं० खादन, हि० खाना)—भोजन, खाना। (पा० सा० ३२-४-१)।

खार—वि० (सं० क्षार)—खारे। (पा० सा० ३०-४-२)।

खारा—दे० 'पारा'। खारा। (पा० सा० १६-३६-१)।

खारे—खारे। (पा० प० ११४-१)।

खाल—सं० स्त्री० (सं० क्षाल, प्रा० खाल)—चमड़ा, त्वचा। (प० २५०-नो-५०)।

खालसै—दे० 'पालसै'। (पा० प० ८६-१०)।

खाला—सं स्त्री० (अ० खाला)—माता की वहन, मौसी। उ० खाला का घर नांहि। (सा० ४५-१६-१)।

खालिक—सं० पु० (अ० खालिक)—सृष्टिकर्त्ता, सिरजनहार। उ० खालिक दरि खूनी खड़ा, मार मुहे मुंहि खाइ। (सा० २२-६-२)।

खाली—वि० (अ० खाली)—रिक्त, वेकाम। उ० जग परबोधि होत नर खाली, करते उदर उपाया। (प० १७०-३)।

खाली पड़े—क्रि० अ० (अ० खाली+पड़ना)—शून्य हो गए। उ० ते मंदिर खाली पड़े, बैसण लागे काग। (सा० १२-४-२)।

खासी—सं० स्त्री० (अ० खासा)—राजभोग सम्बन्धी पदार्थ; (साथ में खेल विनोद करने के लिए) विशिष्ट व्यक्ति। उ० छपन कोडि खेलिये खासी। (प० ३३६-४)।

खिअत—क्रि०अ० (सं० क्षय) नष्ट होना। (पा० प० १५५-११)।

खिजैं—क्रि अ० (सं० खिद्यते, प्रा० खिज्जइ, हि खीजना)—दुखी और क्रुद्ध होते हैं। (सा० २०-२२-नो-२५)।

खिण—सं० पु० (सं० क्षण)—क्षण। उ० वज्र थैं तिखा खिण भीतरि होई। (र० ४-३५)।

खिन—क्षण (पा० प० ६५-८)।

खिमा—सं० स्त्री० (सं० क्षमा)—क्षमा। (पा० प० १४२-७)।

खिरत—क्रि० अ० (सं० खिल्)—विकसित होना, खिलना। (पा० चौ० र० ४०-१)।

खिरि खिरि—विखरना, खिलना। पा० चौ० र० १-२)।

खिलखांनां—सं० पु० (फा० खिलवतखाना)—गुप्त मंत्रणा या रहस्य का स्थान। उ० कोड़ी तेतीसूं अरू खिलखांनां (प० ३३६-५)।

खिलावा—क्रि० स० (खेलना से खिलाना)—खेला, लाड़-प्यार किया। उ० ना जसवै ले गोद खिलावा। (र० वा०-५०)।

खिलौनां—सं० पु० (हि० खेल+औना (प्रत्य०)—खेलने की वस्तु। उ० लोगनि

रांम खिलौनां जांनां। (प० ३४३-२)।

खिसै—क्रि० अ० (हि० खसकना)-गिरा, हटा। (पा० सा० १५-७९-२)।

खिस्या—गिरा, हटा। उ० ब्रह्मा का आसण खिस्या। (सा० २-१५-२)।

खींन—वि० (सं० क्षीण)—दुर्बल, पतला। (पा० चौं० र० ७-२)।

खींना—दुर्बल। उ० आउ घटी तन खींना। (प० २४४-२)।

खींनु—(पा० प० ६-३)।

खींनां—क्षीण। (पा० प० १०२-७)।

खीचड़ी—सं० स्त्री० (सं० कृसर)—खिचड़ी नामक भोजन। उ० खूब खांड है खीचड़ी, मांहि पड़ै टुक लूंण। (सा० २२-१२-१)।

खीचरी—(पा० सा० २१-३-१)।

खीजि—क्रि० अ० (हि० खीज)—खीज कर। (पा० सा० २२-७-१)।

खीर—सं०पु० (सं०क्षीर)—दूध,खीर। उ० खीर नीर का करै नबेरा। (प० ३४४-६)।

खुटानों—क्रि०अ० + (सं० खुड्)। समाप्त हुआ। अ० वनिज खुटानों पूंजि टूटि। (प० ३८३-६)।

खुदाइ—सं० पु० (फा० खुदा)—स्वंयभू, ईश्वर। उ० मांगै न्याव खुदाइ। (सा० (२२-९-१)।

खुदाय—ईश्वर। (वी० र० ४९-९)।

खुदाई—सं०स्त्री० (फा०)—ईश्वरता। अ० हम मसकीन खुदाई वंदे तुम्हारा जस मनि भावै। (प० २५५-२)।

खुमार—सं० स्त्री० (अ० खुमार, हि खुमारी)—मद, नशा। उ० जे कवहू न जाइ खुमार। (सा० ६-४-१)।

खुमारि—(पा० सा० १२-५-१)।

खुमारी—अ० पीवत रांम रस लगी खुमारी। (प० ७३-५)।

खुर—सं० पु० (सं०) चौपायों के पैर की टाप जो वीच से फटी होती है। (पा० प० १२४-३)।

खुराइ—दे० 'खुदाइ'। (पा० सा० १५-१०-२)।

खुर्दा—सं० पु० (फा० खुर्दा)—छोटी-मोटी चीज। उ० मैं खुर्दा सुमां विसियार। (प० २५८-५)।

खुलि—क्रि० अ० (हि० खुलना)—खुलकर। (पा० सा० ९-२४-२)।

खूले—खुल जाता है। उ० गुर मिलि जिनि के खुले कपाट। (प० ३४८-१०)।

खूले—क्रि० अ० (सं० खुल)—खुल गया 'प्रगट हो गया। उ० तव खूले स्यंभ दुवार। (स० ५-२२-२)।

खेड़ै—सं० पु० (सं० खेट)—छोटे गाँव में। (सा० १२-६-नो०-७)।

खेत—सं० पु० (सं० क्षेत्र)—खेत बुहार्‌या सूरिवैं, मुझ मरणे का चाव। (सा०४५-६-२)।

खेतहिं—खेत का। (पा० प०४१-७)।

खेतों—खेतों में। उ० प्रेम न खेतों नीपजै प्रेम न हाटि विकाइ। (सा० ४५-२१-१)।

खेति—दे० 'खेत'। (पा० प० ८३-५)।

खेती—सं० स्त्री०(हि० खेत)—किसानी, खेतिहारी। उ० नाउं मेरे खेती नांउ मेरे वारी। (प० ३३३-२)।

खेत्रपाल—सं० पु० (सं० क्षेत्रपाल)—प्रसिद्ध ४९ भैरव जो पश्चिम के द्वारपाल माने जाते हैं। उ० वावन कोटि जाकै कुटवाल, नगरी नगरी खेत्रपाल।

खाद—क्रि० स० (अनु०)—खादना। (पा० सा० ४-२५-१)।

खान—दे० 'खांन'। (पा० सा० २१-३-१)।

खानि—(१) क्रि० स० (हि० खनना)—खोदकर, फोड़कर। उ० घर तजि बन खंडि जाइये, खनि खनि खइये कंदा। (प० १७८-३)।
(२) सं० स्त्री० (सं० खनि)—प्रकार के, ढंग के, तरह के। उ० चारि खानि विस्तार उपाया। (र० ३-२)।

खाबे—सं० पु० (सं० खादन, हि० खाना)—भोजन, खाना। (पा० सा० ३२-४-१)।

खार—वि० (सं० क्षार)—खारे। (पा० सा० ३०-४-२)।

खारा—दे० 'पारा'। खारा। (पा० सा० १६-३९-१)।

खारे—खारे। (पा० प० ११४-१)।

खाल—सं० स्त्री० (सं० क्षाल, प्रा० खाल)—चमड़ा, त्वचा। (प० २५०-नो-५०)।

खालसै—दे० 'पालसै'। (पा० प० ८६-१०)।

खाला—सं स्त्री० (अ० खाला)—माता की बहन, मौसी। उ० खाला का घर नांहि। (सा० ४५-१९-१)।

खालिक—सं० पु० (अ० खालिक)—सृष्टिकर्त्ता, सिरजनहार। उ० खालिक दरि खूनी खड़ा, मार मुहे मुंहि खाइ। (सा० २२-९-२)।

खाली—वि० (अ० खाली)—रिक्त, बेकाम। उ० जग परबोधि होत नर खाली, करते उदर उपाया। (प० १७०-३)।

खाली पड़े—क्रि० अ० (अ० खाली+पड़ना)—शून्य हो गए। उ० ते मंदिर खाली पड़े, बैसण लागे काग। (सा० १२-४-२)।

खासी—सं० स्त्री० (अ० खासा)—राज-भोग सम्बन्धी पदार्थ; (साथ में खेल विनोद करने के लिए) विशिष्ट व्यक्ति। उ० छपन कोडि खेलिबे खासी। (प० ३३९-४)।

खिअत—क्रि०अ० (सं० क्षय) नष्ट होना। (पा० प० १५५-११)।

खिजैं—क्रि अ० (सं० खिद्यते, प्रा० खिज्जइ, हि खीजना)—दुखी और क्रुद्ध होते हैं। (सा० २०-२२-नो-२५)।

खिण—सं० पु० (सं० क्षण)—क्षण। उ० वज्र थैं तिखा खिण भीतरि होई। (र० ४-३५)।

खिन—क्षण (पा० प० ६५-८)।

खिमा—सं० स्त्री० (सं० क्षमा)—क्षमा। (पा० प० १४२-७)।

खिरत—क्रि० अ० (सं० किल्)—विकसित होना, खिलना। (पा० चौ० र० ४०-१)।

खिरि खिरि—बिखरना, खिलना। पा० चौ० र० १-२)।

खिलखांनां—सं० पु० (फा० खिलवत-खाना)—गुप्त मंत्रणा या रहस्य का स्थान। उ० कोड़ी तेतीसूं अरू खिल-खांनां (प० ३३९-५)।

खिलावा—क्रि० स० (खेलना से खिलाना)—खेला, लाड़-प्यार किया। उ० ना जसवै ले गोद खिलावा। (र० वा०-५०)।

खिलौनां—सं० पु० (हि० खेल+औना (प्रत्य०)—खेलने की वस्तु। उ० लोगनि

रांम खिलौनां जांनां। (प० ३४३-२)।

खिसैं—क्रि० अ० (हि० खसकना)—गिरा, हटा। (पा० सा० १५-७६-२)।

खिस्या—गिरा, हटा। उ० ब्रह्मा का आसण खिस्या। (सा० २-१५-२)।

खींन—वि० (सं० क्षीण)—दुर्बल, पतला। (पा० चौं० र० ७-२)।

खींना—दुर्बल। उ० आउ घटी तन खींना। (प० २४४-२)।

खींनु—(पा० प० ६-३)।

खींनां—क्षीण। (पा० प० १०२-७)।

खीचड़ी—सं० स्त्री० (सं० कृसर)—खिचड़ी नामक भोजन। उ० खूब खांड है खीचड़ी, मांहि पड़ै टुक लूंण। (सा० २२-१२-१)।

खीचरी—(पा० सा० २१-३-१)।

खीजि—क्रि० अ० (हि० खीज)—खीज कर। (पा० सा० २२-७-१)।

खीर—सं०पु० (सं०क्षीर)—दूध,खीर। उ० खीर नीर का करै नवेरा। (प० ३४४-६)।

खुटानौं—क्रि०अ० + (सं० खुड़)। समाप्त हुआ। अ० वनिज खुटानौं पूंजि टूटि। (प० ३८३-६)।

खुदाइ—सं० पु० (फा० खुदा)—स्वंयभू, ईश्वर। उ० मांगै न्याव खुदाइ। (सा० (२२-६-१)।

खुदाय—ईश्वर। (बी० र० ४६-६)।

खुदाई—सं०स्त्री० (फा०)—ईश्वरता। अ० हम मसकीन खुदाई वंदे तुम्हारा जस मनि भावै। (प० २५५-२)।

खुमार—सं० स्त्री० (अ० खुमार, हि खुमारी)—मद, नशा। उ० जे कवहू न जाइ खुमार। (सा० ६-४-१)।

खुमारि—(पा० सा० १२-५-१)।

खुमारी—अ० पीवत रांम रस लगी खुमारी। (प० ७३-५)।

खुर—सं० पु० (सं०) चौपायों के पैर की टाप जो बीच से फटी होती है। (पा० प० १२४-३)।

खुराइ—दे० 'खुदाइ'। (पा० सा० १५-१०-२)।

खुर्दा—सं० पु० (फा० खुर्दा)—छोटी-मोटी चीज। उ० मैं खुर्दा सुमां विसियार। (प० २५८-५)।

खुलि—क्रि० अ० (हि० खुलना)—खुलकर। (पा० सा० ६-२४-२)।

खूले—खुल जाता है। उ० गुर मिलि जिनि के खुले कपाट। (प० ३४८-१०)।

खूले—क्रि० अ० (सं० खुल)—खुल गया प्रगट हो गया। उ० तव खूले स्यंभ दुवार। (स० ५-२२-२)।

खेड़ै—सं० पु० (सं० खेट)—छोटे गाँव में। (सा० १२-६-नो०-७)।

खेत—सं० पु० (सं० क्षेत्र)—खेत बुहार्‌या सूरिवैं, मुझ मरणे का चाव। (सा०४५-६-२)।

खेतहिं—खेत का। (पा० प०४१-७)।

खेतौं—खेतों में। उ० प्रेम न खेतौं नीपजै प्रेम न हाटि विकाइ। (सा० ४५-२१-१)।

खेति—दे० 'खेत'। (पा० प० ८२-५)।

खेती—सं० स्त्री०(हि० खेत)—किसानी, खेतिहारी। उ० नाउं मेरे खेती नांउ मेरे वारी। (प० ३३३-२)।

खेत्रपाल—सं० पु० (सं० क्षेत्रपाल)—प्रसिद्ध ४६ भैरव जो पश्चिम के द्वारपाल माने जाते हैं। उ० वावन कोटि जाकै कुटवाल, नगरी नगरी खेत्रपाल।

(प० ३४०-१४)।

खेदा—सं० पु० (सं० खेद)—थकावट, ग्लानि। (बी० र० ७-३)।

खेदै—क्रि० स० (सं० + खिद)—मारकर हटाता है, खेदता है। उ० सुनहां खेदै कुंजर असवारा। (प० १४५-४)।

खेवट—सं० पु० (हि० खेना)—केवट, मल्लाह। उ० खेवट विनां कवन भौ तारै, कैसें पार गहें रे। (प० ३१०-९)।

खेम—सं० पु० (सं० क्षेम) खैरियत, कुशल। अ० कुसल खेम अरु सही सलांमति, ए दोइ काकौं दीन्हां रे। (प० ३६६-१)।

खेरा—सं०पु० (सं० खेट)—खेड़ा, छोटा गाँव। उ० जस कर गांउ न ठांउ न खेरा, कैसें गुन बरनूं मैं तेरा। (र०वा० -३५)।

खुशी—वि० (फा० खुश)—प्रसन्न। (बी० र० ४९-९)।

खुसियां—प्रसन्न। उ० दरोगां वकि बकि हूंहि खुसियां। (प० २५७-७)।

खुसी—प्रसन्न, अच्छी दशा में। उ० नां तूं मिलै न मैं खुसी, ऐसी वेदन मुझ। (सा० ३-४२-२)।

खुसरै—दे० 'पुसरै'। (पा० प० १७४-५)।

खूंटा—सं० पु० (सं० क्षोड)—खड़ी गड़ी हुई लकड़ी, बड़ा मेख। उ० मैं खूंटा मैं गाड़ी। (प० १०-५)।

खूंटी—स्त्री०—छोटी मेख। उ० चारि खूंटी दोइ चमरख लाई। (प० २२८-३)।

खूंटै—खूंटे पर। (पा० प० १४६-७)।

खूंदन—क्रि० स० (सं० क्षुण्ण अथवा √ स्कुंद्)—तोड़ना कुचलता, कूटना, रौंदना। उ० खूंदन तौ धरती सहै, वाढ़ सरै बनराइ। सा० ३९-२-१)।

खूंदि—खूंदकर। (पा० सा० २५-१२-१)।

खूटा—क्रि० अ० (सं० खुड)—दूर हो गया, खत्म हो गया। उ० संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत। (सा० ५-१३-२)।

खून—सं० पु० (फा० खून)—रक्त, वध, हत्या। उ० खून करत हौ भारी। (प० ५९-७)।

खूनी—वि० (फा० खूनी)—हत्यारा, अत्याचारीं। उ० खालिक दरि खूनी खड़ा, मार मुहे मुहिं खाइ। (सा० २२-९-२)।

खूब—वि० (फा०) अच्छा, भला। (पा० सा० २१-३-१)।

खेल—(१) (सं० केलि)—मनोरंजन का व्यापार, लीला। उ० खेल तुम्हारा मरन भया मोरा। (र० ४-७)।

खेला—विचित्र लीला, अद्भुत कार्य। उ० चंचल चपल बुधि का खेला। (प० ४२-२)।

खेलिबे—(हि० खेलिवा)—खेल-विषयक विहार का सामान। उ० छपन कोडि खेलिबे खासी। (प० ३३९-४)।

खेल—(२) क्रि० अ० (सं० केलि, अथवा √ खेल्)—खेलो। उ० अंणीं ऊपिला खेल। (सा० ४५-३२-२)।

खेलणा—क्रि० स० (हि० खेलना)-खेलने के लिए। उ० तू माया रघुनाथ की खेलण चढ़ी अहेड़ै। (प० १८७-१)।

खेलत—खेलते हैं। (पा० प० १४९-१)।

खेलतां—खेलते हुए। (पा० सा० १-३८-२)।

खेलन—खेलने के लिए। (पा० प० १४४-

४)।

खेलही—खेलते हैं। (पा० प० ३४-८)।

खेलिए—खेल लीजिए। (पा० प० १४४-१)।

खेलिस्यूं—खेलूंगा, केलि करूंगा। उ० हिलि मिलि ह्वै करि खेलिस्यूं, कदे विछोह न होइ। (सा० ५९-१-२)।

खेलिहूं—खेलूंगा। (पा० सा० ७-४-२)।

खेलैं—खेलते हैं। (पा० प० १५५-१२)।

खेलै—खेलता है। उ० सतगुर दाव वताइया, खेलै दास कवीर। (सा० १-३२-२)।

खेलौ—खेलो। उ० खेलौ संत विचार। (सा० १-३१-२)।

खेल्या—खेला। उ० लालच खेल्या डाव। (सा० १-१६-१)।

खेलखांनां—देव 'खिलखांनां'। (पा० प० ४२-५।

खेलखासी—सं० पु० (हि खेल+ख़ासी)—खेल खेलने वाले व्यक्ति। (पा० प० ४२-४)।

खेवट—दे० 'खेवट'। उ० को वोहिथ को खेवट आही, जिहि तिरिये सो लीजै चाही। (र० ३-१२३)।

खेवटिया—खेवट, मल्लाह। उ० खेवटिया की नावज्यूं, घणों मिलैंगे आइ। (सा० ३७-६-२)।

खेवणहार—सं०पु० (हि० खेना+हार)—खेने वाले। उ० कवीर नाव जरजरी, कूड़े खेवणहार। (सा० १२-६२-१)।

खेवनहार—उ० भाव भगति हित वोहिथा, सतगुर खेवनहार। (र० ३-१२८)।

खेवैं—क्रि० स० (सं० क्षेपण, प्रा० खेवण, हि० खेना)—अविद्या द्वारा ही पार कर देना चाहते हैं। (वी० र० ४५-६)।

खेह—सं०स्त्री० (सं० क्षार, पं० खेह)—धूल, खाक। (सा० ४१-१४-नो०-१८)।

खैंचातांनीं—सं० (स्त्री० हि० खींचतान)—खींचा खींचीं, आवागमन। उ० नहीं तर ह्वै है खैंचातांनीं। (प० ९१-५)।

खैंचि—क्रि० स० (सं० कृष्, प्रा० √खंच, हि० खींचना)—खींचकर, खींच लो। उ० कर कमाण सर साँधि करि, खैंचि जु मार्या मांहि। (सा० ३-१५-१)।

खैंचै—खींचे। उ० जित खैंचै तित जाउं। (सा० ११-१४-२)।

खै—(१) सं० पु० (सं० ख)—गर्त्त में, गड्ढे में। उ० जरजोधन घाल्यौ खैमांन। (प० ३४०-१३)।
(२) सं० पु० (सं० क्षय)—नाश। (प० ३४०-१३)।

खैवूलो—क्रि० स० (हि० खाना से)—खाते-पीते हैं। उ० देखिवो रे लोग किन-किन खैवूलो। (प० ३७६-२)।

खैवे—क्रि० स० (हि० खाना से)-खाने के लिए। उ० खैवे कुं कहा रोइ। (सा० ३५-३-१)।

खैहूं—खाऊंगा। उ० पीछे खैहूं सगौ जवाई। (प० २२७-३)।

खैहैं—खावेंगे। (पा० प० १६४-३)।

खोइ—क्रि० स० (सं० क्षेपण, प्रा० खेवण) —गँवाओ, व्यर्थ फेंक दो। खोई—गँवा दिया। उ० कहि कवीर मैं मेरी खोई, तवहि रांम अवर नहीं कोई। (प० ६६-६)।

खोऊं—गँवा दूं। (पा० प० ३५-४)।

खोएं—खोने से, नष्ट करने से। (पा० सा० १५-३७-१)।

खोयाँ—खोने पर, त्यागने पर। उ० कुल खोया कुल ऊबरै, कुल राख्यां कुल जाइ। (सा० १२-४५-१)।

खोया—खोदिया। (पा० सा० ३०-१४-२)।

खोयौ—खोया। (पा० प० ६०-१)।

खोवहिं—खो देते हैं। (पा० प० १६७-५)।

खोवै—गँवाता है। उ० हर-तप-रत सब निंदक खोवै। (प० ३४२-४)।

खोज—सं० स्त्री० (हि० खोजना)–पता, अनुसंधान। उ० उड्या विहंगम खोज न पाया। (प० ६-१२)।

खोजत–क्रि०स०(सं० खुज)–ढूँढ़ता,खोजता हुआ। उ० चहु चतुराइ जाहु जलि, खोजत डोलैं दूरि। (सा० ५३-८-२)।

खोजहु—खोजो। (पा० प० ४८-१)।

खोजादे—खोज दे। (पा० प० १७८-८)।

खोजि—खोजते, ढूँढ़ते। उ० ब्रह्मा खोजि परचौ गहि नाह, कहै कबीर वै रांम निराल। (प० ३५-४)।

खोजिले—ढूँढ़ लो, प्रत्यक्ष कर लो। उ० तहां दुवादस खोजिले, जनम होत नही मींच रे। (प० ४-८)।

खोजी—(१) खोज ली। (पा० प० ६६-३)।
(२) वि० (हि० खोज+ई)—खोजने वाला। उ० कबीर खोजी रांमं का, गया जु सिंघल दीप। (सा० ५३-४-१)।

खोजु—खोजो। (पा० प० ८७-१)।

खोजै—खोजता है। (पा० चौ०र०. ३७-१)।

खोजौं—खोजूं। उ० जो दिल खोजौं आपणीं तौ सब औगुण मुझ मांहि। (सा० ५६-३-२)।

खोजौ—खोजो। (पा० प० १४२-२)।

खोट—सं० स्त्री० (सं० खोट)–बुराई, धोखा, धूर्त्तता। उ० खोट कपट करि यहु धन जोह्यौ, लै धरतीं मैं गाड़्यौ। (प० ९२-५)।

खोटा—वि० (सं० क्षुद्र या खोट)–दूषित, बुरा। (पा० सा० १९-४-१)।

खोटी—स्त्री० (खोटा)–बुरी। उ० कबीर कलि खोटी भई मुनियर मिलै न कोइ। (सा० १७-८-१)।

खोटै—न चलने वाला, दूषित। उ० कल तर काढ्यो खोटै। (प० १०८-३)।

खोड़ि—दे० 'खोरि' (सं० १६-१४-२)।

खोद—क्रि० स० (सं० खुद)–खोदना। (पा० सा० ४-२५-१)।

खोदहिं—खोदते हैं, गड्ढा करते हैं। उ० माटी खोदहिं भीत उसारै, अंध कहै घर मेरा। (प० ९२-३)।

खोदि— खोदकर। (पा० सा० ३३-६-२)।

खोरहि—सं० स्त्री० (हि० खुर)–नाँद, जिसमें चौपायों को चारा दिया जाता है। (र० १–टि० ११)।

खोरि—सं० स्त्री० (सं० खोट)—बुराई, ऐब। (र० १–टि० ११)।

खोरी—बुराई। (बी० र० ८०-४)।

खोला—क्रि० स० (सं० √खुड्)–खोल दिया। (पा० प० १६-४)।

खोलि—हटाकर, खोलो, प्रगट करो। उ० तिनसूं अंतर खोलि। (सा० १२-५०-२)।

खोलिए—खोलिए। (पा० सा० १८-१२-१)।

खोले—खोलता है, हटाता है, दूर करता है। (सा० २०-२३-नो० २७)।

खोलै—खोलता है। (पा० पे० ३१-२)।

ख्वांवैं—क्रि० स० (हि० खाना से)—

भोजन कराते हैं। उ० जीवत पित्र कू अन न ख्वांवैं,मूवां पाछैं प्यंड परावैं। (प० ३५६-४)।

ख्वार—वि० (फा०)-खराव, सत्यानाश, तिरस्कृत। (पा० सा० २१-२२-१)।

ग

गंग—सं० स्त्री० (सं० गंगा)—गंगा नदी, इड़ा नाम की नाड़ी। उ० गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुंनि ल्यौ घाट। (सा० १०-३-१)।

गंगा—दे० 'गंग'। उ० गंगा जमुनां संधि विचारि। (प० ३२६-४)।

गंगी=दे० 'गंग'। (पा० प० १-५)।

गंगोदिक—सं० पु० (सं० गंगोदक)—गंगा जल। उ० जाइ मिलै जव गंग मैं, तव सव गंगोदिक होइ। (सा० २८-८-२)।

गंजन—सं० पु० (सं०)—अवज्ञा, तिरस्कार। उ० नहिं तर वेगि उठाइ नित का गंजन को सहै। (सा० २८-१० २)।

गंड—सं० पु० (सं०)—गाँठ। उ० सात सूत दे गंड वहतरि, पाट लगी अधिकाई। (पा० १९३-३)।

गंडक—सं०पु० (सं० गंडकी) गंडकी नदी में पाये जाने वाले पत्थर। उ० गंडक सालिक रांम न कोला, मछ कछ ह्वै जलहि न डोला। (र० वा०-५५)।

गंठिया—सं० स्त्री० (सं० ग्रंथि, हि० गाँठ)—गाँठ में, गिरह में। उ० मन दस नाज, टका दल गंठिया, टेढौ टेढौ जात। (प० ४००-२)।

गंठी—सं० स्त्री० (सं० ग्रंथि, हि० गांठ)—गांठ उ० सत गंठी को जीन है, साध न मानै संक। (सा० ३७-८-१)।

गंदा—वि० (फा०)—मलिन। उ० हरि विन भरमि विगूते गंदा। (प० १३३-१)।

गंदी—वि० स्त्री० (फा०)—घिनौनी, मलिन। उ० गंदी देही देखिन फूलिये, संसार देखि न भूलिये। (प० २९-४)।

गंदे—मलिन। उ० मैं गरीव क्या गंदे। (प० ३२३-२)।

गंध—सं० स्त्री० (सं०)—वास, महक। उ० एक नि गंध वासनां प्रकट, जग कैं रहै अकेला। (प० १५७-१४)।

गंध्रप—सं० पु० (सं० गंधर्व)—(१) देवताओं की एक जाति। उ० सुर नर गण गंध्रप व्रह्मादिक, गुर विन तिनहूँ न पाया। (प० १९५-३)। (५) गंधर्व सेन राजा। उ० मन सा वाचा हरि हरि माखैं, गंध्रप सुत वड़ भागी। (प० २९९-९)।

गंध्रव—दे० 'गंध्रप' (१)। (पा० प० १३३-४)।

गंभीर—वि० (सं०)—नीचा, गहरा। उ० देस मालवा गहर गंभीर, डग डग रोटी पग पग नीर। (प० ६८-६)।

गंम—दे० 'गम'। (पा० र० ४-५)।

गंमावा—क्रि० स० (हि० गमाना)—गँवा दिया, खो दिया। उ० नहीं चेते तौ जनम गंमावा, परचौ विहांन तन फिरि पछतावा। (र० ३-९५)।

गंमि—दे० 'गमि'। उ० कहै कवीर गुंण

गति पावैं, षांड़कह्यां मुख मीठा। (प० ४-२)।

गदहड़ा—सं० पु० (सं० गर्दभ, हि० गदहा)—गधा, खर। (सा० १२-५-नो०-६५)।

गदहरा—दे० 'गदहड़ा'। (पा० सा० २५-६-२)।

गन—दे० 'गण'। (पा० र० १३-२)।

गनिका—सं० स्त्री० (सं० गणिका)—वेश्या। उ० गनिका कौ पूत पिता कासौं कहै। (प० १२६-५)।

गनी—क्रि० स० (सं० गणन, हि० गिनना)–गिना जाय। (बी० र० ६-२)।

गनें—क्रि० स० (सं० गणन, हि० गिनना)–गिने। (पा० प० १४६-८)।

गनेसा—सं० पु० (सं० गणेश)—गणेश नामक देवता। (पा० प० १०३-३)।

गनेसू—दे० 'गनेसा'। (बी० र० १०-४)।

गनै—दे० 'गनें'। गिनता है। (पा० चौ० र० २०-२)।

गफिलाई—सं० स्त्री० (फा०)–भ्रम,मोह। (बी० र० ६६-१)।

गम—सं० पु० (सं०)–राह, मार्ग। उ० द्वादस गम के अंतरा, तहां अमृत कौ ग्रास। (प० १८-५)।

गमां—सं० पु०(सं० गमक)–संगीत में एक श्रुति से दूसरी श्रुति में जाने का एक प्रकार। उ० गमां बतीस मोरणां पांचौं, नीना साज बनाया। (प० १६५-५)।

गमायउ—क्रि० स० (हि० गमाना)–खो दिया। (बी० र० ४४-१)।

गमावैं—गंवावैं, खोवैं। उ० कांइ गमावै देह, कारिज कोई नां सरै। (सा० २०-८-२)।

गमावै—नष्ट करता है, खोता है। उ० लाहै कारनि मूल गमावै। समझावत हूँ तोहि। (प० ३१२-४)।

गमि—सं० स्त्री० (सं० गम्य)–प्रवेश, पहुँच। उ० अगम अगोचर गमि नहीं, तहां जगमगै जोति। (सा० ५-४-१)।

गम्म—वि० (सं० गम्य)–ज्ञातव्य। (बी० र० ७-५)।

गयंद—दे० 'गइंद'। गजेन्द्र। (पा० सा० १५-८१-१)।

गयंदहि—घोड़े पर। (पा० सा० १४-२७-२)।

गयल—क्रि० अ० (हि० जाना)—गया। (बी० र० ५-५)।

गया—क्रि० अ० (हि० जाना)—गया। उ० कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लूंण। (सा० १-१४-१)।

गयौ—गया। उ० उड़चौ न जाइ बल गयौ है छूटि, तब भंवरी रुंनी सीस कूटि। (प० ३८८-७)।

गरक—वि० (अ० गर्क)—लीन, नष्ट, भग्न। उ० हंम जु बूंद निबूंद जालिक, गरक हम तुम पेस। (प० २५८-६)।

गरकि—सं० स्त्री० (अ० गरकी)—पानी के नीचे की भूमि। (सा० २०-१३-नो०)।

गरजत—क्रि० अ० (सं० गर्जत)–शब्द करते समय। उ० छिनहर। घर अरु फिरहर टाटी, घन गरजत कंपै मेरी छाती। (प० २७३-२)।

गरजि—(१) सं० स्त्री० (सं० गर्जन)–गंभीर शब्द, ऊँचा शब्द। उ० अंबर कुंजां कुरलियां, गरजि भरे सब ताल। (सा० ३-२-१)।

(२) क्रि० अ० (सं० गर्जन)–गर्जता, शब्द करता है। उ० गगन गरजि अमृत

चवैं, कदली कवल प्रकास। (सा० ५-४०-१)।

गरड़—सं० स्त्री० (फा० गर्द)-खाक, धूल, राख। उ० सेस नाग जाकै गरड़ समांनां, चरन कंवल कंवला नहीं जांनां। (प० ४६-४)।

गरत्थ—क्रि० स० (सं० ग्रसन ?)—पकड़ना। (पा० सा० ३२-५-२)।

गरथ—(१) दे० 'गरत्थ'। (पा० प० २३७-३)।

(२) सं० पु० (सं० ग्रंथ)—पुस्तक। उ० नाद न विंद गरथ नहीं गाथा, पवन पांणीं संग न साथा। (र० बा०-४७)।

गरव—सं० पु० (सं० गर्व)-अभिमान, घमंड। (पा० प० ७४-४)।

गरवि—गर्व। (पा० र० ७-५)।

गरवसि—क्रि० अ० (हि० गरवना)—घमंड करते हो। उ० कहा नर गरवसि थोरी बात। (प० ४००-१)।

गरवहि—गर्व करते हैं। (पा० र० ७-६)।

गरवांनां—अभिमान करते हो। उ० माया मोहे अर्थ देखि करि काहे कूं गरवांनां। (प० ५५-७)।

गरवावै—गर्व करता है। (पा० प० ६२-१)।

गरवियां—गर्व दिखलाता है। (सा० ४८-१-नो० ३)।

गरवियौ—अभिमान करते हो। उ० कवीर कहा गरवियौ, इस जीवन की आस। (सा० १२-८-१)।

गरव्यो—अभिमान करता है। (सा० ४६-७-नो० ८)।

गरवु—दे० 'गरव'। गर्व। (पा० सा० १५-२२-१)।

गरभ—सं० पु० (सं० गर्भ)-गर्भ, हमल। उ० गरभ मुचे मुयि भई किन वांझ। (प० १२५-३)।

गरवा—वि० (सं० गुरु)—भारी, महान्। उ० कवीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं चूंण। (सा० १-१४-१)।

गरास—क्रि० स० (सं० ग्रसन)—बुरी तरह पकड़ता है। (पा० प० ११५-७)।

गरासी—ग्रसता है। (पा० सा० २१-१६-२)।

गरासै—ग्रसता है। उ० उलटी गंग संमुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै। (प० १६२-३)।

गरि—क्रि० अ० (हि० गलना)-गलना। (पा० प० ७४-४)।

गरी—सं० पु० (सं० गल)—गले में, कंठ में। (पा० प० ६५-६)।

गरीव—वि० (अ० गरीव)-निर्धन, दीन, हीन। उ० पीर पैकंवर पनह तुम्हारी, मैं गरीव क्या गंदे। (प० ३२३-२)।

गरीवी—सं० स्त्री० (अ० गरीव से)—निर्धनता। उ० कवीर केवल राम कहि, सुध गरीवी झालि। (सा० १२-५२-१)

गरुड़—सं० पु० (सं०)—गरुड़ वाहन। (वी० र० ४६-१)।

गरुवा—दे० 'गरवा'। (पा० प० १७६-११)।

गरू—वि० (सं० गुरु)—भारी, वजनी। उ० हरू गरू कछू जाइ न तोला। (र० बा०-३)।

गरै—सं० पु० (सं० गल)—गले में। उ० एकनि दीनीं गरै गूदरी, एकनि सेज निवारा। (प० १०५-५)।

गर्वसी—दे० 'गरवसि'। (पा० प० ६७-३)।

गल—दे० 'गला'। गर्दन। (पा० प० १६१-६)।

गलका—सं० पु० (फा० गरकान)-डुबाव, डूबने का भाव। राजभोग, स्वादिष्ट भोजन। उ० गलका खाया वरजता, अब क्यूं आवै हाथि। (सा० १३-१६-२)।

गलकी—सं० पु० (सं० गल)—गले की। उ० मेरी पग का पैंवड़ा, मेरी गल की पास (सा० १२-६१-१)।

गलगल—वि० (हि० गीला)—तर। उ० गलगल स्वाद भगति नहीं धीर। (प० १३६-९)।

गलबल—सं० पु० (अनु०)—कोलाहल, खलवली, गड़वड़ी। उ० कत कत की सालि पाड़िये, गलवल सहर अनंत। (सा० ३७-५-२)।

गला—सं० पु० (सं० गल)—गर्दन। उ० पेड़ा रोटी खाइ करि, गला कटावै कौंण। (सा० २२-१२-२)।

गलि—(१) सं० पु० (सं० गल)—गले में, गले से। उ० तिणका वपुड़ा अवस्या, गलि पूरे कै लागि। (सा० ४-७-२)। (२) क्रि० अ० (हि० गलना)—गल कर, पिघल कर। उ० पाला गलि पांणी भया, ढुलि मिलियां उस कूलि। (सा० ५-१८-२)।

गलि जांहि—क्रि० अ० (सं० गरण)—वेकाम हो जाते हैं। (सा० २०-२२-नो०-२५)।

गलित—वि० (सं०)—नष्ट, च्युत। उ० देह वदेह गलित गुनतीनूं, चलत अचल भइ ठौरी। (प० ३०३-३)।

गलियां—सं० स्त्री० (सं० गल से हि० गली)—कूचा, मुहल्ला। उ० कहै कवीर करुणांमय किया, देरी गलियां बहु विस्तारा। (प० २६७-९)।

गली—(१) सं० पु० (सं० गल)—कूचा, मुहल्ला। उ० एपुर पटनए गली बहुरि न देखै आइ। (सा० १२-१-२)। (२) क्रि० अ० (हि० गलना)-गल गई। उ० हाड़ गला माटी गली सिर साटै व्यौहार। (सा० ४५-२८-२)।

गले—दे० 'गला'। गर्दन। (पा० प० ५८-५)।

गलै—सं० पु० (हि० गला)—गले से, गले में। उ० गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जांउं। (सा० ११-१४-२)।

गवन—सं० पु० (सं० गमन)—जाने का भाव। उ० दूरि गवन आवन भयी मारी। (प० २७३-३)।

गवाई—क्रि० स० (सं० गमन, हि० गँवाना)-खो दिया, हाथ से जाने दिया। उ० सुनौं संतौ सुमिरौ भगत जन हरि विन जनम गवाई। (प० ८८-६)।

गवाये—गँवा दिये। उ० परवति परवति मैं फिरचा, नैंन गवाये रोइ। (सा० ३-४०-१)।

गहगचि—सं० पु० (हि० गढ़+गज, हि० गरगच ?)—टीला। (पा० सा० २१-१३-१)।

गहगरा—सं० पु० (?)—सृष्टि। उ० तू सकल गहगरा सफ सफा दिलदार दीदार। (र० १-१)।

गहगहांनां—क्रि० अ० (हि० गहगहा)—गूंज उठा। उ० वन कोकिला नाद गहगहांनां, रुति वसंत सव कै मनिमांनां। (र० ४-१९)।

गहगहान लागा—क्रि० अ० (हि० गहगहा)—लहलहाने लगा, उमड़ आया। उ० मया दयाल विष हर जरि जागा,

गहगहान प्रेम वहु लागा। (र० ४-१)।

गहगह्या—क्रि० अ० (सं० गद्गद, हि० गहगहा)—आनंद में मग्न हो गया, उमंग में फूल गया। उ० जिनि पाया तिनिसू गहगह्या, रसनाँ लागी स्वादि। (सा० ५-३३-१)।

गहनि—दे० 'गहनी'। (वी० र० ५१-३)।

गहनी—सं० स्त्री० (सं० ग्रहण, हि० गहनि)—दृढ़ पकड़न, जकड़ना। (वी० र० १६-३)।

गहभरा—वि० (सं० गह्वर)—व्याकुल, उद्विग्न। (पा० सा० १४-२९-१)।

गहर (१)—वि० (सं० गह्वर)-दुर्गम, गूढ़, रहस्यमय। उ० सीतल छाया गहर फल, पंपी केलि करंत। (सा० ४७-६-२)।

गहर (२)—सं० स्त्री० (हि० घड़ी या फा० गाह)—विलम्ब, देर। उ० हरि कै नांइ गहर जिनि करऊं, राम नांम चित मुखांन धरऊं। (प० १०७-१)।

गहा—क्रि० स० (सं० ग्रहण, प्रा० गहण, हि० गहना)—पकड़कर अनुसरण किया, ग्रहण किया। (पा० प० १४६-३)।

गहि—क्रि० स० (सं० ग्रहण, प्रा० गहण, हि० गहना)—पकड़कर अनुसरण कर, ग्रहण कर। उ० तहाँ कवीरा चलि गया, गहि सतगुर की साषि। (सा० १४-९-२)।

गहिए—दे० 'गहिये'। (पा० प० १९९-७)।

गहिभरच्या—दे० गहभरा। वेसुध, व्याकुल। उ० घाइल घूंमैं गहिभरच्या, राख्या रहैं न ओट। (सा० ४५-१६-१)।

गहिये—क्रि० स० (सं० ग्रहण)—पकड़िये। उ० हरि पद दिढ करि गहिये। (प० १३३-९)।

गहिर—वि० (सं० गंभीर)—जिसकी थाह वहुत नीचे हो, गहरा। (पा० प० २४-३)।

गहिला—वि० (हि० गहेला)—पागल, उन्मत्त। उ० यहु रस पीवै गूंगा गहिला, ताकी कोई न वूझै सार रे। (प० ७१-७)।

गहु—दे० 'गहिये'। पकड़िये। (पा० र० २०-७)।

गहे—दे० 'गहै'। पकड़े हुए है। (पा० र० १२-८)।

गहेजुआ—सं० पु० (देश०)—छछूंदर। (वी० र० ४५-८)।

गहेलड़ी—वि० (हि० गहेला)—पगली, गंवारिन, अज्ञानी। उ० रहु रहु मुगध गहेलड़ी प्रेम न लाजूं मारि। (सा० ३-३६-२)।

गहेलरी—दे० 'गहेलड़ी'। (पा० सा० २-४१-२)।

गहेली—वि० (हि० √गह+एली)—हठी, अहंकारी, घमंडिन। उ० नणद सहेली गरव गहेलीं, देवर कै विरह जरौं हो दयाल। (प० २३०-६)।

गहै—क्रि० स० (सं० ग्रहण, प्रा० गहण, हि० गहना)—पकड़े हुए हैं। उ० कवीर कहा गरवियौ, काल गहै कर केस। (सा० १२-१२-१)।

गहैगा—पकड़ेगा। उ० काल कंठ तैं गहैगा, रूंधै दसूं दुवार। (सा० २-२६-२)।

गहौं—पकड़ूं, सहारा लूं। उ० जे छांडौं तौ डूविहौं, गहौं त डसिये वांह। (सा० ३-४३-२)।

गह्यां—पकड़ने पर। उ० डाल गह्यां थैं

मूलन सूझै, मूल गह्यां फल पावा। (प० १६२-५)।

गह्यौ--पकड़ा। (पा० प० ६७-८)।

गांउं--सं० पु० (सं० ग्राम, हि० गांव)-ग्राम, गांव। (पा० प० ४१-१)।

गांऊं—गांव। उ० आसिपासि तुरसी कौ बिरवा, मांहि द्वारिका गांऊं रे। (प० ७६-११)।

गांगी--(सं० गांग)--(१) गंगा सम्बन्धी, गंगा का। उ० गांगी रोलै बहि गया, हरि सूं नांही हेत। (सा० २४-४-२)।
(२) गांगी रोलै राज० कागा रोल से कौओं का शोरगुल।

गांठड़ी—सं० स्त्री० (हि० गट्ठर से)—पोटली। उ० खोटा बांध्या गांठड़ी, इब कुछ लिया न जाइ। (सा० ४८-३-२)।

गांठि—सं० स्त्री० (सं० ग्रंथि, प्रा० गंठि)-(१) उलझन, भेद। उ० माला पहरयां कुछ नहीं, गांठि हिरदा की खोइ। (सा० २४-६-१)।
(२) गिरह। उ० छांड़ि कपूर गांठि विष बांध्यौ, मूल हुवा ना लाहा। (प० १३४-७)।

गांठी—दे० 'गांठि' (२)। गिरह में। उ० मण दसना जट का दस गांठी। (प० २६०-२)।

गाँथि—सं० स्त्री० (सं० ग्रंथि)—प्रेम संबंधी ग्रन्थि। (बी० र० ८०-३)।

गांवण—क्रि० स० (स० गान)—गाना। उ० गावण हीं मैं रोज है, रोवण हीं मैं राग। (सा० ३५-२०-१)।

गांवणहारा—वि० (हि० गाना+हारा)-गाने वाला। उ० गांवणहारा कदे न गावै, अण बोल्या नित गावै। (प० १६२-१३)।

गांवां—दे० 'गांउं'। गांव में। (पा० प० ४१-३)।

गाइ (१)—क्रि०अ०(हि० गाना)-गाओ। उ० कबीर सूता क्या करै, गुण गोविंद के गाइ। (सा० २-१४-१)।

गाइ (२)—सं० स्त्री० (सं० गो, हि० गाय)—गाय। (सा० १२-५०-नो० ६५)।

गाइअै—क्रि० अ० (हि० गाना)-गाइए। (पा० प० ४२-१)।

गाइत्री—*सं० स्त्री० (सं० गायत्री)*—गायत्री मंत्र। उ० संध्या गाइत्री अरु षट करमां, तिन थैं दूरि बतावा। (प० २६४-४)।

गाई—दे० 'गाइ' (२)। गाय। (पा० प० ११६-२)।

गाऊँ—दे० 'गांउं'। गाँव, लोक। (बी० र० १-४)।

गाएं—क्रि० अ० (हि० गाना)—गाने से। (पा० प० १६८-३)।

गागरि—दे० 'गागरी'। (पा०प० ५०-३)

गागरी—सं० स्त्री० (सं० गर्गर)—घड़ा, गगरी। उ० षट चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम घाट। (प० १८-१०)।

गाज—सं० स्त्री० (सं० गर्ज, प्रा० गज्ज)-गर्जन, शोर। उ० ब्रह्मा का आसण खिस्या, सुणत काल की गाज। (सा० २-१५-२)।

गाजा—क्रि० अ० (सं० गर्जन, प्रा० गज्जन, हि० गाजना)—शब्द करता है। उ० सो भुलनां सरवत्त रि गाजा। (र० १-८)।

गाजै—गर्जन करे। उ० कहौ कौन षिवै कहौ कौन गाजै, कहां थैं पांणी निसरै। (प० २६१-३)।

गाठरी—दे० 'गांठड़ी'। पोटली। (पा० सा० ३२-६-१)।

गाड़—सं० स्त्री० (सं० गर्त, प्रा० गड्ड)—गढ़ा, जिसमें पैर पसार कर जुलाहे विनते हैं। (वी० र० २८-२)।

गाड़र—सं० स्त्री (सं० गड्डुरी प्रा० गड्डुरिका)—भेड़। उ० गाडर आंणी ऊन कूं, वांधी चरै कपास। (सा० १७-३-२)।

गाड़ा—क्रि० स० (हि० गाड़ना)—दफनाया, गाड़ा। (पा० र० ३-८)।

गाड़ी—धँसा दी। उ० पाड वुणै कोली मैं वैठी, मैं खूंटा मैं गाड़ी। (प० १०-५)।

गाड़े—गाड़ दिए। (पा० प० ६९-३)।

गाडि—सं० स्त्री० (सं० गर्त, प्रा० गड्ड, हि० गाड़)—गड्ढे में, तहखाने में। उ० पसु पंषेरू जीव जंत, तिनकी गाडि किसा ग्रंथ। (सा० ३५-९-२)।

गाढी—क्रि० वि० (हि० गाढ़ा से गाढ़े)—भली भांति मोटा वनाते हुए। उ० तांणै वाणै पड़ी अनंवासी, सूत कहै वुणि गाढी। (प० १०-६)।

गाता—सं० पु० (सं० गात्र)—शरीर में। उ० कहा मुगध रे पांहन पूजै, कागज डारै गाता। (प० ८८-४)।

गाथा—सं० स्त्री० (सं०)—कथा, स्तुति। उ० नाद न विंद गरथ नहीं गाथा, पवन पांणीं संग न साथा। (र० वा० ४७)।

गादह—दे० 'गदहड़ा'। गर्दभ, गधा। (पा० प० ११४-४)।

गाफिल—वि० (अ०)—वेसुध, लापरवाह, असावधान। उ० पाँइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपणैं हाथि। (सा० १२-४३-२)।

गाफिला—वेखवर, असावधान। उ० पड़्या भुलांवां गाफिलां गये कुवुधी हारि। (सा० १२-२६-२)।

गायत्री—दे० 'गाइत्री'। उ० गायत्री जुग चारि पढ़ाई, पूछौ जाइ कुमति किनि पाई। (र० ५-३५)।

गाया—क्रि० स० (हि० गाना)—गान किया। (पा० सा० ३२-१४-१)।

गायें—गाने से। उ० गुण गायें, गुण नाम कहै, रहै न राम वियोग। (सा० २-२८-१)।

गारड़ू—सं० पु० (सं० गारुड़)—मंत्र द्वारा सर्प विप दूर करने वाला। उ० तुम गारड़ू मैं विप का माता। (प० ८३-१)।

गारि—सं० स्त्री० (सं० गालि)—गाली, कलंकजनक आरोप। उ० जे हूं रांम छाडीं तौ मेरे गुरहि गारि। (प० ३७९-८)।

गारैं—सं० पु० (देश० गारा)—नीची जमीन जहां पानी अधिक दिन नहीं टिकता। उ० गारैं गरव्यौ औघट घाट। (प० ८६-३)।

गालि—क्रि० स० (हि० गलाना)—गला कर। उ० जैसैं वहु कंचन के भूपन, ये कहि गालि तवांवहिगे। (प० १५०-५)।

गालिव—वि० (अ०)—जीतने वाला, विजयी। उ० गालिव नगरी गाँव वसाया, हांम कांम अहंकारी। (प० १३४-५)।

गावन—दे० 'गांवण'। (पा० सा० ३२-१३-१)।

गावनहार—दे० 'गांवणहारा'। (पा० प० १०८-६)।

गावनहारा—दे० 'गांवणहारा'। (पा० प० १२२-९)।

गावहि—क्रि०स० (सं० गान, हि० गाना)

—गाते हैं। (पा० प० १६७-३)।

गावहु—गाओ, गान करो। उ० दुलहनीं गावहु मंगलचार। (प० १-१)।

गावैं—गाते हैं। (पा० प० ३३-२)।

गावै—गाता है। उ० गुण गावै लै लीन होइ, कछू एक मन मैं और। (सा० १३-४-२)।

गाहक—सं० पु० (सं० ग्राहक)—खरीदने वाला, चाहने वाला। उ० गाहक ताजा राम है, और न नेड़ा आइ। (सा० १२-५८-२)।

गिआंन—दे० 'गियान'। ज्ञान। (पा० प० १३३-६)।

गिणंती—सं० स्त्री० (हि० गिनना से)—गणना से। उ० तोल न मोल माप कछु नाहीं गिणंती ग्यान न होई। (प० १६६-३)।

गिणै—दे० 'गिनै'। गिनता है। उ० समदहि तिणका बरि गिणै, स्वांति बूंद की आस। (सा० ११-५-२)।

गिनतां—क्रि० स० (हि० गिनना)—गिनते-गिनते। उ० जहां-जहाँ दांम तहां मन धावै, अंगुरी गिनतां रैनि बिहावै। (प० २३६-३)।

गिनि—गिनकर, जोड़कर। उ० अनत नांव गिनि लई मंजूरी, हिरदा कंवल मैं राखी। (प० २८८-३)।

गिनैं—गिनते हैं। उ० कर पकरैं अंगुरी गिनैं। (सा० २४-२-१)।

गियांन—दे० 'गियान'। ज्ञान। (पा० प० १२३-११)।

गियांनां—दे० 'गियान'। (पा० प० १८८-३)।

गियांनीं—वि० (सं० ज्ञानिन्)—ज्ञानवान्। (पा० प० १७-१)।

गियान—सं० पु० (सं० ज्ञान)—ज्ञान, अनुभव। उ० अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान। (सा० ५-४४-१)।

गिर—सं० पु० (सं० गिरि)—पर्वत, पहाड़। उ० कबीर हरि रस बरषिया, गिर डूंगर सिपरांह। (सा० ५५-४-१)।

गिरत—क्रि० अ० (सं० गलन)—गिरते। उ० कहै कबीर नाव नहीं छांड़ौ, गिरत परत चढ़ि ऊंचा। (१२६-८)।

गिरद—अव्य० (फा० गिर्द)—आसपास, चारों ओर। उ० सूरा फूकै गिरदसूं, इक दिसि सूर न होइ। (सा० ४५-४-१)।

गिरदान—सं० पु० (हि० गिरगिट)—गिरगिट। (बी० र० ४५-७)।

गिरवर—सं० पु० (सं० गिरिवर)—बड़ा पर्वत। उ० गिरिवर छार छार गिरि होइ, अबिगति गति जानैं नहीं कोई। (र० ४-३६)।

गिरही—सं०पु० (सं० गृहिन)—गृहस्थ घर-वाला, । उ० वैरागी गिरही कहा, कामी वार न पार। (सा० २०-२५-२)।

गिरांनीं—क्रि० अ० (हि० गिरना)—नष्टभ्रष्ट हो गई। उ० हिति चल की द्वै थूनीं गिरांनीं मोह वलींडा तूटा। (प० १६-३)।

गिरावहिं—क्रि० स० (हि० गिराना)—गिराते हैं। (पा० प० १६७-३)।

गिरासा—क्रि० स० (सं० ग्रसन, हि० ग्रसना)—बुरी तरह पकड़ना। (बी० र० ७८-३)।

गिरि—सं०पु०(सं०)—पर्वत, पहाड़। उ० जाकै सूरिज कोटि करै परकास, कोटि महादेव गिरि कविलास। (प० ३४०-२)

गिरिवर—दे० 'गिरवर'। (पा० प० १४२-३)।

गिरूं—क्रि० अ० (हि० गिरना)—गिर पड़ूं। उ० सूली ऊपरि नट विद्या, गिरूं त नाहीं ठाम। (सा० २-२९-२)।

गिरै—गिर पड़ै। (पा० सा० ३-५-२)।

गिला—दे० 'गिल्या'। (पा० सा० २५-२४-२)।

गिलारि—सं० पु० (गिल+अरि)—निगलने वाले मगर के शत्रु, विष्णु। उ० खंभा मैं प्रगटयौ गिलारि, हरनाकस मारयौ नख विदारि। (प० ३७९-१०)।

गिले—दे० 'गिरै'। गिरे। उ० मानि वड़े मुनियर गिले, मानि सवनि कौं खाइ। (सा० १६-१७-२)।

गिलौरा—सं० पु० (देश०)—पान का वीड़ा। उ० स्यंध वैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा लावै। (प० १२-५)।

गिल्या—क्रि० अ० (हि० गलना)—गल गया। उ० पग तौ पाला मैं गिल्या, भाजण लागी सूल। (सा० २४-१-२)।

गींद—सं० पु० (सं० कंदुक)—गेंद। उ० मैं वावा का जोध कहांऊं, अपणी मारी गींद चलांऊं। (प० २६०-३)।

गीत—सं० पु० (सं०)—गाना। उ० तन मन सौंपि मृग ज्यूं, सुनैं वधिक का गीत। (सा० ४३-३-२)।

गीता—सं० पु० (सं०)—प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गीता'। (पा० प० ९४-३)।

गीध—सं० पु० (सं० गृध्र)—एक प्रकार का वड़ा मांसाहारी पक्षी। (पा० प० १२०-२)।

गुंण—दे० 'गुण'। (सा० ५८-३-२)।

गुंणमई—वि० (सं० गुणमयी)—सगुण। उ० गुंणमई मूरति सेइ सव भेष मिली। (प० १९९-७)।

गुंणि—सं० पु० (सं० गुण)—रस्सी से। उ० हिरदैसींगी ग्यांन गुंणि वांधौं, खोजि निरंजन साचा। (प० २०८-७)।

गुंन—दे० 'गुण'। (प० २५६-५)।

गुंनीं—सं० पु० (सं० गुणिन्)—निपुण मनुष्य, कलाविद्। उ० पंडित गुंनीं सूर कवि दाता, ऐ जु कहैं वड़ हंमहीं। (प० १३३-६)।

गुआर—सं० पु० (हि० ग्वाल)—अहीर। (पा० प० १८८-७)।

गुजरी—सं० स्त्री० (सं० गुर्जरी, हि० गूजरी)—गूजर जाति की स्त्री। उ० कहै कवीर गुजरी वौरांनीं, मटकी फूटीं जोति समांनीं। (प० ३५४-५)।

गुजारैं—क्रि० स० (फ़ा० गुजारिश)—प्रार्थना करते हैं। उ० राजा करैं निवाज गुजारैं, कलमैं भिसत न होई। (प० २५५-५)।

गुजारै—निवेदन करता है। (पा० प० १७७-६)।

गुज्झ—दे० 'गुझ'। (पा० सा० २१-१५-१)।

गुझ—वि० (सं० गुह्य, हि० गुज्झ)—रहस्य की वातें। उ० सांई सेती चोरियां, चोरां सेती गुझ। (सा० २२-१०-१)।

गुड़—सं० पु० (सं०)—गुड़। उ० माषी गुड़ मैं गडि रही, पंष रही लपटाइ। (सा० २५-६-१)।

गुड़िया—सं० स्त्री० (१) (हि० गुड्डा)—लड़कियों के खेलने की गुड़िया। उ० गुड़िया की सवद अनाहद वोलै, खसम लियैं कर डोरी डोलै। (प० ६१-३)। (२) (हि०गुड्डी)—पतंग, कनकौवा। उ० अस विन पाषर गज विन गुड़िया, विन पंडै संग्रांम जुड़िया। (प० १५८-४)।

गुड़ी—सं० स्त्री० (सं० गुड़िका)—गांठ,

उलझन। उ० सुरझ्यो सूत गुढ़ी सब भागी, पवन राखि मन धीरा (प० १०६-५)।

गुण–सं० पु० (सं०)—यश, प्रशंसा। उ० कबीर सूता क्या करै, गुण गोविंद के गाइ। (सा० २-१४-१)।

गुणवंती—वि० (सं० गुणवती)—गुण वाली। उ० इस गुणवंती वेलि का, कुछ गुंण कह्या न जाइ। (सा० ५८-३-२)।

गुणां—दे० 'गुण'। गुणों। (पा० प० १७६-१)।

गुणातीत—वि० (सं०)– गुणों से परे, निर्गुण। उ० गुणातीत जस निरगुन आप, भ्रम जेवड़ी जग कीयौ साप। (प० ३२६-७)।

गुणियाले—वि० (सं० गुणवान्)—गुण वाले। उ० कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं, बहु गुणयाले कंत। (सा० ११-१-१)।

गुदड़ी—सं० स्त्री० (हि० √गूथ + ड़ी)– मोटी सिली गुदरी। उ० कबीर गुदड़ी बीषरी, सौदा गया बिकाइ। (सा० ४८-३-१)।

गुदरांनां—क्रि० अ० (फा० गुजर + ना प्रत्य०)—गुजर गये, चले गए। उ० धंन कै गरबि राम नही जांनां, नागा ह्वै जंम पै गुदरांनां। (प० ६६-४)।

गुदरावै—क्रि० स० (हि० गुदराना)— पहुँचावे। उ० तहां मुझ गरीब की को गुदरावै। (प० ३३६-१)।

गुदरी—दे०'गुदड़ी'। (पा०प० ६६-४)।

गुन—दे० 'गुण'। (पा० प० १०-१५)।

गुनवंती—दे० 'गुणवंती'। (पा० सा० १३-२-२)।

गुनह—सं० पु० (फा० गुनाह)—अपराध, दोष, पाप। (पा० सा० ३०-१३-२)।

गुनां—क्रि० अ० (हि० गुनना)—गुन समझकर। उ० काया भंजसि कौन गुनां, घट भीतरि है मलनां। (प० २७७-१)।

गुनातीत—दे० 'गुणातीत'। (बी० र० ६१-५)।

गुनि—क्रि० अ० (हि० गुनना)–गुनना। (पा० प० १८१-६)।

गुनिएं—क्रि० अ० (हि० गुनना)–चिन्तन कीजिए। (पा० प० ७२-६)।

गुनियां—वि० (सं० गुणिन्)–गुणवाला। (पा० प० ७६-६)।

गुनियाले—दे० 'गुणियाले'। (पा० सा० ११-७-१)।

गुनियें—दे० 'गुनिएं'। चिन्तन कीजिए। उ० का पढ़िये का गुनियें, का वेद पुराना सुंनियें। (प० २६२-८)।

गुनीं—दे० 'गुंनी'। (पा० प० १६६-५)।

गुनु—दे० 'गुण'। (पा० प० १६१-३)।

गुनें—क्रि० अ० (सं० गुणन, हि० गुनना)—मनन करने से। उ० पढ़े गुनें उपजै अहंकारा, अधर डूबे वार न पारा। (प० १३२-५)।

गुपत—वि० (सं० गुप्त)—अन्यत्र, छिपे हुए। उ० प्रगंट गुपत गुपत पुनि प्रगट, सो कत रहै लुकाई। (प० ३६-६)।

गुपुत—दे० 'गुपत'। गुप्त। (पा० प० २-३)।

गुफा—सं० स्त्री० (सं० गुहा)—कंदरा। उ० नीझर झरै रस पीजिये, तहाँ भंवर गुफा के घाट रे (प० ४-१०)।

गुमांन—सं० पु० (फा० गुमान)—घमंड, गर्व। (पा०प० १६५-१३)।

गुमानी—वि० (फा० गुमान)—घमंडी। (बी०र० १४-१)।

गुर—सं० पु० (सं० गुरु)—गुरु। उ०

गुर दाघा चेला जल्या, विरहा लागो आगि। (सा० ४-७-१)।

गुरदेव—सं० पु० (सं० गुरु)—गुरुदेव। उ० होइ कृपाल मिले गुरदेव। (प० ३७०-८)।

गुरमुखि—सं० पु० (हि० गुर मुख)—गुरु के मुख से। उ० गुरमुखि कलमां ग्यांन मुखि छुरी, हुई हलाल पंचूं पुरी। (प० २५६-३)।

गुरहिं—सं० पु० (सं० गुरु)—गुरु को। (पा० प० २६-८)।

गुरि—सं० पु० (सं० गुरु)—गुरु ने। उ० कवीर सोई तत्त गहि, जौ गुरि दिया वताइ। (सा० ४६-१२-२)।

गुरु—सं० पु० (सं०)—ब्रह्मा, गुरु। (वी० र० ४-१)।

गुरू—दे० 'गुरु'। गुरु, सद्गुरु। उ० कहि कवीर परचा भया, गुरू दिषाई वाट। (सा० ५-६-२)।

गुलांम—सं० पु० (अ०)—चाकर। उ० मैं गुलांम मोहि वेचि गुसांईं। (प० ११३-१)।

गुवाड़ै—सं० पु० (सं० गोष्ठ)—वाड़ा, घेरा हुआ स्थान। (पा०सा० २५-६-२)

गुवारा—सं० पु० (सं० गोपाल, हि० ग्वाल)—अहीर (वी० र० ५४-२)।

गुष्टि—सं० स्त्री० (सं० गोष्ठी)—वातचीत, विवाद। (वी० र० ११-१)।

गुसल—सं० पु० (अ० गुस्ल)—स्नान। (पा० प० ८७-७)।

गुसांईं—दे०'गुसांई'। (पा०प० ११-३)।

गुसांई—सं० पु० (सं० गोस्वामी, हि० गोसांई)—प्रभु, मालिक, स्वामी। उ० वहुत भांति करि सेवि गुसांई। (र० वा०-८)।

गुसाइनि—दे० 'गुसांई'। स्त्री० रूप। (पा० प० २४-३)।

गुहरांऊं—क्रि० स० (हि० गुहार)—पुकारूँ। उ० मैं किहि गुहरांऊं आप लागि, तू करी डर वड़े वड़े गये हैं भागि। (प० ३८५-५)।

गुहारि—सं० स्त्री० (सं० गो+हार)—रक्षा के लिए पुकार, दुहाई। उ० तू करी डर क्यूं न करै गुहारि। (प० ३८५-१)।

गूँगा—वि० (फा० गुंग)—मूक, मौन। उ० गूंगा हूवा वावला, वहरा हूआ कान। (सा० १-१०-१)।

गूँगै—मूक ने। उ० सैंन करै मनहीं मन रहसै, गूंगै जांनि मिठाई। (प० ६-८)।

गूंनि—सं० स्त्री० (सं० गोणी, हि० गोन)—चमड़े आदि की वनी हुई वह खुशी जिसमें दो ओर अनाज भरने का स्थान होता है और जो वैलों की पीठ पर रखी जाती है, जिसका एक भाग वैल के एक तरफ तथा दूसरा दूसरी तरफ होता है। उ० वैलहि डारि गूंनि धरि आई, कुत्ता कूं लै गई विलाई। (११-४)।

गूगल—सं० पु० (सं० गुग्गल)—देवधूप। उ० जपौं न जाप हतौं नहीं गूगल, पुस्तक लेन पढांऊं। (प० १६६-६)।

गूड़र—सं० पु० (हि० गूदड़)—चिथड़ा, फटा पुराना कपड़ा। उ० उड़ि गयौ गूड़र छाड़ि तनीं। (प० ६६-८)।

गूदरी—दे० 'गुदड़ी'। (पा० सा० १५-८५-२)।

गूदा—सं० पु० (सं० गुप्त, प्रा० गुत्त)—मांस, भेजा। उ० एक वूंद एकै मल मूतर, एक चांम एक गूदा। (प० ५७-३)।

गूही—सं० पु० (सं० गृहिन्)—गृहस्थ में। उ० एक वैरागी ग्रिह में, एक गूही में वैराग। (सा० ३५-२०-२)।

गेलह—क्रि० सं० (हि० गेरना)—गिरा देता है, गल देता है। (सा० १७-१०-गो० १२)।

गेह—सं० पु० (सं० गृह)—घर, मकान। (पा० प० १५-४)।

गैंवर—सं० पु० (सं० गजवर)—श्रेष्ठ हाथी। उ० है गै गैंवर सघन घन, छत्र धजा फरराइ। (सा० ३०-४-१)।

गै—सं० पु० (सं० गय)—सम्पत्ति, धन। उ० है गै गैंवर सघन घन, छत्र धजा फरराइ। (सा० ३०-४-१)।

गैल—सं० स्त्री० (हि० गली)—रास्ता, मार्ग। (पा० सा० १०-२-१)।

गोंदरी—सं० स्त्री० (सं० गुन्द्रा)—एक घास की बनी चटाई। (पा० प० ६५-६)।

गोंनि—दे० 'गूंनि'। (पा० प० ११६-५)।

गोई—क्रि० स० (सं० गोपन, हि० गोना)—छुपाकर। (बी० र० १७-७)।

गोकलनाइक—सं० पु० (सं० गोकुल नायक) श्रीकृष्ण। उ० गोकलनाइक बीठुला, मेरो मन लागो तोहि रे। (प० ५-१)।

गोकुलनाइक—दे० 'गोकल नाइक'। (पा० १०-१)।

गोट—सं० पु० (प्रा० गोट)—घेर। उ० आगे सीगरो आगा सीगरो, गोनिहि गोट के पटना। (प० २०-४)।

गोटू—दे० 'गोट'। घेर। (पा० सा० ३-२-२)।

गोती—वि० (सं० गोत्रीय)—अपने गोत्र का। (बी० र० १३६-४)।

गोद—सं० स्त्री० (सं० क्रोड़)—पकड़ में, गोद में। उ० धनक चलीता चाम का, कुछ मुख में कुछ गोद। (सा० ४६-१-२)।

गोप—वि० (सं० गुप्त)—गोप, छिपा हुआ। उ० आगम गोप भयो आगम बूझै। (र० ३-२०)।

गोपाल—सं० पु० (सं०)—श्री कृष्ण, परमेश्वर। (सा० २०-६-२)।

गोपाल राइ—दे० 'गोपाल'। (पा० प० ८३-१०)।

गोपाला—दे० 'गोपाल'। श्रीकृष्ण। उ० भरम न जाने मिलन गोपाला। (प० १३६-२)।

गोपीचंदा—सं० पु० (सं० गोपी + चंदा)—बंगाल के एक प्राचीन राजा, जो भर्तृहरि की बहिन मैनावती के पुत्र कहे जाते हैं। माता का उपदेश पाकर इन्होंने वैराग्य ले लिया था। ये जलंधर नाथ के शिष्य थे। उ० जोग्य भरथरी गोपी चन्दा, ता मन सौं मिलि करै अनंदा। (र० ३३-६)।

गोपीनाथ—सं० पु० (सं०)—श्रीकृष्ण, ईश्वर। उ० एक निज प्रेही निरधार का, गाहक गोपी नाथ। (सा० २८-२२-२)।

गोबछ—सं० पु० (सं० गौ + हि० बच्छ)—गाय का बच्चा। (पा० र० ६०-७)।

गोबछ खुरबिस्तार—सं० पु० (सं० गोवत्सखुर + विस्तार)—अत्यन्त छोटा-सा। (बी० र० ६०-३)।

गोबर—सं० पु० (सं० गोमय)—गौ का मल। उ० चौरा चूवा गोबर चूवा, चूवी का चौका। (प० २५१-७)।

गोवरधन—सं० पु० (सं० गोवर्धन नाम का पहाड़)। उ० ना वो ग्वालन कै सँग फिरिया, गोवर धन ले न कर धरिया। (र० ३०—५३)।

गोवरधनधारी—सं० पु० (स० गोवर्धनधारिन)—गोवर्धन पहाड़ उठाने वाले श्रीकृष्ण। उ० लोग कहैं गोवरधनधारी, *ताकौ मोहि अचंभौ भारी।* (प० ३३५-१)।

गोवरु—दे० 'गोवर'। (पा० प० १६२-७)

गोविंद—सं० पु० (सं० गोपेन्द्र, प्रा० गोविन्द)—ईश्वर, श्रीकृष्ण। उ० गुर गोविंद तौ एक है, दूधा यहु आकार। (सा० १-२६-१)।

गोविंदा—दे० 'गोविंद'। परमेश्वर। (पा० प० १८८-१)।

गोविंदै—दे० 'गोविंद'। (पा०प० १२१-१)।

गोविंदौ—दे० 'गोविंद'। गोविंद भी, ईश्वर भी। उ० मन गोरख मन गोविंदौ, मनहीं औघड़ होइ। (सा० १३-१०-१)।

गोव्यंद—ईश्वर, कृष्ण। उ० गोव्यंद के गुंण वहुत हैं, लिखे जु हिरदै मांहि। (सा० ५०-७-१)।

गोय—सं० स्त्री० (सं० गो)—गाय। (पा०र० १०-८)।

गोर—सं० स्त्री० (फा०)–कब्र, समाधि। उ० जाका वासा गोर मैं, सो क्यूं सोवै सुक्ख। (सा० २-१३-२)।

गोरख—सं० पु० (सं० गोरक्षनाथ)–गोरख नाथ—नामक प्रसिद्ध अवधूत। उ० मन गोरख मन गोविंदौ, मन ही औघड़ होइ। (सा० १३-१०-१)।

गोरखनाथ—दे० 'गोरख'। उ० सापी गोरखनाथ ज्यूं, अमर भये कलि मांहि। (सा० २९-१२-२)।

गोरष—दे० 'गोरख'। गोरखनाथ। उ० गोरष भरथरी गोपीचंदा, ता मन सौं मिलि करैं अनंदा। (प० ३३-६)।

गोरषनाथि—दे० 'गारखनाथ'। उ० रांम गुन वेलड़ी, अवधू गोरषनाथि जांणीं। (प० १६३-१)।

गोरषि—दे० 'गोरखनाथ। उ० लपमणि त्यागी गोरषि निवारी। (प० २३२-४)।

गोरा—सं० पु० (सं० गोष्ठ)—गाँव की सीमा या आसपास का स्थान, गोंयड। उ० हाट ढूंढ़ि ले, पटनपुर ढूंढ़ि ले, नहीं गांव कै गोरा लो। (प० ३७६-४)।

गोरू—सं० पु० (सं० गोरूप)—पशु (सदृश्य)। (पा० प० १८८-७)।

गोला—सं० पु० (हि० गोल)—लोहे का, वारूद का गोला। उ० प्रेम पलीता सुरति नालि कारि, गोला ग्यांन चलाया। (प० ३५९-८)।

गोहराय—क्रि० अ० (हि० गोहार)—रक्षार्थ पुकारता है। (वी० र० ७८-११)।

गौंहनि—सं० पु० (सं० गोधन)—गौओं का समूह, संग, साथ। (पा० प० १०९-१)।

गौ—क्रि० अ० (हि० जाना)–गया (वी० र० ९-३)।

गौन—सं० पु० (सं० गमन)—जाना, यात्रा। (सा० ४३-१३-नो०-१५)।

गौरी—सं० स्त्री० (सं०)—पार्वती। उ० ईश्वर गौरी पीवन लागे, रांम तनीं मतिवारी रे। (प० ७१-४)।

गौहनि—दे० 'गौंहनि'। संग, साथ। उ० पूत पियारो पिता कौं, गौहनि लागा धाइ। (सा० ३-३१-१)।

गौहर—सं० स्त्री० (फा०)—मोती, मुक्ता। (सा० ४९-२-नो०-७)।

ग्यांन—दे० 'ग्यान'। (पा० प० ४-२)।

ग्यांनवंत—वि० (सं० ज्ञानवंत)—ज्ञानी।

(पा० चौ० र० ४२-१)।

ग्यांनीं—दे०'ग्यानी'। (पा०प० ४८-४)।

ग्यांनी—वि० (सं० ज्ञानिन्)—ज्ञानी। उ० ग्यांनी मूल गंवाइया, आपण भये करता। (सा० २०-२७-१)।

ग्याता—वि० (सं० ज्ञातृ)—ज्ञानी, जानने वाला। (पा० प० १३८-७)।

ग्यान—सं० पु० (सं०) ज्ञान, उपदेश। उ० कहै कबीर गुर ग्यान थैं, एक आध उबरंत। (सा० १-२०-२)।

ग्याभण—सं० स्त्री० (सं० गर्भिणी)—गाभिन। उ० जी ब्यावै तौ दूध न देई। ग्याभण अमृत सखै। (प० १५२-३)।

ग्यारसि—सं० स्त्री० (हि० ग्यारस)—एकादशी तिथि को। उ० इनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा। (प० ५८-४)।

ग्यारह—(सं० एकादश) दस और एक। (पा० प० १७-७-८)।

ग्रंथ—सं० पु० (सं०)—धन, सम्पत्ति। उ० पसु पंपेरू जीवजंत, तिनकी गाडि किसा ग्रंथ। (सा० ३५-६-२)।

ग्रभवास—दे० 'ग्रभवास'। (पा० प० १७५-५)।

ग्रभवास—सं० पु० (सं० गर्भवास)—गर्भ में। (प० ४०-नो०-४२)।

ग्रभवासा—सं० पु० (सं० गर्भवास)—गर्भ का रहना। उ० उदर कूप तजौ ग्रभ-वासा, रे जीव रांम नांम अभ्यासा। (र० २-२६)।

ग्रसत—क्रि०स० (सं० ग्रसन, हि० ग्रसना)—बुरी तरह पकड़ता है। (पा० प० ८६-४)।

ग्रसै—बुरी तरह पकड़ता है। उ० तवलग काल ग्रसै नहि काया। (प० ३४८-५)।

ग्रहन—सं० पु० (सं० ग्रहण)। (पा० प० १६६-६)।

ग्रहि—दे० 'गहि'। पकड़ो। उ० परहरि बकुला ग्रहि गुनहार। (प० ३२६-६)।

ग्रासै—दे० 'ग्रसै'। (पा० प० १२२-१२)।

ग्रिह (१)—सं० पु० (सं० गृह)—निवास-स्थान, घर। उ० इक बैरागी ग्रिह मैं, गृहीं मैं बैराग। (सा० ३५-२०-२)।

ग्रिह (२)—सं० पु० (सं० ग्रह)—तारे आदि। उ० नवग्रिह बांभण भणता रासी। (प० १४२-५)।

ग्रिही—दे० 'गृहीं'। (पा० सा० ३२-१३-२)।

ग्रेह—सं० पु० (सं० गृह)-घर, मकान। उ० करम कोटि कौ ग्रेह रच्यौ रे, नेह गये की आस रे। (प० ५-३)।

ग्वाड़ा—सं० पु० (सं० गुण्ट)—बाड़ा, घेरा, वृत्त। उ० ग्वाड़ा मांहैं आनन्द उपनौं, खूंटै दोऊ बांधी रे। (प० १५२-६)।

ग्वालन—सं०पु० (सं० गो+पाल)—अहीर। उ० ना वो ग्वालन कै संग फिरिया गोवरधन ले न कर धरिया। (र० वी०-५३)।

घ

घंटा—सं० पु० (सं०)—समय की सूचना देने के लिए बजाया जाने वाला घड़ि-याल। उ० दीपक ग्यांन सबद धुनि घंटा। (प० ४०३-७)।

घंटा पड़ै—क्रि० अ० (हि० घटा+पड़ना) —समय की सूचना दी जाती है। उ० घंटा पड़ै टक साल। (सा० ५-४७-१)।

घंम—सं० पु० (सं० घर्म, प्रा० घम्म) —धूप, सूर्यातप। उ० जहाँ छाँहड़ी न घंम। (सा० ३१-४-२)।

घांम—धूप। उ० भूभर—घांम उहार न छावा। (प० ६०-७)।

घंसि—क्रि० स० (सं० घर्षण)—घिस कर, रगड़कर। (पा०प० ८-३)।

घट—सं० पु० (सं०)—पिंड, शरीर। उ० सो घट सदा मसान। (सा० ३-२१-२)।
(२) वि० (हि० घटना)—कमी। (र० २-नो० १५)।

घटि (१) पिंड में, शरीर में। उ० जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस। (सा० २-१७-१)। (२) घटी, कमी। उ० घटि वधि कहीं न देखिये। (सं० ५३-५-१)।

घटि—सं० स्त्री० (सं० घटिका, हि० घांटी)—गले के भीतर की घटी, कौआ, उ० रोक्यौ घटि सांस नहीं निकसै। (प० ६२-६)।

घटी—दे० 'घटि'। उ० आउ घटी तन खींना। (प० २४४-२)।

घटै—क्रि० अ० (हि० घटना)—कम होना, घटता है। उ० मासा घटै न तिल वधै। (सा० ३५-७-२)।

घटई—घटता है। उ० दास कवीर पल प्रेम न घटई। (प० ३०४-६)।

घट्या—कम हुआ। उ० तेल घट्या वाती बूझी। (सा० २-१०-२)।

घड़ण—क्रि० स० (सं० घटन, प्रा० घड़न हि० गढ़ना, घड़ना)—रचने, सुघटित करने में। उ० भांनण घड़ण संवारण संम्रथ। (प० ३४-२)।

घड़ा—सं० पु० (सं० घट)—कलसा, जलपात्र। उ० हरि सुमिरण हाथूं घड़ा, वेगे लेहु वुझाइ। (सा० २-३२-२)।

घड़ि घड़ि—क्रि० स० (सं० घटन, प्रा० घड़न, हि० घड़ना, गढ़ना)—वना, वना गए। (सा० १२-६-नो०-७)।

घड़िया—रचे, वनाये। उ० वहु विधि भांड़ै उनहीं घड़िया। (प० २६८-४)।

घड़े—वनाये। उ० एक ही खाक घड़े सव भांड़े। (प० ५५-४)।

घड़ै—वनाता है। उ० वहु विधि भांड़े घड़ै कुंभारा। (प० ५३-२)।

घड़चा—निर्माण किया। उ० परसत घाट फेरि करि घड्या। (प० ३९५-५)।

घड़ीं—दे० 'घणीं'। (सा० १२-५१-२)।

घड़ी—सं० स्त्री० (सं० घटी)—दिन-रात का वतीसवाँ भाग। २४ मिनट। उ० मूंवां पीछैं घड़ी एक रहण न पाऊँ। (प० ३६१-२)।

घरी—उ० अवकी घरी मेरो घर करसी। (प० २२६-१)।

घण—सं० पु० (सं०)—लोहारों का वड़ा हथौड़ा। उ० घण अहरणि विचि लोह ज्यूं। (सा० १२-५१-२)।

घणां—वि० (सं० घण)—वहुत, अनेक। उ० निपजी मैं साफी घणां। (सा० १-३०-२)।

घणीं—अनेक। उ० घणीं सहेगा सासनां। (सा० १३-१७-२)।

घणेरा—(हि० घना+एरा (प्रत्य०)—वहुत अधिक। उ० संग्रह किया घणेरा। (प० २३८-७)।

घणै—वहुत अधिक। उ० घणै मनिष मतिहींण। (सा० १२-२४-१)।

(पा० चौ० र० ४२-१) ।

ग्यांनीं--दे०'ग्यानी' । (पा०प० ४८-४) ।

ग्यांनी—वि० (सं० ज्ञानिन्)—ज्ञानी । उ० ग्यांनी मूल गँवाइया, आपण भये करता । (सा० २०-२७-१) ।

ग्याता—वि० (सं० ज्ञातृ)—ज्ञानी, जानने वाला । (पा० प० १३८-७) ।

ग्यान—सं० पु० (सं०) ज्ञान, उपदेश । उ० कहै कबीर गुर ग्यान थैं, एक आध उबरंत । (सा० १-२०-२) ।

ग्याभण—सं० स्त्री० (सं० गर्भिणी)—गाभिन । उ० जौ व्यावै तौ दूध न देई । ग्याभण अमृत सखै । (प० १५२-३) ।

ग्यारसि—सं० स्त्री० (हि० ग्यारस)—एकादशी तिथि को । उ० इनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा । (प० ५८-४) ।

ग्यारह—(सं० एकादश) दस और एक । (पा० प० १७-७-८) ।

ग्रंथ—सं० पु० (सं०)—धन, सम्पत्ति । उ० पसु पंखेरू जीवजंत, तिनकी गाडि क्रिसा ग्रंथ । (सा० ३५-९-२) ।

ग्रभबास--दे० 'ग्रभवास' । (पा० प० १७५-५) ।

ग्रभवास—सं० पु० (सं० गर्भवास)—गर्भ में । (प० ४०-नो०-४२) ।

ग्रभवासा—सं० पु० (सं० गर्भवास)—गर्भ का रहना । उ० उदर कूप तजौ ग्रभ-वासा, रे जीव रांम नांम अभ्यासा । (र० २-२९) ।

ग्रसत—क्रि०स० (सं० ग्रसन, हि० ग्रसना) —बुरी तरह पकड़ता है । (पा० प० ८६-४) ।

ग्रसै--बुरी तरह पकड़ता है । उ० तबलग काल ग्रसै नहिं काया । (प० ३४८-५) ।

ग्रहन—सं० पु० (सं० ग्रहण) । (पा० प० १९६-६) ।

ग्रहि—दे० 'गहि' । पकड़ो । उ० परहरि वकुला ग्रहि गुनहार । (प० ३२६-९) ।

ग्रासै—दे० 'ग्रसै' । (पा० प० १२२-१२) ।

ग्रिह (१)--सं० पु० (सं० गृह)—निवास-स्थान, घर । उ० इक बैरागी ग्रिह मैं, गृहीं मैं बैराग । (सा० ३५-२०-२) ।

ग्रिह (२)—सं० पु० (सं० ग्रह)—तारे आदि । उ० नवग्रिह बांभण भणता रासी । (प० १४२-५) ।

ग्रिही—दे० 'गृहीं' । (पा० सा० ३२-१३-२) ।

ग्रेह—सं० पु० (सं० गृह)-घर, मकान । उ० करम कोटि कौ ग्रेह रच्यौ रे, नेह गये की आस रे । (प० ५-३) ।

ग्वाड़ा—सं० पु० (सं० गुण्ड)—बाड़ा, घेरा, वृत्त । उ० ग्वाड़ा मांहैं आनन्द उपनौं, खूंटै दोऊ बांधी रे । (प० १५२-६) ।

ग्वालन—सं०पु० (सं० गो+पाल)—अहीर । उ० ना वो ग्वालन कै संग फिरिया गोवरधन ले न कर धरिया । (र० वी०-५३) ।

घ

घंटा—सं० पु० (सं०)—समय की सूचना देने के लिए बजाया जाने वाला घड़ियाल । उ० दीपक ग्यांन सबद धुनि घंटा । (प० ४०३-७) ।

घंटा पड़ै—क्रि० अ० (हि० घटा+पड़ना) —समय की सूचना दी जाती है। उ० घंटा पड़ै टक साल। (सा० ५-४७-१)।

घंम—सं० पु० (सं० घर्म, प्रा० घम्म) —धूप, सूर्यातप। उ० जहाँ छाँहड़ी न घंम। (सा० ३१-४-२)।

घांम—धूप। उ० भूभर—घांम उहार न छावा। (प० ६०-७)।

घंसि—क्रि० स० (सं० घर्षण)—घिस कर, रगड़कर। (पा०प० ८-३)।

घट—सं० पु० (सं०)—पिंड, शरीर। उ० सो घट सदा मसान। (सा० ३-२१-२)।

(२) वि० (हि० घटना)—कमी। (र० २-नो० १५)।

घटि (१) पिंड में, शरीर में। उ० जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस। (सा० २-१७-१)। (२) घटी, कमी। उ० घटि वधि कहीं न देखिये। (सं० ५३-५-१)।

घटि—सं० स्त्री० (सं० घटिका, हि० घांटी)—गले के भीतर की घटी, कौआ, उ० रोक्यौ घटि सांस नहीं निकसै। (प० ६२-६)।

घटी—दे० 'घटि'। उ० आउ घटी तन खींना। (प० २४४-२)।

घटै—क्रि० अ० (हि० घटना)—कम होना, घटता है। उ० मासा घटै न तिल वधै। (सा० ३५-७-२)।

घटई—घटता है। उ० दास कबीर पल प्रेम न घटई। (प० ३०४-६)।

घटचा—कम हुआ। उ० तेल घट्या वाती बूझी। (सा० २-१०-२)।

घड़ण—क्रि० स० (सं० घटन, प्रा० घड़न हि० गढ़ना, घड़ना)—रचने, सुघटित करने में। उ० भांनण घड़ण संवारण संम्रथ। (प० ३४-२)।

घड़ा—सं० पु० (सं० घट)—कलसा, जलपात्र। उ० हरि सुमिरण हाथूं घड़ा, वेगे लेहु बुझाइ। (सा० २-३२-२)।

घड़ि घड़ि—क्रि० स० (सं० घटन, प्रा० घड़न, हि० घड़ना, गढ़ना)—बना, बना गए। (सा० १२-६-नो०-७)।

घड़िया—रचे, बनाये। उ० बहु विधि भांड़ै उनहीं घड़िया। (प० २६८-४)।

घड़े—बनाये। उ० एक ही खाक घड़े सब भांड़े। (प० ५५-४)।

घड़ै—बनाता है। उ० बहु विधि भांड़े घड़ै कुंभारा। (प० ५३-२)।

घड़चा—निर्माण किया। उ० परसत घाट फेरि करि घडचा। (प० ३६५-५)।

घड़ीं—दे० 'घणीं'। (सा० १२-५१-२)।

घड़ी—सं० स्त्री० (सं० घटी)—दिन-रात का बतीसवाँ भाग। २४ मिनट। उ० मूंवां पीछैं घड़ी एक रहण न पाऊँ। (प० ३६१-२)।

घरी—उ० अबकी घरी मेरो घर करसी। (प० २२६-१)।

घण—सं० पु० (सं०)—लोहारों का बड़ा हथौड़ा। उ० घण अहरणि बिचि लोह ज्यूं। (सा० १२-५१-२)।

घणां—वि० (सं० घण)—बहुत, अनेक। उ० निपजी मैं साफी घणां। (सा० १-३०-२)।

घणीं—अनेक। उ० घणीं सहेगा सासनां। (सा० १३-१७-२)।

घणेरा—(हि० घना+एरा (प्रत्य०)—बहुत अधिक। उ० संग्रह किया घणेरा। (प० २३८-७)।

घणै—बहुत अधिक। उ० घणै मनिष मतिहींण। (सा० १२-२४-१)।

घर्णौं—विस्तृत, अधिक। (सा० ४६-१८-नो०-२७)।

घन—अधिक। (पा०सा० ४-१०-१)।

घनौं—अधिक (पा०सा० २६-१४-२)।

घने—अनेक। (पा० प० ६७-१०)।

घनेरा—बहुत अधिक। (पा०प० ८६-३)।

घनेरी—स्त्री०—अधिक। (पा०प० ४२-६)

घनेरैं—अनेक। (पा० प० १३८-४)।

घनैं—अनेक। (पा० चौ० र० २०-२)।

घन—सं० पु० (सं०)—मेघ, बादल। उ० बादल बांनी रांम घन उनयां। (प० १५१-३।

(२) समूह। उ० हैगैं गैंवर सघन घन। (सा० ३०-४-१)।

घमसांनां—सं० पु० (अनु० घम+सान) भयंकर युद्ध, गहरी लड़ाई। (पा० प० ५६-४)।

घर—सं० पु० (सं० गृह)—मकान। उ० सूनें घर का पाहुणां। (सा० २-१८-२)।

घरवा—मकान, शरीर। उ० बारू के घरवा मैं बैठो। (प० ३११-७)।

घरि—मकान में। उ० जिहि घरि गोविंद नांहि। (सा० १-१७-२)।

घरु—घर। (पा० प० ७६-१)।

धरघालै—मुहावरा—हानि पहुँचाती है। उ० मांहि हुई घर घालै। (प० ८१-५)।

घर करैं—क्रि० अ० (घर+करना)—बसैं, निवास करैं, रहते हैं। उ० पांणी मांहैं घर करैं। (सा० ११-११-२)।

घर करै—प्रवेश कर जाय, निवास करे। उ० जल मैं स्यंध जु घट करै। (सा० ५-४६-२)।

घरहाई—सं० स्त्री० (हि० घर+घाई)—घरवाली। (पा० प० १११-६)।

घरियार—सं० पु० (हि० घड़ा+आल)—एक हिंसक जल जंतु, ग्राह, धूर्त। उ० अनदिन ग्यांन कथैं घरियार। (प० ३७४-३)।

घरियारा—(बी० र० ७४-६)।

घरिहूँ—क्रि० स० (सं० घटन, हि० घड़ना, गढ़ना)—गढ़ूँगा, रचूँगा, बनाऊँगा। उ० कुमरा ह्वै करि बासन घरिहूँ। (प० ३८६-३)।

घसि—क्रि० स० (सं० घर्षण, हि० घिसना)—पीसकर, लगाकर, घिसकर। उ० ओषद मूली कहां घसि लांऊं। (प० ११८-२)।

घसि घसि—चढ़ा-चढ़ा कर, लगा-लगा, घिसकर। उ० चंदन घसि-घसि अंग लगाऊं। (प० ११५-७)

घसीटचांजाइ—क्रि० स० (सं० घृष्ट, प्रा० घिस्ट+ना-प्रत्य०)—घसीटकर ले जाता है, बरजोरी ले जाता है। उ० रांमहि राम जपंतड़ां, काल घसीटचां जाइ। (सा० १७-१८-२)।

घांण—सं० पु० (प्रा० घण्ण)—नष्ट, ध्वंस। उ० तन मन कीया घांण। (सा० ४५-३५-१)।

घांणि—घानी में। उ० सब जग घाल्या घांणि। (सा० १६-८-१)।

घाइल—वि० (सं० घात, प्रा० घाअ, हि० घाव)—आहत, जख्मी, घायल। उ० कोई घायल बेध्या नां मिलै। (सा० ४३-१०-२)।

घाइलैं—आहत से, घायल से। उ० जाइ पूछौ उस घाइलैं। (सा० ४५-१५-१)।

घायलैं—(पा० सा० १४-२८-१)।

घाउ—सं०पु०(सं० घात, प्रा० घाअ, हि० घाव)—चोट। (पा० सा० २-२-१)।

घाऊ—चोट। (बी० र० ८३-५)।

घाव—चोट, जख्म। उ० किया कलेजैं घाव। (सा० ३-१६-१)।

घाट—सं० पु० (सं० घट्ट)—(१) भेद, मर्म। उ० ओघट मांहैं घाट। (सा० ५-६-१)। (२) तंग पहाड़ी मार्ग। उ० तहाँ भंवर गुफा के घाट रे। (प० ४-१०)।

घाटा—क्रि० अ० (हि० कटना से घटना)—घटकर हो गया, विगड़कर हो गया। उ० पाथर घाटा लोह सब। (सा० ३-८-२)।

घाटी—सं० स्त्री० (हि० घाट से)—सकरा मार्ग, दुर्गम स्थान। उ० औघट घाटी मुरकही। (सा० ३१-५-२)।

घाटे—क्रि०अ० हि० कटना)—ढीले हुए, निर्बल पड़ गए। उ० धंघा करत चरन कर घाटे। (प० २४८-२)।

घाटै—घटना, कम होना। (पा० प० ६०३)।

घात—सं० स्त्री० (सं०)—सुयोग, उपयुक्त अवसर। उ० चूका अवकी घात। (सा० १२-२६-२)।

घाता—सं० पु० (सं० घात)—प्रहार, चोट। उ० कर गहि केस करै जौ घाता। (प० १११-४)।

घाना—वि० (सं० घन)—बहुत अधिक। (बी० र० ५८-५)।

घांनि—समूह में, घानी में। (पा० सा० ३१-१७-१)।

घालहु—क्रि० स० (सं० घटन, घड़न)—डाल दो। (पा० प० २३-५)।

घाला—डाला। (पा० सा० ३१-१७-१)।

घालि—डालकर। (पा० प० ५७-५)।

घाली—डाली। (पा०सा० २५-२१-२)।

घालै—डाल देती है। उ० हरि बिचि घालै अंतरा। (सा० १६-५-२)।

घालौ—डालो। (पा० प० ४४-६)।

घाल्यां—डालने पर। उ० कौली घाल्यां बीडरि चालै। (प० १५२-४)।

घाल्या—डाल दिया। उ० सब जग घाल्या घांणि। (सा० १६-८-१)।

घास—सं० स्त्री० (सं०)—तृण, घास-पात। उ० केस जलैं ज्यूं घास। (सा० १२-१६-१)।

घिण—सं० स्त्री० (सं० घृणा)—नफरत, घृणा। उ० जाकौं यहु जग घिण करि चालै। (प० १६२-१०)।

घिन—(पा० प० १२२-८)।

घी—सं० पु० (सं० घृत)—तपाया हुआ मक्खन, घृत। (पा० सा० २६-५-२)।

घीव—(सं० घृत, प्रा० घीँअ)-घी, घृत। उ० पांणी मैं घीव नीकसैं। (सा० १३-२६-२)।

घृत—घी। (प० २५०-नो० ५०)।

घींन—वि० (सं० घृणित)—घृणा करने योग्य, घृणित। (पा० प० १६६-५)।

घुंण—सं० पु० (सं० घुण)—घुन। उ० ज्यूं घुंण काठहि खाइ। (सा० ३-२८-२)।

घुरड़ि—क्रि० स० (सं० घूर्णत, हि० घुरड़ना)—चारों तरफ उस्तरे घोटकर। उ० भावै घुरड़ि मुड़ाइ। (सा० २४-११-२)।

घुराऊं—क्रि० स० (अनु०)—घहराना, ध्वनि निकालना। (पा० प० ४-७)।

घूंघट—सं०पु० (सं० गंठ)—पर्दा, ओट। उ० घूंघट काढ्यां सती न कोई। (प० २१७-५)।

घूंमत रहै—क्रि० अ० (घूर्णत)—मतवाला हुआ रहे, चक्कर खाता रहे। उ० मै मंता

घूंमत रहै, नांही तन की सार। (सा० ६-४-२)।

घूमैं—घूमता-फिरता है। उ० घाइल घूमैं गहि भरचा। (सा० ४५-१६-१)।

घूमत—घूमता रहे। (पा० सा० १२-५-२)।

घूंस—सं० स्त्री० (सं० गुहाशय)—चूहा, एक प्रकार का वड़ा चूहा। उ० घूंस गिलौरा लावै। (प० १२-५)।

घेरि—क्रि० स० (सं० ग्रहण)—चारों ओर से रोक लो। उ० घटहीं मांहैं घेरि। (सा० १३-१९-१)।

घेरै—रोक लेता है। (पा० प० १३८-३)।

घेहर—सं० पु० (हि० घेरना)—घेरा, चारों ओर का फैलाव। उ० घर घेहर सब आप सवारथ। (प० ८१-८)।

घोंटि—सं० स्त्री० (हि० घूंट, घूंटी)—स्वास्थ्यकर औषध, मंत्र दीक्षा। (वी० र० ३६-५)।

घोड़ा—सं० पु० (सं० घोटक, प्रा० घोड़ा)—घोड़ा। उ० कवीर घोड़ा प्रेम का। (सा० ४५-२७-१)।

घोर—दे० 'घोड़ा'। (वी० र० २१-४)।

घोरा घोरी— घोड़ा घोड़ी। (वी० र० ६९-८)।

घोरै—घोड़े पर। (पा० प० ११६-५)।

घोरि—क्रि० स० (हि० घुलना)—घोलकर, मिलकर। (पा०सा० १२-१०-२)।

घोलै—घोलते हैं, मिलाते हैं। (पा० प० ९३-५)।

च

चंगी—वि० (फा०)-दक्ष, सुन्दर, चतुर। उ० क्या तूं रंगी क्या तूं चंगीं क्या सुख लोड़ कीन्हाँ। (प० १०६-३)।

चंगे—वि० (सं० चङ्ग, हि० चंगा)-स्वस्थ, तंदुरुस्त। उ० उस चंगे दीवांन मैं, पला न पकड़ै कोइ। (सा० २२-२-२)।

चंच—सं० स्त्री० (सं० चंचु, हि० चोंच) चोंच, मुँह। उ० उर विन षुर विन चंच विन, वपु विहूँनां सोई। (प० २१२-३)।

चंचु—चोंच। (पा० प० २८-४)।

चंचल—वि० (सं०)—चलायमान, अस्थिर। उ० कवीर सेरी सांकड़ी, चंचल मनवां चोर। (सा० १३-४-१)।

चंचल—सं० (डिंगल)—घोड़ा, घोड़े-सा चंचल मन। उ० चंचल मेल्हा मारि। (सा० १-९-१)।

चँडाल—सं०पु० (सं० चंडाल)—चांडाल, डोम। उ० सापत वामण मति मिलै, वैसनों मिलै चँडाल। (सा० ३०-९-१)।

चंडाल—(पा० सा० ४-३९-१)।

चंद—सं० पु० (सं० चंद्र)—चंद्रमा। उ० निस अंधियारी कारणैं, चौरासी लख चंद। (सा० १-१८-१)।
(२) इड़ा नाड़ी। उ० सूरजमांणां चंद मैं दहूं किया घर एक। (सा० ५-१०-१)।

चंदन—सं० पु० (१)—चंदन का पेड़। उ० चंदन होसी वांधना, नीव न कहसी कोइ। (सा० २८-१-२)।

चंदवा—सं० पु० (सं० चंद्रा, चंद्रोदय)-चंदोवा, वितान। उ० चीकन चंदवा कहै कवीर। (प० १३६-१०)।

चंदा—दे० 'चंद' (१)। चन्द्रमा। उ० चौसठि दीवा जोर करि चौदह चंदा

मांहि । (सा० १-१७-१) ।

चंदी—दे० 'चंद'। चन्द्रमा। (पा० प० १०५-५)।

चंद्रमा—दे० 'चंद'। चन्द्रमा। उ० कोटि चंद्रमां गहैं विराक, सुर तेतीसूं जीमैं पाक। (प० ३४०-४)।

चंधा—वि० (हि० चौ+अंधा, चुंधा)-छोटी-छोटी आंखों वाला जिसे कम दिखाई पड़े। (र० २-२५)।

चंपक—सं० पु० (सं०)—चंपा का फूल। उ० दोनां भरवा चंपक फूला, तामैं जीव वसैं कर तूला। (र० ५-५२)।

चंपै—क्रि० अ० (सं० चप, हि० चंपना)-दब जाए, कुचल जाए। उ० आगि कह्यां दाझै नहीं, जे नहीं चंपै पाइ। (सा० ३३-२-१)।

चउका—दे० 'चौका'। (पा० प० १९२-७)।

चउथैं—दे० 'चौथैं'। (पा०प० ३२-६)।

चउवारैं—दे० चौवारैं। (पा० प० १५५-७)।

चकई—दे० 'चकवी। (पा० सा० २-४-१)।

चकनाचूर—वि० (हि० चक+चूर)—चूर-चूर, खंड-खंड। (पा० सा० २०-२-१)।

चकमक—सं० पु० (तुर्की चक़मक़)—चकमक नाम का पत्थर जिससे आग निकलती है। उ० चित चकमक लाग नहीं, ताथैं धूंवा ह्वै ह्वै जाइ। (सा० २९-१९-२)।

चकवा—सं०पु० (सं० चक्रवाक)—पक्षी-विशेष। उ० चकवा वैसि अंगारे निगलै, समंद अकासां धावा। (प० १२-८)।

चकवी—सं० स्त्री० दे० 'चकवा'। मादा चकवा। उ० चकवी विछुटी रैंणिकी, आइ मिली पर भाति। (सा० ३-३-१)।

चकवै—वि० (सं० चक्रवर्ती, प्रा० चक्कवत्ती, चक्कवह, हि० चक्कवै)—चक्रवर्ती राजा गण। (बी० र० ४७-५)।

चकोर—सं० पु० (सं० चकोर)—एक प्रकार का बड़ा पहाड़ी तीतर जो नेपाल, नैनीताल आदि के जंगलों में झुंड बांध-कर रहता है तथा छींटदार काला होता है। (बी० र० २४-१)।

चक्र—सं० पु० (सं०)—पहिया, चक्कर। उ० काल चक्र का मरदै मांन, ता मुलनां कूं सदा सलांम। (प० ३३०-३)।

चक्रसुदरसन—सं० पु० (सं० चक्र+सुदर्शन)—सुदर्शनचक्र। उ० राजा अंवरीप कै कारणि, चक्र सुदरसन जारै। (प० १२२-७)।

चखै—क्रि० स० (सं० चप)—चखते हैं, भोगते हैं। (पा० प० १७३-७)।

चचा—सं० पु० (सं० तात)—चाचा, काका, पितृव्य। उ० किसकी भमां चचा पुनि किसका, किसका पंगुड़ा जोई। (प० १०२-३)।

चटाइ—क्रि० स० (अनु० चटचट) प्यार से जीभ फेरती है। उ० वछा थासो मरि गया, ऊभी चांम चटाइ। (सा० ४८-५-२)।

चड़ा—वि० (?)—फटा। उ० चड़ा चींथड़ा चूहड़ा ले गया, तणीं तणगती टूटी। (प० १०५-६)।

चढ़ंती—क्रि० अ० (हि० चढ़ना से)—हुई। उ० वाड़ि चढ़ंती वेलि ज्यूं, उलझी आसा फंध। (सा० १३-२६-१)।

चढ़ई—क्रि० अ० (सं० उच्चलन, प्रा० उच्चड़न, चड्डन, हि० चढ़ना)—चढ़ता

है, चढ़ाया जाता है। उ० देखा देखी भगति का कदे न चढ़ई रंग। (सा० २६-२-१)।

चढ़त चढ़ावत—क्रि० अ० (हि० चढ़ना, चढ़ाना)–प्राणवायु का बलपूर्वक निरोध करते-करते। (बी० र० ५६-१)।

चढ़हि—क्रि० अ० (हि० चढ़ना)—चढ़ता है। (पा० सा० २६-३-१)।

चढ़ा—दे० 'चढ़या' (पा० ५६-२)।

चढाइ—क्रि० स० (हि० चढ़ाना)—ऊपर रखकर। (सा० ४६-१८-नो०-२८)।

चढ़ाई—क्रि० स० (हि० चढ़ाना)—ऊपर सरकना, चढ़ा दी । उ० स्वाद सनाह टोप ममिता का कुबधि कमांण चढ़ाई। (ह० ३५६-४)।

चढ़ाऊँ—चढ़ा दूं। (पा० प० ४-४)।

चढ़ाए—चढ़ाए हुए । (पा० सा० ३१-२०-२)।

चढ़ि—क्रि० अ० (हि० चढ़ना)—चढ़कर उ० दून्यूं बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव। (सा० १-१६-२)।

चढ़ि गई—दे० 'चढ़ि' । चढ़ गई । उ० देखि कबीरा जागि, मंछी रूषां चढ़ि गई। (सा० ४-१०-२)।

चढ़िहूँ—क्रि० अ० (हि० चढ़ना)—चढ़ूंगी। (पा० प० १३५-६)।

चढ़िया—दे० 'चढ़्या। चढ़ गया। (पा० प० ११९-३)।

चढ़ी—क्रि० अ० (हि० चढ़ना)—चढ़ गई। उ० चौहटै च्यंतामंणि चढ़ी हाडी मारत हाथि । (सा० ५-१९-१)।

चढ़े—दे० 'चढ़ै। (पा० प० १४६-५)।

चढ़ै—क्रि० अ० (हि० चढ़ना)—चढ़ जाए। उ० काया हाँडी काठ की ना ऊँ चढ़ै बहोड़ि। (सा० १२-३१-२)।

चढ्या—क्रि० अ० (हि० चढ़ना)—चढ़ गया। उ० कबीर मन पंषी भया बहुतक चढ्या अकास । (सा० १३-२५-१)।

चढ्यो–क्रि० अ० (हि० चढ़ना)—चढ़ा। उ० स्वांमीं पणौं जु सिर चढ्यो, सर्‌या न एको काम। (सा० १७-२-२)।

चढ्यौ—दे० 'चढ्यो'। (पा० प० २५-१२)।

चतुरंग—वि० (सं०)—हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल नामक सेना के चार अंग। उ० जैन बोध अरू साकत सैंनां, चारवाक चतुरंग विहूँना। (र० ५-५०)।

चतुर—वि० (सं०)—बुद्धिमान। (प० १२७-नो०-१३०)।

चतुरगुन—सं० पु० (सं० चतुर्गुण)–चार गुणों वाला। (बी० र० ३०-२)।

चतुरदस—वि० (सं० चतुर्दश)—चौदह। उ० भवन चतुरदस माठी पुरई, ब्रह्म अगनि पर जारी । (प० १५५-५)।

चतुरभुज—दे० 'चत्रभुजा' । (पा० प० ७७-१)।

चतुराई—सं० स्त्री० (सं० चतुर+आई (प्रत्य०)—होशियारी, चतुरता। उ० चतुराई सूवै पढ़ी, सोई पंजर मांहि। (सा० १७-१४-१)।

चत्रभुजा—सं० पु० (सं० चतुर्भुज)—चार भुजाओं वाले विष्णु। (सा० ३६-४-नो०-५)।

चपल—वि० (सं०)—उतावली, जल्दबाज। उ० जैसे अगिन पवन का मेला, चंचल चपल बुधि का खेला। (प० ४२-२)।

चपेटसी—क्रि० स० (सं० चपेट)—दबोच देगा, धर दबायेगा। उ० घोरै बैठि चपेटसी, यूं ले बूडै ग्यांन। (सा०

२७-२-२)।

चपेटहीं—दे० 'चपेटसी'। (पा० सा० ४-३१-२)।

चबीणां—सं० पु० (हि० चबाना से)—चबेना, चूर्ण। उ० खलक चबीणां काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद। (सा० ४६-१-२)।

चवैं—दे० 'चवैं'। (सा० ५-४०-१)।

चमंकि—क्रि० अ० (सं० चमत्कृत से)—दीख पड़ी, झलकी। उ० बूड़े थे परि ऊबरे, गुर की लहरि चमंकि। (सा० १-२५-१)।

चमंकिया–क्रि० अ० (हि० चमकना से)–चमक गया, दीप्त हो गया। उ० कबीर चित चमंकिया, चहुँ दिसि लागी लाइ। २-३२-१)।

चमकाएँ—दे० 'चमकायें'। (पा० प० १७२-३)।

चमकायें—क्रि० स० (हि० चमकना का सकर्मक रूप)-चमकीला करने से। उ० क्या सींगी मुद्रा चमकायें, क्या विभूति सब अंग लगायें। (प० ३५५-२)।

चमकि—क्रि० अ० (हि० चमकना)—जगमगाकर। उ० बिजुरी चमकि घन वरषि है, तरां भीजत हैं सब संत रे। (प० ४-१४)।

चमकैं—क्रि० अ० (हि० चमकना)—चमकती है। (पा० प० १३०-४)।

चमरख—सं० स्त्री० (हि० चाम+रक्षा)-चरखे की गुड़ियों में लगाने की मूँज। उ० चारि खूँटी दोइ चमरख लाई, सहजि रहटवा दियौ चलाई। (प० २२८-३)।

चमरा—सं० पु० (सं० चर्मकार)—चमार। उ० चमरा ह्वै करि रंगों अघोरी, जाति पांति कुल खोऊ। (प० ३८६-४)।

चरंते—क्रि० स० (हि० चरना से)—चरते हुए। (पा० सा० १५-६७-२)।

चरंदे—दे० 'चरंते'। चरते हुए। (सा० १२-१३-नो०-१८)।

चर—सं० पु० (सं०)—दूत, गूढ़ पुरुष। उ० जम के चर चहुँदिसि फिरि लागे, हंस पंखेरूवा अब कहाँ जाइबे। (र० ३-६४)।

चरखा—सं० पु० (फा० चर्ख)—चर्खा, रहट। (पा० प० ११०-८)।

चरखुला—दे० 'चरखा' (पा० प० ११०-२)।

चरचत—क्रि०स० (सं० चर्चन्, हि० चरचना)—लगाते हैं, लेपते हैं। उ० चोवा चंदन चरचत अंगा। (प० ९३-५)।

चरचा—सं० स्त्री० (सं० चर्चा)—जिक्र बातचीत। उ० जम चरचा चहुँदिसि फिरि गइया। (र० ३-६३)।

चरणां—सं० पु० (सं० चरण)—चरणों में। उ० जेहरि चरणां राचियां तिनके निकटि न जाई। (सा० २०-२-२)।

चरणौं—चरणों की ओर। उ० कबीर हरि चरणौं चल्या, माया मोह थैं टूटि। (सा० ४७-३-१)।

चरन—सं० पु० (सं० चरण)-(१) पैर। उ० चरन कँवल की मौज मैं। (सा० ३१-६-२)।
(२) क्रम। (बी० र० ४-१)।

चरनन—दे० 'चरननि'। (पा०प० ७-४)।

चरननि—सं० पु० (सं० चरण)—चरणों में। उ० चरननि लागि करौं बरिआई प्रेम प्रीति राखौं उरझाई। (प० ३-४)।

चरनां—दे० 'चरणां'। (पा०प० ३३-३)।

चरनूं—सं० पु० (सं० चरण)—चरणों में। उ० हरि चरनूं चित राखिये, तौ अमरापुर होई। (सा० २४-९-२)।

चरनौं—दे० 'चरणौं'। (पा० सा० २५-११-२)।

चरबीहर—सं० पु० (?)—चराचर। (बी० र० २९-५)।

चरवा—सं० पु० (देश०)—पशुओं का चारा। उ० आपण देही चरवां पांनीं, ताहि निंदै जिनि गंगा आंनी। (प० १४४-३)।

चरषा—दे० 'चरखा'। उ० चरषा जिनि जरै। (प० १३-१)।

चरहल—क्रि० स० (हि० चरना)-चरा। उ० आंव कै वौरै चरहल करहल, निबिया छोलि छोलि खाई। (प० १७७ ७)। अथवा स० (चर+हल)—अनुपयुक्त फल (वही)।

चराएं—क्रि० स० (हि० चराना)—चराने से। (पा० प० १६८-४)।

चरावहु—चराने। (पा० प० १८८-८)।

चरावन—चराने। (पा० प० ११६-५)।

चरावै—चराता है। उ० एक अंचभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई। (प० ११-१)।

चरिगा—चर गया, खा गया। उ० एई खेत सवनि का चरिगा। (प० ३५३-३)।

चरै—चरता है। उ० मैं मंता तिण नां चरै, सालै चिता सनेह (सा० ६-५-१)।

चरित—सं० पु० (सं० चरित्र)—करनी, करतूत। उ० ऐसौ देखि चरित मन मोह्यौ मोर। (प० ३८६-१)।

चर्णू मैं—दे०'चरणौं'। चरणों में। उ० चित चर्णू मैं चुनि रह्या, तहाँ नहीं काल का मांण। (सा० ४७-५-२)।

चलत—क्रि० अ० (सं० चलन)—चलता है। उ० चलत कत टेढौ टेढौ रे। (प० ३११-१)।

चलती—चलती हुई। (पा० सा० १६-५-१)।

चलते—चलते हुए। (पा० सा० १०-६-२)।

चलन—सं० पु० (हि० चलन)—जाना। उ० चलन चलन सवको कहत है, नां जांनौं बैकुंठ कहाँ है। (प० २४-१)।

चलवनां—सं० पु० (सि० चलाना)—लकड़ी का डंडा, चलौना। उ० इत उत चितवत कठवन लीन्हां, मांड चलवनां डऊवा हो राम (प० २०-५)।

चलहु—क्रि० अ० (हि० चलना से)—चलो। (पा० प० १७०-१)।

चला—क्रि० अ० (हि० चलना से)—चल दिया। (पा० प० १११-८)।

चलाईदियौ—क्रि० स० (हि० चलाना+देना)—जारी कर दिया, आरम्भ कर दिया। उ० चारि खूंटी दोइ चमरख लाई, सहजि रहटवा दियौ चलाई। दिया। (प० २२८-३)।

चलाया—क्रि० स० (हि० चलाना) चला दिया। (पा० प० २५-७)।

चलावनहार—सं० पु० (हि० चलाने वाला—ईश्वर, चलाने वाला। (पा० प० १०४-३)।

चलावै—क्रि० स० (हि० चलाना)—ले चले। उ० जिसहि चलावै पंथ तूं तिसहि भुलावै कौंण। (सा० ३८-९-२)।

चलि—क्रि०अ० (हि० चलना)-चलकर, चलो। उ० करता का गति अगम है, तूं चलि अपणौं उनमान। (सा० ८-४-१)।

चली—चलदी । उ० तब भवरी ले चली सिर चढ़ाइ । (प० ३८८-८) ।

चलु—चलो । (पा० प० ८१-४) ।

चले—चल दिए । (पा० प० ४३-६) ।

चलें—चलते हैं । (पा०सा० ४-१८-२) ।

चलै—चलते रहे । उ० दुनिया के धोखैं मुवा, चलै जु कुल की कांणि । (सा० १२-४६-१) ।

चलौ चलौं—आगे बढ़ो, मेरा साथ दो । उ० चलौ चलौं सबको कहै, मोहि अंदेसा और । (सा० १४-४-१) ।

चल्यौं—चल पड़ा (पा० प० १६४-१०) ।

चल्यौ—चला । (पा० प० ८३-१०) ।

चवर—सं० पु० (सं० चामर, हि० चँवर)—सुरा गाय की पूँछ के वालों का गुच्छा । उ० छत्र सिंघासण चवर ढुलंता, रागरंग बहु आगी । (प० २९९-५) ।

चवैं—क्रि० अ० (हि० चूना से)—टपके, चूता है । उ० तहवाँ चवैं अमृत रस नीझर, रस ही मैं रस चुवावा । (प० १५३-५) ।

चवै—टपके । (पा० प० २८-२) ।

चषि (१)—सं० पु० (सं० चक्षु)—नेत्र, आँख । उ० काजल देइ सबै कोई, चषि चाहन भाँति बिनांन । (प० २८-२) ।

चषि (२)—क्रि० स० (सं० चप)—चखकर । उ० कबीर प्रेम न चषिया, चषि न लीया साव । (सा० २-१८-१) ।

चषिया—स्वाद लिया । उ० कबीर प्रेम न चषिया । (सा० २-१८-१) ।

चषियौ—खाया, नष्ट कर दिया । उ०तहाँ तैं अनमन चषियौं । (सा० ३५-१-४)

चसम—सं० स्त्री० (फा० चश्म)—नेत्र । (पा० प० १६५-३) ।

चसमैं—सं० पु० (फा० चश्मा)—नेत्र, रोशनी के लिए आँखों का चश्मा । (पा० प० ८७-८) ।

चहई—क्रि० स० (हि० चाहना)—चाहता है । उ० जब धरि ऐंचे तब धरि चहई । (र० ३-६५) ।

चहत—क्रि० स० (हि० चाहना)—चाहता है । (पा० सा० २५-१८-२) ।

चहिअै—अव्य० (प्रा० चाहिय)—अपेक्षित है, उपयुक्त है । (पा० प० ७२-५) ।

चहुं—वि० (सं० चतुर्, हि० चार)—चारों । उ० कबीर चित चमंकिण चहुं दिसि लागी लाइ । (सा० २-३२-१) ।

चहुंओर—क्रि० वि० (हि० चार+ओर) —चारों ओर । (पा० सा० २५-७-१) ।

चहूं—वि० (हि० चार, चहुँ)—चार । उ० दिन दहूं चहूं कै कारणैं, जैसैं सैंवल फूले । (प० १९०-१) ।

चहूँ दिसि—क्रि० वि० (हि० चार-दिशा) —चारों ओर । उ० यहु तन कांचा कुंभ है, चोट चहूँ दिसि खाइ । (सा० १२-३८-१) ।

चहोड़ि—क्रि० अ० (देश०)-संभाल कर, सहेज कर । उ० काटी-कूटी मछली, छींकै धरी चहोड़ि । (सा० १३-२४-१) ।

चांणक—सं० पु० (सं० चाणक्य)-प्रपंची, लोकचतुर । (सा० १७-शीर्षक) ।

चांद—दे० 'चंद' । चन्द्रमा । (पा० सा० ९-८-२) ।

चाँदिनां—सं० पु० (हि० चाँद)—प्रकाश, उजाला । (पा० सा० ९-८-२) ।

चाँदिनौं—क्रि० स० (हि० चाँदना)—प्रकाशित करना । (पा० सा० १-३-२) ।

चांम—सं० पु० (सं० चर्म)—चमड़ा । उ० कबीर कहा गरबियौ, चांम पलेटे

हड। (सा० १२-११-१)।

चाइ—सं० स्त्री० (सं० इच्छा)—इच्छा, लालसा। उ० राम नांम चीन्हें नहीं, पीतलि ही कै चाइ। (सा० १७-५-२)।

चाउ—दे० 'चाव'। (पा० सा० १६-५-१)।

चाकरी—सं० स्त्री० (फा०)—सेवा, खिदमत। उ० चाकरी चोर निवालैं हाजिर, साईं सेती खोटे। (प० ३२३-६)।

चाकि—सं० पु० (स० चक्र, प्रा० चक्क) —कुम्हार के चाक पर। उ० पाका कलस कुँभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि। (सा० ६-१-२)।

चाकी—सं० स्त्री० (सं० चक्री)—चक्की। (पा० सा० १६-५-१)।

चाखत—क्रि० स० (हि० चखना)—चखते ही। (प० ३६२-४)।

चाखा—क्रि० स० (सं० चष, हि० चखना) —स्वाद लिया। उ० भौजलि भूलि रह्या रे प्रांणीं, सौ फल कदे न चाखा। (प० २६८-६)।

चाखि—चखकर। (पा० सा० २-४६-१)।

चाखिया—चखा। (पा० सा० २-४६-१)।

चाखे—स्वाद लिया। उ० रांम रसांइन जिनि जिनि चाखे। (प० ८३-८)।

चाखै—चखता है। (पा० प० १२२-१४)।

चाखौं—स्वाद लूं। (पा० प० ६-३)।

चाठा—सं० पु० (देश०)—वह वर्त्तन, जिसमें कोल्हू का पेरा हुआ रस इकट्ठा होता है, नाँद। उ० सत की गाटि सुरति का चाठा, सहजि नीर मुकलाया। (प० २१४-६)।

चात्रिग—सं० पु० (सं० चातक)—पपीहा। उ० गुर प्रसादि रही चात्रिग ज्यूं, निहचैं भगति निवासा। (प० ३४-८)।

चानिणौं—सं० पु० (हि० चाँदना)—प्रकाश। उ० तिहि धरि किसकौ चानिणौं, जिहि धरि गोविंद नांहि। (सा० १-१७-२)।

चापिहैं—क्रि० स० (सं० चपन)—दबा देंगे। (बी० र० १७-६)।

चावक—सं० पु० (फा० चाबुक)—कोड़ा, हंटर। उ० कबीर तुरी पलांणियाँ चाबक लीया हाथि। (सा० १३-१३-१)।

चाबुक—दे० 'चावक'। (पा० प० ४-३)।

चार—वि० (सं० चतुर)—चार जो गिनती में दो और दो हों। (पा० र० १४-५)।

चारवाक—सं० पु० (सं० चार्वाक)—एक अनीश्वरवादी तार्किक। उ० जैन बोध अरु साकत सैंनां, चारवाक चतुरंग विहूंना। (र० ५-५०)।

चारा—सं० पु० (सं०/चर्, प्रा० चारि)—पशुओं के खाने की घास आदि। (पा० प० १५२-७)।

चारि—दे० 'चार'। चार संख्या। (सा० १२-८-२)।

चारि अवस्था—चार अवस्थाएँ, बाल, कुमार, युवा, वृद्ध (बी० र० २४-२)।

चारि दिवस—मुहा० थोड़े दिन तक। उ० टेसू फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास। (सा० १२-८-२)।

चारि विरिछ—चारों वेद। (बी० र० २२-५)।

चारिउं—वि० (हि० चार)—चारों। उ० चारिउं वेद पढ़ाइ करि, हरि सूं न लाया हेत (सा० १७-६-१)।

चारिउ—चारों। (पा० र० ६-२)।

चारी—दे० 'चारि'। (पा० र० ११-२)।

चारैं—दे० 'चारा'। उ० ऊंट मारि मैं

चारै लावा, हस्ती तरंडवा देई। (प० १७७-५)।

चाल—सं० स्त्री० (सं० चार, हि० चलना)—(१) गति, आचरण। उ० जैसी मुख तैं नीकसै, तैसी चालै चाल। (सा० १८-२-१)।
(२) ढंग से। उ० जिहि वर चाल रची ब्रह्मण्डा, (र० १-२३)।

चालणहार—वि० (हि० चलन+हार)-चलने वाला, चरने वाला। उ० जिनि हम जाए ते मुए, हम भी चालणहार। (सा० ४६-३२-१)।

चालनहार—(पा० सा० १६-३२-१)।

चालणां—क्रि० अ० (हि० चलना)—जाना, चलना। उ० जिनि पंथूं तुझ चालणां, सोई पंथ सँवारि। (सा० १२-१४-२)।

चालत—चलते-चलते। (पा० सा० १५-२८-१)।

चालना—चलना। (पा० सा० १५-५३-२)।

चाला—चला हुआ। (पा० सा० ४-१४-१)।

चालिजासीं—चला जाएगा, बीत जाएगा। उ० आज ही काल्हि करंतड़ां, औसर जासीं चालि। (सा० ४६-५-२)।

चालिए—चलना चाहिए। (पा० सा० २६-२३-१)।

चालिऐ—चलना चाहिए। उ० मन क मतैं न चालियें, छांड़ि जीव की बांणि। (सा० १३-१-१)।

चाली—चली, साथ दिया। उ० दीन गँवाया दुनी सौं, दुनी न चाली साथि। (सा० १२-४३-१)।

चाले—चले गए। उ० इत के भए न उत के चाले मूल गँवाइ। (सा० १२-२५-२)

चालै—चलता है। उ० बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै। (प० १५६-३)।

चाल्यां—चलने से, चलने पर। उ० अब तौ झूझयां हीं बणैं, मुड़ि चाल्यां घर दूरि। (सा० ४५-११-१)।

चाव—सं० पु० (हि० चाह)—इच्छा, अरमान, लालसा। उ० खेत बुहारचा सूरिवैं, मुझ मरणे का चाव। (सा० ४५-६-२)।

चाषौं—दे० 'चाखौं'। उ० राम रसांइण रस ना चापौं। (प० २-३)।

चाष्या—चखा। उ० कहै कबीर ते बिरला जोगी, धरणि महारस चाष्या। (प० १६२-१८)।

चाहन—सं० पु० (हि० चाहना)—चाह से। उ० काजल देह सबै कोइ, चषि चाहन मांहि बिनांन। (प० २८-२)।

चाहिए—दे० 'चाहिये'। (पा० सा० ११-१६-२)।

चाहिये—अव्य० (हि० चाहना)—उचित है। उ० भिस्त मेरे चाहियें, बाझ पियारे तुझ। (सा० ११-७-२)।

चाही—वि० (हि० चाह)—चाही हुई। उ० को बोहिथ को खेवट आही, जिहि तिरिये सो लीजै चाही। (र० ३-१२३)।

चाहै—क्रि० स० (हि० चाहना)—चाहते हो। उ० पूंछ ज पकड़ै मर्द की, उतरचा चाहै पार। (सा० १७-२०-२)।

चिंतवै—क्रि० स० (हि० चिंतन)—फिक्र करता है। उ० कबीर का तूं चिंतवै, का तेरा च्यंता होइ। (सा० ३५-६-१)।

चिंता—सं० स्त्री० (सं०)—फिक्र। उ० 'च्यंता तौ हरि नांव की और न चिंता

दास । (सा० २-६-१) ।

चिंतामणि—सं० पु० (सं०)—मनचाही वस्तु देने वाला एक कल्पित रत्न । उ० रांम मणि रांम मणि रांम चिंतामणि । (प० १२३-१) ।

चिंति—दे० 'च्यंत' । (पा० सा० ३२-१-२) ।

चिंतै—दे० 'च्यंता' । (पा० सा० ३२-१-१) ।

चिंतैं—दे० 'चिंता' । (पा० प० ३२-७) ।

चिउंटी—दे० 'चींटी' । (पा० सा० १०-८-१) ।

चिकनाई—सं० स्त्री० (हि० चिकना + ई)—चिकनाहट । (पा० प० ३४-१२) ।

चिकनियां—वि० (हि० चिकना + इयां)—छैला, शौकीन । (पा०प० १९१-२) ।

चिकारे—सं० पु० (हि० चिकार)—हिरन जाति का छिकरा नामक एक फुर्तीला जानवर । उ० चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे, कोई न छोड्या नेड़ै । (प० १८७-२) ।

चिगवा—सं० स्त्री० (?)—नालिका । उ० चंद सूर दोइ भाठी कीन्हीं, सुषमनि चिगवा लागी रे । (प० ७१-५) ।

चिगाई—क्रि० स० (हि० चिनना)—वनाई, तैयार की । उ० दोइ मुड़ जोड़ि चिगाई भाठी, चुया महारस भारी । (प० ७२-५) ।

चिजारा—सं० पु० (?)—कारीगर । उ० करि चिजारा सौं प्रीतिड़ी, ज्यूं ढहै न दूजी वार । (सा० १२-१८-२) ।

चिड़ा—सं० पु० (सं० चटक)—गौरा पक्षी । उ० काल सिचांणां नर चिड़ा, औझड़ औच्यंतां । (सा० ४६-२-२) ।

चिड़िऐं—दे० 'चिड़ियैं' । (पा० सा० १५-५४-१) ।

चिड़ियैं—सं० स्त्री० (सं० चटक, हि० चिड़ा का स्त्री० रूप)—पक्षी । उ० विन रखवाले वाहिरा, चिड़ियैं खाया खेत । (सा० १२-१५-१) ।

चिणांइया—क्रि० स० (सं० चयन, हि० चिनाना)—चुनवाया, उठवाया । (सा० ४६-१८-नो० २८) ।

चिणावैं—चुनवाता है । (सा० ४६-१८-नो० २६) ।

चिणि गया—चुन गया । उ० कोई चेजारा चिणि गया, मिल्या न दूजी वार । (सा० १२-१७-२) ।

चिणियां—चुनवाया । (सा० ४६-११-२) ।

चित—सं० पु० (सं० चित्त)—मन, चित्त । उ० कबीर चित चमंकिया, चहूँ दिसि लागी लाइ । (सा० २-३२-१) ।

चितकारी—सं० पु० (सं० चित्रकार)—चित्र बनानेवाला, चितेरा । (र० १-हि० १६) ।

चितरनहारा—सं० पु० (सं० चित्रकार)—रचने वाला । उ० कौन चतुर ऐसा चितरनहारा । (प० १४१-३) ।

चितरी—वि० (सं० चित्र)—चित्रित की हुई । (पा० सा० १५-८३-१) ।

चितवत—क्रि० स० (हि० चेतना, चितवना)—ताकते हुए, देखते हुए । उ० इत उत चितवत कठवन लीन्हां, मांड चलवनां डऊवा हो राम । (प० २०-५) ।

चितवैं—क्रि० स० (हि० चितवना)—स्मरण करे । उ० जे कुछ चितवैं राम विन, सोइ काल की पास । (सा० २-६-२) ।

चितवै—क्रि० स० (हि० चितवना)—

देखता है। उ० च्यंत न सोच चित विन चितवै, विन मनसा मन होई। (प० २०६-२)।

चितह—सं० पु० (सं० चित्त)—मन में। उ० जद सर जल पूरि पूरता, चात्रिग चितइ उदास। (प० ११६-२)।

चिता—सं० पु० (सं० चित्त)—चित्त में, हृदय में। उ० राग दोप दहूँ मैं एक न भापि, कदापि ऊपजै तौ चिता न रापि। (प० १०७-३)।

चितावणी—सं० स्त्री० (हि० चेतना से)—सतर्क होने की सूचना। (सा० १२-शीर्षक)।

चिति—सं० पु० (सं० चित्त)—चित्त में, मन में। उ० चिंता चिति निवारिये, फिर बूझिये न कोइ (सा० १३-२-१)।

चितु—दे० 'चित'। (पा० प० २१-२)।

चितेरा—सं० पु० (सं० चित्रकार)—कारीगर, चित्र बनाने वाला। उ० चेरा कबहूं उझकि न देखै, चेरा अधिक चितेरा। (प० २३८-१०)।

चित्त—सं० पु० (सं०)—हृदय। उ० वैरागी विरकत भला, गिरहीं चित्त उदार। (सा० ३४-६-१)।

चित्र—सं० पु० (सं०)—(१) तस्वीर, सृष्टि। उ० कहै कवीर यहु चित्र विरोध्या, बूझी अमृत वांणी। (प० १६७-६)।
(२) विचित्र। (र० १-टि० २०)।

चित्रगुप्त—सं० पु० (सं०)—चौदह यमराजों में से एक जो प्राणियों के पाप और पुण्य का लेखा रखते हैं। (पा० प० ५६-७)।

चित्रवंतहि—दे० 'चित्रवत'। (पा० र० १०-१०)।

चित्रवत—क्रि० वि० (सं० चित्रवत्)—चित्र की तरह। उ० कहै कवीर ते जन भले, जे चित्रवत लेहि विचार। (र० ५-६८)।

चित्री—वि० (सं० चित्रित)—जिस पर चित्रकारी की गई हो। उ० ऊँचा मंदर धौलहर, मांटी चित्री पौलि। (सा० ४६-१८-१)।

चिनीं—सं० स्त्री० (हि० चिन्हानी)—लक्षण, पहचान, चिह्न। उ० चीन्हत नांहिन एक चिनीं। (प० ६६-१२)।

चिरकुट—सं० पु० (सं० चीर+√कुट्ट)—फटा-पुराना कपड़ा। (पा० प० ६५-१०)।

चिराक—सं० पु० (फा० चराग़)—दीपक। उ० कोटि चंद्रमां गहैं चिराक, सुर तेतीसूं जीमैं पाक। (प० ३४०-४)।

चिलकाई—सं० स्त्री० (हि० चिलका+ई०)—चमकाहट। उ० नां हम वार बूढ नाहीं हम, नां हमरैं चिलकाई हो। (प० ५०-४)।

चिहुटिया—क्रि० अ० (सं० चिपिट, हि० चिहुँटना)—लिपट गया, लग गया। पा० सा० १७-८-२)।

चिहुटै—लगता है। उ० अविनासी सूं चित नहीं चिहुटै। (प० २०२-४)।

चिह्नि—दे० 'चिन्हि'। (र० १-६)।

चींटी—सं० स्त्री० (हि० चिउंटी)—छोटा कीड़ा जो मीठे के पास बहुत आता है। उ० जहाँ न चींटी चढ़ि सकै, राई न ठहराइ। (सा० १४-८-१)।

चींथड़ा—सं० पु० (हि० चीथड़ा)—पुराने कपड़े का फटा रद्दी टुकड़ा। उ० चड़ा चींथड़ा चूहड़ा ले गया, तणीं तणगती टूटी। (प० १०५-६)।

चीकन—वि० (सं० चिक्कण)—चिकना। उ० चीकन चंदवा कहै कबीर। (प० १३६-१०)।

चीत—दे० 'चित्त'। मन। (सा० ४६-२२-नो० ४०)।

चीता (१)—वि० (हि० चेतना से)—चित्त के अनुकूल। उ० साषत उलटि सजन भये चीता। (प० १५-५)।

चीता (२)—सं० पु० (सं० चीता)—प्रसिद्ध हिंसक पशु। उ० बकरी बिघार खायी, हरनि खायी चीता। (प० १६०-५)।

चीति—दे० 'चित्त'। चित्त में। (पा० सा० २३-२-२)।

चीनां—दे० 'चीन्हां'। (पा० प० ५२-६)।

चीनियत—क्रि० स० (सं० चिह्न, हि० चीन्हना से)—पहचानते-पहचानते। उ० चीनियत चीनियत ता चीन्हिलै से, तिहि चीन्हिअत धूंका करके। (प० १६७-७)।

चीन्हसि—पहचानता है। (पा० प० १७४-२)।

चीन्हां—पहचाना। (पा० प० ११५-४)।

चीन्हि—पहचानकर, जानकर। (पा० प० १८८-३)।

चीन्हिअत—पहचानता है। (प० १६७-७)।

चीन्हिए—पहचानिए। (पा० प० १०-५)।

चीन्हियां—पहचान लिया। उ० आया पर सब चीन्हियां, तब उलटि समाना मांहि। (सा० ३३-३-२)।

चीन्हिया—पहचान लिया। (पा० सा० (४-१५-१)।

चीन्हिलै—पहचान ले। उ० घट घट महु के मधुप ज्यू, पर-आतम ले चीन्हि। (सा० ३२-३-२)।

चीन्हिलै—पहचान ले। (प० १६७-७)।

चीन्हें—पहचाने। (पा० र० १२-३)।

चीन्हैं—पहचाने, जाने। उ० राम नाम चीन्हैं नहीं, पीतलि ही कै चाह। (सा० १७-५-२)।

चीन्है—पहचानते। (सा० २०-२७-नो० ३२)।

चीर—सं० पु० (सं०)—वस्त्र। उ० चंदन चीर कपूर बिराजत, अंति तऊ मरणां। (प० २४८-६)।

चीरिअै—दे० 'चीरिये'। (पा० सा० २४-२-२)।

चीरिये—क्रि० स० (सं० चीर्ण)—फाड़ देता है। उ० वो हालै को चीरिये, साषित संग न वेदि। (सा० २५-४-२)।

चील्ह—सं० स्त्री० (सं० चिल्ल, हि० चील)—एक पक्षी-विशेष। (बी० र० ७१-३)।

चीसां—सं० स्त्री० (हि० टीस)—दुख में आवाज करके, टीस। उ० भाग्यो हस्ती चीसां मारी, वा मूरति की मैं बलिहारी। (प० ३६५-३)।

चीसा—दे० 'चीसां'। (पा० प० २३-४)।

चुआ—क्रि० अ० (सं० च्यवन)—टपका, बूंद-बूंद करके नीचे गिरा। (पा० प० ५६-५)।

चुआवा—क्रि० स० टपकाना। (पा० प० १३३-६)।

चुअै—क्रि० अ० टपकता है। (पा० प० १३३-६)।

चुगि—क्रि० स० (सं० चयन)—चुगता है। (पा० प० १२४-६)।

चुगैं—क्रि०स० (सं० चयन)—चोंच से

चुनै। उ० मुकताहल मुकता चुगैं, अब उड़ि अनत न जांहि। (सा० ५-३६-२)।

चुणि चुणि—क्रि० स० (हि० चुनना)—चुन-चुनकर। उ० जे वेधे गुर अष्पिरां, तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध। (सा० १-२२-२)।

चुनावै—क्रि० स० (हि० चुनाना)—चुनने का काम कराता है। (पा० सा० १५-८४-१)।

चुनि—दे० 'चुणि चुणि'। (पा० प० ३६-३)।

चुनिया—क्रि० स० (हि० चुनना)—चुना, बनाया। (पा० सा० १६-१६-२)।

चुनैं—सं० पु० (सं० चूर्ण, हि० चूना)—चूना। (सा० ४६-१८-नो० २६)।

चुवै—क्रि० अ० (सं० च्यवन, हि० चूना)—टपके, निकले। उ० जे लोइण लोहीं चुवै, तौ जाणैं हेत हियां हि। (सा० ३-२६-२)।

चुभिरह्या—क्रि० अ० (हि० चुभना)—मग्न हो गया, तन्मय हो गया। उ० चित चर्णू मैं चुभि रह्या, तहाँ नहीं काल का पांण। (सा० ४७-५-२)।

चुया—क्रि० अ० (सं० च्यवन)—टपका। उ० दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी, चुया महारस भारी। (प० ७२-५)।

चुरुआ—दे० 'चरवा'। (पा० प० १६७-४)।

चुवाई—क्रि०स०(स० च्यवन)—टपकाई। उ० उलटी गंग नीर बहि आया, अंमृत धार चुवाई। (प० ७४-६)।

चुवावा—क्रि० स०—टपकाया। उ० बहुत मोलि महँगे गुड़ पावा, लै कसा बरस रांम चुवावा। (प० ७३-३)।

चुवै—क्रि० अ० (सं० च्यवन)—टपकता है। (पा० सा० ६-३५-१)।

चुहाड़ा—दे० 'चूहड़ा'। चूड़ा, मेहतर। (पा० प० ६५-१०)।

चूंखत—क्रि० स० (सं० चूपण)—चूसते हुए, पीते हुए। उ० वछा चूंखत उपजी न दया, वछा वांजि बिछोही भया। (र० चौ०-१३)।

चूंषै—मुँह से चूसता है। उ० नुरहीं चूंषै वछतलि, वछा दूध उतारै। (प० १६१-७)।

चूंगी—सं० स्त्री० (देश०)—चाट, चसका। उ० गगन हीं माठी सींगी करि चूंगी, कनक कलस एक पावा। (प० १५३-४)।

चूंन—सं० पु० (सं० चूर्ण)—पिसान, आटा। उ० भाई रे चूंन बिलूंटा खाई। प० ८१-१)।

चूक—सं० स्त्री० (सं० च्युतक्क, प्रा० चुक्क)—भूल। उ० सतगुरु बपुर क्या करै, जे सिपाही मांहै चूक। (सा० १-२१-१)।

चूकां—क्रि० अ० (सं० च्युतक्क, प्रा० चुक्कि)—चूकने पर। उ० दुहूं चूकां पड़ै, ताकूं वार न पार। (सा० ३४-६-२)।

चूका—चूक गया, सुअवसर खो दिया। उ० इहि औसरि चेत्या नहीं, चूका अब की घात। (सा० १२-२६-२)।

चूकीले—चूक ले। (पा० प० ११५-७)।

चूके—चूक गए। (पा० प० ५०-७)।

चूकै—चूकता है। (पा० सा० १५-६-१)।

चून—दे० 'चूंन'। आटा। उ० मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम। (सा० ३१-१०-२)।

चूनां—दे० 'चूना'। (पा० सा० १५-

८४-१)।

चूना—सं० पु० (सं० चूर्ण)—प्रसिद्ध तीक्ष्ण क्षार भस्म। उ० कबीर हरदी पीयरी चूना ऊजल भाइ। (सा० ३१-९-१)।

चूरा (१)—सं० पु० (सं० चूड़ा)—बाहु-भूषण, कड़ा। उ० का चूरा पाइल झमकायैं (प० १३९-३)।

चूरा (२)—सं० पू० (सं० चूर्ण)— खाद्य पदार्थ। उ० ताथैं आवागमन होइ फुनि फुनि, तापर संग न चूरा। (प० १९१-५)।

चूरी—सं० स्त्री० (सं० चूर्ण)—चूर, बुरादा। (सा० ३०-१-नो०)।

चूल्है—सं० पु० (सं० चुल्ही, हि० चूल्हा) —चूल्हे में। (सा० ४८-१-नो० १)।

चूहड़ा—सं० पु० (?)—भंगी, मेहतर। उ० चड़ा चींथड़ा चूहड़ा ले गया, तणीं तणगती टूटी। (प० १०५-९)।

चूहै—सं० पु० (अनु० चूं+हा (प्रत्य०) —मूसे ने, चूहे ने। उ० चूहै काट्या तांनां री, माई को बीनैं। (प० १९-१०)।

चेजा—सं० पु० (हि० छेद)—छेद, सुराख। (सा० ४६-१९-नो० ३४)।

चेजारा—दे० 'चिजारा'। कारीगर। उ० कोई चेजारा चिणि गया, मिल्या न दूजी वार। (सा० १२-१७-२)।

चेटक—सं० पु० (सं०)–जादू की विद्या। (पा० प० १४२-६)।

चेत—क्रि० अ० (सं० चिन्तन से, हि० चेतना से)—सावधान होकर, चौकस होकर। उ० कोटि क्रम सिरि ले चल्या, चेत न देखै भ्रम। (सा० १७-२१-२)।

चेतत—चेतता है। (पा० प० ६९-९)।

चेतहु—सावधान हो जाओ, समझो। (र० १-टि० १९)।

चेता—चेत गया। (पा०सा० ९-२०-२)।

चेति—चेत ले, सावधान हो ले। (पा० प० ६०८)।

चेतिआ—समझ लिया। (पा० प० ५५-८)।

चेतिया—समझ लिया। उ० षोडस कंवल जब चेतिया, तब मिलि गए श्री बनवारी रे। (प० ४-१५)।

चेते—चेता, समझा। (पा० चौ० र० ४०-१)।

चेतै—चेतता है, सावधान होता है। उ० अंधा नर चेतै नहीं, कटै न संसै सूल। (सा० २०-१७-१)।

चेत्य—सावधान होकर, होश में आकर। उ० चित चेतनि मैं गरक ह्वै, चेत्य न देखैं भंत। (सा० ३७-५-१)।

चेत्या—सावधान हुआ। उ० इहि औसरि चेत्या नहीं, चूका अब की घात। (सा० १२-२९-२)।

चेतन—सं० पु०(सं०)–आतमा, परमेश्वर। (पा० सा० १५-७९-१)।

चेतनि—आत्मा, परमेश्वर। उ० चित चेतनि मैं गरक ह्वै, चेत्य न देखै भंत। (सा० ३७-५-१)।

चेतनां—क्रि० अ० (हि० चेत)—होश में आना। (पा० प० ११९-१०)।

चेतावनी—सं० स्त्री० (हि० चित+ अवनी,—सतर्क होने की सूचना। (पा० सा० १५-३१-१)।

चेतू—सं० पु० (सं० चेतस्)—चित्त की वृत्ति, संज्ञा। (पा० प० ४१-२)।

चेरा—सं० पु० (सं० चेतक, प्रा० चेड़अ, चेड़ा)—नौकर, सेवक, दास। उ०

कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास। (सा० ४१-१३-१)।

चेरी--स्त्री०। (पा० प० १४-७)।

चेला--सं० पु० (सं० चेलक, प्रा० चिल्ल)--शिष्य। उ० जाका गुर भी अंधला, चेला खरा निरंध। (सा० १-१५-१)।

चेली--स्त्री०। उ० बाम्हन कै बम्हनेटी कहियौं, जोगी कैं धरि चेली। (प० २३१-४)।

चोंगी--दे० 'चूंगी'। (पा० प० १३३-५)।

चोंज--सं० पु० (?)--मनोविनोद, मौज। उ० कबीर हरि की भगति करि, तज विषिया रस चोंज। (सा० १२-३५-१)।

चोआ--सं० पु० (हि० चुआना)--सुगंधित द्रव पदार्थ। (पा० प० ७६-५)।

चोखा--वि० (सं० चोक्ष)--शुद्ध, उत्तम, श्रेष्ठ। उ० चोखा रांम नांम मनि लीन्हां। (र० २-४३)।

चोखै--शुद्ध। (पा० प० ७-५)।

चोखौ--शुद्ध, उत्तम। उ० चोखौ बनज व्यौपार करी जै। (प० २३४-१)।

चोघतां--क्रि० स० (सं० चयन, हि० चुगना)--चुगते, खाते-पीते। अथवा (चौंकना = देखना) देखते, ताकते हुए। उ० कबीर टग टग चोघतां, पल पल गई विहाइ। (सा० ४६-७-१)।

चोघतैं--चुगते-चुगते। (पा० सा० १६-११-१)।

चोट--सं० स्त्री० (सं० √चुट्)--मार, प्रहार, प्रभाव। उ० तन मन खोजों चोट न पांऊं, ओषद मूली कहां घसि लांऊं। (प० ११८-२)।

चोटा--दे० 'चोट'। (पा० प० ७४-६)।

चोर--सं० पु० (सं०)--वस्तु चुराने वाला, इंद्रिय का प्रतीक। उ० कबीर पटण कारिवां पंच चोर दस द्वार। (सा० १२-७-१)।

चोरांसेती--सं० पु० (हि० चोर)--चोरों से। उ० सांई सेती चोरियां, चोरां सेती गुझ। (सा० २२-१०-१)।

चोरियां--सं० स्त्री० (हि० चोरी)--चोरी, छिपाव। उ० सांई सेती चोरियां, चोरां सेती गुझ। (सा० २२-१०-१)।

चोरियौ--क्रि० स० (हि० चुराना)--चुरा लिया, हर लिया है। उ० च्यंता मणि चित चोरियौ, तार्थं कछू न सुहाइ। (प० ३०२-३)।

चोरी--सं० स्त्री० (हि० चुराना)--चुराने की क्रिया। उ० जिहि हरि की चोरी करी गये राम गुण भूलि। (सा० १२-२८-१)।

चोरै--क्रि० स० (सं० चुर्)--चुराता है। (पा० प० ६३-२)।

चोल--सं० पु० (सं०)--पहनावा। उ० पहरी चोल नांगा ह्वर नाचै, भैंसा निरति करावै। (प० १२-४)।

चोलनां--दे० 'चोल'। पहनावा। उ० काम चोलनां भया पुराना, मोपै होइ न आना। (प० २८१-५)।

चोला--सं० पु० (सं० चोल)--ढीला-कुरता जिसे प्रायः साधु पहनते हैं। (पा० प० १७-३)।

चोली--सं० स्त्री० (सं०)--पान रखने की डलिया। उ० चंदन भागां गुण करै, जैसे चोली पंन (सा० ३७-२-१)।

चोवा--सं० पु० (हि० चुआना)--प्रसिद्ध सुगन्धित द्रव पदार्थ। उ० चोवा चंदन चरचत अंगा। (प० ६३-५)।

चोषै--वि० (सं० चोक्ष)--भले, अच्छे। उ० इत मन मन्दिर रहो नित चोषै,

कहै कबीर परहु मति धोषै। (प० ३-५)

चौंतिस अच्छर—लिखित मान्य धर्म ग्रंथ। (बी० र० २४-५)।

चौंसठि—वि० (सं० चतुष्षष्टि)—साठ और चार । (पा० सा० १-३-१)।

चौक—सं० पु० (सं० चतुष्क, प्रा० चउक्क)—मंगल के समय बनी रंगी हुई वेदी। उ० चौक कै रंगि धर्‍यौ सगौ भाई। (प० २२६-६)।

चौका—सं० पु० (सं० चतुष्क, प्रा० चउक्क)—रसोईघर। उ० साच सील का चौका दीजै, भाव भगत की सेवा कीजै। (र० चौ–३०)।

चौकी—सं० स्त्री० (सं० चतुष्की)—चौकी। उ० चेतनि चौकी वैसि करि सतगुरु दीन्हाँ धीर। (सा० १-२३-१)।

चौकै–दे० 'चौक'। (पा० प० १०६०६)।

चौज—दे० 'चोंज'। (पा० सा० १५-४८-१)।

चौड़े—वि० (हि० चौपट से)—सत्यानाश के लिए। उ० कांम क्रोध सूँ झूझणां, चौड़ै मांड्या खेत। (सा०४५-७-२)।

चौड़ै—(१) सं० पु० (सं० चतुर, प्रा० चउर, हि० चौरा)—खुले मैदान में चबूतरे पर, वेदी पर। उ० मड़हट देष्यां डरपती, चौड़ै दीन्हीं जालि। (सा० ४६-१६-२)।

(२) सं० पु० (चुंटा)—उस गड्ढे में जिसमें अनाज रखते हैं। उ० चींटी परबत ऊपरायां ले राख्यौ चौड़ै। (प० १६१-५)।

चौथसयान—बहुदेववादी जो भ्रमण करते फिरते हैं। (बी० र० ३७-३)।

चौथे—दे०'चौथै'। (पा०प० २३-१०)।

चौथै—वि० (सं० चतुर्थ, प्रा० चउत्थ)–चौथा। उ० तीनि सनेही बहु मिलैं, चोथैं मिलैं न कोइ। (सा० ४२-६-१)।

चौदह—वि० (सं० चतुर्दश)—जो गिनती में दस और चार हों। उ० चौसठि दीवा जोइ करि चौदह चंदा माँहि। (सा० १-१७-१)।

चौदह ठहर—चौदह भुवन और चतुर्दश विद्याओं का विस्तार।(बी०र० १-३)।

चौदह बिद्या—वेदादि चतुर्दश विद्याएँ। (बी० र० ४३-३)।

चौधरी—सं० पु० (सं० चतुर+धर)—मुखिया, अगुआ। (बी० र० ११-३)।

चौपड़—सं० स्त्री० (सं० चतुष्पट, प्रा० चउप्पट)—चौसर का खेल। (पा० सा० १-३२-१)।

चौपड़ि—दे० 'चौपड़'। चौपड़ि माँड़ी चौहटै अरध उरध बाजार। (सा० १-३१-१)।

चौपरि—क्रि० स० (हि० चौ+परत+ना)—चार तह लगा कर। (बी० र० १५-२)।

चौबारैं—सं० पु० (हि० चौ+वार)–खुली हुई कोठरी। उ० बासिग कोटि सेज बिसतरैं, पवन कोटि चौबारैं फिरैं। (प० ३१०-१०)।

चौबींसौं—वि० (सं० चतुर्विंश)–चौबीसों, पूरे वर्ष भर की। उ० ब्राह्मण ग्यारसि करैं चौबींसौं, काजी भरहम जांन। (प० २५६-७)।

चौबीसौं—दे० 'चौबींसौं'। (पा० प० १७७-७)।

चौरासी—वि० (सं० चतुराशीति)—अस्सी और चार। उ० निस अंधियारी कारणैं, चौरासी लख चंद। (सा० १-१८-१)।

चौरासी सिध—८४ सिद्ध। उ० पट दरसन सूँ पड़चा, अरु चौरासी सिध। (सा० ३१-११-२)।

चौसठि—दे० 'चौंसठि'। उ० चौसठि दीना जोइ करि, चौदह चंदा माँहि। (सा० १-१७-१)।

चौहटै—सं० पु० (हि० चौ+हट्टा)—चौमुहानी, चौराहा। उ० चौहटै च्यंता-मंणि चढ़ी, हाडी मारत हाथि। (सा० ५-१६-१)।

च्यंत—सं० स्त्री० (सं० चिन्ता, हि० चिन्ता)—फिक्र, सोच। उ० अण च्यंता हरि जी करै, जो तोहि च्यंत न होइ। (सा० ३५-६-२)।

च्यंता—(१) दे० 'च्यंत'। उ० च्यंता तौ हरि नाँव की, और न चिन्ता दास। (सा० ७-६-१)।

(२) क्रि० स० (हि० चिन्तना से)—सोचा हुआ, चाहा हुआ। उ० मन का च्यंता तब भया, कछु पूरबला लेख। (सा० ५-१०-२)।

च्यंतामणि—दे० 'चितामणि'। उ० चौहटै च्यंतामंणि चढ़ी, हाडी मारत हाथि। (सा० ५-१६-१)।

च्यंति—सं० स्त्री० (सं० चिन्ता)—ध्यान में, भावना में। उ० अपनैं च्यंति न आवई, जिनकी आदि न अंत। (सा० ५४-२-२)।

च्यौं च्यौं—सं० पु० (अनु०)—चूं चू शब्द। उ० आडी तिरछी फिरती, क्या च्यौं च्यौं म्यौं म्यौं करती है। (प० १०६-२)।

छ

छंछरै—क्रि० अ० (सं० संचारण, हि० संचारना)—हिले-डुले, भ्रम हो सके। उ० उड न कवहू छंछरै। (सा० ३५-१-५)।

छछिहारी—वि० (सं० छच्छिका+हारी (प्रत्य०)—मट्ठे वाली। उ० मकड़ी धरि भापी छछिहारी। (प० ८०-३)।

छठये—सहज भाव में, भीतर। (बी० र० ५२-३)।

छठा—वि० (सं० षष्ठ)—(१) पाँचवें के बाद का। (पा० सा० ३-१५-१)।

(२) छठवीं इंद्रिय अर्थात् मन। उ० छठा जु सुमिरे मन। (सा० २-७-१)।

छड़ी—सं० स्त्री० (हि० छड़)—सीधी पतली लकड़ी। उ० विलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस। (सा० १६-१०-२)।

छड़ाऊं—दे० 'छुड़ावै'। (पा०प० २६-६)।

छतां—क्रि० वि० (सं० सत्, हि० छत)—होते हुए, रखे हुए। उ० जीव छतां जामैं मरै। (सा० १५-२-२)।

छतीसौं—वि० (सं० षट्+त्रिंश)—तीस और छः। (पा०प० १४४-७)।

छत्र—सं० पु० (सं०)—छाता, छतरी। उ० हैं वर ऊपरि छत्र सिरि। (सा० १२-११-२)।

छत्रधार—सं० पु० (सं० छत्रधर)—छत्र धारण करने वाला मनुष्य, राजा। उ० छत्रधार देखत ढरि जाइ। (प० ३६४-३)।

छत्रपति—सं० पु० (सं०)—राजा। उ० राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होह। (सा० १२-६-२)।

छत्रपती—(पा० सा० ४-१०-१)।

छत्रिया—सं० पु० (सं० छत्रिय)—क्षत्रियत्व का। (बी० र० ८३-१)।

छपन कोडि—सं०—छप्पन करोड़ की संख्या में। उ० छपन कोडि खेलिवे खासी। (प० ३३६-४)

छप्पन कोटि—(पा० प० ४२-४)।

छपरी—सं० स्त्री० (हि० छप्पर)—मँडई, झोंपड़ी। उ० बैश्नों की छपरी भली। (सा० ३०-१-२)।

छलि—क्रि० स० (सं० छलन, हि० छलना)—धोखा देकर, छलकर। (पा० प० १६४-६)।

छलिया—धोखा दिया, छल किया। (र० वा० ५४)।

छली—(पा० प० १५५-१५)।

छव—वि० (सं० पट्)—छः। (बी० र० ४७-५)।

छव चकवै—छः चक्रवर्ती—वेनु, वलि, कंस, दुर्योधन, पृथु और त्रिविक्रम। (वी० र० ४७-५)।

छवदरसन—छः दर्शन—सांख्य, योग, न्याय, वैशेपिक, पूर्व व उत्तर मीमांसा। (वी० र० १-५)।

छवसाख—छः साखा। (वी० र० २२-५)।

छह—छः, पाँच की संख्या से एक अधिक। उ० छह दरसन छयांनवै पाखंड। (प० ३४-४)।

छसै—वि० (सं० पट् शत)—छः सौ। उ० सहंस इकीस छसै धागा। (प० ६९-६)।

छहियां—सं० स्त्री० (हि० छाँह)—छाया। (पा० प० ९६-७)।

छांड़ई—क्रि० स० (सं० छर्दन, प्रा० छड्डुन, हि० छोड़ना)—किसी वस्तु को पकड़ से अलग करना, न ग्रहण करना। (पा० सा० १६-११-२)।

छांड़उं—अलग कर दूं, छोड़ दूं। (पा० प० २६-१)।

छांड़ा—छोड़ा, त्यागा। (पा० प० १५९-५)।

छांड़ि—छोड़कर, त्यागकर। (पा० प० १०-६)।

छाँड़ि करि—छोड़कर। उ० राम पियारा छाँड़ि करि। (सा० २-२२-१)।

छांड़िहै—छोड़ देता है। (पा० सा० २८-१६-२)।

छांड़ी—छोड़कर। (पा० प० १११-८)।

छांड़े—छोड़ दिए। (पा०चौ०र० ३३-२)

छांड़ै—छोड़ता है। (पा०सा० १४-१२-२)

छांड़ौं—छोड़ दूं। (पा० प० २६-८)।

छांड़ौ—छोड़ दूं। (पा० प० ५८-८)।

छांड़्यौ—छोड़ दूं। (पा० प० १५-४)।

छांडौं—छोड़ दूं, त्याग दूं। उ० जे छाड़ौं तौ डूबिहौं गहौं त डसिये बांह। ३-४३-२)।

छाड़ई—छोड़ता है, त्यागता है। उ० जीव जंजाल न छाड़ई, जम दिया दमांमां आइ। (सा० ४६-७-२)।

छाड़ि—छोड़ दे। उ० छाड़ि जीव की वांणि। (सा० ४५-३१-१)।

छाडि—छोड़कर, त्यागकर। उ० हदे छाडि वेहदि गया। (सा० ५-५-१)।

छाड़ै—(१) छोड़ सके। उ० ज्यूँ कदे न छाड़ै पास। (सा० ११-१८-२)। (२) छोड़ता है। उ० पलक न छाड़ै पास। (सा० ५२-३-२)।

छांणि—क्रि० स० (सं० चालन या क्षरण)—छानकर, भेदकर पार कर गई। उ० पाणी पीवें छांणि। (सा० १७-१२-२)।

छानि—(पा० सा० २-३५-२)।

छांना—वि० (सं० छादन, हि० छाना)—आच्छादित, आवृत्त, गुप्त। उ० जिहि घटि मेरा सांइयां, सो क्यूं छांना होइ। (सा० २९-१७-२)।

छांनि—सं० स्त्री० (सं० छादन, हि० छाना)—छाजन, छप्पर। उ० टूटी घर की छांनि। (सा० ३०-१०-१)।

छांनै—क्रि० स० (सं० छादन, हि० छाना)—गुप्त में, प्रच्छन्न रूप में। उ० छांनै लंघण नित करै, रांम पियारे जोग। (सा० २९-१०-२)।

छाँह—सं० स्त्री० (सं० छाया)—छाया, आश्रय, आड़। उ० नाँ सुख धूप न छाँह। (सा० ३-४-२)।

छाँहड़ी—उ० जहाँ छाँहड़ी न घंम। (३१-४-२)।

छांहां—(पा० प० १३०-१५)।

छाँहीं—उ० निज जन बैठे हरि की छाँहीं। (प० ४६-५)।

छाइ रही—क्रि० स० (सं० छादन)—फैल गई। उ० रही कलेजा छाइ। (सा० ३-१३-२)।

छाइ रहे—छप्पर डालकर रहे, बसा रहे, टिका रहे। उ० तहाँ रहे घर छाइ। (सा० १४-१०-२)।

छाक—सं० स्त्री० (हि० छकना)—दुपहरिया का भोजन। उ० छाक परी मोहि ध्यांन। (प० २०-८)।

छाकि—(पा० सा० १२-१-१)।

छाका—क्रि० अ० (हि० छकना)—छक गया, मस्त हो गया। (पा०प० ५१-७)।

छागर—सं० स्त्री० (सं० छागल)—बकरी। (वी० र० ६५-६)।

छाजा—(१) सं० पु० (सं० छाद)—छज्जा, छप्पर। उ० मेरे डंड इक छाजा, तहां बसै इक राजा। (प० ३१-६)।
(२) क्रि० अ० (सं० छादन, हि० छाजना)—शोभा देता है, विराजता है। उ० सोलह कला संपूरण छाजा। (प० २०२-११)।

छाजै—शोभा देता है, सुशोभित होता है। (पा० प० १५७-१०)।

छाती—सं० स्त्री० (सं० छादिन्)—वक्ष-स्थल, सीना। उ० दे छाती ऊपरि पाव। (प० १६८-५)।

छात्री—सं० पु० (सं० क्षत्रिय)—चार वर्णों में से दूसरा वर्ण, क्षत्रिय। (वी० र० ८३-१)।

छाननहार—कर्तृ० (सं० चालन)—छानने वाला। (पा० सा० २७-१-२)।

छानवे पाखंडा—यौ०—उस समय के ९६ संप्रदाय, जिनमें १० संन्यासी, १२ योगी, १४ शेख, १८ बौध, १८ जंगम, २४ सेवड़ा सम्मिलित थे। (वी० र० १-५)।

छानै—क्रि० स०—(सं० छंदन, हि० छाँदना)—जकड़े जाने पर, विवश होकर। उ० छानै राम न गाइ। (सा० ४५-३६-१)।

छापरडांह—सं० पु० (हि० छोपना से छप्पर) छाजन पर। उ० नीर भिवांणां ठाहरै, नाऊँ छापर डांह। (सा० ५५-४-२)।

छापरि—सं० पु० (हि० छोपना से)—छाजन। (सा० ४६-१६-नो ३०)।

छापा—सं० पु० (हि० छापना से)—शंख, चक्र आदि का चित्र जिसे वैष्णव अंकित कराते हैं। उ० छापा तिलक बनाइ करि। (सा० २४-१६-२)।

छाबड़ी—सं० स्त्री० (देश०)—छाबा, खोंचा। उ० भरी छाबड़ी मन बैकुंठा, सांई सूर हिया रंगा। (प० २१४-६)।

छाया—(१) सं० स्त्री० (सं०)—साया। उ० सीतल छाया गहर फल। (सा० ४७-६-२)।
(२) सं० स्त्री० (सं०)—अंधकार। (वी० र० ३-३)।

छायौ—क्रि० स० (सं० छादन, हि० छाना)—फैलना। (पा० प० १०६-३)।

छार—सं० पु० (सं० क्षार)—भस्म, खाक। उ० पूजि पुजारा ले गया, दे मूरति कै मुहि छार। (प० १६८-८)।

छारा—धूल, गर्द। उ० अंति पड़ै मुखि छारा। (प० ३६-४)।

छाला—सं० पु० (सं० छाल)—फफोला, आबला। उ० जीभड़ियाँ छाला पड़्या। (सा० ३-२२-२)।

छावौ—क्रि० स० (सं० छादन, हि० छाना)—फैलाओ। उ० अब मोहि जिनि वहु रूपक छावौ। (प० ७८-३)।

छिटकन—क्रि० अ० (सं० क्षिप्ति, प्रा० खित्त)—बिखरने या फैलने। उ० निसि अंधियारी जागहु बंदे, छिटकन लागे सबही संधे। (प० २६७-४)।

छिटकै—छिटक जाय। उ० छिटकै पवन तार जब छूटै। (प० १०६-४)।

छिटकाई–सं० स्त्री० (हि० छिड़क+आई)—छिड़काव। (पा० प० १८३-१०)।

छिटक्याँ—क्रि० स० (हि० छिटकना)—चारों ओर फेंकते रहो। उ० कर छिटक्याँ कत ठौर। (सा० ४६-२५-२)।

छिन—सं० पु० (सं० क्षण, हि० छन)—समय। उ० छिन मैं कीन्ह न बेरी। (प० १०५-७)।

छिनछिन—क्रि० वि० (सं० क्षण—रह-रह कर, बराबर। उ० नैन हमारे जलि गए, छिन छिन लोड़ैं तुझ। (सा० ३-४२-१)।

छिनहर—(सं० छिन्न+हर)–टूटा-फूटा। उ० छिनहर घर अरु झिरहर टाटी। (प० २७३-२)।

छिपाएं—क्रि० स० (सं० क्षिप या क्षपण, हि० छिपाना)—ढाकने से, पर्दा देने से। (पा० प० १७७-४)।

छिपाया—अव्यक्त रखा, छिपा लिया। उ० आपण मांझै आप छिपाया। (२०२-२)।

छिपायें—ढाकने से। उ० गुंन हीं रहैं छिपायें। (प० २५६-४)।

छिपि जाइ—क्रि० अ० (सं० क्षिप)—अदृश्य हो जाता है। उ० क्यूँ तारां छिपि जाइ। (सा० १७-१६-२)।

छिया—वि० (सं० क्षिया)—घृणित, मलिन। (पा० प० १०४-४)।

छिरकि—क्रि० स० (हि० छिड़कना, छिटकना)—छिड़क कर, डाल कर। उ० हरि ररि छिरकि बुझाई। (प० १८६-२)।

छिवंला—क्रि० अ० (सं०√छुप्)—स्पर्श करना। (पा० प० १६६-४)।

छींकै—सं० पु० (सं० शिक्य)—सिकहर, रस्सियों का जालीदार सीका। उ० छींकै धरी चहोड़ि। (सा० १३-२४-१)।

छींतीं—क्रि० स० (सं० छिन्न+ना (प्रत्य०)—हरण कर ली। उ० काल्हि जु तेरी बंसरिया छींनी, कहा चरावै गाइ। (प० १७७-२)।

छीजै—क्रि० अ० (सं० क्षयण, हि० छीजना)—घटती है, कम होती है। उ० देही जुरा न छीजै। (प० १६२-२)।

छीलर—सं० पु० (हि० छिछला)—छिछला गड्ढा, तलैया। उ० छीलर देखि अनंत। (सा० २-३०-२)।

छुएं—क्रि० अ० (सं०√छुप्)—छूने, स्पर्श करने से। (पा० र० ७-४)।

छूवत—स्पर्श करते ही। (पा० सा० ४-१६-२)।

छुछंद—वि० (सं० स्वच्छंद)—स्वतन्त्र, मुक्त। उ० जे बांध्या ते छुछंद मुकता, बांधनहार बांध्या। (प० १७४-६)।

छुटक—वि० (सं० क्षुद्र)—छोटी, डील-डौल में कम। उ० रांम बड़े मैं छुटक लहुरिया। (प० ११७-४)।

छुटकावन—दे० 'छुडावण'। (पा० प० १६६-२)।

छुडावण—क्रि० स० (हि० छुड़ाना)—छुड़ाने के लिए। उ० जापैं जांऊं छुडावण, ते बीधे वहु फंधा। (प० १३३-२)।

छुड़ाया—दे०'छुड़ावै'। (पा०प० १७५-६)

छुड़ावै—क्रि० स० (हि० छोंड़ना से)—छुड़ा दे। उ० पकड़ि छुड़ावै बांह। (सा० ४३-८-२)।

छुरी—सं० स्त्री०(सं० क्षुर, हि०छुरा का स्त्री० रूप)—चाकू, चीरने-फाड़ने का

छोटा हथियार। (पा० सा० ३०-३-१)।

छुवांऊं—क्रि० स० (हि० छूना का सक० रूप)—स्पर्श कराऊँ। उ० अंगहि अंग न छुवांऊं। (प० २३१-७)।

छूंछे—वि० (सं० तुच्छ, प्रा० चुच्छ, छुच्छ)—नि:सार, ज्ञानरहित। (वी० र० ५६-४)।

छूट—सं० स्त्री० (सं० √छुट्)—छुटकारा, मुक्ति। (पा० प० १८०-५)।

छूटन—क्रि० अ० (सं० √छुट्)—दूर होना, अलग होना। (पा० प० ९७-७)।

छूटनि—(पा० सा० १५-३६-२)।

छूटनु—(पा० प० ९७-११)।

छूटहु—(पा० प० १९१-१०)।

छूटि—अलग हो जाएगा, दूर हो जाएगा। उ० यहु तन जैहै छूटि। (सा० २-२५-२)।

छूटिए—छूट सकने, मुक्त हो सकने। उ० उजल हूवा न छूटिए, सुख नींदड़ी न सोइ। (सा० १२-५३-२)।

छूटि पड़ौं—छुटकारा पाऊँ, मुक्त होऊँ। उ० छूटि पड़ौं या विरह तैं। (सा० ३-३७-२)।

छूटियो—छूट सकने, मुक्त हो सकने। उ० षूंणैं पड़्या न छूटियो, सुणि रे जीव अबूझ। (सा० ४५-२-१)।

छूटिहै—छूटता है। (पा०सा०१४-७-१)।

छूटी—छूट कर। (पा० प० ५०-४)।

छूटे—छूटने पर। (पा० प० ४८-२)।

छूटै—दूर होती है। उ० भागां ही छूटै नहीं भरि भरि मारै वांण। (सा०१६-६-२)।

छेक—सं० पु० (हि० छेद)—(१) छेद, चोट। उ० लागत ही मैं मिल गया, पड़्या कलेजै छेक। (सा० १-७-२)। (२) कटाव, विभाग। उ० कबीर सुपनै रैनि कै, पारस जीय मैं छेक। (सा० १२-२३-१)।

छेड़ि—दे०'छेड़ौं'। (पा०सा० १५-१३-१)

छेड़ै—दे०'छेड़ौं'। (पा०सा० ३०-१८-१)

छेड़ौं—क्रि० स० (हि० छेदना से)—तंग करने पर, उत्तेजित करने पर, भड़काने पर। उ० जे छेड़ौं तौ खाइ। (सा० २०-२-१)।

छेती—सं० स्त्री० (सं० क्षिप्त, प्रा० छित्त, हि० छेटा)—बाधा, रुकावट। उ० छेती नांहीं कांइ। (सा० ४६-८-१)।

छेदनां—वि० (सं० छेदन से)—काटने वाला। उ० वहु पाप परवत छेदनां, भौ ताप दुरिति निवारणां। (प०३९२-५)।

छै—क्रि० अ० (?)—है। उ० दांम छै पणि कांम नांहीं, ग्यांन छै पणि धंध रे। (प० ३९०-३)।

छोछी—वि० (सं० तुच्छ, प्रा० चुच्छ, छुच्छ, हि० छूंछी)—खाली, नि:सार। उ० छोछी नली कांमि नहीं आवै। (प० १९३-८)।

छोड़ई—क्रि० स० (सं० छोरण, हि० छोड़ना)–छोड़ता है, त्यागता है। (पा० प० ३९-४)।

छोड़ि—त्यागकर। उ० छींकौ छोडि उपरहि डौ बांधौ। (प० २२-४)।

छोड़ै—छोड़ता है। (पा० प० ९३-६१)।

छोति—सं० स्त्री (हि० छूना से)—छूत, अस्पृश्य का संसर्ग। उ० पाप पुन्य नहीं छोति। (सा० ५-४-२)।

छोरि—क्रि० स० (सं० छोरण)—छीन लिया। उ० तिनि सरवस लीनौ छोरि मोर। (प० ३८५-३)।

छोलनां—क्रि० स० (हि० छाल)—छीलना। (पा० सा० १-८-२)।

छोलिकै—छीलकर। (पा० १-८-२)।

छोलि छोलि–छील-छीलकर। उ०निबिया छोलि छोलि खाई। (प० १७७-७)।

छौ—वि० (सं० षट्)—छः। दे० 'छव'। (पा० प० १३६-४)।

छयांनवै पाषंड—दे० 'छानवे पाखंड'।

उ० छह दरसन छ्यांनवै पाषंड, आकुल । किनहुं न जानां । (प० ३४-४) ।

ज

जंगम—सं० पु० (सं०)–दाक्षिणत्य लिंगायत शैव सम्प्रदाय के गुरु । उ० कहै कबीर जोगी अरु जंगम, ए सब झूठी आसा । (प० ३४-७) ।

जँगल—सं० पु० (सं० जंगल)—वन, अरण्य । उ० जो कबहूँ उड़ि जाइ जँगल मैं, बहुरि न सुरतैं आनैं । (प० ४०-६) ।

जंगल—दे० 'जँगल' (पा० प० ८६-४) ।

जंगलि—जंगल में । उ० बस्ती मैं कै भारि चलाया, जंगलि किया बसेरा । (प० २३८-५) ।

जँजाल—सं० पु० (हि० जग + जाल)–प्रपंच, बखेड़ा, झंझट । उ० जीव जँजाल न छाड़ई, जम दिया दमांमां आइ । (सा० ४६-७-२) ।

जंजाल—बखेड़ा । उ० कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल । (सा० २-५-१) ।

जंजीर—सं० स्त्री० (फा०)—साँकल, बेड़ी । उ० बांधि जंजीर जलि बोरेहैं कबीर । (प० ३४१-३) ।

जंत (१)—सं० पु० (सं० जंतु)—जीव, प्राणी । उ० पसू पँखेरु जीवजंत, सब रहे मेर मैं बूड़ि । (सा० ५०-४-२) ।

जंत (२)—क्रि० अ० (हि० जाना)—जाते हुए । (सा० १२-४७-नो० ६१) ।

जंतड़ी—सं० स्त्री० (सं० यंत्र)—बाजा । (सा० ३७-५-नो० ८) ।

जंतु—जीव । (पा० सा० ३२-५-२) ।

जंत्र—सं० पु० (सं० यंत्र)—बाजा । उ० कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गए सब तार । (सा० ४६-२०-१) ।

जंत्रक—सं० पु० (सं० यंत्रक)–औजार । उ० ब्यंद भाव भ्रिग तत जंत्रक, सकल सुख सुखकारी । (प० १७२-३) ।

जंबक—सं० पु० (सं० जंबुक)—गीदड़ के उ० जंबक करै केहरि सूं लेखा । (प० १४५-६) ।

जंबकु—गीदड़ । उ० जंबकु केहरि कै ज्यूं संगा । (र० ४-२६) ।

जंबुक—गीदड़ । उ० अगनि दहै कै जंबुक खाई । (प० २६५-३) ।

जंबूरै—सं० पु० (फा०)—जमुरका, पुरानी छोटी तोप । (पा० प० ३४-६) ।

जंम—दे० 'जम' । (पा० प० ८६-६) ।

जंमराइ—सं० पु० (सं० यमराज)—यमराज । (पं० ३५१-२) ।

जबाई—सं० पु० (सं० जामातृ, हि० जमाई)—दामाद, जामाता । (पा० प० १६४-४) ।

जंहंडाइ—दे० 'जहंड़ाइया' (पा० र० १५-६) ।

ज—सर्व० (सं० यः)—जो । उ० कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी ज बाँधी एह । (सा० १२-२०-१) ।

जइए—दे० 'जइये' । (पा० प० १२३-४) ।

जइअै—दे० 'जइये' । (पा० प० २६-५) ।

जइये—क्रि० अ० (हि० जाना से)–जाइए, चला जाय । उ० जब लग तहां आप नहीं जइये । (प० २४-४) ।

जइयौ—जाय, चला जाय । उ० भगति जाव परु भाव न जइयौ, हरि के चरन निवासा । (प० २३५-८) ।

जइहौ—दे० 'जैहो' । (पा० प० ५४-१) ।

जउ—दे० 'जौ' । यदि (पा० प० ५४-३) ।

जग—सं० पु० (सं० जगत्)—विश्व, दुनिया ।) उ० सब जग धोबी धोइ मरै,

तौ भी रंग न जाय। (सा० १३-११-२)।

जगजीवन—सं० पु० (सं० जगत्+जीवन)—जगदाधार, भगवान। उ० ऐसैं जानि जपौ जगजीवन। (प० ८५-७)।

जगत—सं० पु० (सं० जगत्)—संसार। उ० रतन निराला पाईया, जगत ढंडोल्या वादि। (सा० ५-३३-२)।

जगदीस—सं० पु० (सं० जगदीश)—परमेश्वर। उ० विलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस। (सा० १६-१०-२)।

जगदेव—सं० पु० (सं०)—भगवान, परमेश्वर। उ० भूली मालिनी है गोव्यंद जागतौ जगदेवा। (प० १९८-१)।

जगन नाथ—सं० पु० (सं० जगन्नाथ)—उड़ीसा के अन्तर्गत पुरी में स्थापित विष्णुमूर्त्ति। (र० वा० ५७)।

जगन्नाथ—(पा० र० ३-८)।

जगनाथ—सं० पु० (सं० जगन्नाथ)—जगन्नाथ पुरी का तीर्थ स्थान। उ० मथुरा जावैं द्वारिका, भावैं जावैं जगनाथ। (सा० २८-३-१)।

जगपति—सं० पु० (सं० जगत्पति)—भगवान। उ० ताथैं भज्यौं न जगपति राजा। (प० २६४-२)।

जगमगैं—क्रि०अ० (अनु०)—मचलती है, दमकती है। उ० अगम अगोचर गमि नहीं, तहां जगमगैं जोति। (सा० ५-४-१)।

जगही—दे० 'जग'। संसार भर। उ० सब जगही मर जाइयौ, एक वढ़इया जिनि मरैं। (प० १३-९)।

जगाइ—क्रि० स० (हि० जगाना से)—जगा लिया। (पा० सा० २-४३-१)।

जगाइ देइ—जगा देता है। उ० सांई मेरा सुलपनां, सूता देइ जगाइ। (सा० ३८-४-२)।

जगाइया—जगा दिया। उ०सोवत ही जगाइया, जागत भये उदास। (प० ३०२-५)।

जगाति—सं० पु० (अ० ज़कात)—महसूल, कर। उ० रे जम नांहि नवै व्यौपारी, जे भरैं जगाति तुम्हारी। (प० २५४-१)।

जगाती—सं० पु० (हि० जगात+ई)—कर वसूलने वाला कर्मचारी। उ० तीन जगाती करत रारि, चल्यौ है वनिजवा वनज भारि। (प० ३८३-५)।

जगि (१)—सं० पु० (सं० यज्ञ)—यज्ञ। उ० का जोग जगि तप दांनां, जौ तैं रांम नांम नहीं जांनां। (प० २६५-३)। (२)—दे० 'जग'। संसार में। (पा० सा० ४-२६-२)।

जगु—दे० 'जग'। संसार में। (पा० प० ७९-३)।

जग्गि—दे० 'जगि-(१)-यज्ञ। (पा०प० ३३-४)।

जजमान—सं० पु० (सं० यजमान)—यजमान। (सा० १७-१०-नो० ११)।

जटा—सं० स्त्री० (सं०)—उलझे हुए सर के बहुत से बाल। उ० का जटा भसम लेपन कियें, कहा गुफा मैं वास। (प ३००-४)।

जटाधर—सं० पु० (सं०)—जटाधारी। उ० लुंचित मुंडित योनि जटाधर अंति तऊ मरणां। (प० २४८-८)।

जटाधार—उ० जोगी जंगम जती जटाधार। (प० ३८४-६)।

जटाधरि—जटाधारी। (पा० प० ४३-६)।

जठर—सं० पु० (सं०)—पेट, कुक्षि। उ० जननी जठर सह्या दुख भारी। (प० २२३-३)।

जठरांइ—पेट में, कुक्षि में। उ० जिनि नर हरि जठरांइ, उदिकंथैं पंड प्रगट कियौ। (सा० ३५-१-१)।

जड़—सं० स्त्री० (सं० जड)—मूल। उ० बलिहारी ताविरष की, जड़ काट्यां फल होइ। (सा. ५८-२-२)।

जड़िया—क्रि० स० (सं० जटन)—जड़ा हुआ। उ० कबीर मंदिर लाप का जड़िया

हीरैं लालि । सा० १२-१६-१) ।

जड़ीथैं—सं० स्त्री० (हि० जड़)—जड़ी-बूटी से । उ० नां जाणौं किस जड़ीथैं अमर भये असथूल। (सा० ४७-२-२) ।

जण जण—सं० पु० (सं० जन)—प्रत्येक लोग । (सा० ४८-१-नो १) ।

जणां—सं० पु० (सं० जन)—व्यक्ति । उ० जे सोऊं तौ दोइ जणां, जांगू तौ एक । (सा० १२-२३-२) ।

जत—वि० (सं० इयत्)—जितना । (पा० प० १८६-२) ।

जतन—सं० पु० (सं० यत्न)—प्रयत्न, सावधानी । उ० जे मन राखै जतन करि, तो आपैं करता सोइ । (सा० १३-१०-२) ।

जति—दे० 'जती' । (पा० प० १०२-३) ।

जती—सं० पु० (सं० यति)—संन्यासी । उ० जोगी जती तपी सन्यासी, बहु तीरथ भरमणां । (प० २४८-७) ।

जद—अव्य० (सं० यदि)—अगर । उ० जद सर जल परिपूरता, चात्रिग चितह उदास । (प० ११६-२) ।

जदपि—क्रि० वि० (सं० यद्यपि)—यद्यपि । (र० ४-४५) ।

जदि—क्रि० वि० (सं० यदा, हि० जद)—जब, जब कभी । उ० जदि. बिषै, पियारी प्रीति सूं, तब अंतरि हरि नाहिं (सा० २६-१३-१) ।

जदिका—क्रि०वि० (सं० यदा)—जब से । उ० जदिका भाइ जनमियां, कहूँ न पाया सुख । (सा० ३८-११-१) ।

जदितदि—अव्य० (सं० यदि+तदा)—कभी-कभी । उ० एक राम के नांव बिन, जदितदि प्रलै जाइ । (सा० १२-३८-२) ।

जन (१)—सं० (सं०) लोग । उ० जे जन बिछुरे राम सूं । (सा० ३-३-२) । (२) अनुचर, दास । उ० कहै कबीरा रामजन, खेलौ संत बिचार । (सा० १-३१-२) ।

जनक—सं० पु० (सं०)—मिथिला के राजवंश की उपाधि का राजा विशेष । (वी० र० ८-४) ।

जनतें—दे० 'जन' (२) । जन से, दास से। (पा० प० १८०-२) ।

जननि—दे० 'जननी' । माता । (पा० र० १-४) ।

जननीं—सं० स्त्री० (सं० जननी)—उत्पन्न करने वाली, माता । उ० जननीं कठर सह्या दुख भारी । (प० २२३-३) ।

जनम—सं० पु० (सं० जन्म)—(१) उत्पत्ति, स्थिति । उ० देखौ कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेखा (सा० ५-१२-१) ।
(२) जीवन, जीवन भर । उ० पांहन कु का पूजिए, जे जनम न देई जाब । (सा० २३-३-१) ।

जनमत—क्रि० वि० (हि० जन्मना)—जन्म लेते समय से ही । उ० तौ जनमत तीनि डाडि किन सारैं । (प० ४१-२) ।

जनमहि—दे० 'जनम' । जनम को । (पा० १५-६-१) ।

जनमहुं—क्रि० अ० (हि० जनम)—पैदा हुआ । (पा० प० १४३-४) ।

जनमांवनहारीं—वि० (हिं० जनम+हारी) जन्म देने वाला (पा० प० १६०-३) ।

जनमि—दे० जनम' । (प० १६१-२) ।

जनमि जनमि—दे० 'जनम' । जन्म लेकर, अनेक जन्म । उ० ग्यान अचेत फिरैं नर लोई, ताथ जनमि जनमि डहकाये । (प० १२-२) ।

जनमियाँ—क्रि० अ० (सं० जन्म, हि० जनमना से)—जन्मा, जन्म लिया । उ० ऊँचै कुल क्या जनमियां, जे करणीं ऊँच न होइ । (सा० २५-७-१) ।

जनमियां—क्रि० स० (हि० जनमना से)—जन्म दिया, जनमाया । उ० जदि का भाइ जनमियां, कहूँ न पाया सुख । (सा० ३८-११-१) ।

जनमिया—दे० 'जनमियां'। (पा० सा० ६-६-१)।

जनमु—दे० 'जनम'। (पा०प० ८०-२)।

जनमें—दे०'जनमै'। (पा०प० १५८-२)।

जनमै—क्रि० अ० (हि० जनमना)—जन्म लेता है। उ० कौंन मरै कौन जनमै आई, सरग नरक कौंने गति पाई। (प० ४४-१)।

जनम्यां—जन्म लिया। उ० कारनि कवन आइ जग जनम्यां, जनमि कवन सचु पाया। (प० १६१-२)।

जनां—दे० 'जन' (१)। लोग। उ० कौंन मरै कहु पंडित जनां, सौ समझाइ कहौ हम सनां। (प० ४५-१)।

जनावरा—सं० पु० (फा० जानवर)-पशु, जतु। (पा० सा० २०-११-२)।

जनि—अव्य० (सं०)—मत, नहीं। (बी० र० २०-२)।

जनीं—दे० 'जनी'। (पा०प० १६५-६)।

जनी—सं० स्त्री० (सं० जन)-माता, स्त्री, माया। (बी० र० ६-२)।

जनु—दे० 'जन' (२)। दास, सेवक। (पा० प० ३२-१)।

जनेऊ—सं० पु० (सं० यज्ञ)—यज्ञोपवीत, ब्रह्मसूत्र। (प० २५०-नो-५०)।

जन्म—दे० 'जनम'। जीवन, जीवनकाल। उ० एकै हरि के नांव विन, गए जन्म सवहारि। (सा० १२-२-२)।

जन्मत—क्रि० वि० (हि० जनमत, जनमना से)—जन्मते समय। उ० आपा थापि अवर कौ निंदैं जन्मत हीं जड़ काटी। (प० २५३-५)।

जपंतडां—क्रि० स० (सं० जपन, हि० जपना)—जपते हुए। उ० रांमहिरांम जपंतडां, काल घसींट्यतां जाइ। (सा० १७-१८-२)।

जप—सं० पु० (हि० जाप)—जाप, पूजा। उ० जप तप दीसैं थोथरा, तीरथ व्रत वेसास। (सा० २३-८-१)।

जपत—क्रि०स० (सं० जपन)—जपते हुए। (पा०प० २१-१)।

जपसि—जपता है। (पा० प० ७२-१)।

जपहु—जपो। उ० निरगुण रांम निरगुण रांम जपहु रे भाई। (प० ४६-१)।

जपात—जाप कराते हैं (पा०प० ७३-७)।

जपि—स्मरण करो, जपो। उ० कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति। (सा० २-१०-१)।

जपै—जपता है। उ० कबीर सूता क्या करे, जागि न जपै मुरारि। (सा० २-११-१)।

जपमाला—सं० स्त्री० (सं०)—जप करने के लिए बनाई गई माला। उ० कहा भयौ तिलक गरैं जपमाला। (प० १३६-१)।

जपु—दे० 'जप'। जाप। (पा० प० ७७-३)।

जब—क्रि० वि० (सं० यावत्, प्रा० याव, जाव)—जिस समय। उ० जब गोविंद कृपा करी, तब गुर मिलिया आइ। (सा० १-१३-२)।

जबर—जब कभी। उ० जबर मिलैगा पारिषू, तब हीरां की साटि। (सा० ४६-३-२)।

जबलग—जब तक, जिस समम तक। उ० जबलग भगति सकामता, तब लग निर्फल सेव। (सा० ११-१०-१)।

जबहिं—जबही। (पा०सा० ३१-२३-२)।

जबहीं—जबही, ज्यौंही। उ० जबहीं चालै पीठि दे अंकुस दे दे फेरि। (सा० १३-१६-२)।

जबहूं—जभी। उ० जबहूं मारचा खैंचि-करि, तब मैं पाई जांणि। (सा० ३-१६-१)।

जबै—जबही। (पा० प० १४३-४)।

जबह—सं०पु० (अ०)—गला काटकर प्राण

लेने की क्रिया। (बी०र० ४६-४)।

जवाब—सं० पु० (अ० जवाब)—उत्तर। उ० तुम्ह साहिब हम कहा भिखारी, जबाव होत बज गारी। (प० ३३९-७)।

जम—सं० पु० (सं० यम)—काल, मृत्यु, यमराज। उ० तेरे सिर परि जम खड़ा, खरच कहे का खाइ। (सा० २-१४-२)।

जमघर—सं० पु० (सं० यमगृह)—मर्त्य-लोक। (बी० र० ६५-६)।

जमदांनीं—सं० पु० (सं० यमदूत से)—यमराज के दूत। उ० निस बासुरि पेड़ा पड़ै, जमदांनी लूटै। (प० ३७३-३)।

जमनां—दे० 'जम'। यमराज। (पा० प० १०१-२)।

जमपुर—सं० पु० (सं० यमपुर)—नरक। (पा० प० १४-३)।

जमपुरि—नरक। उ० एकै हरि का नाँव बिन, बांधे जमपुरि जांहि। (सा० १२-५४-२)।

जमभ—दे० 'जम'। यम भी। (पा० र० ८-२)।

जमवा—दे० 'जम'। यमराज, काल। उ० तिहि चढ़ि इदऊँ करत गवंसियां, अंतरि जभवा जागू हो। (प० ७७-४)।

जमाति—सं० स्त्री० (अ० जमाअत)—समूह, गिरोह। (पा०सा० ४-१८-२)।

जमायौ—क्रि० स० (हि० जमना का सक० रूप) जमाया। उ० एक दहिड़िया दही जमायौ, दूसरी परि गई साई रे। (प० ७६-७)।

जमावली—सं० स्त्री० (हि० यमावली)—यमपंक्ति। उ० असंखि कोटि जाकै जमावली, रांवण सेत्यां जाथैं चली। (प० ३४०-१२)।

जमु—दे० 'जम'। यमराज। (पा० प० ६०-६)।

जमुन—सं० स्त्री० (सं० यमुना)—यमुना नदी या पिंगला नाड़ी। उ० गंगा जमुन उर अंतरै, सहज सुंनिल्यौ घाट। (सा० १०-३-१)।

जमुनां—उ० मन मंजन करि दसवै द्वारि, गंगा जमुनां संधि विचारि। (प० ३२६-४)।

जर—क्रि०अ० (सं० ज्वलन)—दग्ध होता है, जलता है। (पा० र० १७-८)।

जरइ—जलता है। (बी०र० ५६-१)।

जरई—जलता है। (र० ४-४०)।

जरउ—जलूँ। (पा० प० १३५-४)।

जरजर—वि० (सं० जर्जर)—जीर्ण, खंडित, टूटा-फूटा, बेकाम। उ० चोट सतांणी विरह की, सव तन जरजर होइ। (सा० ३-१४-१)।

जरजरा—फूटा हुआ, खंडित। उ० मेरा देख्या जरजरा, (तब)ऊतरि पड़े फरंकि। (सा० १-२५-२)।

जरजरी—टूटी-फूटी। उ० कबीर नाव जर-जरी, कूड़े खेवणहार। (सा०१२-६२-१)।

जरजोधन—सं० पु० (सं० दुर्योधन)—दुर्योधन नामक प्रसिद्ध कुरुवंश का राजा (प० ३४०-१३)।

जरिजोधन—दुर्योधन (पा० प०-९६-८)।

जरत—क्रि० अ० (सं० ज्वलन)—जलते। (पा० र० १८-६)।

जरतई रहै—जलता ही रहता है। (बी० र० ६१-४)।

जरता है—जल रहा है। उ० देखहु यहु तन जरता है। (प० ९४-१)।

जरसि—जलता है। (पा० र० २०-२)।

जरिअँ—जलता है। (पा० प० ६८-३)।

जरिजरि—जल-जलकर। (पा०सा० २४-१८-२),

जरिया—जलता है। उ० कीट पतंग होइ सब जरिया। (प० १५८-८)।

जरेंवरें—(हि० जलना+वलना)—जलते हैं, वलते हैं। उ० अव तौ जरें वरें वनि आवै, लीन्हों हाथ सिंधौरा। (प०

१२९-२)।

जरै—जल जाता है। उ० अंन पान जहां जरै, तहां तैं अनल न चषियौ। (सा० ३५-१-४)।

जरद—वि० (फा० जर्द)—पीला। (वी० र० ४९-३)।

जरन—दे० 'जलन' (पा०प० १३२-२)।

जरल—क्रि० (हि० जरना)—जले हुए का। (वी० र० ५६-१)।

जरा—सं० स्त्री० (सं०)—बुढ़ापा। दे० 'जुरा'। (पा० प० १२८-६)।

जराइ—क्रि० स० (सं० ज्वलन)—जलाकर। (पा० प० १७-५)।

जराइदेइ—जला दूँ। उ० ऐसा कोई नां मिलै, अपना घर देइ जराइ। (सा० ४३-४-१)।

जराईजाइ—जलाई जाती है। उ० इक त्रिपांवंत अरु जाइ जराई, झूठी आस लागि मरि जाई। (र० ४-७२)।

जरावै—जलाता है, तपाता है। उ० विरह अगिन तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु विचारि। (प० ३०५-४)।

जरासिंध—सं० पु० (सं० जरासंध)—मगध का प्रतापी राजा। (वी० र० ४७-१)।

जरि (१)—सं० स्त्री० (हि० जड़ीं)—जड़ी-बूटी। उ० भया दयाल विषहर जरि जागा, गहगहान प्रेम वहु लागा। (र० ४-१)।

जरि (२)—क्रि० अ० (सं० ज्वलन)—जलता। (पा० प० २१-१)।

जरिवरिहैं—क्रि० अ० (हि० जलना+वलना)—झुलस जाएगा। (र० १-टि०-६२)।

जर्णा—सं० स्त्री० (राज० जरणूं से)—ज्वाला, आनन्दातिरेक प्रकाशन की तीव्र विवशता (सा० ८-शीर्षक)।

जल—सं० पु० (सं०)—पानी। (सा० ४-६-२)।

जलकन—सं० पु० (सं० जलकण)—पानी की बूंद, नश्वर। (वी० र० ११-४)।

जलजंत—सं० पु० (सं० जलजंतु)—जल के जीव। उ० जलजंत न देखिसि प्रानीं सब दीसै झूठ निदानीं। (प० २९६-८)।

जलता—क्रि० अ० (सं० ज्वलन, हि० जलना)—दग्ध होता हुआ, जलता हुआ। उ० सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास। (सा० १२-१६-२)।

जलती—जलती हुई, झुलसती हुई। उ० विरह जलाई मैं जलौं, जलती जलहरि जाऊँ। (सा० ३-३९-१)।

जलधारा—सं० पु० (सं०)—जल की धारा। (पा० प० ३४-६)।

जलन—क्रि० अ० (हि० जलना से)—जलने। उ० सती जलन कूं नीकली, जीव का सुमरि सनेह। (सा० ४५-३६१)।

जलनिधि—सं० पु० (सं०)—समुद्र। उ० तुम्ह जलनिधि मैं जल कर मीनां। (प० १२०-३)।

जलह—सं० पु० (हि० जलधर, जलहर)-जलाशय। उ० कवल ज फूल्या जलह विन को देखैं निज दास। (सा० ५-६-२)।

जलहर—दे० 'जलहरि'। (र० ४-१२)।

जलहरि—सं० पु० (हि० जलधर)—जलाशय। उ० विरह जलाई मैं जलौं, जलती जलहरि जाऊँ। (सा०३-३९-१)।

जलहरू—जलाशय (पा० प० ११२-७)।

जलहल—दे० 'जलहरि'। जलाशय। (वी० र० ६५-३)।

जलहिं-दे० 'जल'। जल के। उ० जल मैं रहौं जलहिं विन पीनां। (प०१२०-४)।

जलहीं—जल से। (पा० प० २००-४)।

जला—क्रि० अ० (हि० जलना से)—जल गया। (पा० सा० २-४२-१)।

जलि (१)—जलकर। उ० समंदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भई।

(सा० ४-१०-१)।

जलि (२) सं०पु० (सं० जल)—जल में। उ० कबीर जग की को कहै, भौ जलि बूडै दास। (सा० १६-१६-१)।

जलिजाउं—नष्ट हो जांऊँ, जल जाऊँ। उ० छूटि पड़ौं या बिरह तैं, जे सारी ही जलि जाऊँ। (सा० ३-३७-२)।

जलिबलि—(मुहा०) जलकर। उ० लोह निहाला अगनि मैं, जलिबलि कोइला होय। (सा० २०-१६-२)।

जलिया—जल गया। उ० अगनि जु लागी नीर मैं, कंदू जलिया झारि। (सा० ४-५-१)।

जली—जलगई, नष्ट हो गई। उ० विरहणि थी तौ क्यूं रहीं, जली न पीव की नालि। (सा० ३-३६-१)।

जलै—जलने लगता है, जल जाता है। उ० मो देख्यां जलहरि जलै, संतै कहां बुझांऊँ। (सा० ३-३९-२)।

जलौं—जलती हूँ। उ० विरह जलाई में जलौं, जलतीं जलहरि जाऊँ। (सा० ३-३९-१)।

जल्या—जल गया। उ० कबीर तनमन यौं जल्या, विरह अगनि सूं लागि। (सा० ३-३८-१)।

जलाई—क्रि० स० (हि० जलाना से)—दग्ध होती हुई। उ० बिरह जलाई मैं जलौं, जलरी जलहरि जाऊँ। (सा० ३-३९-१)।

जलावो—जला दो। उ० लावौ बाबा आगि जलावो धरा रे। (प० २३६-१)।

जलावनहार—सं० पु० (हि० जलाना+वाला या हार)—जलाने वाला। (पा० सा० १६-२३-१)।

जवनपुर—सं० पु० (हि० जौनपुर)—स्थान-विशेष। (वी० र० ४८-२)।

जवरहिं—क्रि०वि०(फा०जवार, हि०जौरे)—निकट, साथ ही। (बी०र०४६-५)।

जवाई—दे० 'जंवाई'। दामाद। उ० पहली खाई आई माई, पीछै खैहूं सगौ जवाई। (प० २२७-३)।

जवासा—सं० पु० (सं० यवासक, प्रा० यवासअ)—हिंगुआ, विशेष पौधा। उ० जवासा के रूष ज्यूं, घण मेहां कुमिलाई। (सा० १६-१५-२)।

जस (१)—क्रि० वि० (सं० यादृश्)—जैसा। (पा० प० १६-६)।

जस (२)—सं० पु० (सं० यश)—यश। उ० निर्मल नांव चवै जस वोलै। (प० ३४४-२)।

जसकर—सर्व० (हि० जिस+का)—जिसका। उ० अवगति की गति क्या कहूँ जसकर गांव न नांव। (र० ५-११)।

जसरथ—सं० पु० (सं० दशरथ)—रामचन्द्र जी के पिता, दशरथ नाम के राजा। उ० नां जसरथ घरि औतरि आवा, नां लंका का राव संतावा (र० बा० ५१)।

जसवै—सं० स्त्री० (सं० यशोदा, हि० जसोदा)—नन्द की स्त्री, जिसने कृष्ण को पाला था। उ० ना जसवै ले गोद खिलावा। (र० बा०-५२)।

जसि—दे० 'जस' (१)। जैसा। उ० पंजर जसि करद दुसमन, मुरद करि पैमाल। (प० २५८-२)।

जसु—दे० 'जस' (२)। यश। (पा० प० ३१-२)।

जहं—दे० 'जहां'। (पा० प० १९९-६)।

जहँडाइया—क्रि० अ० (सं० जहन, हि० जहंडाना)—धोखे में आ गए। (बी० र० १६-७)।

जहंडाइया—(पा० र० १३-७)।

जहंदम—सं० पु० (हि० जहदा)—दलदल, अधिक कीचड़ अथवा (फा० जहन्नुम)—नर्क। उ० जगत जहंदम राचिया, झूठे कुल की लाज। (सा० २४-२०-१)।

जहर—क्रि० वि० (हि० जहाँ)—जहाँ तक। उ० पहनांय परदा ईत आतस, जहर जंगम जाल। (प० २५८-४)।

जहां—क्रि० वि० (सं० यत्र)—जिस जगह। उ० जहाँ नाद न व्यंद दिवस नहीं राती, नहीं नर नारि नहीं कुल जाती। (प० २६७-४)।

जहाज—सं०पु०(अ०जहाज)—बहुत बड़ी नाव जो समुद्रादि में चलती है। (पा० सा० २५-१५-२)।

जहुवां—दे० 'जहवां'। (र० ३-५३)।

जहूंवा—क्रि० वि० (सं० यत्र, पा० यत्थ, प्रा० जह, हि० जहां) —जहाँ पर। उ० जंगम जोग विचारैं जहूँवा, जीव सीव करि एकै ठऊवां। (र० १-११)।

जाँघ ऊघारिके—(मुहा०) हृदय के गोपनीय रहस्य को प्रगट करते हुए। (बी० र० ७३-७)।

जाँउं—दे० 'जाउँ'। (पा० प० ३०-३)।

जांचन—क्रि० स० (सं० याचन)-माँगने। (पा० प० ८-१५-१)।

जांचा—माँगा। (पा० सा० २१-२४-१)।

जांच्यौ—प्रार्थना की, माँगते फिरे। उ० इही उदर कै कारणै, जग जांच्यौं निस जाय। (सा० १७-२-१)।

जांण (१)—क्रि० स० (हि० जानना से)-जानो, समझो। उ० जे वो एक जांणियाँ, तौं जांण्या सब जांण। (सा० ११-८-१)।

जांणई—जानता है, समझता है। उ० सूका कांठ न जांणई, कबहूँ वूठा मेह। (सा० ५५-१-२)।

जांणई—जान पाता है। उ० मृतक पीड़ न जांणई, जांणौंगी यहु आगि। (सा० ३-३८-२)।

जांणिपड़ता—जान पड़ता। उ० दीपक दृष्टि पतंग ज्यूं पड़ता पूरी जांणि। (सा० १-१९-२)।

जांणिपाई—जान पाया, जान गया। उ० वहूँ मा रचा खैंचि करि, तब मैं पाई जांणि। (सा० ३-१६-१)।

जाँणियाँ—जाना, अनुभव किया। उ० जिहि हरि जैसा जांणियाँ, तिनकूं तैसा लाभ। (सा० २-२१-१)।

जांणियाँ—जाना। उ० जे वो एक जांणियाँ तौं जांण्या सब जांण। (सा० ११-८-१)।

जांणियां—जाना। उ० जे वो एक न जांणियां, तो सब ही जांण अजांण। (सा० ११-८-२)।

जांणिये—समझिये। उ० हरि रस पीया जांणिये, जे कबहूँ न जाइ खुमार। (सा० ६-४-१)।

जांणिहै—जानेगा, समझेगा। उ० मारणहारा जांणिहै, कै जिहि लागी सोइ। (सा० ३-१४-२)।

जांणी—जान लिया। उ० जतन करत पतन ह्वै जैहै, भावैं जांणम जांणीं। (प० ३९७-२)।

जांणीजै—जानना चाहिए, समझना चाहिए। उ० ज्यूं जल मैं प्रतिव्यंब, त्यूं सकल रांमहिं जांणी जै। (सा० ३३-९-४)।

जांणैं—जानते हैं, जानता है। उ० मन जांणैं सब बात, जाणत ही औगुण करै। (सा० १३-७-१)।

जांणैगा—जानेगा। (प० १४१-२)।

जांणौं—जानता हूँ, जानूँ। उ० मैं का जांणौं राम कूं, नैंनूं कबहुँ न दीठ। (सा० ८-१-२)।

जांणौंगी—जानेगी, समझेगी। उ० मृतक पीड़ न जांणई, जांणौंगी यहु आगि। (सा० ३-३८-२)।

जांण्यां जाइ—जाना जाय। उ० कौंण देस, कहाँ आइया, कहु क्यूं जांण्यां जाइ। (सा० १४-१-१)।

जांण्या—जाना हुआ। उ० जे वो एक जांणियाँ, तौ जांण्या सब जांण। (सा० ११-८-१)।

जांन—दे० 'जांण'। (पा०प० १६५-२)।

जांनंहि—जानते हैं। (पा० प० ८८-८)।

जांनां—समझा। (र० ३-५८)।

जांनियां—दे० 'जांणियां'। (पा० प० ८२-८)।

जांनियैं—जाना जाए। (र० ३-३६)।

जांनैं—जानता है। (पा०प० १७-२)।

जांन्यूं—जाना, समझा। उ० मैं जांन्यूं पढ़िबौ भलौ, पढ़िवा थैं भलौ जोग। (सा० १६-१-१)।

जांण (२)—(सं० ज्ञान से)—जानकर। उ० कवीर माया मोहनी, मोहे जांण सुजांण। (सा० १६-६-१)।

जांणम-जांणी—(राज० जाणमजाण से)-चाहे इसे तू जाने अथवा न जाने। उ० जतन करत पतन ह्वै जैहै, भावैं जांणम-जाँणीं। (प० ३६७-२)।

जांणी—क्रि०स० (हि० जाना)—जाना। उ० आंवण जांणी मिटि गई, मन मनहि समाई। (प० १५६-८)।

जांनणहार—वि० (हि० जानना से)—जानने वाला। उ० हंस रूप को कोइ साध है, तन का जांनणहार। (सा० ३२-१-२)।

जांन न दैहूँ—क्रि० स० (हि० जाना)—जाने न दूँगा, विछड़ने न दूँगा। उ० अव तोहि जांन न दैहूँ राम पियारे। (प० ३-१)।

जांननहार—दे०। 'जांनणहार'। जानने वाला। उ० कोई जाणैगा जांननहार सभागा। (प० १४१-२)।

जांननहारौ—(पा० प० १७६-२)।

जांने—क्रि०अ० (हि० जनम)—जनणमे (पा० प० ११४-२)।

जांमण—क्रि० आ० (हि० जनमना)—जन्म लेना। उ० कवीर संसा दूरि करि, जांमण मरण भरंम। (सा० ३४-४१)।

जांमन—जन्म लेना। (पा०प० ८८-४)।

जांमैं—जन्मना, जन्म लेवे। उ० जीव छतां जांमैं मरैं, सूषिम लखै न कोइ। (सा० १५-२-२)।

जांहिंगे—क्रि० अ० (हि० जाना से)—जाएंगे। उ० एक दिनां छिप जांहिंगे, तारे ज्यूं परभाति। (सा०४६-१४-२)।

जांहि—जाते हैं। उ० एकै हरि का नांव बिन, वाँधे जमपुर जांहि। (सा० १२-५४-२)।

जांहिगें—जाएँगे। उ० साहिब सूं पर्चा नहीं, ए जांहिगें किस ठौर। (सा० १४-४-२)।

जा—(हि० जो)—जिस। (पा० प० ३६-३)।

जाइंगे—दे० 'जांहिगे'। जाएंगे। (पा० सा० ४-१६-२)।

जाइ—क्रि० अ० (हि० जाना से)—जाय दूर हो। उ० कवीर पीर पिरावनीं पंजर पीड़ न जाइ। (सा० ३-१३-१)।

जाइए—जाइए। (पा० प० १०-७)।

जाइअै—जाइए। (पा० प० ३६-३)।

जाइगा—जाएगा। (पा० प० ७४-२)।

जाइगी—जाएगी। (पा० प० ६६-४)।

जाइत जाव—जाता हो तो चला जा। उ० पारब्रह्म कूं सेवतां, जे सिर जाइ तं जाव। (सा० ४५-३०-२)।

जाइथा—जा रहा था। उ० पीछैं लागा जाइथा, लोक बेद के साथि। (सा० १-११-१)।

जाइबे—जाएगा, जा सकता है। उ० हंस पंखेरुवा अब कहां जाइबे। (र० ३-६४)।

जाइबे कौं—जाने को, जाने के लिए। उ० जाइबे कौं जागा नहीं, रहिबे कौं नहीं ठौर। (सा० १४-५-१)।

जाइबौ—जाना। उ० धीरैं धीरैं खाइबौ अनत न जाइबौ। (प० २२७-१)।

जाइये—जाया जाए। उ० नां कतहूं, चलि जाइये, नां सिर लीजै भार। (प० ५-७)।

जाइयौ—जाएगा। उ० राम जग ही मर जाइयौ, एक वढ़इया जिनि भरै। (प० १३-६)।

जाइसी—जाएगा। उ० केते अजहूँ जाइसी, नरकि हसंत हसंत।(सा० २०-१३-२)।

जाई—जाए। सो क्यूं अनत पुकारत जाई। (प० ११४-४)।

जाईले—जाता है। (पा० प० १५६-४)।

जाउँ—जाता हूँ। तो तो करै त वाहुड़ौं, दुरि दुरि करै तो जाउँ। (सा० ११-१५-१)।

जाउ—जाओ। (पा० प० १४-६)।

जाऊँ—जाती हूँ। उ० विरह जलाई मैं जलौं, जलती जलहरि जाऊँ। (सा० ३-३६-१)।

जाऊँगा—जाऊँगा। उ० आऊँगा न जाऊँगा मरूँगा न जीऊँगा। (प० ३३१-१)।

जाएँ—जाने से। (पा० प० १७७-६)।

जात—(१) जाता है। उ० कवीर यहु तन जात है, सकै तो लेहु वहोड़ि। (सा० १२-३७-१)।

जाता (१)—जाता। उ० सो सुलितांन जु द्वै सुर तांनैं, वाहरि जाता भीतरि आनैं। (प० ३३०-६)।

जाता(२)—वि०(हि०जाना)—नश्वर, जात हुआ। उ० जोगी हूवा जांणि जग जाता, सहर उजीणीं त्यागी (प० २६६-४)।

जाय—जाता है, दूर होता है। उ० सव धोवी धोइ मरै, तौ भी रंग न जाय। (सा० १३-११-२)।

जाव—जाओ। उ० भगति जाव पर भाव न जइयौ, हरि के चरन निवासा। (प० २३५-८)।

जावा—जाता है। (पा०चौ०र० १६-२)।

जावै—जाता है। (पा० पं० १४६-३)।

जासिसी—जाएगी। (सा०२०-४-नो०-५)।

जासी—चला जाता है। उ० कहै कवीर प्रेम नहीं उपज्यौ, वांध्यौ। जमपुरि जासी। (प० ४०-८)।

जाहि—जाते हैं। (पा० प० १६२-४)।

जाहि (१)—जाओ। उ० जाहि सुख धरि आपणैं, हम जाणौं अरु दुख। (सा० ११-६-२)।

जाहि (२)—सर्व० (हि० जौन से)—जिसके। उ० जाहि फिरांयां हरि मिलै। (सा०२४-२-२)।

जाहिगे—जाएँगे। (पा० प० १०२-५)।

जाहिगा—जाएगा। (पा० प० १८६-१)।

जाहीं—जाता है। (पा०प० ३५-२)।

जाहु—जाओ। (पा० प० ६३-१)।

जाहुगे—जाओगे। (प० १२७-नो० १३०)।

जैबे—जाएगा। (पा० प० १६७-१)

जैहहि—जाएगा। (पा०सा०१५-२५-२)।

जैहूं—जाऊँगा। उ० कहै कवीर भल नरकहि जैहूं। (प० २६०-५)।

जैहै—जाएगा। (पा० प० १०४-४)।

जैहो—जाओगे। उ० रांम मोहि तारि कहाँ लै जैहो। (प० ५२-१)।

जैहौ—जाओगे। उ० या वनासपती मैं लागैगी आगि, तव तूं जैहौ कहाँ भागि। (प० ३८८-५)।

जाए—क्रि० स० (सं० जनन)—पैदा करने। (पा० सा० १६-४०-१)।

जाका—सर्व० (हि० जौन से)—जिसका, जिसके। उ० जाका सँग तैं वीछुड़्या, ताही के सँग लागि। (सा० २-१२-२)।

जाकी—जिसकी। उ० कवीर विचारा, क्या करै, जाकी सुखदेव वोलैं सापि। (सा० २६-११-२)।

जाके—जिसके। (पा० प० ३८-३)।

जाकै—जिसे, जिसके। उ० जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ। (सा० ४-३-२)।

जाकौं—जिसको। (पा० प० ३३-४)।

जाकौ—जिसको, जिसके लिए। उ० जाकौ जेता निरमया, ताकौं तेता होइ। (सा० ३५-८-१)।

जाग—क्रि० अ० (सं० जागरण, हि० जगना)—जागा। (पा० प० १६८-१)।

जागणीं—जागन। उ० ऐसी जागणीं जे को जागै, ता हरि देइ सुहाग रे। (प० ३५०-५)।

जागत—जागते-जागते। उ० ताथैं जियरै डर गह्या, जागत रैंणि बिहाइ। (सा० ४६-२८-२)।

जागा—जाग उठा। उ० भया दयाल बिषहर जरि जागा, गहगहान न प्रेम बहु लागा। (र० ४-१)।

जागि—जगकर, प्रबुद्ध होकर। उ० कबीर सूता क्या करे, जागि जपै मुरारि। (सा० २-११-१)।

जागिया—जागता है, सजग रहता है। उ० कबीर खालिक जागिया, और न जागै कोइ। (सा० २९-२०-१)।

जागी—(१) जागती रही, जागृतावस्था में रही। (सा० ५-१-२)।
(२) उठी, प्रगट हुई। उ० काम, क्रोध दोऊ भया पलीता, तहां जोगणीं जागी। (प० ७०-४)।

जागूं—नींद से उठूं, जाग जाऊँ। उ० जे सोऊं तौ दोई जणां, जागूं तौ एक। (सा० १२-३२-२)।

जागू—सजग है, सावधान बैठा है। उ० तिहि चढ़ि इंदऊं करत गवंसियां, अंतरि जमवा जागू हो। (प० ७७-४)।

जागे—जाग गया। (पा० प० १६८-६)।

जागै—जागता है। उ० दुखिया दास कबीर है, जागै अरू रोवै। (सा० ३-४५-२)।

जाग्या—प्रगटा। उ० पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनंत। (सा० ५-१३-१)।

जागता—दे० 'जागतौ'। (पा० प० १८७-२)

जागतौ—वि० (हि० जागना)—जागा हुआ, प्रत्यक्ष। उ० भूली मालिनी है गोव्यंद जागतौ जगदेव। (प० १९८-१)।

जागबलिक—सं० पु० (सं० याज्ञवल्क्य)—एक ऋषि का नाम। (बी० र० ८-४)।

जागरणां—सं० पु० (सं० जागरण)—जगने का भाव। उ० नौंमी नेम दसमीं करि संजम, एकादसी जागरणां। (प० २५०-७)।

जाचंध—वि० (हि० अंध से)—पूर्ण रूप से अंधा। (पा० सा० १-६-१)।

जाचउं—दे० 'जांच्यौ'। (पा० प० १५५-१)

जाचण—क्रि० स० (हि० याचना)—माँगने के लिए। उ० कबीर जाचण जाइथा, आगैं मिल्या अंच। (सा० ५०-१२-१)।

जाचिग—सं० पु० (सं० याचक)—भिखारी, माँगने वाला। उ० जाचिग दाता इक पाया, धन दिया जाइ न खाया। (प० २८२-२)।

जाजरा—दे० 'जरजरा'। (सा० १-२५-नो०)।

जाजरौ—वि० (सं० जर्जर)—पुराना, जीर्ण। उ० घर जाजरौ बलींडौ टेढौ, औलौ ती डर राइ। (प० २२-२)।

जाड़न—सं० पु० (सं० जड़)—जड़ता की ठंडक से। (बी० र० ७३-३)।

जाणतही—क्रि० वि० (हि० जानना से)—जानते हुए भी। उ० मन जांणै सब बात, जाणत ही औगुण करै। (सा० १३-७-१)।

जाण्यौं—क्रि० स० (हि० जानना से)—जाना। उ० राम नाम जाण्यौं नहीं, लागी मोटी षोड़ि। (सा० १२-३१-१)।

जातां—वि० (हि० जाना)—जाते हुए को। उ० ऊभड़ जातां बाट बतावै, जौ न चलै तौ वहु दुख पावै। (प० १४३-३)।

जाता—जाता हुआ, नश्वर। उ० जोगी हूवा जांणि जग जाता, सहर इजी

त्यागी। (प० २६६-४)।

जाति—सं० स्त्री० (सं०)—(१) सामाजिक विभाग। उ० हरि जी सवां न कोटि तू, हरिजन संई न जाति। (सा० १-१-२)।
(२) कोटि, श्रेणी। उ० पांणीं केरा बुदबुदा, इसी हमारी जाति। (सा० ४६-१४-१)।

जातिग—सं० पु० (सं० जाति से)—वंश, कुल, जाति। उ० नां तिहि सूतिग पातिग जातिग, नां तिहि भाइ न देव कथापिक। (र० बा० ६२)।

जाती—क्रि० वि० (हि० जाना)—जाते समय। उ० जाहि जाती नांव न लीया, फिरि पछितावै गौ रे जीया। (प० २४४-१)।

जातैं—सर्व० (हि० जौन से)—जिससे, जिसके द्वारा। उ० सो वूटी पाँऊं नहीं, जातैं जीवनि होइ। (सा० ३-४०-२)।

जाथैं—सर्व०(हि० जो)—जिससे। उ० जाथैं जनम लहत नर आगैं, पाप पुनि दोऊ भ्रम लागैं। (प० २८३-५)।

जानंता—वि० (हि० जानना)—जानता हुआ। (पा० सा० ३-२४-१)।

जानई—क्रि० स० (हि० जान से)—जानता है। (पा० सा० २-४२-२)।

जानउं—जानता हूँ। (पा० प० २२-४)।

जांनता—जानते हुए भी। (पा० सा० १६-३३-२)।

जानहि—जानता है। (पा० प० ३२-४)।

जांनहीं—जानते हैं। (पा० प० ७-२-२)।

जानां—समझा। उ० भगति करी मन उनहुँ न जानां। (प० ३३-२)।

जानि बूझि—जान-बूझकर, समझ-बूझकर। उ० जानि बूझि कंचन तजै काठा पकड़ै काच। (सा० २२-१५-२)।

जांनिए—समझिए। (पा०सा० १२-५-१)

जानिअै—दे०'जांनियै'। (पा०प० ८२-५)

जांनियां—समझा। (पा०सा० ३-१९-१)

जानियैं—दे० 'जांनियै'। जानते हैं। उ० आप आप थै जानियैं, है पर नाहीं सोइ। (र० ३-५६)।

जांनिहै—जानता है। (पा० सा० २-३४-२)।

जानीं—समझी। उ० मन की गति उनहूं नहीं जानीं। (प० ३३-३)।

जांनु—समझो। (पा० प० १३०-१३)।

जांनूं—समझूं। (पा० सा० ७-९-२)।

जांनें (?)—समझा। (पा०प० ११४-२)

जानैं—जानता है। (पा०प० ८-२)।

जांनैंगा—समझेगा। (पा०प० १२५-५)।

जांनैंगी—समझेगी। (पा०सा० २-४२-२)

जानौं—समझते हो। (पा०प० १०१-३)

जानींदा—क्रि० स० (हि० जानना से)—जाना, समझा। (सा० ४३-१३-नो० १६)।

जाने—वि० (हि० जानना)—चतुर, ज्ञानी। (बी० र० ४३-४)।

जाप—सं० पु० (हि० जपना से)—जप, स्मरण। उ० राम पियारा छांड़ि करि करै आन का जाप। (सा० २-२२-१)।

जापहि—दे०'जापै'। (पा०प० १६६-२)

जापैं—सर्व० (हि० जौन से)—जिसके पास। जापैं जांऊं आपनपौ छुड़ावण ते वीधे वहुफंधा। (प० १३३-२)।

जाव—दे० 'ज्वाव'। उत्तर। उ० जे जनम न देई जाव। (सा० २३-३-१)।

जावदेई—क्रि० स० (हि० जाव+देना)—रोकता है, बंद करता है। उ० पांहन कु का पूजिए, जे जनम न देई जाव। (सा० २३-३-२)।

जाम—सं० पु० (सं० याम)—पहर। उ० नैंना नीझर लाइया, रहट वहै दिन जाम। (सा० ३-२४-१)।

जामहि—सर्व० (हि० कौन से)—जिसमें। (पा० प० १३०-६)।

जामिनी—सं० स्त्री० (अ० जमानत से)—जिम्मेदारी। (बी० र० ४१-६)।

जामैं—क्रि० अ० (सं० जन्म+ना (प्रत्य०)—उपजती है, जम जाती है। उ० कालिह परयुं भ्वैं लेटणां, ऊपरि जामैं घास। (सा० १२-१०-२)।

जाया—क्रि० स० (हि० जनना)—पैदा किया। (पा० प० ११८-८)।

जायौ—पैदा किया। उ० एक अचंभा देखिया, बिटिया जायौ वाप। (प० १३-४)।

जार—सं० पु० (सं०)—पराई स्त्री से प्रेम करने वाला, यार। (सा० ११-५-२)।

जारा—क्रि० स० (हि० जलना से)—जलाया। उ० प्रान गयें ले बाहरि जारा। (प० ६३-४)।

जारि—जला। (पा० प० १६०-४)।

जारें—जलाए। (पा० प० १४८-५)।

जारै—जलाता है। उ० काजी सो जो काया विचारै, तेलदीप मैं बाती जारै। (र० १-५)।

जारौं—जलाऊं। (पा० प० १६४-१)।

जारौंगी—जलाऊँगी। (पा० सा० १६-३५-२)।

जाल—सं० पु० (सं०)—रहस्य। उ० कबीर सूषिम सुरति का, जीवन जांणैं जाल। (सा० १५-१-१)।

जालिदीन्हीं—क्रि० स० (हि० जलाना से)—जला दिया। उ० मड़हट देष्यां डरपती, चौड़ै दीन्हीं जालि। (सा० ४६-१६-२)।

जाली—जलादी। (पा० प० ७६-४)।

जालूं—जला दूं। उ० जालूं कली कनीर की, तन रातौ मन सेत। (सा० ४२-१-२)।

जालौं—जलाऊँ, भस्म करूँ। उ० घर जालौं घर उबरै, घर राखौं घर जाइ। (सा० ४१-४-१)।

जावन—क्रि० अ० (सं० यान, हि० जाना)—गमन, प्रस्थान, जाना। (पा० सा० १६-४०-२)।

जावासा—दे० 'जवासा'। (पा० सा० ३१-१३-२)।

जासु—सर्व० (हि० जो)—जिसका। (पा० र० ७-६)।

जासूं—जिससे। उ० ऐसा कोई नां मिलै, जासूं कहूं निसंक। (सा० ४३-६-१)।

जासू—जिसे। उ० सोई फिरि आपण भया, जासू कहता और। (सा० ५-३७-२)।

जासौं—जिससे। उ० ऐसा कोई नां मिलै, जासौं रहिये लागि (सा. ४३-५-१)।

जाहि (२)—सर्व० (हि० जौन)—जिसको (प० ११८-१)।

जाहुजलि—क्रि० अ० (हि० जलना से)—जल जाय। उ० यहु चतुराई जाहु जलि, खोजत डोलैं दूरि। (सा० ५३-८-२)।

जिंद—दे० 'ज्यंद'। (पा० प० २३-१०)।

जिंदा—वि० (फा०)—जीवित। (पा० प० १०५-३)।

जिमीं—सं० स्त्री० (फा० जमीन)—भूमि, धरती। (सा० ४१-१४-नो० १८)।

जिअ—दे० 'जिय'। (पा० प० ३१-३)।

जिआवनहारा—दे० 'जियावनहारा'। (पा० प० १०६-२)।

जिअै—क्रि० अ० (सं० जीवन, हि० जीना)—जीवित रहता है। (पा० सा० २-१-२)।

जिउ—सं० पु० (सं० जीव)—प्राण। (पा० प-१३-८)।

जिउधर—जीवधारी। (पा०प० ४१-३)।

जिउघात—(जीव+घात)—जीव मारना (पा० प० १६६-४)।

जिऊं—दे० 'जीऊं'। जीवित रहूँ। (पा०

प० १८७-१) ।

जिऊँगा—जीवित रहूँगा। (पा० प० १९३-१) ।

जित—क्रि० वि० (सं० यत्र)—जिधर, जिस ओर। उ० वारी फेरी वलि गई, जित देखौं तित तूं। (सा० २-९-२) ।

जिता—वि० (हि० जिस+तना)—जितना। उ० जिहिं जिता बंधावणा, तिहिं धरि तिता अँदोह। (सा० १६-२८-२) ।

जितु—सर्व० (हि० जिस)—जिससे। (पा० प० १३२-१) ।

जिन—सर्व० (हि० जिससे)—जिन। उ० वागे हाथूं ते गये, जिनकै लाख करोड़ि। (सा० १२-३७-२) ।

जिनकी—जिन की। (पा० प० ४४-५)।

जिनके—जिन (व्यक्तियों) के। (पा० १५-४२-१) ।

जिनकै—जिनके। (सा० १२-३७-२)।

जिनतें—जिनसे। (पा० सा० २-३-२)।

जिनह—जिन्होंने। उ० लोग विचारा नींदई, जिनह न पाया ग्यांन। (सा० ५४-१-१) ।

जिनहु—जिन्होंने। (पा०सा० ४-१२-१।

जिनि (१)–जिन्होंने। उ० जिनि मानिष-तैं देवता करत न लागी वार। (सा० १-२-२)

जिनिके—जिनके। (पा० प० ६३-१०)।

जिनिषैं—जिनसे। उ० जिनिषैं गोविंद वीछुटे, तिनके कौण हवाल। (सा० ३-२-२) ।

जिन्य—जिन्होंने। उ० जिन्य कुछ जाण्यां नहीं, तिन्ह सुख नीदड़ी विहाइ। (सा० २९-६-१)।

जिन्ह—जिसने। उ० जिन्ह सहजैं विषिया तजी, सहज कहीजै सोइ। (सा० २१-१-२) ।

जिन्हके—जिनके। (सा० १५-२१-२)।

जिन्हि—जिन्हों ने। (पा० प० १०३-४)।

जिनि (२)—क्रि० वि० (हि० जनि)—मत, नहीं। उ० ग्यान प्रकास्या गुर मिल्या, सो जिनि वीसरि जाइ। (सा० १-१३-१) ।

जिवहै—सं० पु० (अ० ज़बह)—हिंसा, गला काट कर प्राण लेने की क्रिया। उ० जोरी करि जिवहै करैं, कहते हैं ज हलाल। (सा० २२-८-१) ।

जिभ्या—सं० स्त्री० (सं० जिह्वा)—जीभ। उ० कवीर राम हृजइलें, जिभ्या सौं करि मंत। (सा० २-३०-१) ।

जिमांऊं—दे० 'जिमाऊं'। (पा० प० १३१-८) ।

जिमाऊं—क्रि० स० (हि० जीमना से)–भोजन कराऊं, खिलाऊं। उ० न्यूंति जिमाऊं अपनीं करहा, छार मुनिस की डारी रे। (प० ७६—८)।

जिमीं—दे० 'जिमीं'। जमीन, भूमि। उ० हम जिमीं असमां न खालिक, गुंद मुसिकल कार। (प० २५८-६)।

जिय—सं० पु० (सं० जीव)—मन, चित्त (पा० र० १८४-७)।

जियरा—सं० पु० (हि० जीव)—जीय। उ० जियरा जाहिगो मैं जांनां। (प० ८८-१)।

जियरे—जीव, मन। उ० झूठे जगि जिनि भूलसि जियरे, कहन सुनन की आस। (र० २-६)।

जियरै—जीव ने। उ० ताथैं जियरै डर गह्या, जागत रैंणि विहाइ। (सा० ४६-२८-२)।

जिया—दे० 'जियरा'। प्राणी, जीव। उ० तेरी वारी रे जिया, नेड़ी आवै नित। (सा० ४६-६-२)।

जियावनहारा—वि० (हि० जियाना)—जिलाने वाला, जीवित रखने वाला। उ० हंमकूं मिल्या जियावनहारा। (प० ४३-१)

जियौं—दे० जीऊँ' जीवित रहूँ । (पा० प० ४९-२) ।

जिर जोधन—दे० 'जर जोधन'। (बी० र० ४७—३) ।

जिव—सं० पु० (सं० जीव)—जीवात्मा । उ० जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाहीं विश्राम । (सा० ३-६-२) ।

जिवड़ी—दे० 'जेवड़ी' । (सा० १२-६१-नो० ७९) ।

जिवावौ—क्रि० स० (हि० जियाना)—जिलाते हो, अमरत्व प्रदान करते हो । उ० काहै न जिवावौ मेरे अमृत दाता । (प० ८३-२) ।

जिस—सर्व (हि० जौन से)—जिस । उ० जिसतूं तिस सब कोइ । (सा० ३८-३-१) ।

जिसका—जिसका । (पा० प० १७२-४) ।

जिसहिं—जिस का । (पा०सा० ८-८-१)

जिसहि (१)—जिसका । उ० जिसहि न कोई तिसहि तूं जिस तूं तिस सब कोइ । (सा० ३८-३-१) ।

जिहिं (१)—जिसके । उ० मारणहार जांणिहै, कै जिहिं लागी सोइ । (सा० ३-१४-२) ।

जिहि—जिसने । उ० जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ । (सा० ४-३-२) ।

जिसहि (२)—वि० (हि० जौन से)-जिस किसी । उ० जिसहि चलावै पंथ तूं, तिसहि भुलावै कौंण । (सा० ३८-९-२)

जिसु—जिस । (पा० प० १८७-४) ।

जिंह (२)—जिस । (पा० प० ३०-४) ।

जिहि जिहि—जिस जिसमें । उ० जिहि जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराउँ । (सा० ३-४१-२) ।

जिसे—क्रि० वि० (हि० जैसा)—जिस प्रकार से । उ० देपण के सबको भले, जिसे सीत के कोट । (सा० १७-१७-१) ।

जिहाज—दे० 'जहाज' । जहाज, बड़ी नाव । उ० तन विनसें कुल बिनसिहै, गह्यौ न रांम जिहाज । (स० २४-२०-२) ।

जी—अव्य-(सं० आर्य ?)—सम्मान-सूचक शब्द जो नाम के अंत में लगाया जाता है । (पा० प० ४-१) ।

जीह्य—दे० 'जीव' । (पा० प० १३२-२) ।

जीउ—दे० 'जीव' । (पा० प० ४०-२) ।

जीऊँ—क्रि० अ० (हि० जीना)—जीवित रहूँ । उ० हरि कै वियोग कैसें जीऊँ मेरी माई । (पा० ८९-२) ।

जीऊं—(पा० प० १६०-८) ।

जीत—दे० 'जीति' । जीत कर । (पा० सा० १२-८-१) ।

जीता—क्रि० स० (हि० जीतना)—जीत लिया । उ० कागि लगर फांदिया, बटेर वाज जीता । (प० १६०-६) ।

जीति—जीत लेता है । उ० मै मंता अविगत रता, अकलप आसा जीति । (सा० ६-६-१) ।

जीतिअैं—जीता जा सकता है । (पा० प० १७३-६)

जीतिये—जीता जा सकता हे । उ० मन जीत्यां जग जीतिये, जौ विषया रहै उदास । (प० ३००-५) ।

जीती—जीतकर । (पा० प० ९०-१०) ।

जीतें—जीतने से । (पा० प० १७३-६) ।

जीतौ—जीतने पर भी । (पा०प० ७१-७)

जीत्यां—जीतने से । उ० मन जीत्यां जग जीतिये, जौ विषया रहै उदास । (प० ३००-५) ।

जीत्या—जीतने पर भी । उ० जीत्या डूबै हारया तिरै, गुर प्रसाद जीवन ही मरै । (प० ३४९-७) ।

जीन—सं० पु० (फा० जीन)—काठी । उ० दे मुहरा लगाम पहिराऊं, सिकली जीन गगन दौराऊं । (प० २५-२) ।

जीभ—सं० स्त्री० (सं० जिह्वा, प्रा०

जिभ्भ)—जीभ। उ० सिरजे श्रवण कर चरन, जीव जीभ मुख तास दीयौं। (सा० ३५-१-२)।

जीभड़ियां—जीभ में। उ० जीभड़ियां छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि। (सा० ३-२२-२)।

जीम—क्रि० स० (सं० जेमन)—जीमो, भोजन करो। उ० मोट चून मैदां भया, वैठि कवीरा जीम। (सा० ३१-१०-२)।

जीमैं—भोजन करते हैं। उ० कोटि चंद्रमां गहैं चिराक, सुर तेतीसूं जीमैं पाक। (प० ३४०-४)।

जीमण—सं० पु० (सं० जीवन)—जीना, जीवन। उ० कवीर हरि की भगति विन, ध्रिग जीमण संसार। (सा० १२-२७-१)।

जीय मैं—सं० पु० (सं० जीव)-चित्त में, मन में। उ० कवीर सुपनैं रैंनिकै, पारस जीय मैं छेक। (सा० १२-२३-१)।

जीयरा—सं०पु० (हि० जीव से)—जीव। उ० करम का वाध्या जीयरा, अहनिसि आवै जाइ। (र० २-२६)।

जीया—क्रि० अ. (हि० जीना)—अमर हुआ। उ० तव काल मिट्या जन जीया। (प० १७३-१५)।

जीवंत—क्रि० अ० (हि० जीना से)—जीना है। उ० दाता तरवर दया फल, उपगारी जीवंत। (सा० ४७-७-१)।

जीव—सं० पु० (सं०)—(१) प्राण, जीवन। उ० इस तन का दीवा करौं, वाती मेल्यूं जीव। (सा० ३-२३-१)।

(२) जीवात्मा। उ० जीव पड़्या वहु लूटि मैं, जागै तौ लैंण न दैंण। (सा० १२-२२-२)।

जीवई—क्रि० अ० (हि० जीना से)—जीता है। (पा० र० ८-६)।

जीवड़ा—सं० पु० (सं० जीव)—जियरा, प्राणी, मनुष्य। उ० जांणैंगा रे जीवड़ा, मार पड़ैगी तुझ। (सा. २२-१०-२)।

जीवणां—सं० पु० (सं० जीवन)—जीवन काल। उ० कवीर थोड़ा जीवणां, माड़े वहुत मँडाण। (सा० १२-५-१)।

जीवत—वि० (सं० जीवित)—(१) अमर, जिंदा। उ० अव मन उलटि सनातन हूवा, तव हम जांनां जीवत मूवा। (प० १५-७)। (२) जीते ही। उ० आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार। (सा० १-२६-२)।

(३) जीवन में ही, जीवितावस्था में। उ० जीवन मृतक ह्वै रहै, तजै जगत की आस। (सा० ४१-१-१)।

जीवता—क्रि० अ० (हि० जीवना से)—जीता है, जीवित है। उ० कहै कवीर सो जीवता, दुह मैं कदे न जाइ। (सा० ३१-७-२)।

जीवतैं—सं० पु० (सं०जीव+ते) (प्रत्य०)—जीवात्मा से। उ० कवीर अपने जीवतैं, ए दोइ वातैं धोइ। (सा० १२-४१-१)।

जीवन—सं० पु० (सं०)—जीना। उ० जीवन थैं मरिवौ भलौ, जौं मरि जानैं कोइ। (सा० ४१-८-१)।

जीवनां—सं० पु० (सं० जीवन)—जन्म-ग्रहण, जीवन-यापन। उ० जरि जाव ऐसा जीवनां, राजा रांम सूं प्रीति न होई। (प० १२७-१)।

जीवनि—सं० पु० (सं० जीवन)—जीवन, आत्मज्ञान। उ० सो वूटी पाँऊं नहीं, जातैं जीवनि होइ। (सा० ३-४०-२)।

जीवनु—दे० 'जीवन'। (पा० प० ६७-३)।

जीवनें—दे० 'जीवन'। जीने। (पा० प० ६०-७)।

जीवहिं—क्रि० अ० (हि० जीना)—जीता है। (पा० प० १०६-३)।

जीवै—जीवित रहे, जी जाय। उ० भीतरि भिद्या सुमार ह्वै, जीवै कि जीवै नाहि। (पा० ३-१५-२)।

जीव्या जाई—जीया जीएगा। उ० तिस वाझ न जीव्या जाई, वो मिलै त घालै

खाई। (पा० २८२-४)।

जीवा—सं० पु० (सं० जीव) जीवात्मा मात्र को। उ० जीवा कौं राजा कहैं, माया के अधीन। (सा० १६-१८-२)।

जु (१)—सर्व० (सं० यः)—जो। उ० एक जु बाह्या प्रीति सूं, भीतरि रह्या शरीर। (सा० १-६-२)।

जु (२)—क्रि० वि० (सं० यद्)—यदि, जैसे ही। उ० पंच सँगी पिव पिव करैं, छठा जु सुमिरे मंन। (सा० २-७-१)।

जुआरि—सं० पु० (सं० द्यूत, प्रा० जूत, हि० जुआ से)—दाँव, पेंच। (बी० र० १८-५)।

जुक्ति—दे० 'जुगति'। युक्ति। (पा० र० ११-५)।

जुगंत—सं० पु० (सं० युगांतर)—युगों तक। उ० मौं बंद न छूटैं जुग जुगंत। (प० ३८१-३)।

जुग (१)—सं० (सं० युग)—संसार, युग। उ० संसै खाया सकल जुग, संसा किनहुं न खद्ध। (सा० १-२२-१)।

जुग (२)—सं० पु० (सं० यजुर्वेद)। उ० रुग न जुग न स्यांम अथरबन, बेद नहीं ब्याकरनां। (प० २१६-६)।

जुगचारी—सं० पु० (सं० युग+चार)-चार युग। उ० साखा तीनि पत्र जुग चारी, फल दोइ पाप पुंनि अधिकारी। (र० २-८)।

जुगति—सं० स्त्री० (सं० युक्ति)—यत्न, साधन। उ० एक जुगति एकै मिलैं, किंवा जोग कि भोग। (प० ५-११)।

जुगती—युक्ति। (पा० प० १६९)।

जुगन—सं० पु० (सं० युग)—युगों की, अति प्राचीन। (बी० र० ५-१)।

जुगिया—सं० पु० (सं० योगी)—साधक। उ० जुगिया न्याइ मरै मरि जाइ। (प० २२-१)।

जुगुति—युक्ति। (पा० प० १०-११)।

जुझाउर—वि० (हि० √जूझ से)—उत्तेजित करने वाला। (पा०प० ५६-३)

जुड़न लागे—क्रि० अ० (हि० जुड़ना)—मिलने लगे। उ० दोइ मिलि तहाँ जुड़न लागे, करत हंसा केलि। (प० २८०-६)।

जुड़ाय—क्रि० अ० (हि० जड़)—शीतल हो जाय, शांत हो। (बी० र० ३८-७)।

जुड़िया—क्रि० अ० (हि० जुड़ना)—छिड़ जाता है। उ० बिन षंडैं संग्रांम जुड़िया। (प० १५८-४)।

जुड़िसी—क्रि० अ० (हि० जुड़ना)—इकट्ठा हो जाए, एकत्रित हो जाय। उ० पैका पैंका जोड़तां, जुड़िसी लाष करोड़ि। (सा० ३४-७-२)।

जुदे—वि० (फा० जुदा)—पृथक्, अलग। उ० ग्यारह मास जुदे क्यूं कीये, एकहि माहि समांन। (प० २५९-८)।

जुरा—सं० स्त्री० (सं० जरा)—बुढ़ापा। उ० जुरा मरण व्यापै कुछ नांहीं, गगन मंडल लै लागी। (प० २३-६)।

जुलहा—दे० 'जुलाहा'। (पा० प० १९६-७)।

जुलहै—दे०। 'जुलाहा'। (प० ५०-७)।

जुलाह—दे० जुलाहा। उ० तिनकूं मुकति का संसा नाहीं, कहत जुलाह कबीर। (प० ३१७-१०)।

जुलाहा—सं० पु० (फा० जौलाह)—कपड़ा बुनने वाला। उ० कबीर जुलाहा भया पारषू, अनभै उतर्या पार। (सा० ५-४७-२)।

जुलाहो—दे० 'जुलाहा'। (पा० प० १११-२)।

जुलुम—सं० पु० (अ० जुल्म)—अत्याचार। (पा० प० १६८-६)।

जुवा—सं० पु० (सं० द्यूत, प्रा० जूत)—रुपये-पैसे की बाजी। उ० रांम नाम अंतर गहि नाहीं, तो जनम जुवा ज्यूं हारी। (प० १३४-२)।

जुवारी—सं० पु० (हि० जुआरी)—जुआ खेलने वाला। उ० हाथ झाड़ि जैसैं चले जुवारी। (प० ६८-६)।

जुहार—सं० स्त्री० (सं० अवहार)—राजपूतों में प्रचलित एक प्रकार का प्रणाम। (सा० ४६-३-नो०-४)।

जूजू—सर्वं० (हि० जो जो)—जो जो। उ० सोई अपिर सोई वैंयन, जन जू जू वाचवंत। (सा० ३३-७-१)।

जूझ—दे० 'झूझ'। युद्ध। (पा० सा० १४-६-२)।

जूझन—क्रि० अ० (हि० जूझ)—लड़ना। (पा० प० १३८-४)।

जूझनां—(पा० सा० १४-११-२)।

जूझि—जूझकर। (पा० र० ८-५)।

जूझै—जूझता है। (पा० प० १२०-५)।

जूठणि—सं० स्त्री० (हि० जूट)—उच्छिष्ट पदार्थ, भोजन। उ० जोरू जूठणि जगत की, भले बुरे का बीच। (सा० २०-१४-१)।

जूठनि—(पा० सा० ३०-२०-१)।

जूठा—वि० (सं० जुण्ठ, प्रा० जुट्ठ)—उच्छिष्ट, खाने से बचा हुआ। उ० जूठा आंवन जूठा जांनां, चेतहु क्यूं न अभागे। (प० २५१-४)।

जूठी—उच्छिष्ट। उ० माता जूठी पिता पुनि जूठा। (प० २५१-३)।

जूठे—उच्छिष्ट। उ० जूठी कड़छी अन परोस्या, जूठे जूठा खाया। (प० २५१-३)

जूठै—(पा० प० १६२-४)।

जूड़ै—दे० 'ढूंघै'। (पा०सा०२१-१६-१)।

जूवा—सर्वं० (सं० युत अथवा फा० जुदा)—पृथक-पृथक, भिन्न-भिन्न। उ० जपै सु एक भेष है जूवा। (प० ३२७-८)।

जूवारी—दे० 'जुवारी'। उ० जूवारी ह्वै जम हारूं। (प० ३८६-१०)।

जेंवावै—क्रि०स०(सं०जेमन, हि०जीमान।)—भोजन कराओ (पा०प० १६७-४)।

जे (१)—सर्वं० (हि० जौन से)—जो, सो। उ० मार्‌या है जे मरेगा, विन सर थोथी भालि। (सा० ४-२-१)।

जे (२)—क्रि० वि० (सं० यद्)—यदि, अगर। उ० का वन मैं बसि भये उदास, जेमन नहीं छाड़ै आसा पास (प० १३०-४)

जेको—सर्वं० (हि० जौन से)—जिसका। उ० कबीर मधि अंग जेको रहै, तौ निरत न लागै वार। (सा० ३१-१-१)।

जेठ—सं० पु० (सं० ज्येष्ठ)—पति का बड़ा भाई। उ० देवर जेठ सवनि की प्यारी, पिय कौ मरम न जानैं। (प० २२६-६)।

जेठमास—सं० पु० (सं० ज्येष्ठमास)—जेठ का महीना। उ० झूठै-झूठैं लागि रही आसा, जेठ मास जैसैं कुरंग पियासा। (र० ४-७०)।

जेता—वि० (सं० यः, यस् हि० जितना) जितना, जिसकदर। उ० कनक लेहु जेता मनि भावैं, कांमनि लेहु मन-हरनी। (प० २६६-३)।

जेती—जितनी। उ० जेती देषौं आत्मा, तेता सालिगरांम। (सा० २३-५-१)।

जेते—जितने। (पा० प० १७७-१३)।

जेनेऊ-सं०पु० (सं० यज्ञ वा जन्म)-यज्ञोपवीत, जनेऊ। (सा०१७-१०-नो०१२)।

जेम—क्रि० वि० (हि० जिस+इमि से जिमि)—जिस प्रकार से, यथा। उ० कबहूँ ह्वै किसा विहाना, तर पंखी जेम उडानां। (प० २६६-१७)।

जेवड़ा—सं०पु० (सं० जीवा, हि०जेवरी)—रस्सी। उ० सापित सण का जेवड़ा, भींगां सूंकठ ठाइ। (सा० १७-११-१)।

जेवड़ी—स्त्री०—रस्सी, डोरी। उ० गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउं। (सा० ११-१४-२)।

जेवरि—दे० 'जेवड़ी'। रस्सी, बंधन। (बी० र० ३३-१)।

जेवरिया—दे० 'जेवड़ी' । रस्सी । उ० प्रेम की जेवरिया तेरे गलि बांधूं । (प० २१३-३) ।

जेवरी—ते० 'जेवड़ी' । रस्सी । (पा० प० १२३-८)

जेवहिं—दे० 'जीमैं' । भोजन करते हैं। (पा० प० १५५-५) ।

जेहिं—वि० (हि० जिस)—जिस । (पा० सा० २०-४-१) ।

जेहि—सर्व० (हि० जौन)—जिसको । (पा० प० ८-२) ।

जेहै—सं० स्त्री (फा० ज़िह)—कमान की डोरी में वह स्थान, जो आँख के पास लगाया जाता है और जिसकी सीध में निशाना रहता है । उ० देवल मांहैं देदुरी, तिल जेहै बिसतार । (सा० ५-४२-१) ।

जैंन—सं० पु० (सं० जैन)—जिन द्वारा प्रवर्तित धर्म का अनुयायी । उ० जैन जीव का करहु उबारा, कौंण जीव का करहु उधारा । (र० १-१५) ।

जैं—अव्य०(सं० यदि, हि० जो)-अगर । (सा० ४५-३२-नो०-३२) ।

जै (करै)—सं० स्त्री० (सं० जय)—जय (मनावै) । (सा० ११-११-नो०-१२) ।

जैकार—सं० पु० (सं० जयकार)—जय-जय का शब्द । उ० जगि कोटि जाकै दरबार, गंध्रप कोटि करै जैकार । (प० ३४०-८) ।

जैदेउ—दे० 'जै देव' । (पा०प० ४५-५) ।

जैदेव—सं० पु० (सं० जयदेव)—गीत-गोबिंद काव्य के रचयिता, वीरभूमि प्रांतस्थ केन्द्र बिल्व नगर के रहने वाले लक्ष्मण सेन के सभा कवि । उ० सनक सनंदन जैदेव नांमां' भगति करी मन उनहुँ न जानां । (प० ३३-२) ।

जैंन—दे० 'जैन' । (पा० र० ६-७) ।

जैंनि—सं० पु० (सं० जैन, हि० जैनी)—जैन मतावलंबी । (बी० र० ३०-३) ।

जैंसा—क्रि० वि० (सं० यादृश, प्रा० जारिस, पैशा० जइस्सो)—जितना, जिस प्रकार । उ० जिहि हरि जैसा जाँणिया, तिनकूं तैसा लाभ । (सा० २-२१-१) ।

जैंसि—जैसी । उ० भगति दुहेली रांम की जैंसि खाँड़े की धार । (सा० ४५-२५-१) ।

जैंसी—जैसी । कबीर यहु जग अंधला, जैसी अंधी गाइ । (सा० ४८-५-१) ।

जैसैं—जिस प्रकार । उ० नांउ मेरे निरधन ज्यूं निधि पाई, कहै कबीर जैसैं रंक मिठाई । (प० ३३३-५) ।

जैसै—जिस प्रकार । (पा० प० १८-२) ।

जो—सर्व० (सं० यः)—जो । उ० जो उपज्या सो बिनसिहै, ताथैं दुख करि भारै वलाइ । (प० ७५-५) ।

जोइ—क्रि० अ० (सं० जुषण, हि० जोबना)—देख, जान । उ० मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल अकासां जोइ । (सा० १३-६-२) ।

जोइकरि—क्रि० अ० (हि० जोमना)—जलाकर, बालकर । उ० चौसठि दीवा जोइकरि, चौदह चंदा मांहि । (सा० १-१७-१) ।

जोइया—जलया । उ० तीन्यूं मिलि करि जोइया, (तब) उड़ि उड़ि पड़ैं पतंग । (सा० ४-१-२) ।

जोई (१)—क्रि० अ० (सं० जषण, हि० जोवना)—देखते हैं । (पा०प० १०-५) ।

जोऊं—देखूं । (पा० प० १५-३) ।

जोई (२)-सं० स्त्री० (सं० जाया)-जोरू, पत्नी, भार्या । (बी०र० २-५) ।

जोग (१)—सं० पु० (सं० योग)—(१) संयोग, सम्बन्ध, अवसर । उ० अहनिसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूं पावै द्रुलभ जोग (सा० २-२८-२) ।
(२) योग की साधना । उ० जंगम जोग विचारैं जहूँवां, जीव सीव करि एकै

ठऊवां। (र० १-११)।

जोग (२) वि० (सं० योग्य)—समर्थ, लायक। उ० भांड़ा घड़ि जिनिमु दिया, सोई पूरण योग। (सा० ३५-२-२)।

जोग (३)—अव्य० (सं० योग्य से पुरानी हि० में)—लिए, उद्देश्य से। उ० धानैं लंघण नित करै, राम पियारे जोग। (सा० २९-१०-२)।

जोगणीं—सं० स्त्री० (सं० योगिनी)—योगिन, कुंडलिनीं। उ० काम क्रोध दोऊ भया पलीता, तहां जोगणीं जागी। (प० ७०-४)।

जोगति—सं० स्त्री० (सं० युक्ति, हि० जुगत)—उपाय। उ० मो बपरा थैं जोगति ठाठी, सिव विरंचि नारद नहीं दीठी। (र० २-१३)।

जोगिनि—दे० 'जोगणों'। (पा०प० १६३-५)

जोगिया—दे० 'जोगी'। योगी। (पा० प० १५१-१)।

जोगी—सं० पु० (सं० योगी)—जोगी। उ०जोगी था सो रमि गया, आसणि रही विभूति। (सा० ४-४-२)।

जोगु—दे० 'जोग' (१), (२)। योग, साधना। (पा० प० ८६-५)।

जोगेस्वर—सं० पु० (सं० योगेश्वर)—योग का ज्ञान, सिद्ध योगी। उ० कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुंनि ल्यौ लागै। (प० ६९-८)।

जोजन—सं० पु० (सं० योजन)—चार कोस का फासला। उ० जोजन एक प्रमिति नहीं जांनैं, बातनि हीं बैकुंठ बपांनैं। (प० २४-२)।

जोड़तां—क्रि० स० (सं० युक्त, प्रा० जुट्ट, हि० जुड़ से)—संग्रह करते-करते। उ० पैका पैका जोड़तां, जुड़िसी लाप करोड़ि। (सा० ३४-७-२)।

जोड़ि—मिलाओ, सम्बद्ध करो। उ० फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ। (सा० २-३१-२)।

जोड़ी (१)—लगाई। उ० प्रीत न जोड़ी राम सूं, रहण कहाँ थैं होइ। (सा० १४-३-२)।

जोड़नहारो—सं० पु० (हि० जुड़+हार)—जोड़ने वाला। (पा०प० ११३-६)।

जोड़ी (२)—सं० स्त्री० (हि० जोड़ा)—समान बल, ऐश्वर्य वाले लोग। उ० इंद्र सरीखे गये नर कोड़ी, पांचो पांडौं सरिषी जोड़ी। (प० २४७-३)।

जोति—सं० स्त्री० (सं० ज्योति)—प्रकाश, परम प्रकाश स्वरूप परमात्मा। उ० दसवां द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछांणि। (सा० २३-१०-२)।

जोतिग—सं० पु० (सं० ज्योतिप)—ज्योतिष अनुसार पूजा आदि। उ० जप तप संजम पूजा अरचा, जोतिग जग बौरानां। (प० ३४-५)।

जोध—सं० पु० (सं० योद्धा)—वीर। उ० मैं बाबा का जोध कहांऊं, अपणीं भारी गींद चलांऊं। (प० २६०-३)।

जोनि—सं० स्त्री० (सं० योनि)—प्राणियों के विभाग, ८४ लाख योनियाँ। उ० लख चौरासीं जोनि फिरौगे, बिनां रांम की सरनां। (प० २४८-७)।

जोनीं—सं० स्त्री० (सं० योनि)—भग। उ० गुर मिलि जिनि के खुले कपाट, बहुरि न आवैं जोनीं बाट। (प० ३४८-१०)।

जोवन—सं० पु० (सं० यौवन)—युवावस्था। उ० तन मन जोवन भरि पिया, प्यास न मिटी सरीर। (सा० ७-१-२)।

जोवनां—दे०'जोवन'। (पा०र० १४-८)।

जोर (१)—सं० पु० (फा० जोर)—जोर-जुलम। उ० बंदे ऊपरि जोर होत है, जंम कूं बरजि गुसांई। (सा० ५६-५-२)।

जोर (२)—अव्य० (सं० यद्)—यदि, अगर। उ० आधी साषी सिरि कटै, जोर बिचारी जाइ। (सा० ३३-६-१)।

जोरत—क्रि० स० (हि० जोड़ना)—जोड़ता है, सन्नद्ध करता है। उ० जोरत कटक जु घेरत सब गढ, करतब झेली झेला। (प० ३१६-३)।

जोरि (१)—जोड़कर। (पा०प० ५६-५)

जोरिन्हि—सम्बद्ध करते रहते हैं। (बी० र० ३८-२)।

जोरैं—जोड़ते हैं। (पा० प० १४६-५)।

जोरै—जोड़ता है। (पा०सा० १५-८-२)।

जोरयौ—जोड़ा, एकत्रित किया। उ० खोट कपट करि यहु धन जोरयौ, लै धरती में गाड़्यौ। (प० ६२-५)।

जोरि (२)—क्रि० वि० (फा० जोर)—जोराजारी, बलपूर्वक। उ० जोरि जेवरी खेति पसारैं, सब मिलि मोकौं मारैं हो रांम। (प० २२२-६)।

जोरी (१)—सं० स्त्री० (फा० जोर)—दे० 'जोरि' (२)। उ० जोरी करि जिवहै करैं, कहते हैं जदलाल। (सा० २२-८-१)।

जोरी (२)—सं० स्त्री० (हि० जोड़ा)—जोड़ी। (पा० सा० १८-६-२)।

जोरू—सं० स्त्री० (हि० जोड़ा)—स्त्री, पत्नी। उ० जोरू जूठणि जगत की, भले बुरे का बीच। (सा० २०-१४-१)।

जोलहा—दे०'जुलाहा' (पा०प० १८८-३)

जोलहै—दे०'जुलाहा'। (पा०प० ५३-६)।

जोवती—क्रि० स० (सं० जुवण)—जोहती, ढूंढ़ती। उ० बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम। (सा० ३-६-१)।

जोवनहार—वि० (हि० जोवना)—ढूंढ़ने वाला, जिज्ञासु। उ० जोवनहार अतीत सदा संगि, ये गूंण तहां समांहीं। (प० ३२-६)।

जोवैं—क्रि० स० (सं० जुषण)—जोहते हैं, ढूंढ़ते हैं। उ० तहां कबीरैं मठ-रच्या, मुनि जन जोवैं बाट। (सा० १०-३-२)।

जोवै—देखै। उ० सिव सकती दिसि कौण जु जोवै, पछिम दिसा उठै धूरि। (सा० ५-४६-१)।

जौं—अव्य० (सं० यद्)—यदि, अगर। उ० जौ रोऊं तौ बल घटै, हंसौं तौ राम रिसाइ। (सा० ३-२८-१)।

जौग—दे० 'जोग'। उ० पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जौग अनंत। (सा० ५-१३-१)।

जौड़ा—सं० पु० (सं० ज्या+वर, हि० जौरा)—बड़ा रस्सा। दे० कजौड़ा (कज्जल+ड़ा)—ढेर, समूह। उ० फूस क जौड़ा दूरि करि, ज्यूं बहुरि न लागै लाइ। (सा० ४५-३६-२)।

जौर—सं० स्त्री० (हि० जोरू)—स्त्री, घरवाली। उ० जौर कुटंब अपनौ करि पारचौ। (प० ६५-३)।

जौवैं—दे० 'जोवै'। देखता है, ढूंढ़ता है। उ० मारग छाड़ि कुमारग जौवैं, आपण मरैं और कूं रोवैं। (प० १०४-२)।

जौहरी—सं० पु० (फा०)—परखने वाले, पारखी। उ० हरि हीरा जन जौहरी, ले मांडिय डाटि। (सा० ४६-३-२)।

ज्यंद—सं० पु० (अ० जिंद)—भूत, जिन्न। उ० कह कबीर हमारै गोब्यंद, चौथे पद मैं जन का ज्यंद। (प० ३६५-६)।

ज्यांह—सर्व० (हि० जौन)—जिनके। उ० कबीर मूंडरू करमियां, नप सिष पाषर ज्यांह। (सा० ५५-५-१)।

ज्यूं—क्रि० वि० (सं० यः+इव, हि० ज्यौं)—जिस प्रकार, जिससे, जैसे। उ० नांनां अंतरि आप तूं, ज्यूं हौं नैंन झंपेउं। (सा० ११-२-१)।

ज्यौं—अव्य० (सं० यः)—जिस प्रकार। (पा० प० ७-२)।

ज्यौंह—दे०'ज्यौं'। (सा०४२-१-नो०१)।

ज्वांन—वि० (फा० जवान)–युवा, तरुण। उ० नहीं सो ज्वांन न बिरध नहीं बारा, आपैं आप आपन पौ तारा (र०बा०-३७)।

ज्वाब—सं० पु० (अ० जवाव)—उत्तर। (पा० सा० २६-८-१)।

ज्वाला—सं० स्त्री० (सं०)-अग्निशिखा, जलन। उ० ज्वाला तैं फिरि जल भया, बुझी वलंती लाइ। (सा० ५-३१-२)।

झ

झंझर—वि० (हि० झंझरा)—जिसमें बहुत छोटे-छोटे छेद हों, झीना। उ० इक झंझर सम सूत खटोला। (प० ६०-३)।

झंटा—सं० पु० (देश० हि० झांटा)—झंझट, वखेड़ा। उ० जतन करी झंटा घणां। (सा० ३३-८-२)।

झँपेउं—क्रि० स० (हि० झपाना)—पलक मारूं, पलक गिरा दूं, मूंद लूं। उ० ज्यूं हीं नैन झँपेउं। (सा० ११-२-१)।

झंपेउं—(पा० सा० ११-१२-१)।

झंषि—क्रि० अ० (हि० झखना)—झींख-कर, दुःख मानकर। उ० झंषि मरे जिनि कोइ रे। (प० ४-१७)।

झखि—खीजकर। (पा०चौ०र० १४-२)।

झषि झषि—कुढ़-कुढ़ कर, खीज-खीज कर (र० २-नो० २६)।

झकोरैं—क्रि० अ० (अनु०) झोंका मारता है, हिलाता-डुलाता है। उ० सोलह मंझैं पवन झकोरैं ! (प० १६६-६)

झखमारि—मुहा०—व्यर्थ समय नष्ट करना। (पा० सा० १५-१२-२)।

झखमारी—(पा० प० ६१-५)।

झगरा—सं० पु० (हि० झकझक से अनु०)—वखेड़ा, विवाद, समस्या। उ० झगरा एक नवेरो रांम (प० २७-१)।

झगरु—वखेड़ा। (पा० चौ० र० १४-२)।

झगरौ—टंटा, वखेड़ा। (र० २-नो० २६)।

झगरिवौ—क्रि० अ० (हि० झगड़ना)—तकरार, विवाद। (र० २-नो० २६)।

झझकि—क्रि० अ० (अनु०)—ठिठककर, रुककर। (पा० चौ० र० १४-१)।

झझखि झझखि—ठिठक-ठिठक कर, रुक-रुककर। (र० २-नो० २५)।

झटका—सं० पु० (हि० झटक)—झट का भाव। (पा० सा० २८-५-२)।

झड़—सं० स्त्री० (हि० झड़ना से)-झड़ी, लगातार वृष्टि अथवा झटका। उ० क न सकै झड़ झेल। (सा० ४५-३२-१)।

झड़पसी—क्रि० अ० (अनु०)—हमल करेगा, ले वैठेगा। उ० काल अ झड़पसी। (सा० ४६-६-२)।

झड़ि पड़या—क्रि० अ० (सं० क्षरण, हि० झड़ना)—गिर पड़ा। उ० तरवर थैं झड़ि पड़या। (सा० १२-३४-२)।

झड़ैं—गिरैं, चुवैं। उ० तौ मुख तैं म झड़ैं। (सा० ३४-८-२)।

झरनां—पतन होना, स्खलित होना गिरना। उ० सुपानैं विंद न देई झरनां (प० ३३०-५)।

झरै—झड़ै, चुवै। उ० अनहद वाजै नीझ झरै। (सा० ५-४४-१)।

झणकार—सं० पु० (सं० झंकार)—झन झन का शब्द। उ० अनहद सवद झणकार। (प० ३२८-६)।

झनकार—(पा० प० १३०-६)।

झबूकती—क्रि० अ० (अनु०)—च थी। उ० मंदिर मांहि झबूकती; व कैसी जोति। (सा० ४६-१७-१)।

झमकांयैं—क्रि० स० (हि० झमकाना) भूषण आदि वजाने या चमकाने से। उ का चूरा पाइल झमकांयैं। (प० १३६-२

झरंता—क्रि० अ० (सं० क्षरण, हि

झड़ता)—गिरता हुआ। (पा० सा० १६ ३६-१)।

झल—सं० पु० (सं० ज्वाल)—जलन, दाह, आग। उ० झल उठी झोली जली। (सा० ४-४-१)।

झलहि—झल ही, जलन ही। उ० झलहि मांहि व्यौहार। (सा० ३८-७-१)।

झलकती—क्रि० अ० (सं० झल्लिका)— झलकना, चमकना। (पा० सा० १६-२२ १)।

झलकै—चमके, आभासित हो। उ० ब्रह्म फलकै सीसि। (सा० १३-२०-२)।

झलमई—वि० (हि०'झलमल)—अग्नि से पूर्ण, झलमय। उ० आगैं पीछैं झलमई, राखैं सिरजनहार। (सा० ३८-७-२)।

झष—सं० स्त्री० (हि० झीखना)—झख, झीखने का भाव। उ० तो पीवेगा झष मारि। (सा० ३७-७-२)।

झष मारि—मुहा०—व्यर्थ समय नष्ट करना। (सा० ३७-७-२)।

झांई—सं० स्त्री० (सं० छाया)—परछांई, अंधेरा। उ० अंषड़ियां झांई पड़ी। (सा० ३-२२-१)।

झाड़ि—क्रि० अ० (सं० क्षराय, हि० फाड़ना)—खाली करके, फाड़कर। उ० हाथ झाड़ि जैसें चले जुवारी। (प० ६८ ६)।

झारि (१)—वि० (सं० सर्व, प्रा० सारो, हि० सारा)—सम्पूर्ण, कुल, समस्त। उ० कंदू जलिया झारि। (सा० ४-५-१)।
(२)—क्रि०स० (हि० झारना)—झाड़कर, फेंककर। उ० चल्यौ है वनिज वा वनज झारि। (प० ३८३-५)।

झाल—सं० स्त्री० (सं० झाला)—ज्वाला, आँच। उ० दोऊ अगनि की झाल। (सा० २०-१२-१)।

झालि—क्रि० स० (हि० झेल)—व्यतीत करलो, झेललो उ०सुध, गरीबी झालि। (सा० १२-५३-१)।

झिरमिर झिरमिर—क्रि० वि० (अनु०)— मंद-मंद, धीरे-धीरे, फिर-फिर शब्द के साथ। (पा० सा० २२-६-१)।

झिरिमिरि झिरिमिरि—उ० झिरिमिरि झिरिमिरि बरषिया पांहण ऊपरि मेह। (सा० ५५-२-१)।

झिरहर—वि० (हि० झिल्लड़)—झँझरी, झीनी। उ० छिनहर घर अरु झिरहर टाटी। (प० २७३-२)।

झींवर—सं० पु० (सं० धीवर)—मांझी, मल्लाह। उ० आपैं झींवर आपैं काल। (प० ३३१-५)।

झीवर—(सा० ४६-१६-नो० ३१)।

झीणां—वि० (सं० क्षीण)—बहुत महीन झीना। उ० मनवां तौ अधर बस्या, बहु तक झीणां होइ। (सा० १३-१४-१)

झीण—उ० धूँवाँ ही तैं झीण। (सा० १३-१२-१)।

झीणां—उ० झीणां पंजर तास (सा० २६-४-१)।

झींन—(पा० सा० २६-३-१)।

झींनां—(पा० सा० २६-१२-१)।

झीनां—(पा० सा० ४-१५-१)।

झुलाइ—क्रि० स० (हि० झूलना से झुलाना)—घुमाकर, फेरकर। (सा० २४-५-नो० ६)।

झूंसी—सं० स्त्री०—स्थान-विशेष। (बी० र० ४८-२)।

झूझ—सं० स्त्री० (सं० युद्ध, प्रा० जुज्झ) युद्ध, लड़ाई। उ० करि इंद्रयाँ सूं झुझ। (सा० ४५-२-२)।

झूझणां—क्रि० अ० (सं० युद्ध, अ० जुज्झ, हि० जूझना)—जूझना, लड़ना। उ० कांम क्रोध सूं झूझणां। (सा० ४५-७-२)।

झूझ्यां—जूझते ही, लड़ते ही। उ० अब तौ झूझ्यां हीं बणैं। (सा० ४५-११-१)।

झूंझै—जूझै, लड़ै। उ० सूरा झूंझै गिरद सूं, इक दिसि सूर न होइ। (सा० ४५-४-१)।

झूठ—सं०पु० (सं० अयुक्त, प्रा० अजुत्त, हि० झूठ)-अयथार्थ, असत्य, विपरीत। उ० हलका कहूँ तौ झूठ। (सा० ८-१-१)।

झूठा—वि० (हि० झूठा)--मिथ्या, व्यर्थ, भ्रमपूर्ण, अवास्तविक वस्तु, प्रपंच। उ० झूठा माया, मोह। (सा० १६-२८-१)

झूठि—(पा०सा० १६-३०-२)।

झूठी—स्त्री० मिथ्या, निरर्थक। उ० यहु सब झूठी बंदिगी। (सा० २०-५-१)।

झूठे—मिथ्या, नश्वर। उ० झूठे जग की भार। (सा० २२-१६-२)।

झूठैं—अस्थायी, अनित्य। उ० झूठैं रंगि, न भूलि। (सा० १२-१३-२)।

झूरि—(१) क्रि०अ० (हि० धूल या चूर से झुरना)—संतप्त या चिन्तित हो। उ० रहुरे संपय झूरि। (सा० ३-४४-१) (२)—हि० झुरना)—क्षीण होता है, दुबला होता है। उ० सुखिया सुख कौं झूरि। (सा० ३१-८-१)।

झूरी—वि० (हि० चूर)—सूखी, खुश्क। (पा० प०६२-५)।

झूलण जाइ—क्रि० अ० (सं० दोलन)—झूलने जाती है। उ० सोई नारि सुलपणीं, नित प्रति झूलण जाइ। (सा० ५२-५-२)।

झूलि रहे—क्रि० अ० (सं० दोलन)—झूल रहे हैं, लटक रहे हैं। उ० रहे अरध मुखि फूलि। (सा० १२-२८-२)।

झूलै—आत्मानंद का अनुभव करता है, झूलता है। उ० हिंडोलनां तहां झूलै आतम रांम। (प० १८-१)।

झेल—क्रि० स० (सं० क्ष्वेल)—सहना, बरदाश्त करना। उ० कोइ न सकै झाड़ झेल। (सा० ४५-३२-१)।

झेला—उ० करतब झेली झेला। (प० ३१६-३)।

झेलिक झेला—यौ० (फ़ा० येट, हि० फेर)—नाना प्रपंच। (बी० र० १२-४)

झेली—सं० स्त्री० (हि० झेलना)—बच्चा जनते समय स्त्री को विशेष प्रकार से हिलाने डुलाने की क्रिया। उ० करतब झेली झेला। (प० ३१६-३)।

झोंकिए—क्रि० स० (हि० झोंक से)—डाला जाय। (सा० ४८-१-नो० १)।

झोंकिया—डाला गया। (पा० सा० १८-८-२)।

झोंट—सं० (सं० झुंट)-बालों का समूह। (पा० प० ६०-६)।

झोरी—सं० स्त्री०)(हि० झूल, प्रा० झोलिआ)-थैली, खोली। (पा०प० १४२-७)

झोली—झोकरी, थैली। उ० झल ऊठी झोली जली। (सा० ४-४-१)।

झोल—सं० पु० (सं० ज्वाल, हि० झाल) ज्वाला, दाह, जलन के मारे। उ० दाफैं जल थल झोल। (सा० ५१-१-१)

झोलैं—क्रि० स० (सं० ज्वलन, हि० झोलना)—जला सकती है। उ० माया ताहि न झोलैं। (प० ३७२-२)।

ट

टकसाल—सं० स्त्री० (सं० टंकशाला)—टकसार या सिक्के ढालने का कार्यालय। उ० घंटी पड़ै टकसाल। (सा० ५-४७-१)

टकसार—(पा० सा० ६-४१-२)।

टका—सं० पु० (सं० टंक)—चाँदी का एक पुराना सिक्का, द्रव्य, रुपया, पैसा।

उ० मनदस नाज, टका दल गठिया। (प० ४००-२)।

टगटग—वि०—(सं० स्तोक, हि० टुक)-थोड़ा-थोड़ा (अथवा टकटक = खुली आँखों से)—टकटकी लगाकर, टुकुर-टुकुर। उ० कबीर टगटग चोघतां, पलपल गई बिहाइ। (सा० ४६-७-१)।

टरत—क्रि० अ० (सं० टलन)—टलते हैं। (पा० प० ६१-२)।

टरी—टली। (पा० प० २-६)।

टरै—विचलित होता, टलता है, हटता है। उ० टारचौ टरै न आवै जाइ। (प० ३२८-७)।

टलि—टलकर, हटकर। (पा० चौ० र० १६-७)।

टहल—सं० स्त्री० (हि० टहलना, सं० तत्+चलन)—काम-धंधा। उ० टहल करै दिन राती। (प० २१६-३)।

टांकि—सं० स्त्री० (सं० टंक, हि० टाँकी)—पत्थर गढ़ने की छेनी, छोटी तराजू अथवा (हि० टंक) एक तोल विशेष (जो कुछ माशे कही होता हूँ)—टंकों के हिसाब के अर्थात सोने-चाँदी आदि के जैसे। उ० पांहण टांकि न तौलिए, हाडि न कीजै वेह। (सा० २६-५-१)।

टांकी—(पा० प० १७६-८)।

टांगौं—क्रि० स० (हि० टँगना)-लटकाऊँ, ठहराऊँ। उ० धीरौ मेरे मनवां तोहि धरि टांगौं। (प० २१३-१)।

टांचणहारै—वि० (हि० टाँचना+हारा)-तराशने वाले ने, गढ़ने वाले ने। उ० टांचणहारै टांचिया, दे छाती ऊपरि पाव। (प० १६८-५)।

टांचनहारै—(पा० प० १८७-५)।

टांचिया—क्रि० स० (हि० टाँच)—काट दिया, तराश दिया। (प० १६८-५)।

टांडै—सं० पु० (हि० टांड)—समूह से हाँड़ा, व्यापारियों का चलता समूह के साथ, वनजारों के झुंड के साथ। उ० हरि के टाडै जांऊँ (प०२५४-२)।

टांड़ौ—(पा० प० १२६-७)।

टाटी—सं०स्त्री०-(सं० स्थात्री या तटी)-टट्टी, छोटा टट्टर। उ० भ्रम की टाटी सबै उडांणीं। (प० १६-२)।

टापा—सं० पु० (सं० स्थापन)-उछाल। (मुहा० टापादीन)-लंबे डग भरते हुए, फलांग मारते हुए। उ० राम नाम जांणैं नहीं, आये टापादीन। (सा० १२-२४-२)

टारे—क्रि० स० (हि० टलना)—हटाने। (पा० प० ६१-२)।

टापौ—(पा० प० १३०-१६)।

टालै—(पा० सा० १६-१५-१)।

टालौं—दूर करूँ, हटाऊँ। उ० कित एक टालौं मालि। (सा० ४६-२१-नो० ३८)।

टिकुटी—सं० स्त्री० (हि० तिकली)—नाचने घूमने वाली तिकुली वन गई। (सं० त्रिकाष्ठ वा हि० तीन+काठ से टिकठी)—कपड़ा फैलाने के लिए बना दो या तीन लकड़ियों का ढाँचा। उ० टिकुटी भई कांन्ह कै कारणि। (प० ७७-११)।

टिकै—क्रि० अ० (सं० स्थित+कृ, हि० टिकना)—ठहरै, अड़ै, जमै। उ० पाव न टिकै पील का, लोगनि लादे बैल। (सा० १४-७-२)।

टिपके—सं० पु० (हि० टपक)—बूंद। (पा० सा० २२-५-१)।

टिरी—क्रि० अ० (सं० टलन, हि० टलना, टरना)—टलगई, दूर हो गई। उ० संसारी कै अचल टिरी। (प०३७०-६)।

टीका—सं० पु० (सं० तिलक, प्रा० टिक्क)—ललाट पर राख, चंदन, रोली आदि का लगाया जाने वाला तिलक। (पा० प० १४३-३)।

टीकि—(पा० प० १६५-३)।

टीबै—सं० पु० (हि० टीला)—ढूहे पर, भीटे पर। उ० ऊंचै टीबै मछ वसत है। (प० १७६-३)।

टुक—वि० क्रि० वि० (सं० स्तोक)—थोड़ा,जरा, तनिक, जरा भी, तनिक भी। उ० मांहि पड़ै टुक लूंण। (सा० २२-१२-१)। (प० २५७-६)।

टुकटुक—दे० 'टगटग'। (पा० सा० १६-११-१)।

टुटै—क्रि० अ० (सं० त्रुट, हि० टूटना)—रुक जाने पर, सिलसिला वंद हो जाने पर। उ० ज्यूं जल टूटै मंछली। (सा० २६-५-२)।

टूकटूक—क्रि० वि० (सं० स्तोक, हि० टूक)—टुकड़े-टुकड़े। उ० कवीर मारूं मन कूं। टूकटूक ह्वै जाइ। (सा० १३-५-१)।

टुकौं—सं० पु० (हि० टूक से टूका)—भिक्षा, भीख का टुकड़ा। खैहैं टूकौं टेरी रे। (प० ८५-६)।

टूटा—क्रि० अ० (सं० त्रुट)— टूट गया। (पा० प० ५२-३)।

टूटि—(हि० टूटना से)—टूटकर, अलग होकर। उ० माया मोह थैं टूटि। (सा० ४७-३-१)।

टूटी—वि० (हि० टूटना से)—भग्न, पस्त। उ० टूटी घर की छांनि। (सा० ३०-१०-१)।

टूटै—क्रि० अ० (हि० टूटना)—छूट जाता है। उ० तव लग टूटै रांम सनेह। (प० २१-२)।

टूटैगी—टुकड़े-टुकड़े हो जायगी, खंडित हो जायगी। उ० टूटैगी कहुं लागि। (सा० ३३-८-२)।

टूलै—अनुकरणात्मक, टालना-टूलना। (पा० सा० १६-१५-१)।

टेक—सं० स्त्री० (हि० टिकना)—आश्रय, अवलम्ब। उ० पकरी टेक कवीर भगति की। (प० ५६-८)।

टेढ़—वि० (सं० तिरस्)—टेढ़ी, वक्र। (पा० प० ४४-२)।

टेढ़े—क्रि० वि० (सं० तिरस्)—टेढ़े। (पा० प० ६६-१)।

टेढ़ौ—वि० (सं० तिरस्)—झुका हुआ। उ० घर जाजरौ वलींडौ टेढ़ौ। (प० २२-२)।

टेरै—क्रि० स० (हि० टेर+ना, प्रत्यय)—हाँक लगाती है, पुकारती है। उ० ठाढ़ी भाइ कराड़ै टेरै। (प० १५१-२)।

टेसू—सं० पु० (सं० किंशुक)—पलाश, ढाक। (सा० १२-८-२)।

टोकणीं—सं० स्त्री० (हि० टोकनी)—वटलोही, देगची अथवा पीतल का जल-पात्र विशेष। उ० कवीर तप्टा टोकणीं, लीए फिरै सुभाइ। (सा० १७-५-१)।

टोकनीं—(पा० सा० २१-२५-१)।

टोटीं—सं० स्त्री० (सं० तुंड)—नली। (पा० प० १६७ ५)।

टोप—सं० पु० (हि० तोपना—ढांकना)—सिर की रक्षा के लिए लड़ाई में पहनने की टोपी उ० ररा करि टोप ममां करि वखतर। (प० ३५०-३)।

टोपी—स्त्री० (पा० प० १४३-३)।

ठ

ठऊवां—सं० पु० (सं० स्थान, प्रा० ठान हिं० ठाँव)—जगह पर। उ० जीव सीव करि एकैं ठऊवां (र० १-११)।

ठकुराई—सं० स्त्री० (हि० ठाकुर)—आधिपत्य, प्रधानता। उ० तहां काकी ठकुराई। (प० ५८-६)।

ठकोरी—सं०स्त्री० (हि० टेकना, ठेकना +औरी (प्रत्यय)—सहारा देने की

लकड़ी साधुओं की वैरागिनी ।(सा० ३५-१६-नो०-२१) ।

ठग—सं० पु० (सं० स्थग)—धोखा देकर धन लूटने वाला । उ० जग हट-वाड़ा स्वाद ठग । (सा० १६-१-१) ।

ठगत—क्रि० स० (हि० ठग)—ठगत है, धोखा देकर माल लूटता है । (प० प० १३९-१) ।

ठगाइ—क्रि० अ० (हि० ठगना से ठगाना)—ठगा जाय । उ० जिनि लाइ जनम ठगाइ । (सा० १६-१-२) ।

ठगाइये—हानि सहना चाहिये, ठगा जाना चाहिए । उ० कबीर आप ठगाइये और न ठगिये जाइ । (सा० ४५-८-१) ।

ठगिये—क्रि० स०—धोखा दीजिए, भुलावे में डालिए । (सा० ५४-८-१) ।

ठग्यां—क्रि० वि०—ठगे जाने पर, ठगने पर । उ० आप ठग्यां सुख ऊपजै । (सा० ४५-८-२) ।

ठग्यौ—वि०—ठगा हुआ, प्रतारित । उ० रह्यौ ठग्यौं सौ वैसै । (प० १३३-८) ।

ठगिनि—सं० स्त्री० (हि० ठग)—लुटेरिन, धोखा देकर लूटने वाली स्त्री । (पा० प० १६३-१) ।

ठगौरी—सं० स्त्री० (हि० ठग+वौरी)—जादू, मोहन मंत्र । उ० हरि ठग जगकौं ठगौरी लाइ । (प० ८९-१) ।

ठठकी—क्रि० अ० (सं० स्थेण्ट+करण, हि० ठिठकना)—स्तंभित होकर, क्रिया शून्य होकर । उ० संत की ठठकी फिरै बिचारी । (प० ३७०-५) ।

ठठाइ—क्रि० स० (अनुकरणात्मक ठक-ठक से हि० ठठानो)—टोंक दिया, पीट दिया, जोर से घुसेड़ दिया । उ० फल सौ दीयौ ठठाइ । (प० १३-८) ।

ठमकायैं—क्रि० स० (सं० स्तंभ, हि० थम+करना, ठमकना)—चलते-चलते रोक देने से, बजाने से । उ० कहा भयौ बिछुवा ठमकायैं । (प० १३९-४) ।

ठमूकड़ा—सं० पु० (सं० स्तंभ, हि० थम +करना, ठमकना)—अचानक की रुकावट, ठिठकाव । उ० अहरणि रह्या ठमूकड़ा, जब उठि चले लुहार । (सा० ४६-२१-२) ।

ठयऊ—सं० पु० (सं० स्थल)—जगह, स्थान । (बी० र० ३-१) ।

ठहर—सं० पु० (सं० स्थल)—जगह, स्थान । (बी० र० १-३) ।

ठहरांनीं—क्रि० अ० (सं० स्थैर्य+ना प्रत्यय)—रुक गई, थक गई । उ० पवन थक्यो गुड़िया ठहरांन । (प० ९१-४) ।

ठहराइ—क्रि० स० (हि० ठहराना)—स्थिर कर दो, टिका दो, थम सकती, ठहर सकती । उ० राई ना ठहराइ । (सा० १४-८-१) ।

ठांइ—सं० स्त्री० (सं० स्थान, प्रा० ठाम अय० ठाउँ, हि० ठाँव)—स्थान तक, ठिकाने तक । उ० अमड़ेगे उस ठांइ । (सा० ८-५-१) ।

ठांई—उ० फारि बुनी दस ठांई हो । (प० ५०-७) ।

ठायेंठांइ—क्रि० वि० (हि० ठाँयँ ठाँयँ)—जगह-जगह, हर कहीं । उ० आनंद ठायें ठांइ । (सा० ३०-२-१) ।

ठाँव—सं० पु० (सं० स्थान, प्रा० ठांम, अप० ठाउँ, हि० ठाँव)—ठिकाना, जगह । उ० कहु पांडे सुचि कवन ठाँव । (प० २५१-१) ।

ठांउं—(पा० प० १९२-१)

ठांऊं—(पा० र० १०-२) ।

ठांम—(पा० र० २-५) ।

ठाउँ - उ० नहीं राम बिन ठाउँ । (सा० २ २०-२) ।

ठांवैं ठाउँ—क्रि० वि० (हि० ठाँवैं, ठाँवैं)—जगह, जहाँ न तहाँ । उ० पहली काच कबीर था, फिरता ठांवैं ठाउँ । (सा० ५०-८-२) ।

ठाकुर—सं० पु० (सं० टक्कुर)—स्वामी, मालिक। उ० सो ठाकुर हम दास। (प० १८-६)।

ठाकुरु—(पा० प० ३०-३)।

ठाटनि—सं०स्त्री० (सं० स्थान)—सजावट, ठाट। (पा० सा० १५-८५-१)।

ठाटिए—क्रि० स० (सं० स्थातृ, हि० ठाट)—बनाना, निर्मित करना। (पा० सा० १५-८५-१)।

ठाढ़ा—वि० (सं० स्थातृ)—खड़ा, दण्डायमान होकर। उ० ठाँढ़ सिंह चरावैं गाई। (प० ११-१)।

ठाढ़ी—स्त्री०—प्रत्यक्ष, खड़ी-खड़ी। उ० ठाढ़ी करे पुकार। (सा० ४६-१०-१)।

ठाढ़े—खड़े। (पा० प० १५५-६)।

ठाढ़ो—खड़े होकर। (बी० र० २४-७)।

ठाढ़ौ—खड़ा। (पा० प० ४५-१)।

ठानी—क्रि० स० (सं० अनुष्ठान, हि० ठानना)—अनुष्ठित किया, छेड़ दी, आरम्भ कर दी। (बी० र० ४-३)।

ठाम—दे० 'ठाँव'। उ० गिरूँ त नाहीं ठाम। (सा० २-२९-२)।

ठाहर—सं० पु० (सं० स्थल, हिं० ठहर)-स्थान, जगह। उ० बिन ठाहर नगर बसाया। (प० २८२-७)।

ठाहर लाइ—मुहावरा—डेरा डाल, रोक रख। उ० सकै तौ ठाहर लाई। (१२-३६-१)।

ठाहरि—जगह, स्थान। (पा० प० १४२-१)।

ठाहरै—क्रि० अ० (हि० ठहरना से)—ठहरता है। उ० बिरला कोई ठाहरै। (सा० २६-१-२)।

ठिठकी—क्रि० अ० (सं० स्थित)—स्तंभित रह गई। (पा० प० १६२-६)।

ठीकदे—मुहावरा (हि० ठीक+देना)—जोड़ निकाल कर, योगफल निश्चित करके। उ० चार लाप अरु असी ठीक दे। (प० १०८-४)।

ठीकरी—सं० स्त्री० (हि० टुकड़ा का अल्प रूप)—मिट्टी के बर्तन का छोटा फूटा टुकड़ा। (सा० १२-६-नो०-७)।

ठेलिया—क्रि० स० (हि० टलना)—हटा दिया, धक्का दिया। उ० अंधै अंधा ठेलिया। (स० १-१५-२)।

ठोकि—क्रि० स० (अनुकरणात्मक ठकठक से टोंकना)—आघात पहुंचा कर। (पा० सा० १५-३०-२)।

ठोकि—उ० मूड़ ठोकि लै बाहरि जायौ। (प० ६५-४)।

ठोकि बजाइ—मुहावरा—परीक्षा करके, भली भांति देख-भाल करके। उ० देखे ठोकि बजाइ। (सा० ३७-१०-२)।

ठोली—क्रि०वि०—योंहीं, आसानी से ही, दिल्लगी में। (देशज)—दुश्चरित्र या रखेली स्त्री। उ० च्यंतामणि क्यूं पाइए ठोली। (प० ३३४-४)।

ठौर—सं० पु० (सं० स्थान, प्रा० ठान, हि० ठाँव)—स्थान, ठिकाना। उ० जा कारणि मैं जाइ था, सोई पाई ठौर। (सा० ५-३७-१)।

ठौरी—सं० पु० (सं० स्थान, प्रा० ठान, हि० ठाँव, ठौर)—जगह पर, वहीं पर, वहीं। उ० चलत अचल भइ ठौरी (प० ३०३-३)।

ड

डंगा—सं० पु० (सं० दंडक)—बेत का मजबूत छड़ी, मोटा डंडा। उ० जीवत पित्रहि मारहि डंगा। (प० ३५६-३)।

डंड—सं० पु० (सं० दंड)—डंडा, गदा। उ० जंम का डंड मूंड मैं लागै। (प० ३५१-४)।

डंडा—(पा० प० १४३-५)।

डंडुं—(पा० प० ६५-८)।

डंडूल—सं० पु० (सं० द्वंद्व, हि० द्वंद)—दुविधा, संशय। उ० हिरदै बहै डंडूल। (सा० २४-१-१)।

डंहके—क्रि० स० (हि० डाका)—छल करना, धोखा करना, ठगना। (पा० प० १६४-७)।

डऊवा—सं० पु० (देश० डौआ) - काठ का चमचा, काठ की डांड़ी की बड़ी करछी। उ० भांड चलवनां डऊवा हो राम। (प० २०-५)।

डगडग—सं० पु० (हि० डांकना)—कदम-कदम पर। उ० डग-डग रोटी पग पग नीर। (स० ६८-६)।

डगमग—सं० पु० (हि० डग + मग)—थरथराहट या अनिश्चय, द्वैधी भाव। उ० डगमग छाड़ि दे मन वौरा। (प० १२६-१)।

डर—सं० पु० (सं० दर)—भय, त्रास, शंका। उ० यहु डर नाहीं मुझ। (सा० ११-७-१)।

डरही—डर ही। (पा० चौ०र० १८-१)।

डरउं—क्रि० अ० (हि० डर)—डरता हूँ। (पा० प० १३५-३)।

डरता—डरता हुआ। (पा० सा० ३०-२५-२)।

डरपत रहू—डरते रहो, भय खाओ। उ० सुबहा डरपत रहु मेरे भाई। (प० ६७-१)

डरपता—डरता था, भयभीत होता था। (पा० सा० २-४४-२)।

डरपती—डरती थी, भयभीत होती थी। उ० मड़ हट देख्यां दुरपती, चौड़ै दीन्हीं जालि। (सा० ४६-१६-२)।

डरपनां—डरना, आशंका करना। (पा० सा० १४-१-२)।

डरपै—डरता है। (पा० प० ५८-४)।

डरांनां—डरते हैं। (पा० प० १५६-४)।

डरांनैं—डरते हुए। (पा० प० १६७-२)।

डराइये—डरिये, डरना चाहिए। उ० मरनैं कहा डराइये। (सा० ४५-१२-२)।

डराई—डरता है। उ० ताथैं तन न डराई। (प० ३४१-१)।

डराते रहिये—डरते रहना चाहिए। उ० तिनथैं सदा डराते रहिये। (प० १४४-२)

डरिअै—डरता है। (पा० प० ८२-२)।

डरी—डर गई। (पा० प० २-५)।

डरूं—डरता हूँ। (पा० सा० ७-६-१)।

डरै—डरते हो। उ० कबीर तूं काहे डरै। (सा० ३५-१२-१)।

डरौं—डरता हूँ, भय खाता हूँ, भयभीत होता हूँ। उ० भारी कहौं त बहु डरौं। (सा० ८-१-१)।

डरराइ—क्रि० स० (हि० डराना से)—भयभीत करती है, डराती है। उ० औलोती डरराइ। (प० २२-२)।

डराई देत—डराती है। उ० तोही डराई देत बिलाई। (प० ६७-१)।

डराऊं—भय दिखलाता हूँ, भयभीत करता हूँ। उ० आप न डरौं न और डराऊं।

डरावउं—डराता हूं, भय दिखलाता हूँ। (पा० प० १०७-८)।

डरियां—सं० स्त्री० (सं० दारु)—डाल, शाखा। उ० बंबूर की डरियां बनसी लैहूँ। (प० १७७-६)।

डसिये—क्रि० स० (सं० दंशन)—डस जाय। उ० गहौं त डसिये बांह। (सा० ३-४३-२)।

डसिले—काट लिया है, डस लिया है। उ० संसार भुवंगम डसिले काया। (प० ८३-३)।

डसिहै—डस जाय। (पा०सा० २-११-२)।

डसी—ज़हरीले दांतों से काट खाती है। उ० बिना भुवंगम डसी दुनियांई। (र० ४-६६)।

डसे—डस लेती है। उ० डसे भुवंगम बिन उजियारी। (र० ४-६७)।

डस्यौ—डस लिया। (पा० प० ३६-५)।

डहकाये—क्रि० अ० (सं० दस अथवा सं० दस्यु)—छला, धोखे में आकर हानि सहा हुआ। उ० ताथ जनमि जनमि डहकाये। (प० १२-२)।

डहके—धोखा खा गए। उ० इन ग्रिह मन डहके सर्वहिन के। (प० ८५-३)।

डहडही—वि० (अनु०)—हरी-भरी, लहलहाती हुई, ताजी। उ० जे काटौं तौ डहडही। (सा० ५८-३-१)।

डांइणि—सं० स्त्री० (सं० डाकिनी)—भूतनी, चुड़ैल, माया। उ० संक्या डांइणि वसै सरीरा। (प० १८२-५)।

डांइन—उ० डांइन डारै सुनहां डोरै। (प० ६-३)।

डांइनि—उ० इक डांइनि मेरे मत मैं वसै रे। (प० २३६-३)।

डांइन्य—उ० या डाइन्य के लरिका पांच रे। (प० २३६-४)।

डांडि—सं० स्त्री० (सं० डंड, हि० डाँड)—लकीर, तिलक। उ० तौ जनमत तीनि डांडि किन सारै। (प० ४१-२)।

डांडी—सं० स्त्री० (हि० डांड)—(१) तराजू की डंडी। उ० विन डांडी विन पालड़ै, तोलै मब संसार। (सा० ३८-८-२)।
(२) टहनी, पतली शाखा। उ० मगरी तजौं प्रीति पार्यें सूं, डांडी देहु लगाइ। (प० २२-३)।

डाकणीं—सं० स्त्री० (सं० डाकिनी)—डाइन, चुड़ैल। उ० कबीर माया डाकणीं। (सा० १६-२१-१)।

डाकिनीं—(पा० सा० ३१-८-१)।

डागल—सं० स्त्री० (हि० डग, डगर, डागरि)—मार्ग, अथवा वालू के ढेरों पर रास्ता। उ० डागल उपरि दौड़णां, सुख नींदड़ी न सोइ। (सा० १२-५६-१)।

डाबर—सं० पु० (सं० दभ्र)—तलैया, पोखरी। (पा० सा० १६-७-२)।

डाबरड़ा—तलैया। (सा० ४६-१६-नो० ३०)।

डाबरि—तलैया। (सा० ४६-१६-नो० ३१)।

डाबरियां—(पा० सा० १६-१०-२)।

डार—सं० स्त्री० (सं० दारु)—डाल, शाखा। उ० बहुरि न लागै डार। (सा० १२-३४-२)।

डारा—(पा० प० १५२-३)।

डारि—(पा० प० १२३-१०)।

डारी—(पा० प० ३८-५)।

डाल—उ० कांमीं डाल न भून्न। (सा० २०-१७-२)।

डाला—(पा० प० १७५-८)।

डारउं—क्रि० स० (हि० डालना)—डाल दूं। (पा० प० २३-५)।

डारा—डाल दिया। (पा०प० १६५-२)।

डारिरह्या—(हि०डालना + रहना)—फेंक रहा है, उड़ा रहा है। उ० डारि रह्या सिरि पेह। (सा० ६-५-२)।

डारी—फेंक दी. छोड़ दी। उ० डारी खाँड़ पटकि करि। (सा० ३-२२-१)।

डारें—डालते हैं। (पा० प० १८६-४)।

डारै—(१) परित्याग कर देने, छोड़ देने से, डालने से, डालती है। उ० डांइन डारै सुनहां डोरै। (प० ६-३)।
(२) लगाने से, लपेटने से। उ० कागज डारै गाता। (प० ८८-४)।

डारै—डाल दो। (पा०सा० २२-७-२)।

डार्‌या—फेंक दिया। उ० डार्‌या सिर पैं वोझ। (सा० २०-४-२)।

डार्‌यां—(पा० प० २२-३)।

डाव—(१) सं० पु० (हि० दांव)—दांव। उ० लालच खेल्या डाव। (सा० १-१-१६)।
(२) (सं० प्रत्य० दा (दाच्) हि०दांव)–

जीन का पांसा या कौडी । उ० जे जीत्या तो डाव । (सा० ४५-३०-१) ।

डावांडोला—वि० (हि० डोलना से)—चंचल, विचलित । (सा० ५२-३-नो० ७)

डाहै—क्रि० स० (हि० दाहना. डाहना)—जला देती है । (बी० र० २३-३) ।

डाहो—सं० स्त्री० (सं० दाह)—जलन । (बी० र० १२-५) ।

डिभ—सं० पु० (सं०)—बच्चा, लाड़ला । (बी० र० ४७-४) ।

डिगंतर—सं० पु० (सं० दिगंतर)—दूर देश, न जाने कहाँ-कहाँ । (बी०र० १३-४)

डिगंबर—सं० पु० (सं० दिगम्बर)—नंगा रहने वाला, जैन यती, क्षपणक । उ० मुनियर पीर डिगंबर भारे । (प० १८७-३) ।

डिगा—क्रि० अ० (सं० टिक, हि० टलना, डोलना)—विचलित हो गया । (पा०सा० ३-१८-२) ।

डिगै—विचलित होता है । उ० मन न डिगै ताथैं तन न डराई । (प० ३४१-१)

डिढ करि—क्रि० वि० (सं० दृढ़+करना) दृढ़तापूर्वक, मजबूती से । उ० अजरावर कौं डिढ करि गहै । (र० १-२२) ।

डींगरि—दे० 'डीगरि' । (पा० सा० २५-२१-२) ।

डीगरि—सं० स्त्री० (सं० डिवक, हि० डोकरी)—वेटी, कन्या । (सा० २४-५-नो० ६) ।

डूंगरि—सं० पु० (सं० तुंग)—पहाड़ी, टीलेदार छोटी पहाड़ी पर । उ० डूंगरि वूठा मेह ज्यूं, गया निवांणां चालि । (सा० १३-२२-२) ।

डूंधै—सं० पु० (सं० द्रोण, हि० डूंगा)—चमचा, आचमनी । उ० डूंधै पांणीं न्हाइ । (सा० १७-१८-१) ।

(मेरे मत से यह वि०है और पंजावी 'डुंगा' से व्युत्पन्न है । इसका अर्थ है 'गहरा') ।

डूंडै—वि० (सं० डोण)—डोगे पर । उ० बोहिथ छाडि वैसि करि डूंडै बहुतक दुख सहै रे । (प० ३१०-२) ।

(मेरे मत से—सं० पु० (सं० रथालु)—काष्ठ, ठूँठ, पेड़ की सूखी डाल ।

डूबत—क्रि०अ० (प्रा० वुड्डुल, हि० डूबना) है, डूब जाता है । उ० डूवत है संसार । (सा० ३१-१-२) ।

डूबतां—डूवते समय । उ० भौसागर मैं डूबतां । (सा० ४३-१-२) ।

डूबता—डूवता था । उ० जिहि सर घड़ा न डूवता । (सा० ६-७-१) ।

डूबि—डूवकर । (पा० प० १६६-८) ।

डूबिहौं—डूब जाऊँगा । उ० जे छांडौं, तौ डूबिहौ । (सा० ३-४३-२) ।

डूबै—डूव जाता है । (पा०प० १२२-७) ।

डेरा—सं० पु० (हि० ठैराव)—टिकाव, ठहराव, पड़ाव । उ० साल मिया का डेरा । (प० २३८-८) ।

डेराई—क्रि० अ० (हि० डरना से)—भयभीत होता है । (पा० प० २४-१) ।

डेराना—क्रि० अ० (हि० डर+ना (प्रत्य०)—भयभीत होना, सशंक होना । (बी० र० १२-२) ।

डोरा—सं० पु० (सं० डोरक)—सूत, धागा । उ० ताथैं लाइ लै कंथा डोरा । (प० ३१-२) ।

डोरि—स्त्री०—रस्सी । उ० वंक नालि की डोरि । (प० १८-३) ।

डोरै—क्रि० स० (हि० डोरना)—वाँधे, वश में कर ले । उ० डाइन डारै सुनहां डोरै । (प० ६-३) ।

डोरै डोरै—क्रि० वि० (हि० डोर)—साथ पकड़े हुए, साथ साथ, संग संग । उ० मैं डोरै डोरै जाउंगा । (प० ३१-१)

डोलन लाग—क्रि० अ० (सं० दोलन)—हिलने लगा । (सा० ४६-६-नो० १२) ।

डोलहीं—डोलते हैं, हिलते-फिरते हैं ।

(पा० र० १६-७) ।

डोला—हिलना है, डोलता है । उ० त्रिस्नां वाव चहूँ दिसि डोला । (प० ६०-४) ।

डोलिये—डिगना चाहिए, विचलित होना चाहिए । उ० हस्ती चढ़ि नहीं डोलिये । (सा० ३५-१२-२) ।

डोलै—चलती-फिरती है । उ० तब लागी डोले साथि । (सा० १६-६-२) ।

डौल्यौ —घूमता है, फिरता है । उ० जिहि दुरमति डौल्यौ संसारा । (र० ४-३७) ।

डोली—सं० स्त्री० (सं० दोल)—छोटी पालकी । उ० सांई मेरे साजि दई एक डोली । (प० ६०-१) ।

ड्यंभ—सं० पु० (सं० डिंम)—छ वच्चा । उ० काछ्यौ ड्यंभ उदर के तांई । (प० २७८-३) ।

ड्यंभक—सं० पु० (सं० दम्भ)—पाखं० का, आडवर का, दम्भ का । उ० विवर्जित ड्यभक रूंप । (प० २२०-५) ।

ढ

ढंग—सं० पु० (सं० तंग (तंगन—चाल)–प्रवृत्ति, आचरण । उ० नां इस तन मैं ढंग । (सा० ११-१६-१) ।

ढंडौल्या —क्रि० स० (सं० ढुंढन, हि० ढूँढना)—खोजा, टटोला । उ० जगत ढंडौल्या वादि । (सा० ५-३३-२)।

ढंढोरतां—क्रि० स० (हि० ढूंढना)–टटोल-कर ढूँढ़ते समय । (पा०सा० ६-३२-२)।

ढंढोलतां—क्रि० स० । उ० सायर मांहि ढंढोलतां (सा० ५-३४-२) ।

ढवका—सं० पु० (देश०)—धक्का, ठोकर, ठेस । उ० ढवका लगा फूटि गया । (सा० १२-३६-२) ।

ढरिजाहु—क्रि० अ० (हि० ढाल से ढलना)—आकर्षित हो जाओ, प्रवृत्त हो जाओ । (प० ७६-२) ।

ढरै—क्रि० स० (हि० ढरना, ढलना)—प्रवृत्त हुआ है, आकृष्ट है । उ० कबीरा प्रेम कूल ढरै । (प० २१६-१) ।

ढहाऊँ—क्रि० स० (सं० ध्वंसन)—ध्वस्त करना । (पा० प ४-५) ।

ढहाया—क्रि० स० (सं० ध्वंसन, हि० ढाहना)—गिरा दिया, पस्त कर दिया । उ० एकै चोट ढहाया । (प० २५६-७) ।

ढहि—क्रि० अ० (सं० ध्वंसन)—ढहना, गिरना । उ० देपत ही ढहि जाइ । (सा० १८-१-२) ।

ढहिजाइ—क्रि० अ० (सं० ध्वंसन, हि० ढहना)—गिर पड़े, ध्वस्त हो जाय । उ० देपत ही ढहि जाइ । (सा० १८-१-२) ।

ढहि—गिरना । (पा० सा० १६-१६-२) ।

ढहि जाइ—ध्वस्त हो जाता है, गिर पड़ता है । उ० छत्रधार देखत ढहि जाइ । (प० ३६४-३) ।

ढहि पड्या—ध्वंस होकर गिर पड़ा । उ० कबीर देवल ढहि पड्या । (सा० १२-१८-१) ।

ढहै—क्रि० अ० (सं० ध्वंसन)—गिरे । उ० ज्यूं ढहै न दूजी बार । (सा० १२-१८-२) ।

ढाइ—क्रि० स० (सं० ध्वंसन, हि० ढाहना)—ध्वस्त करके, गिराकर । उ० मारै सबकूं ढाइ । (प० ३०६-६) ।

ढाक—सं० पु० (सं० आषाढ)—पलाश का पेड़ । (पा० सा० ४-६-२) ।

ढाटी—क्रि० स० (?)—अपना रखी है । उ० मो वपुरा थैं जो गति ढाटी । (र० २-१३) ।

ढारि—क्रि० स० (सं० धार, हि० ढार+ना (प्रत्यय)—डालकर, गिरा कर । (पा० प० ६०-८) ।

ढारैं—डालते हैं, गिराते हैं । उ० जागि

जीन का पांसा या कौडी । उ० जे जीत्या तो डाव । (सा० ४५-३०-१) ।

डावांडोला—वि० (हि० डोलना से)—चंचल, विचलित । (सा० ५२-३-नो० ७)

डाहै—क्रि० स० (हि० दाहना. डाहना)-जला देती है । (बी० र० २३-३) ।

डाहो—सं० स्त्री० (सं० दाह)—जलन । (बी० र० १२-५) ।

डिभ—सं० पु० (सं०)—बच्चा, लाड़ला । (बी० र० ४७-४) ।

डिगंतर—सं० पु० (सं० दिगंतर)—दूर देश, न जाने कहाँ-कहाँ । (बी०र० १३-४)

डिगंबर—सं० पु० (सं० दिगम्बर)—नंगा रहने वाला, जैन यती, क्षपणक । उ० मुनियर पीर डिगंबर मारे । (प० १८७-३) ।

डिगा—क्रि० अ० (सं० टिक, हि० टलना, डोलना)—विचलित हो गया । (पा०सा० ३-१८-२) ।

डिगै—विचलित होता है । उ० मन न डिगै ताथैं तन न डराई । (प० ३४१-१)

डिढ करि—क्रि० वि० (सं० दृढ़+करना) दृढ़तापूर्वक, मजबूती से । उ० अजरावर कौं डिढ करि गहै । (र० १-२२) ।

डींगरि—दे० 'डीगरि' । (पा० सा० २५-२१-२) ।

डीगरि—सं० स्त्री० (सं० डिबक, हि० डोकरी)—बेटी, कन्या । (सा० २४-५-नो० ६) ।

डूंगरि—सं० पु० (सं० तुंग)—पहाड़ी, टीलेदार छोटी पहाड़ी पर । उ० डूंगरि वूठा मेह ज्यूं, गया निवांणां चालि । (सा० १३-२२-२) ।

[illegible]—सं० पु० (सं० द्रोण, हि० डूंगा)-[illegible], आचमनी । उ० डूंधै पांणीं न्हाइ । [illegible]० १७-१८-१) ।

([illegible] मत से यह वि० है और पंजाबी 'डुंगा' है । इसका अर्थ है 'गहरा') ।

डूंडै—वि० (सं० डोण)—डोंगे पर । उ० बोहिथ छाडि बैसि करि डूंडै बहुतक दुख सहै रे । (प० ३१०-२) ।

(मेरे मत से—सं० पु० (सं० स्थालु)—काष्ठ, ठूंठ, पेड़ की सूखी डाल ।

डूबत—क्रि०अ० (प्रा० बुड्डुल, हि० डूबना) है, डूब जाता है । उ० डूबत है संसार । (सा० ३१-१-२) ।

डूबतां—डूबते समय । उ० भौसागर मैं डूबतां । (सा० ४३-१-२) ।

डूबता—डूबता था । उ० जिहि सर घड़ा न डूबता । (सा० ६-७-१) ।

डूबि—डूबकर । (पा० प० १९६-८) ।

डूबिहौं—डूब जाऊँगा । उ० जे छांडौं, तौ डूबिहौं । (सा० ३-४३-७) ।

डूबै—डूब जाता है । (पा०प० १२२-७) ।

डेरा—सं० पु० (हि० ठैराव)—टिकाव, ठहराव, पड़ाव । उ० साल मिंया का डेरा । (प० २३८-८) ।

डेराई—क्रि० अ० (हि० डरना से)—भयभीत होता है । (पा० प० २४-१) ।

डेराना—क्रि० अ० (हि० डर+ना (प्रत्य०)—भयभीत होना, सशंक होना । (बी० र० १२-२) ।

डोरा—सं० पु० (सं० डोरक)—सूत, धागा । उ० ताथैं लाइ लै कंथा डोरा । (प० ३१-२) ।

डोरि—स्त्री०—रस्सी । उ० बंक नालि की डोरि । (प० १८-३) ।

डोरै—क्रि० स० (हि० डोरना)—बाँधे, वश में कर ले । उ० डाइन डारै सुनहां डोरै । (प० ९-३) ।

डोरै डोरै—क्रि० वि० (हि० डोर)—साथ पकड़े हुए, साथ साथ, संग संग । उ० मैं डोरै डोरै जांउंगा । (प० ३१-१)

डोलन लाग—क्रि० अ० (सं० दोलन)-हिलने लगा । (सा० ४६-९-नो० १२) ।

डोलहीं—डोलते है, हिलते-फिरते हैं ।

(पा० र० १९-७) ।

डोला—हिलना है, डोलता है । उ० त्रिस्नां वाव चहूँ दिसि डोला । (प० ९०-४) ।

डोलिये—डिगना चाहिए, विचलित होना चाहिए । उ० हस्ती चढ़ि नहीं डोलिये । (सा० ३५-१२-२) ।

डोलै—चलती-फिरती है । उ० तब लागी डोले साथि । (सा० १६-६-२) ।

डौल्यौ—घूमता है, फिरता है । उ० जिहि दुरमति डौल्यौ संसारा । (र० ४-३७) ।

डोली—सं० स्त्री० (सं० दोल)—छोटी पालकी । उ० सांई मेरे साजि दई एक डोली । (प० ९०-१) ।

ड्यंभ—सं० पु० (सं० डिम)—छोटा बच्चा । उ० काछ्यौ ड्यंभ उदर कै तांई । (प० २७८-३) ।

ड्यंभक—सं० पु० (सं० दम्भ)—पाखंड का, आडंबर का, दम्भ का । उ० विवर्जित ड्यंभक रूप । (प० २२०-५) ।

ढ

ढंग—सं० पु० (सं० तंग (तंगन—चाल)—प्रवृत्ति, आचरण । उ० नां इस तन मैं ढंग । (सा० ११-१६-१) ।

ढंढौल्या—क्रि० स० (सं० ढुंढन, हि० ढूँढना)—खोजा, टटोला । उ० जगत ढंढौल्या बादि । (सा० ५-३३-२) ।

ढंढोरतां—क्रि० स० (हि० ढूँढ़ना)—टटोलकर ढूँढ़ते समय । (पा०सा० ६-३२-२) ।

ढंढोलतां—क्रि० स० । उ० सायर मांहि ढंढोलतां (सा० ५-३४-२) ।

ढबका—सं० पु० (देश०)—धक्का, ठोकर, ठेस । उ० ढबका लगा फूटि गया । (सा० १२-३६-२) ।

ढरिजाहु—क्रि० अ० (हि० ढाल से ढलना)—आकर्षित हो जाओ, प्रवृत्त हो जाओ । (प० ७६-२) ।

ढरै—क्रि० स० (हि० ढरना, ढलना)—प्रवृत्त हुआ है, आकृष्ट है । उ० कबीरा प्रेम कूल ढरै । (प० २१६-१) ।

ढहाऊँ—क्रि० स० (सं० ध्वंसन)—ध्वस्त करना । (पा० प ४-५) ।

ढहाया—क्रि० स० (सं० ध्वंसन, हि० ढाहना)—गिरा दिया, ध्वस्त कर दिया । उ० एकै चोट ढहाया । (प० २५६-७) ।

ढहि—क्रि० अ० (सं० ध्वंसन)—ढहना, गिरना । उ० देषत ही ढहि जाइ । (सा० १८-१-२) ।

ढहिजाइ—क्रि० अ० (सं० ध्वंसन, हि० ढहना)—गिर पड़े, ध्वस्त हो जाय । उ० देषत ही ढहि जाइ । (सा० १८-१-२) ।

ढहि—गिरना । (पा० सा० १६-१९-२) ।

ढहि जाइ—ध्वस्त हो जाता है, गिर पड़ता है । उ० छत्रधार देखत ढहि जाइ । (प० ३६४-३) ।

ढहि पड्या—ध्वंस होकर गिर पड़ा । उ० कबीर देवल ढहि पड्या । (सा० १२-१८-१) ।

ढहै—क्रि० अ० (सं० ध्वंसन)—गिरे । उ० ज्यूँ ढहै न दूजी बार । (सा० १२-१८-२) ।

ढाइ—क्रि० स० (सं० ध्वंसन, हि० ढाहना)—ध्वस्त करके, गिराकर । उ० मारै सबकूं ढाइ । (प० ३०६-६) ।

ढाक—सं० पु० (सं० आषाढ)—पलाश का पेड़ । (पा० सा० ४-९-२) ।

ढाठी—क्रि० स० (?)—अपना रखी है । उ० मो बपुरा थैं जो गति ढाठी । (र० २-१३) ।

ढारि—क्रि० स० (सं० धार, हि० ढार + ना (प्रत्यय)—डालकर, गिराकर । (पा० प० ६०-८) ।

ढारैं—डालते हैं, गिराते हैं । उ० जांगि

न ढारै पासा । (प० २३५-१०) ।

ढालि—(पा० प० ८८-८) ।

ढिग—क्रि० वि० (सं० दिक्)—नजदीक, पास, समीप, निकट । (पा० प० १६६-३) ।

ढिग—निकट, पास । (सा० १२-३६-नो० ५२) ।

ढिबुवा—सं० पु० (देश० ढेबुआ)—पैसा । उ० वित उनमांन ढिबुवा इक पावा । (र० ४-८२) ।

ढीकारा—सं० स्त्री० (हि० डकार)—मुँह से निकली हुई उदर की वायु शब्द करती हुई । उ० चौका जूठा गोबर जूठा, जूठी का ढीकारा । (प० २५१-७) ।

ढीकुली—सं० स्त्री० (हि० ढेंकुली)—ढेंकुल, कुँए से पानी निकालने का एक यंत्र । उ० सुरति ढीकुली लेज ल्यौ । (सा० १०-२-१) ।

ढींकुली—(पा० सा० १२-६-१) ।

ढींकू—ढेंकुल । उ० ल्यौ की लेज पवनक ढींकू । (प० २-१४-५) ।

ढुरि—क्रि०अ०(हि०ढुलना)–ढुरकना । उ० यूँ ढुरि मिल्या जुलाहा । (प० ४०२-४) ।

ढुलि मिलिया—ढरक कर मिल गया, एक हो गया । उ० ढुलि मिलिया उस कूलि । (सा० ५-१८-२) ।

ढुलंता—क्रि० स० (हि० ढाल से ढुलना)–इधर-उधर डुलाया जाता हुआ । उ० छत्र सिंघासण चवर ढुलंता । (प० २९९-५) ।

ढूंक्यौ—क्रि० अ० (देशज)–मान में छिपा, लुक गया । उ० ता बेली कौ ढूंक्यौ मृग लौ । (प० १२-६) ।

ढूंढ़ण—क्रि० स० (सं० ढुंढन)—ढूंढने, तलाश करने । उ० बाहरि ढूंढ़ण जांहि । (सा० ५३-६-२) ।

ढूंढत—ढूँढ़ता हुआ । (पा० प० ३-७) ।

ढूंढता—खोजता या पता लगाता रहा । उ० जा कारणि में ढूंढता । (सा० ५-३६-१) ।

ढूंढ़न—खोजने के लिए । (पा० सा० ७-२-२) ।

ढूंढ़हि—खोजने, पता लगाने । (पा० चौ० र० १९-१) ।

ढूंढ़ि—खोजकर, पता लगाकर । (पा० चौ० र० १९-२) ।

ढूंढ़िया—ढूंढ़ लिया, पता लगाया । (पा० सा० ६-४-१) ।

ढूंढै—ढूँढ़ता फिरता है । उ० पंडित ढूंढै खेत । (सा० १७-९-२) ।

ढूरि लागे—क्रि० अ० (हि० ढारना + लगना)—झुककर या प्रवृत्त होकर लग जाना । उ० जग की देखि गति रांमहि ढूरि लागे । (प० ३२४-२) ।

ढोर—सं० पु० (हि० ढूरना)—मवेशी, चौपाया । (सा० १२-१३-नो० १८) ।

ढोल—सं० पु० (सं०, प्रा० ढोल्ल)—ढोल नाम का बाजा । उ० ढोल दमामा दुड़-बड़ी । (सा० १२-३-१) ।

ढोलनहार—क्रि० अ० (सं० द्रोलन + हि० हारा)—ढलने वाला, चंचल । उ० मन नित ढोलनहार । (सा० १०-२-१) ।

ढोला—क्रि० स० (सं० दोलन)—ढरकाया हुआ । (पा० सा० २५-२-२) ।

ढोल्या—क्रि० स० (सं० दोलन, हि० ढोलना)—ढरकाया हुआ, ढाला हुआ । उ० बाहरि ढोल्या हीं गलू । (सा० २४-७-२) ।

ढौरी—सं० स्त्री० (देशज)—रट, धुन । उ० तुम्ह से केते लागे ढौरी । (प० ३९४-५) ।

ढंढोल्या—क्रि० स० (हि० ढूंढ़ना, टटोल कर ढूंढ़ना)—ढूँढ़ता फिरना, अथवा ढूंढ़ता फिरा । उ० जगत ढंढोल्या बादि (सा० ५-३३-२) ।

ढहराय—क्रि० अ० (हि० छटना, लुढ़कना, डगराना)—डगराया करती है, डगरा जाती है । उ० गोली गुमुज की नीच परी

ढहराय (वी० सा० १७७-१)।

ढहाया—क्रि० स० (सं० ध्वंसन = ध्वस्त कर देना)—गिरा कर ध्वस्त कर दिया। उ० एकै चोट ढहाया। (प० ३५६-७)।

ढहि जाई—क्रि० अ० (सं०ध्वंसन = ध्वस्त होना, गिरना)—नष्ट हो जाता है, मिट जाता है। (प० ३६४-३)।

ढहि पड़ै—(वहीं) गिर कर पस्त हो जाता है। (सा० ४६-११-३)।

ढहि पड़्या (वही)—गिर पड़ा। (सा० १२-१८-१)।

ढहै न(वही)—गिर न सके। (सा०१२-१२-२

ढांकनो—क्रि० स० (हि० ढकना = छिपा-ना) छिपा लेना। उ० स्वान वापुरो धरनि ढाकनों। (वी० स० ६-६)।

ढाक— सं० (सं० आषाढक = पलाश)—किसी प्रकार के पलास वृक्ष को। उ० वेधे ढाक पलास। (वी० सा० ४६-१)।

ढारिया—क्रि०स०(हि० ढारना = गिराना, छोड़ना)—गिरा दिया, डाल दिया। उ० पाये पानी ढारिया।(वी०स० २१३-१)।

ढारे—क्रि० स० (वही)—गिराता है। मो सिर ढारे ढेंकुली।(वी०स० २७५-१)।

ढाल—सं०स्त्री० (हि०)—वार रोकने के लिए चमड़े आदि का बना हुआ अस्त्र। उ० आड़ अग्यानै ढाल आगे दियो (वी० चा० १-१२)।

ढिगरहिं—सं०पु० (सं०डिंगर, हि०डींगर)—मुस्टंडा आदमी या उपपति। उ० वेहया पुरुष को जोइयाके ढिगरहि कवनि लाज। (वी० वसंत ६-५)।

ढिग—क्रि० वि० (सं० दिक् = ओर) पास, समीप, निकट। तव ढिग बैठ न भाई। (प० २२-७)।

ढिबुवा—सं० पु० (देश०) पैसा, ढेबुवा। (दुपदी रमैनी ८२)।

ढींकुली—सं०स्त्री० (हि०ढेंकली) ढीकुल। उ०सुरति ढींकुली लेज ल्यौ।(सा०१०-१)

ढीकारा—क्रि० अ० (हि० डकारना)—डकार लेना। उ० जूठो का ढीकारा। (प० २५१-७)।

ढीठी—क्रि० अ० (डीठना = दीख पड़ना)—दीख पड़ी, अनुभव में आई। उ० मो वपरा थैं जो गति ढीठी (र० सत० १३)।

ढील—वि० (सं० शिथिल, ढीला) धीमा, सुस्त उ०गुर भौ ढील (वी०कटरा २६)।

ढुकि ढुकि—क्रि० अ० (देश० घुसना अथवा टूट पड़ना)—बार-बार पहुँच-पहुँच करके, आ-आकर के। उ० ग्रहन अमांवस ढुकि ढुकि मांगे। (वी० शब्द १७-५)।

ढुरि—क्रि० अ० (हि० ढार = ढलकना, सरकना) ढलकर, आगे सरककर। उ० यूं ढुरि मिल्या जुलाहा (प० ४०२-४)।

ढूंक्यो—क्रि० अ० (हि० ढुंकना = चुपके से देखना)—चुपके-चुपके देखते हुए। उ० या बेली कौ ढूंक्यो मृग लौ। (प०२१२-६)।

ढूंढण जांहि—क्रि० स० (हि० ढूंढ़ना, खोजना, पता लगाना)—पता लगाने जाते हैं, पता लगाना चाहते हैं। उ० वाहरि ढूंढण जांहि। (सा० ५३-६-२)।

ढूंढत फिरते—क्रि० स० (हि० ढूंढ़ना, खोजना)—खोजते फिरते हैं। उ० जा कारिन हम ढूंढत फिरते।(प० २६७-४ व ८)।

ढूंढ़िया—क्रि० स० (हि० ढूंढ़ना)—पता लगा लिया। उ० ढूंढत ढूंढत ढूंढिया। (वी० सा० ३४३-१)।

ढूंढै—क्रि० स० (हि० ढूंढ़ना)—पता लगाता फिरता है। उ०पंडित ढूंढै खेत। (सा० १७-६-२)।

ढेंढी—सं० स्त्री० (हि०ढेंढा)—कपास या पोस्ते आदि का ढेंढा। उ० सेमर सुगना सेइया दुइ ढेंढी की आस (वी० सा० १६५-१)।

ढेला—सं०पु० (हि० डला)—मिट्टी आदि का खंड या टुकड़ा। उ० उंच नीच

न ढारैं पासा। (प० २३५-१०)।

ढालि—(पा० प० ८८-८)।

ढिंग—क्रि० वि० (सं० दिक्)—नजदीक, पास, समीप, निकट। (पा० प० १६६-३)।

ढिग—निकट, पास। (सा० १२-३६-नो० ५२)।

ढिबुवा—सं० पु० (देश० ढेबुआ)—पैसा। उ० वित उनमांन ढिबुवा इक पावा। (र० ४-८२)।

ढीकारा—सं० स्त्री० (हि० डकार)—मुँह से निकली हुई उदर की वायु शब्द करती हुई। उ० चौका जूठा गोबर जूठा, जूठी का ढीकारा। (प० २५१-७)।

ढीकुली—सं० स्त्री० (हि० ढेंकुली)—ढेंकुल, कुँए से पानी निकालने का एक यंत्र। उ० सुरति ढीकुली लेज ल्यौ। (सा० १०-२-१)।

ढींकुली—(पा० सा० १२-६-१)।

ढींकू—ढेंकुल। उ० ल्यौ की लेज पवनक ढींकू। (प० २-१४-५)।

ढुरि—क्रि०अ०(हि०ढुलना)–ढुरकना। उ० यूँ ढ़ुरि मिल्या जुलाहा। (प० ४०२-४)।

ढुलि मिलिया—ढरक कर मिल गया, एक हो गया। उ० ढुलि मिलिया उस कूलि। (सा० ५-१८-२)।

ढुलंता—क्रि० स० (हि० ढाल से ढुलना)–इधर-उधर डुलाया जाता हुआ। उ० छत्र सिंघासण चवर ढुलंता। (प० २९९-५)।

ढूंक्यौ—क्रि० अ० (देशज)–मान में छिपा, लुक गया। उ० ता बेली की ढूंक्यौ मृग लौ। (प० १२-६)।

ढूंढ़ण—क्रि० स० (सं० ढुंढन)—ढूंढने, तलाश करने। उ० बाहरि ढूंढ़ण जांहि। (सा० ५३-६-२)।

ढूंढत—ढूंढ़ता हुआ। (पा० प० ३-७)।

ढूंढता—खोजता या पता लगाता रहा। उ० जा कारणि में ढूंढता। (सा० ५-३६-१)।

ढूंढ़न—खोजने के लिए। (पा० सा० ७-२-२)।

ढूंढ़हि—खोजने, पता लगाने। (पा० चौ० र० १९-१)।

ढूंढ़ि—खोजकर, पता लगाकर। (पा० चौ० र० १९-२)।

ढूंढ़िया—ढूंढ़ लिया, पता लगाया। (पा० सा० ६-४-१)।

ढूंढै—ढूंढ़ता फिरता है। उ० पंडित ढूंढै खेत। (सा० १७-९-२)।

ढूरि लागे—क्रि० अ० (हि० ढारना+लगना)—झुककर या प्रवृत्त होकर लग जाना। उ० जग की देखि गति रांमहि ढूरि लागे। (प० ३२४-२)।

ढोर—सं० पु० (हि० ढूरना)—मवेशी, चौपाया। (सा० १२-१३-नो० १८)।

ढोल—सं० पु० (सं०, प्रा० ढोल्ल)—ढोल नाम का बाजा। उ० ढोल दमामा दुड़बड़ी। (सा० १२-३-१)।

ढोलनहार—क्रि० अ० (सं० दोलन+हि० हारा)—ढलने वाला, चंचल। उ० मन नित ढोलनहार। (सा० १०-२-१)।

ढोला—क्रि० स० (सं० दोलन)—ढरकाया हुआ। (पा० सा० २५-२-२)।

ढोल्या—क्रि० स० (सं० दोलन, हि० ढोलना)—ढरकाया हुआ, ढाला हुआ। उ० बाहरि ढोल्या हीं गलू। (सा० २४-७-२)।

ढौरी—सं० स्त्री० (देशज)—रट, धुन। उ० तुम्ह से केते लागे ढौरी। (प० ३९४-५)।

ढंढोल्या—क्रि० स० (हि० ढूंढ़ना, टटोल कर ढूंढ़ना)—ढूंढ़ता फिरना, अथवा ढूंढ़ता फिरा। उ० जगत ढंढोल्या वादि (सा० ५-३३-२)।

ढहराय—क्रि० अ० (हि० छटना, लुढ़कना, डगराना)—डगराया करती है, डगरा जाती है। उ० गोली गुमुज की नीच परी

ढहराय (वी० सा० १७७-१)।

ढहाया—क्रि० स० (सं० ध्वंसन = ध्वस्त कर देना)—गिरा कर ध्वस्त कर दिया। उ० एकै चोट ढहाया। (प० ३५९-७)।

ढहि जाई—क्रि० अ० (सं०ध्वंसन = ध्वस्त होना, गिरना)—नष्ट हो जाता है, मिट जाता है। (प० ३६४-३)।

ढहि पड़ै—(वहीं) गिर कर पस्त हो जाता है। (सा० ४६-११-३)।

ढहि पड़्या (वही)—गिर पड़ा। (सा० १२-१८-१)।

ढहै न(वही)—गिर न सके। (सा०१२-१२-२

ढांकनो—क्रि० स० (हि० ढकना = छिपाना) छिपा लेना। उ० स्वान वापुरो वरनि ढाकनों। (वी० स० ९-६)।

ढाक—सं० (सं० आषाढक = पलाश)—किसी प्रकार के पलास वृक्ष को। उ० वेधे ढाक पलास। (वी० सा० ४९-१)।

ढारिया—क्रि०स०(हि० ढारना = गिराना, छोड़ना)—गिरा दिया, डाल दिया। उ० पाये पानी ढारिया।(वी०स० २१३-१)।

ढारे—क्रि० स० (वही)—गिराता है। मो सिर ढारे ढेंकुली।(वी०स० २७५-१)।

ढाल—सं०स्त्री० (हि०)—वार रोकने के लिए चमड़े आदि का बना हुआ अस्त्र। उ० आड़ अग्यानै ढाल आगे दियो (वी० चा० १-१२)।

ढिगरहिं—सं०पु० (सं०डिंगर, हि०डींगर)—मुस्टंडा आदमी या उपपति। उ० बेहया पुरुष को जोइयाके ढिगरहिं कवनि लाज। (वी० वसंत ६-५)।

ढिग—क्रि० वि० (सं० दिक् = ओर) पास, समीप, निकट। तव ढिग बैठ न भाई। (प० २२-७)।

ढिवुवा—सं० पु० (देश०) पैसा, ढेवुवा। (दुपदी रमैनी ८२)।

ढींकुली—सं०स्त्री० (हि०ढेंकली) ढीकुल। उ०सुरति ढींकुली लेज ल्यौ।(सा०१०-१)

ढीकारा—क्रि० अ० (हि० डकारना)—डकार लना। उ० जूठों का ढीकारा। (प० २५१-७)।

ढीठी—क्रि० अ० (डीठना = दीख पड़ना)—दीख पड़ी, अनुभव में आई। उ० मो वपरा थैं जो गति ढीठी (र० सत० १३)।

ढील—वि० (सं० शिथिल, ढीला) धीमा, सुस्त उ०गुर भौ ढील (वी०कटरा २६)।

ढुकि ढुकि—क्रि० अ० (देश० घुसना अथवा टूट पड़ना)—वार-वार पहुँच-पहुँच करके, आ-आकर के। उ० ग्रहन अमांवस ढुकि ढुकि मांगे। (वी० शब्द १७-५)।

ढुरि—क्रि० अ० (हि० ढार = ढलकना, सरकना) ढलकर, आगे सरककर। उ० यूं ढुरि मिल्या जुलाहा (प० ४०२-४)।

ढूंक्यो—क्रि० अ० (हि० ढूंकना = चुपके से देखना)—चुपके-चुपके देखते हुए। उ० या वेली को ढूंक्यो मृग लौ। (प०२१२-६)।

ढूंढण जांहि—क्रि० स० (हि० ढूंढ़ना, खोजना, पता लगाना)—पता लगाने जाते हैं, पता लगाना चाहते हैं। उ० वाहरि ढूंढण जांहि। (सा० ५३-९-२)।

ढूंढत फिरते—क्रि० स० (हि० ढूंढ़ना, खोजना)—खोजते फिरते हैं। उ० जा कारिन हम ढूंढत फिरते।(प० २६७-४ व ८)।

ढूंढ़िया—क्रि० स० (हि० ढूंढ़ना)—पता लगा लिया। उ० ढूंढत ढूंढत ढूंढिया। (वी० सा० ३४३-१)।

ढूंढै—क्रि० स० (हि० ढूंढ़ना)—पता लगाता फिरता है। उ०पंडित ढूंढै खेत। (सा० १७-९-२)।

ढेंढी—सं० स्त्री० (हि०ढेंढा)—कपास या पोस्ते आदि का ढेंढा। उ० सेमर सुगना सेइया दुइ ढेंढी की आस (वी० सा० १६५-१)।

ढेला—सं०पु० (हि० डला)—मिट्टी आदि का खंड या टुकड़ा। उ० उंच नीच

परवत ढला न ईंट (बी० शब्द ४९-२)।

ढोटा—सं० पु० (हि०)—बेटा, लड़का। उ० पाँच ढोटा एक नारी (बी० शब्द ३-२)।

ढोर—सं० पु० (हि०)—चौपाया, गाय, बैल आदि पशु। उ० मुवा सो डांगर ढोर। (बी० स० १०९-१)।

ढोल—सं० पु० (हि०)—ढोल नाम का बाजा। उ० ढोल दमामा दुड़बड़ी। (सा० १२-३-१)।

ढोलनहार—वि० (हि० ढोलना = ढरकाना + हार = वाला)—ढरकाने वाला (सा० १०-२-१)।

ढोला—सं०पु० (हि०)—पिंड या शरीर। उ० जब लग ढोला तब लग बोला। (बी० सा० २९३-१)।

ढोल्या—वि० (हि० ढोलना, ढोरना = रंगना, पोतना)—रंगा, पोता हुआ। उ० बाहरि ढोल्या टींगलू।(सा० २४-७-२)।

त

तंगी—सं० स्त्री० (फा०)—कमी, दुःख। (पा० प० १-९)।

तंत (१)—सं० पु० (सं० तंतु)—ताँत। उ० सबरँग तंत रबावतन, बिरह बजावै नित्त। (सा० ३-२०-१)।

तंत (२)—सं० पु० (सं० तंत्र)—युक्ति, तंत्र। उ० तंत न जांनूं मंत न जांनूं, जांनूं सुन्दर काया। (प० १२२-३)।

तंती—सं० पु० (स० तंत्री) (१) तंत्र अथवा तार वाले बाजे बजाने वाला। उ० त्रिगुण त्रिविधि तलपत तिमरातन, तंती तंत मिलांनीं। (प० १६८-३)।

(२) तंत्री, तार वाला बाजा। उ० सुषमन तंत्रीं बाजण लागी, इहि विधि त्रिष्णां षांडी। (प० १६६-६)।

तंबोली—सं० पु० (स० ताम्बोल, हि० तँबोली)—पान बेचने वाला, पनवाड़ी। उ० तंबोली के पांन ज्यूं, दिन दिन पीला होइ। (सा० २९-९-२)।

त—क्रि० वि० (सं० तद्, हि० तो)—तो उ० सतगुर मिल्या त का भया जे मन पाड़ी भोल। (सा० १-२४-१)।

तउ—अव्य० (सं० तदा)—तब। (पा० प० १३२-१०)।

तऊ—अव्य० (हि० तब + ऊ (प्रत्य०)—तो भी, तिसपर भी। उ० लीर लीर लोई थई, तऊ न छाड़ैं रंग। (सा० २६-३-२)।

तक—अव्यय (हि०)—पर्यन्त, स्थिति के कायम रहते। उ० राजाराम बिनां तकती धोधो। (प० २१७-१)।

तकत—क्रि० अ० (हि० तकना)—देखना। (पा० सा० २२-४-१)।

तकती—क्रि० अ० (हि० तकना)—शरण लेते हो। उ० राजाराम बिनां तकती धो धो। (प० २१७-१) दे० तीं धोधों (आगे)।

तकाई—क्रि० अ० (हि० तकना)—दृष्टि डाली, शरण ली। उ० धूप दाझतैं छांह तकाई, मति तरवर सच पाऊं। (प० ११२-३)।

तकावत—क्रि० स० (हि० तकाना)—दिखाते। (पा० सा० २२-४-१)।

तजंत—क्रि० स० (सं० त्यज्, हि० तजना)—छोड़ता। उ० चँदन भुवंगा वेठिया, तउ सींतलता न तजंत। (सा० २९-२-२)।

तज—छोड़ दो। उ० तज विषिया रस चोंज। (सा० १२-३५-१)।

तजत—छोड़ते। (पा० प० १५-१०)।

तजहिं—छोड़ते हैं। (पा०प० ३२-३)।

तजहि—छोड़ता है। (पा० प० २००-२)।

तजा—छोड़ा। (पा० सा० ३१-३-१)।

तजि—छोड़कर। उ० प्रांण पंड कौं तजि चलै। (सा० १५-२-१)।

तजिए—छोड़िए। (पा०सा० २८-८-२)।

तजिले—छोड़ले। (पा० प० ४६-२)

तजी—छोड़ी, छोड़ दी। उ० माया तजी तौ का भया, मानि तजी नहीं जाइ। (सा० १६-१७-१)।

तजै—त्यागे, छोड़े। उ० काम क्रोध तिण्णां तजै, ताहि मिलै भगवान। (सा० ३-३०-२)।

तजौं—छोड़ने पर। उ० विष विषिया कौ वासनां, तजौं तजी नहीं जाई। (प० १७८-५)।

तज्यौ—छोड़ दिया। (पा० प० १२-१)।

तट—सं० पु० (सं० तट)–किनारा, क्षेत्र। उ० मानसरोवर तट के वासी, रांम चरन चित आंन उदासी। (प० ३४४-३)।

तटि—क्षेत्रों में। उ० जिस कार तीरथ जांही, रतन पदारथ घरही माहीं। (प० ४२-६)।

तण—दे० 'तन'। शरीर। उ० मांनि महातम प्रेमरस, गरवा तण गुण नेह। (सा० ३५-१४-१)।

तणगती—क्रि० अ० (अनु० तड़ से, हि० तड़कना)—तड़ की आवाज करके। उ० चड़ा चीथड़ा चूहड़ा ले गया, तणीं तण गती टूटीं। (प० १०५-६)।

तणां—क्रि० अ० (सं० तन या तनु से तनना)–फैला, विस्तृत हुआ। उ० सब आसण आसों तणां, निवर्ति को नांहि। (सा० १६-२७-१)।

तणीं—सं० स्त्री० (हि० तनी)—डोरी बाँधने वाली रस्सी। उ० चड़ा चीथड़ा चूहड़ा ले गया, तणीं तणगती टूटी। (प० १०५-६)।

तत—सं० (सं० तत्व)—सार वस्तु। उ० निहचल निधि मिलाइ तत, साहस धीर। (सा० १-३०-१)।

ततकाल–क्रि० वि० (सं०तत्काल) उसी समय। उ० कली काल ततका है, बुरा करौं जिनि कोई। (सा० ३ ?-१)।

ततवेत्ता—सं० पु० (सं० तत्ववेत्ता) दार्शनिक, तत्त्व जानने वाला। (पा० १४४-१०)।

ततसमि—वि० (सं० ततसम)—समान। उ० घर वन ततसमि ि किया, ते विरला संसार।(प०३००-३

ततसार—सं० स्त्री० (सं० तप्तशाला (१) तपाने का स्थान। उ० कसणी कंचन किया, ताह लिया ततसार (सा० १-२८-२)।

(२) मुख्य अभिप्राय। राम नांव तत है, सब काहू उपदेश। (सा० २-२-२)

ततु—दे० 'तत'। (पा० १३८-१)।

तत्त—दे० 'तत'। सारवस्तु, (बी० र० ५०-४)।

तत्वमसी—सं० (सं० तत्वमसि)-वह है, नामक अद्वैतवादियों का वाक्य उपदेश। (बी० र० ८-१)।

तत्तहि—दे० 'तत'। तत्त्व को। (चौ० र० २१-२)।

तत्व—दे० 'तत'। सार। (पा० १६-१४-१)।

तदि—अव्य० (सं० तदा)—तौ, तब (सा० ३-३२-नो०)।

तन—सं० पु० (सं० तनु)—शरीर, देह उ० पीछै ही पछिताहुगे, यहु तन जै छूटि। (सा० २-२५-२)।

तनक—वि०(सं० तनु = अल्प)— थोड़ा (पा० प० ११-२)।

तन की—दे० 'तन'। शरीर की। (पा प० ६८-४)।

तननां—दे० 'तननां बुननां' (पा० प १२-३)।

तननां बुननां—सं० पु० (हि० तनना + बुनना)—जुलाहे का काम। उ० तननां बुननां तज्या कबीर, रांम नांम लिखि लिया शरीर। (प० २१-१)।

तनाई—क्रि० स० (हि० तानना)—तान दी। (पा० प० १११-३)।

तनायौ—तनाया। (पा० प० १५०-२)।

तनि—सं० पु० (सं० तनु)—शरीर, काया। उ० अनिन कथा तनि आचरो, हिरदै त्रिभुवन राइ। (सा० ५-२९-२)।

तनिकरि—क्रि० स० (सं० तान = विस्तार)—तानकर या फैलाकर। उ० तानां तनिकरि बांनां बुनिकरि, छाक परी मोहि ध्यांन। (प० २०-८)।

तनीं (१)—वि० (प्रा० हि० तणीं)—की के लिए। उ० ईश्वर गौरी पीवन लागे रांम तनीं मति वारी रे। (प० ७१-४)।

तनीं (२)—सं० स्त्री० (सं० तनिका)—बंद, बंधन। उ० उड़ि गयौ गूड़र छाड़ि तनीं। (प० ९६-८)।

तनु—दे० 'तन'। शरीर। (पा० प० २१-१)।

तप—सं० पु० (सं० तपस्)—तपस्या। उ० वाकुल बसतर किता पहिरबा, का तप बन खंडि वासा। (प० ८८-३)।

तपई—क्रि० अ० (सं० तपन, हि० तपना)-तपता है, यहाँ अर्थ जलाता है। उ० इक त्रिषावंत दुसरैं रवि तपई। (र० ४-८०)।

तपति (१)—क्रि० अ० (सं० तपन)—ताप धारण करती है। उ० न तलि तपति न ऊपरि आगि। (प० ६४-४)। (२) सं०पु० (स० ताप)—तपन। उ० तन की तपति बुझाइ। (प० ३०६-७)।

तपनि—सं० पु० (सं० ताप)—जलन, दाह। उ० तपनि गई सीतल भया, जब सुनि किया असनान। (सा० ५-३२-२)।

तपसी—सं० पु० (सं० तपस्वी)—तपस्या करने वाला। (पा० प० ९०-५)।

तपा—सं० पु० (सं० तपस्वी, हि० तप)—तपस्वी। उ० तपा जु माते तप कै भेव। (प० ३८७-४)।

तपाइ तपाइ—क्रि० स० (हि० तपना से)—क्लेश दे-देकर, तपा-तपाकर। उ० जियरा यौंही लेहुगे बिरह तपाइ तपाइ। (सा० ३-१०-२)।

तपी—सं० पु० (हि० तप + ई (प्रत्य०)-तपस्वी, ऋषि। उ० जोगी जती तपी संन्यासी, बहुतीरथ भरमणां। (प० २४८-७)।

तपु—दे० 'तप'। (पा०प० ४६-५)।

तब—अव्य० (सं० तदा)—उस समय। उ० जब गोबिंद कृपा करी, तब गुर मिलिया आइ। (सा० १-१३-२)।

तबहि - तबही। (पा० प० ६०-६)।

तबहीं—तभी। (पा०सा० ११-११-२)।

तबि—तबी। उ० बिह कौ देव तबि ढूंढत फिरते, मडप पूजा पाती। (प० २६७-८)

तबै—तभी। (पा० प० ५४-५)।

तम—सं० पु० (तमस्)—तमोगुण। उ० नहीं सत रज तम तीनि प्रकारा। (प० ३८-३)।

तमगुन—सं० पु० (सं० तमोगुण)—तामसी वृत्ति। उ० रजगुन सतगुन तमगुन तीन, पंच तन ते साज्या बीन। (प० १९४-२)।

तमाचा—सं० पु० (फा० तवावच: या तवानच:)—थप्पड़, थापड़। (पा० सा० २१-३-२)।

तमाचे—थप्पड़। उ० तूरा दुइ मुखि बाजणां, न्याइ तमाचे खाइ। (सा० ११-१२-२)।

तमासा—सं०पु० (फा० तमाशा)—अद्भुत व्यापार, अनोखी बात (बी०र० १८-२)।

तरंग—सं० स्त्री० (सं०)—लहर, हिलोर। उ० जैसैं जलहि तरंग तरंगनी ऐसैं हम दिखलांवहिगे। (प० १५०-७)।

तरंगनी—सं० स्त्री० (सं० तरंगिनी)—

नदी, सरिता। (प० १५०-७)।

तरंगिनी—दे०'तरंगनी'(पा०प० ५७-७)।

तरंडवा—सं० पु० (सं० तरंड)—मछली मारने की डोरी में फँसी हुई छोटी सी लकड़ी जो पानी में ऊपर तैरती रहती है। उ० ऊंट मारि मैं चारै लावा, हस्ती तरंडवा देई। (प० १७७-५)।

तर (१)—अव्य० (सं० तद्)—तो। उ० भली भई जु गुर मिल्या, नहीं तर होती हाँणि। (सा० १-१६-१)।

(२) क्रि० वि० (सं० तल)—नीचे। (पा० सा० १४-१५-२)।

(३) सं० पु० (सं० तर)—वृक्ष। उ० गत फलफूल तत तर पलक। (प०-७-२)

तरउं—क्रि० स० (सं० तरण)—पार करूँ। (पा० प० ३६-१)।

तरउवा—सं० पु० (सं० तरु)—वृक्ष (हि० तल, तर से नीचे चलने वाला पैदल, पदाति)। उ० चित तरउवा पवन वेदा, सहज मूल बाँधा। (प०२१०-३)।

तरक—सं० पु० (सं० तर्क)—सोच-विचार, उधेड़-बुन। उ० कहै कबीर तरक दोइ साधै, ताकी मति है मोटी। (प० ५४-६)।

तरकि पड़ै—मुहा०—सोच-विचार में पड़ जाता है। उ० अंधे कूप क दिया वताई, तरकि पड़ै पुनि हरि न पत्याई। (प० १४३-४)।

तरगस—सं० पु० (फा० तरकश)—तूणीर, तीर रखने का चोंगा। (पा० प० ४-४)।

तरत—क्रि० स० (सं० तरण)—पार करते हुए। (पा० चौ० र० ३७-२)।

तरन (१)—सं० पु० (सं० तरणि)—सूर्य, किरण। उ० तरन तेज पर त्रिय मुख जोवै, सर अपसर नहीं जांनै। (प० ४०१-७)।

तरनु—दे० 'तिरण'। (पा० प० ५४-५)।

तरपन—सं० पु० (सं० तर्पण)—पितर लोगों के निमित्त दिया गया जलदान उ० संध्या तरपन अरु पट करमां, लागि रहे इनकै आशरमां। (र० ५-३४)।

तरपै—क्रि० अ० (अनु०)—तड़पता है। (पा० र० १३-६)।

तरवर—सं० पु० (सं० तरुवर)—बड़ पेड़। उ० तरवर थै फल झड़ि पड़, वहुरि न लागै डार। (सा० १२-३४-२

तरवरि—दे०'तरवर'। वृक्ष पर। उ० f पांडं तरवरि चढ़िया। (प० १५८-३)

तरवानीं—वि० (फा० तर)—हुई। उ० कबीर गुण की वादली दे० तीतरवानी आगे ती तरवानीं छांहि (सा० १६-२३-१)।

तरस—सं० पु० (सं० त्रास)—त्रास, भय दया, रहम। उ० खसम पिछांनि करि जिय मैं, माल मनीं करि फीकी (प० २५५-७)।

तरसि—सं० पु० (सं० त्रस) त्रास, भ—दया से। उ० जेठ कै तरसि डरौं रे (प० २३०-५)।

तरसै—क्रि० अ० (सं० तर्पण)—लल चाता है। उ० जिव तरसै तुझ कूं। मनि नाही विश्राम। (सा० ३-६ २)।

तराई—क्रि० स० (सं तरण)—तार गई, पार हो गई। (पा० प० ८४-८)

तराजू—सं० स्त्री० (फा०)—तुला लकड़ी। (सा० ३६-३६-४-नो-५)।

तरि—क्रि०स० (सं०तरण)—तर जाएगा (पा० प० ७४-८)।

तरिअै—क्रि० स० (सं० तरण)—तर जाए। (पा० प० १७४-५)।

तरिपै—क्रि० अ० (अनु०)—गर्जता है, शोर करता है। उ० तरिपै वरिपै धारा, रैनि भामनी भया अँधियारा। (र० ३-२३)।

तरीकत—सं० स्त्री० (तरीक़त)—आत्म शुद्धि। (पा० चौ० र० २-१)।

तरु—सं० पु० (सं०)—वृक्ष । उ० विष अमृत फल फले अनेक बेद रु बोधक हैं तरु एक । (प० ३८-४) ।

तरै—क्रि० स० (सं० तरण)—तर जाता है । (पा० प० १३०-१८) ।

तरौं—तरता हूँ । (पा० प० १०६-८) ।

तर्वर—सं० पु० (सं० तरुवर)—वृक्ष । उ० जीये रे तर्वर पंख बसियार । (र० ३-१०६) ।

तलपत—क्रि० अ० (हि०तलफना)—छटपटाता है । उ० त्रिगुण त्रिविध तलपत तिमरातन, तंत मिलांनी । (प० १६८-३) ।

तलपै—बेचैन होती है । उ० जैस जल बिन मीन तलपै । (प० २२४-५) ।

तलफत—दे० 'तलपत' । तड़फते हुए । (सा० २६-५-नो०) ।

तलब—सं० स्त्री० (अ०)—बुलाहट, बुलावा । उ० आवै तलब बांधिलै चालै, बहुरि न करिहै फेरा । (प० ६२-४) ।

तलि—सं० पु० (सं० तल)—नीचे की ओर । उ० कबीर ऐसै ह्वै रह्या, ज्यूं पांऊँ तलि घास । (सा० ४१-१३-२) ।

तलिहारी—वि० (सं० तल+हारी)—नीचे की ओर वर्तमान । उ० ऊपरी नीर लेज तलिहारी, कैसै नीर भरे पनिहारी । (प० १४०-३-४) ।

तलै—क्रि० वि० (सं० तले)—नीचे । (पा० प० ३४-५) ।

तवाँवहिगे—क्रि० स० (हि० तपाना)—तप्त करेंगे, गर्म करेंगे । उ० जैसे बहु कंचन के भूषन, ये कहि गालि तवाँवहिगे (प० १५०-५) ।

तवावहिगे—(पा० प० ५७-५) ।

तष्टा—सं० पु० (सं०)—तसला नामक पात्र-विशेष छील छाल कर गढ़ने वाला । उ० कबीर तष्टा टोकणीं, लीए फिरै सुभाई । (सा० १७-५-१) ।

तस—क्रि० वि० (सं० तादृश)—तैसा । (पा० प० ३४-८) ।

तसकर सं० पु० (सं० तस्कर)—चोर । उ० सोवत सोवंत बहुत दिन बीते, जब जाग्यां तसकर गये रीते । (प०३५२-२)।

तसबी—सं० स्त्री० (अ० तसबीह)—सुमिरनी, माला । उ० उनि माल उनि तसबी लई । (प० ५६-४) ।

तहं—दे० 'तहां' । (पा० प० ४-१) ।

तहंई—दे० 'तहीं' । वहीं । (पा० प० १६६-६) ।

तहां—क्रि० वि० (हि०)—वहाँ पर । उ० रैनि दिवस कागमि नहीं, तहां कबीर रह्या ल्यौ लाई । (सा० १०-१-२) ।

तहियां—क्रि० वि० (सं० तदाहि)—तब, उस समय । उ० नहीं ग्रिह द्वार कछू नही तहियां, रचनहार पुनि नांहीं । (प० ३२-५) ।

तहियां—(पा० प० ११३-५) ।

तहिया—(बी० र० १-८) ।

तहीं—दे० 'रहां' । वहीं, उसी जगह । उ० तही कबीर रमि रह्या, सहज समाधी सोइ रे । (प० ४-१८) ।

तहुआं—क्रि० वि (सं० तत्+स्थान प्रा० थाण, हि० तहां)—वहाँ पर । उ० तहुआं एक दुकांन रच्यो है निराकार व्रत सांजै । (प० १५३-३) ।

तां—दे० 'तहां' । (पा०सा० १५-३६-२)

तांई—अव्य० (सं० तावत्)—निमित्त, लिए । उ० तनमन धन मेरा रांमजी कै तांई । (प० ११३-२) ।

तांणि—क्रि० स० (हि० तानना)—फैलाकर, ओढ़ कर । उ० दिल मदिर मैं पैसिकरि, तांणि पछेवड़ा सोइ । (सा० ३५-२) ।

तांणै—सं० पु० (सं० तान, हि० ताना) —कपड़े की बुनावट में वह सूत जो लम्बाई के बल होता है । उ० तांणै

वाणै पड़ी अनंवासी, सूत कहै बुणि गाढ़ी। (प० १०-६)।

तांति—सं० स्त्री० (सं० तंतु, हि० तांत) —चमड़े या नसों की बनी हुई डोरी। उ० जिभ्यां तांति नासिका करहीं, माया का मैंण लगाया (प० १६५-४)।

तांनां—दे० 'ताना' (पा० प० १५०-२)।

तांमसु—दे० 'तामस' ।(पा०प०१२६-४)।

ता—सर्व० (हि० सो)—वह, उसकी। उ० वसे अपंडी पंड मैं, ता गति लप न कोइ। (सा० ६-२-१)।

ताकर—उसका। (पा० र० ६-७)।

ताका—उसका। (पा० प० १५८-२)।

ताकी—उसकी। (पा० प० १२४-५)

ताकूं—उसका। उ० हूहूं चूकां रीता पड़े, ताकूं वार न पार। (सा० ३४-६-२)।

ताके—उसके। (पा० सा० ४-१३-२)।

ताकैं—उसके। (पा० प० ३१-२)।

ताकौं—उसको। (पा० प० ४-६)।

ताकौ—उसका। (पा० प० ३१-१)।

तापर—उस पर। (पा० प० १११-७)।

तापरि—उस पर भी। उ०रजत्रीरजकीकली, तापरि साज्या रूप। (सा० १६-१६-१)।

तापैं—उसके पास, उसपे। (पा० प० ३४-१४)।

तामैं—उसमें। उ० भगति हजारी कपड़ा तामैं मल न समाइ। (सा०२८-१३-१)।

तास—उसका। उ० जिहि विरियां सांई मिलै, तास न जांण और। (सा० ५९-२-१)।

तासु—उससे। उ० जीया त्रिष्णां पापणीं तासु प्रीति न जोड़ि। (सा० १६-१४-१)

तासुकौं—उसको। उ० यहु मन दीजे तासुकौं, सुठि सेवग भल सोइ। (सा० २६-४-१)।

तासौं—उससे (पा० र० १०-७)।

ताहि—उसे। उ० काम क्रोध त्रिष्णां तजै, ताहि मिलै भगवान। (सा० ३-३०-२)।

ताहीके—उसीके। उ० जाका संग तै वीछड़्या, ताही के संग लागि। (सा० २-१२-२)।

ताहीकैं—उसीके। (पा० सा० २-२६-२)।

ताहीसौं—उसीसे। उ० तूं ताही सौं ल्य लाइ। (स० २३-११-२)।

ताइ लिया—क्रि० स० (सं० ताव+(प्रत्य०)—तपा कर परीक्षा कर ली। उ० कसणी दे कंचन किया, ताइ लि ततसार। (सा० १-२८-२)।

ताकूं—दे० 'ताकू केरे'। (पा० स० २६ २३-२)।

ताकूकेरे—सं० पु० (सं० तर्कु, हि० टाकू) —टेकुए के। उ० ताकूकेरे सूत ज्यूं उलटि अपूठा आंणि। (सा० १३-१-२)।

ताग—सं० पु० (सं० तार्कव, प्रा० तग्गो हि० तागा)—सूत, डोरा। उ० ह गुह्यौ मेरो रांम ताग, विचि विचि मान्यक एक लाग। (प० ३७८-२)।

तागरी—सं० स्त्री० (हि० ताग+कड़ी) —किंकिणीं, कमर में पहनने का गहना, तागड़ी। (पा० प० ६५-१०)।

तागा—दे० 'ताग'। सूत। (बी० र० ३८-२)।

ताजनैं—सं० पु० (फा० तजियाना, हि० ताजना)—कोड़ा, चाबुक। उ० थकहित प्रेम ताजनैं मारूँ। (प० २५-३)।

ताड़ी—सं० पु० (सं० तालक का स्त्री० रूप)—ताली। (पा० प० १४५-५)।

ताणि—क्रि० अ० (सं० तन, हि० तनना) —तनकर, अकड़ कर। (सा० २४-६-नो०-१२)।

ताता—वि० (सं० तप्त, प्रा०तत्त)—तपा हुआ, गर्म। उ० ताता लोहा यौं मिलै, संधि न लखई कोइ। (सा०५६-७-२)।

तातै—गर्म। उ० सतगुर सांचां सूरिवाँ,

तातैं लोहि लुहार। (सा० १-२८-१)।

तात्पर्ज—सं० पु० (सं० तात्पर्य)—अभिप्राय। (वी० र० ५१-२)।

ताथैं—सर्व० (सं० तत)—उससे, इसी कारण से। उ० निर्मल कीन्हीं आत्माँ, ताथैं सदा हजूरि। (सा० १-३५-२)।

ताना—सं० पु० (हि० ताना)—सूत का ताना, अनेक सकाम कर्मो का विस्तार। (वी० र० ३८-१)।

तानि—दे० 'तांणि'। (पा० सा० ३२-४-२)।

ताप—सं० पु० (सं०)—ज्वाला, संताप, उ० हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप। (सा० ५-३०-१)।

तापसु—सं० पु० (हि० ता+पशु)—वह पशु, उस पशु की। उ० बाँध्य बार षटीक कै, तापसु किती एक आव। (सा० ४६-२७-२)।

तामस—सं० पु० (सं० तमस्)-तमोगुण। उ० राजस तामस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया। (प० १८४-३)।

तार—(१) सं० पु० (सं०)—धातु तंतु, धातु की डोरी। उ० कबीर जंत्र न वाजई, टूटि गए सब तार। (सा० ४६-२०-१)।

(२) सं० पु० (सं० तारा)—नक्षत्र। उ० गगन गरजि मध जोइये, तहां दीसै तार अनंत रे। (प० ४-१३)।

(३) सं० पु० (सं०)—कुंभक की सूत्रवत् परम्परा। (वी० र० २८-३)।

तारण—क्रि० स० (हि० तारना)—मुक्त करना। उ० तारण तिरण जबै लग कहिये, तब लग तत न जांनां। (प० ५२-५)।

तारन—दे० 'तारण'। (पा० प० ४०-४)।

तारा—सं० पु० (सं०)—नक्षत्र, सितारा, कर्म-समूह। उ० धरती गगन, पवन नहीं होता, नहीं तोया नहीं तारा। (सा० ५-२७-१), (वी० र० २६-५)।

तारामंडल—सं० पु० (सं०)—नक्षत्र प्रदेश। उ० (तौ) तारामंडल छाँड़िकरि, जहाँ के सो तहाँ जाइ। (सा० २-२४-२)।

तारि—क्रि०स०(सं० तारण)—तार कर, पार उतार कर। (पा०प० ५४-१)।

तारी—सं० स्त्री० (देश०)—ध्यान, समाधि। उ० ससिहर सूर द्वार दस मूंदे, लागी जोग जुग तारी। (प० ७४-४)।

तारुणीं—सं० स्त्री० (सं० तरुणी)—युवती। उ० राछ भरत यह संभा, तारुणीं त्रिया मन बंधा। (प० २८६-६)

तारे—दे० 'तारा'। नक्षत्र। उ० जेते तारे रैंणिके, ते तै बैरी मुझ। (सा० ४५-२६-१)।

तारैं—क्रि० स० (सं० तारण)—पार कर दे, मुक्त कर दे। उ० कहै कबीर सोइ गुरु मेरा, आप तिरैं मोंहि तारैं। (प० ६-८)।

ताल—सं० पु० (सं०) (१) करतल-ध्वनि, ताली। उ० विनहीं तालां ताल बजावैं विन मंदल पट ताला। (प० १५६-५)। (२) एक बाजा। उ० धौल मंदलिया बैल रबाबी, कऊवा ताल बजावै। (प० १२-३)। (३) (सं० तल्ल)—तालाब। उ० अंबर कुंजां कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल। (सा० ३-२-१)।

तालां—सं० पु० (सं० ताल)—हाथ का तल, करतल, हथेली। उ० बिनहीं तालां ताल बजावैं बिन मंदल पट ताला। (प० १५६-५)।

ताला—सं० पु० (सं० तालक)—ताला। उ० ताला कुंजी कुलफ के लागे, उघड़त वार न होई। (प० २३-४)।

तालाबेलि—दे० 'ताला बेली'। (पा० प० १५-५)।

तालावेली—सं० स्त्री० (हि० तलफना)—छटपटी, आतुरता, घोर उत्कंठा।

उ० त्यूं तुम्ह कारनि केसवा, जन ताला वेली कबीर। (प० ११६-७)।

तालि—दे० 'ताल'। (पा० सा० १६-३-१)।

तालिब—सं० पु० (अ०)—ढूंढने वाला चाहने वाला। उ० कबीरा तालिब तेरा, तहाँ गोपत हरी गुर मोरा। (प० ३१-१४)

ताली—सं० स्त्री० (सं० ताल)—करतल से उत्पन्न ध्वनि। उ० ताली पीटै सिर धुनैं, मीठै बोई माइ। (सा० २५-६-२)।

तिण—सं० पु० (सं० तृण)—तिनका, घास। उ० मै मंता तिण नां चरै, सालै चिता सनेह। (सा० ६-५-१)।

तिणका—दे० 'तिण' तिनका। उ० समद हि तिणका बरि गिणी, स्वाँति बूँद की आस। (स० ११-५-२)।

तिणां—सर्वं० (हि० तिस, तिन)—उसका। उ० रांम सनेही दास बिचि, तिणां न संचार होइ। (सा० २६-१४-२)।

तित—क्रि०वि०(सं० तत्र)— तहाँ, उधर। उ० वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं। (सा० २-६-२)।

तिता—वि० (सं० तति)—उतना ही। उ० जिहि घरि जिता बंधावणा, तिहिं घरि तिता अँदोह। (सा० १६-२८-२)।

तिथि—सं० स्त्री० (सं० स्थिति)—ठहराव, आधार। (सा० ४१-१-नो० १)

तिन—सर्व० (सं० तेन, हि० तीन)—उन्होंने। (पा० प० ८४-३)।

तिनका—(१) उनका (पा०प० ८०-५)। (२) दे० 'तिणका'। उ० जम सूं तिनका तो रौरे। (प० ८५-७)।

तिनकी—उनकी। (पा० प० ३०-४)।

तिनकूं—उनको। (सा० २-२१-१)।

तिनके—उनका। उ० जिनि पैं गोविन्द बीछूटे, तिनके कौण हवाल। (सा० ३-२-२)।

तिनकैं—उनकी। (पा० प० ३०-३)।

तिनकौं—उनको। (पा० सा० ३-१६-१)।

तिनतै—उनसे। (पा० प० १६७-२)।

तिनथैं—उनसे। उ० तिनथैं सदा डराते रहिये। (प० १४४-२)।

तिनसौं—उनसे। (पा० सा० ३२-१४-२)।

तिनह—उनको, तिन्हें। उ० तिनह उछाह सोक नहीं व्यापैं, कहै कबीर करता आपैं। (प० १८३-१०)।

तिनहिं—उनको। (पा० प० ४४-४)।

तिनहि—उन्होंने। उ० तिनहि परम पद पाया। (प० १८४-४)।

तिनहीं—उन्हीं। उ० दोइ कहै तिनहीं कौं दोजग, जिन नांहिन पहिचांनां। (प० ५५-२)।

तिनहुँ—उनहीं। (पा० सा० ४-३५-२)।

तिनि—उन्होने, वे। उ० जिनि जांन्यां तिनि निकटि है, दूरि कहैं ते दूरि। (सा० ५३-५-२)।

तिन्ह—उन्होंने। (पा० सा० ४-१२-१)।

तिन्हौंका—उनका। उ० भाग तिन्हौं का हे सखी, जिहि घटि परगत होइ। (सा० २९-१८-२)।

तिमरातन—सं० पु० (सं० तिमिर + तन)—घना अंधकार अथवा अंधकारत्व। उ० त्रिगुण त्रिविधि तलपत तिमरातन, तंती तंत मिलांनीं। (प० १६८-३)।

तिरखावंत—वि० (सं० तृषावत्)—प्यासा। (पा० सा० १२-३-२)।

तिरगुन—दे०'त्रिगुण'। (पा०प० १६३-२)

तिरछी—वि० (सं० तिर्यक्)—टेढ़ी, इतराती हुई। उ० आडी तिरछी फिरती है, क्या च्यौं च्यौं म्यौं म्यौं करती है। (प० १०६-२)।

तिरण—क्रि० अ० (हि० तिरना)—मुक्त होना। उ० भौजल तिरण चरण च्यंतामंणि, ता चित घड़ी न लाया। (प० १९१-३)।

तिरत—क्रि० अ० (हि० तिरना)—पार करते। उ० कबीर मधि अंग जे को रहै,

तौ तिरत न लागै बार (सा० ३१-१-१)।

तिरदेव—सं० पु० (हि० तिर+देवा)—तीन देवता। (पा० प० १५२-४)।

तिराइ—क्रि० अ० (सं० तरण, हि० तिरना)—पानी पर ठहरे, उतराये। उ० मूरिष संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराइ। (सा० २५-२-१)।

तिरि गये—पार कर गये, मुक्त हो गये। उ० हलके हलके तिरि गये, बूड़े तिनि सिर भार। (सा० १२-६२-२)।

तिरिबे—पार जाने। (पा० र० २०-४)।

तिरिये—(१) मुक्त हो सकते हैं। उ० जे मन नही तजै बिकारा, तौ क्यूं तिरिये भौ पारा। (प० १७३-२)।
(२) तीनों के। (ब्रो० र० १-२)।

तिरूं—पार करूँ। (पा०सा० २६-१८-२)।

तिरूँ—पार होऊँ। उ० कहै कबीर कैम तिरूँ, पंच कुसंगी संग। (सा० १३-११-२)।

तिरै—मुक्त हो जाए। उ० आप तिरै मोंहि तारै। (प० ६-८)।

तिरचौ पार हुआ। (पा० प० १७५-४)।

तिरिया– सं० स्त्री० (सं० स्त्री०)–त्रिया, औरत। (पा० प० १७६-६)।

तिल – सं० पु० (सं०)—आँख के मध्य की गोल बिंदो। उ० देवल मांहैं देहुरी, तिल जेहैं बिसतार। (सा० ५-४२-१)।

तिलक—सं० पु० (स०)—( ) टीका। उ० तत तिलक तिहूँ लोक मैं, राम नाँव निज सार। (सा० २-३-१)।
(२) शिरोमणि, श्रेष्ठ। (सा० ३२-४-नो० ६)।

तिलतिल—मुहा०—क्षण क्षण। उ० पाड़ोसी सू रूसणाँ, तिल तिल सुख की हाँणि। (सा० १७-१२-१)।

तिलाँ—क्रि० वि० (हि० तिल से)-तिल भर भी, क्षण भर भी। (सा० ३-३२-नो०)।

तिवास—सं० पु० (सं० त्रिवासर)—तीन दिन। उ० जौ परि दूध तिवास का, ऊकटि हूवा आक। (सा० ३७-२-२)।

तिस—सर्व० यहाँ वि० (हि० सो०)—उसका। उ० जिस तूं तिस सब कोइ। (सा० ३८-३-१)।

तिसका—उसका। (पा० प० १८३-६)।

तिसकी—उसकी। (पा० प० ४०-२)।

तिसहिं—उसको। (पा० प० ८४-१०)।

तिसहि—उसको। उ० जिहि न कोई तिसहि तूं, जिस तूं तिस सब कोइ। (सा० ३८-३-१)।

तिसु—उस। (पा० प० १२८-४)।

तिसै—उसे। (पा० प० ८८-५)।

तिहिं—उस। उ० तिहिं धरि किसकौ चानिणौं जिहि घरि गोबिंद नांहि। (सा० १-१७-२)।

तिहि—उस। (पा० प० १६७-४)।

तिसनां—सं० स्त्री० (सं० तृष्णा)-लोभ, लालच, प्यास। (पा० प० २५-६)।

तिसर सयान—जीववादी लोग। (बी० र० ३७-२)।

तिसाई—क्रि० अ० (सं० तृषा, हि० तिसाना)—तृषित है, प्यासी रहती है। उ० सरवर तटि हंसणीं तिसाई। (प० २९८-१)।

तिहाई—वि० (सं० त्रि+भाग)–तिहाई। (पा० प० १११-७)।

तिहुं—वि० (हि० तीन से)—तीनों। उ० कदली सीप मवंग मुषीं, एक बूंद तिहुं मांह। (सा० २५-२-२)।

तिहूँ—तीनों। उ० तत तिलक तिहूँ लोक मैं, राम नाँव निज सार। (सा० २-३-१)।

ती—सं० स्त्री० (सं० स्त्री०)—स्त्री, जोरू। उ० कबीर गुण की बादली ती तरवानीं छांहि। (सा० १६-२३-१)।

तीखा—वि० (सं० तीक्ष्ण)—नुकीला, तीक्ष्ण। (पा० सा० १७-८-१)।

तीतर—सं० पु० (सं० तित्तिर)—तीतर

नामक पक्षी। उ० काल अच्यंता झड़पसी, ज्यूँ तीतर को वाज। (सा० ४६-६-२)।

तीतर वानी—वि० (हि० तीतर=एक पक्षी+वानी=रंग वाली) धूप छांही, मिश्रित रंग की। उ० तीतरवानी छांह। (सा० १६-२३-१)।

तीधोधो—सं० पु० (देश०)—वाह्या डंवर, प्रपंच, वखेड़ा। उ० राजा राम विनांनक तीधोधो (प० २१७-१)।

नु० दे० तीधोधो भाई तीधोधो, आदि पद १५० 'वंषवाजी की वाणी' पृ० १६०।

तीन—दे० 'तीनि'। (पा० सा० ५-११-१)।

तीनि—वि० (हि० तीन)—तीन। उ० तीनि सनेही वहु मिलैं, चौथै मिलै न कोइ। (सा० ४३-६-१)।

तीनउं—तीनों। (पा० प० ११६-७)।

तीन गोऊँ—तीन लोक। (वी० र० १-४)।

तीनि सुख—तीन सुख। उ० नारि नसावैं तीनि सुख, जा नर पासैं होइ। (सा० २०-१०-१)।

तीनौं—तीनों। (पा० सा० २-३०-२)।

तीन्यूं—तीनों को। उ० तीन्यूं मिलि करि जोड़्या, (तव) उड़ि उड़ि पड़ैं पतंग। (सा० ४-१-२)।

तीनि डांडि—सं० पु० (सं० त्रिदंडी)—त्रिदंड धारण करने की व्यवस्था, यज्ञोपवीत, जनेऊ। उ० तो जनमत तीनि डांडि किन सारै। (प० ४१-२)।

तीर—(१) सं० पु० (फा०)—वाण। उ० सतगुरु लई कमांण करि, वांहण लागा तीर। (सा० १-६-१)।

(२) सं० (सं०)—किनारा। उ० कवीर हीरा-वणजिया, मानसरोवर तीर। (सा० १-२६-२)।

तीरथ—सं० पु० (सं० तीर्थ)—कोई पवित्र स्थान। उ० तीरथ वड़े कि हरि के दास। (प० २७-४)।

तीरथराज—(तीर्थराज)—प्रयाग। उ० उलटि पवन षट चक्र निवासी, तीरथ राज गंग तट वासी। (प० १७१-५)।

तीरथि—दे० 'तीरथ'—पुण्य प्रदेश। उ० जिस कारनि तटि तीरथि जांही, र[illegible] पदारथ घट ही माहीं। (प० ४२-६)।

तीरा—दे० 'तीर' (२)। किनारा। उ० भौ वूड़त कछू उपाइ करीजै, ज्यूं ति[illegible] लंघै तीरा। (प० २५०-६)।

तीरि—दे० 'तीर' (२)। किनारा। (सा० ४६-१६-नो० ३२)।

तीषा—दे० 'तीखा'। उ० कवीर तीषा किया, विरह लाइ वरसाँण (सा० ४७-५-१)।

तीस—वि० (सं० त्रिंश)—दस का तिगुना उ० तीस वरस कै रांम न सुमिरचौ फिरि पछितानौं विरध भयौ। (प० २४३-४)।

तुचा—सं० स्त्री० (सं० त्वचा)—चमड़ा उ० चित करि वटवा तुचा मेपली भसमैं भसम चढ़ाइ। (प० २०८-५)।

तुज्झ—दे० 'तुझ'। (सा० २-२५-१)।

तुझ—सर्व० (हि० तू)—(१) तुझे, तुझको उ० सकूं न तुझ वुलाइ (सा० ३-१०-१ (२) तुझसे। उ० जिव तरसै तुझ मिल कूं, मनि नाहीं विश्राम। (सा० ३-६-२)

तुझकौं—तुझे। उ० तेरा तुझकौं सौंपत क्या लागै है मेरा। (सा० ११-३-२)।

तुझपैं—तेरे पास। उ० आइ न सकौं [illegible] पैं, सकूं न तुझ वुलाइ। (सा० ३-१०-१)

तुझसौं—तुझसे। उ० कवीर प्रीतड़ी तुझसौं, वहु गुण याते कंत। (सा० ११ १-१)।

तुझहिं—तुझको। (पा० प० ८१-४)।

तुझु—तुझको। (पा० प० २३-५)।

तुझै—तुझे। (पा० सा० ४-१४-२)।

तुम—सर्व० (सं० त्वम्)—तुम। (पा० प० १५-८)।

तुमसे—तुम्हारे साथ। (पा० प० १५-४)।

तुमहिं—तुम्हारी। (पा० प० ६-५)।

तुमहीं—तुम्हारे ही। (पा० प० १४२-२)।

तुम्मि—तुममें। उ० गुन औगुन सब तुम्मि समाई। (र० ४-८)।

तुम्ह—तुम। उ० लोका तुम्ह ज कहत हौ नंद कौ नंदन, नंद कहौ धूं काकौ रे। (प० ४८-१)।

तुम्हरा—तुम्हारा। (पा० प० २३-१)।

तुम्हरी—तुम्हारी। (पा० प० १९-५)।

तुम्हरै—तुम्हारे से। (पा०प० १२४-८)।

तुम्हार—तुम्हारा। (पा० प० ४५-३)।

तुम्हारा—तुम्हारा। उ० सब मैं रूप तुम्हारा। (प० २-५९-१३)।

तुम्हारी—तेरी, तुम्हारी। उ० अब मेरे दूजा को नहीं, एक तुम्हारी आस। (सा० ३५-१७-२)।

तुम्हारै—तुम्हारे। उ० गोव्यंदे तुम्हारै वन कंदलि, मेरो मन अहेरा खेलै। (प० २१०-१)।

तुरंग—दे० 'तुरंगम'। (प० २४३-६)।

तुरंगम—सं० पु० (सं०)—घोड़ा। उ० नां को बंध न भाई साथी, बांधे रहे तुरंगम हाथी। (प० १००-३)।

तुरंगहि—सं० पु० (सं० तुरंगम)—घोड़े को। (पा० प० ८३-६)।

तुरक तुरकनीं—सं० पु० व स्त्री० (फा० तुर्क)—तुर्किस्तान निवासी। उ० जे तूं तुरक तुरकनीं जाया। (प० ४१-९)।

तुरकां—सं० पु० (फा० तुर्क)—तुर्क पुरुष। (पा० प० १६३-७)।

तुरकांनीं—सं० स्त्री० (फा० तुर्क)—तुर्क स्त्री। (पा० प० १६३-७)।

तुरक्निीं—सं० स्त्री० (फा० तुर्क)—तुर्क स्त्री। (पा० प० १६०-६)।

तुरत—अव्य० (सं० तुर)—शीघ्र। (पा० प० २६-६)।

तुरसी—सं० स्त्री० (सं० तुलसी)—तुलसी का पौधा। उ० आसि पासि तुरसी कौ बिरवा, मांहि द्वारिका गांऊं रे। (प० ७६-११)।

तुरांनैं—क्रि० अ० (सं० तुर, हि० तुराना)—दर्द करने लगे। उ० फिरत फिरत सब चरन तुरांनै। (र० ३-३१)।

तुरावहु—क्रि० अ० (हि० तुराना)—पहुँचाओ। (पा० प० २३-५)।

तुरावा—क्रि० अ० (हि० तुराना)—पहुँचा। उ० अंतिकाल दिन आइ तुरावा। (र० ३-८०)।

तुरियां—सं० स्त्री० (सं० तुरी)—जुलाहों की कूंची, हत्थी। उ० पाई की तुरियां बेचि खाई री, भाई को बीनैं। (प० १९-४)।

तुरिया—सं० स्त्री० (अ० तुरय)-घोड़ी। (बी० र० ६-४)। प्रतीकार्थ में तुरीयावस्था जिसमें समस्त भेदभाव नष्ट हो जाता है।

तुरी—सं० पु० (अ० तुरय)- घोड़ा। उ० कबीर तुरी पलांणियां, चाबक लीया हाथि। (सा० १३-१३-१)।

तुरुक—दे० 'तुरकां'। (पा० प० ८५-३)।

तुरुकिनीं—दे० 'तुरकिनी'। (पा० प० १८२-४)।

तुलह—सं० स्त्री० (सं० तुला)—तराजू पर, कांटे पर। उ० तुलह न तोली गजह न मापी, पहजन सेर अढाई। (प० १९३-४)।

तुलिअै—क्रि० अ० (सं० √तुल्)—तोला जाता है। (पा० प० १११-५)।

तुलै—क्रि० अ० (सं० तुल, हि० तुलना)—तुल्य होना, मान में बराबर उतरना। उ० तारु पटंतर नां तुलै, हरिजन की पनिहारि। (सा० ३०-५-२)।

तुसारा—सं० पु० (सं० तुषार)—पाला। उ० माघ मास रुति कवलि तुसारा, भयौ बसन्त तब बाग संभारा। (र० ४-१७)।

तुहीं—दे० 'तूंही'। तू ही। (पा० प०

१३१-१२)।

तूं—सर्व० (सं० त्वम्)—तुम, तू। उ० हरि जैसा है तैसा रहो, तूं हरिषि हरपि गुण गाइ। (सा० ८-२-२)।

तूं ही—तू ही। (पा० प० ११०-६)।

तू—तू। (पा० प० १०-६)।

तूंतूं करता—मुहा०—कहा-सुनी करते-करते। उ० तूं तूं करता तूं भया, मुझ मैं रही न हूं। (सा० २-६-१)

तूंड—सं० पु० (सं० तुंड)—मुख, मुंह। उ० करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूंड। (सा० १८-५-१)।

तूँवड़ा—सं० पु० (सं० तुम्बक, हि० तूंवा)–कमंडल, तितलौकी। उ० धरती अरु असमान बिचि, दोइ तूँवड़ा अवध। (सा० ३१-११-१)।

तूंवरी—दे० 'तूंवी'। (पा० सा० १६-१७-१)।

तूंवा—सं० पु० (सं० तुम्बक)—खोखली तितलौकी। उ० सुर की नालि सुरति का तूंवा, सतगुर साज वनाया। (प० १६५-२)।

तूंवी—दे० 'तूंवा' का स्त्री० रूप। कड़ुई गोल कद्दू। तितलौकी। उ० तूंवी अठसठि तीरथ न्हाई, कड़वापन तऊ न जाई। (प० ७७-३)।

तूंर—दे० 'तूं'। तू रे। (प० १८७-४)।

तूटनि—सं० स्त्री० (सं० त्रुटि)—घाटा, कमी। उ० तूटै तूटनि होयगी, नां ऊँ मिलै वहोरि। (प० १०६-२)।

तूटा—क्रि०अ० (सं०√त्रुट्, हि० टूटना)। टुकड़े-टुकड़े हो गया। उ० हिति चतकी द्वै थूंनों गिरांनीं, मोह वलींडा तूटा। (प० १६-३)।

तूटीं—टूट गई।(सा० ४६-१६,नो० ३५)।

तूटै—टूटता है। उ० झूठै कूं साचा मिलै, तब ही तूटै नेह। (सा० २२-१७-२)।

तूमरिया—दे० 'तूंवड़ा'। तितलौकी। (पा० सा० २०-५-१)।

तूर—सं० पु० (सं० तूर या तूर्य)–तुरह उ० तिरीं कंत ले तूर वजाई। (२२६-८)।

तूरा—तुरही, सिंगा। उ० तूरा दुइ मु वाजणां, न्याइ तमाचे खाइ। (सा० १ १२-२)।

तूला—वि० (सं० तुल्य)–वरावर। (प र० ६-४)।

तृया—सं० स्त्री० दे० 'तिरिया'। उ० तृया का वदन देखि सुख पावै, की संगति कवहूं न आवै। (प० २३ ४)।

तृस्ना—दे० 'तिसनां'। तृष्णा। (सा० ३१-२७-२)।

ते—सर्व० (हि० सो)—वे। उ० मा नहीं ते स्वान गति, वांध्या जमपुर जां (सा० १८-३-२)।

तेई—वे ही। (पा० प० १६२-८)।

तेउ—वे भी। (वी० र० १-२)।

तेऊ—वे भी। (पा० प० २०-६)।

तेज—सं० पु० (सं० तेजस्)—आ चमक। उ० कवीर तेज अनंत का, ऊगी सूरज सेणि। (सा० ५-१-१)।

तेणि—सर्व० (सं० तेन, हि० तौन) उसने या उसको। उ० पति सँगि जा सुदरी, कौतिग दीठा तेणि। (सा० १-२)।

तेतर—वि० (सं० तावत्)—उतना। जेती देपीं आत्मा तेता सालिगरांम (सा० २३-५-१)।

तेतीस—दे० 'तेतीसूं'। (पा०प० ४२-५)

तेतीसूं—वि० (सं० त्रियस्त्रिशत्, प्रा तितीसा, हि० तेंतीस)—तेंतीसों। उ सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनिवर स अठचासी। (प० १-७)।

तेते—वि० (सं० तावत्)—उतने। उ सुत अपराध करै दिन केते, जननी

चित रहैं न तेते। (प० १११-३)।

तेरा—सर्व० (सं० तव)—तुम्हारा। उ० कहै कबीर सोई जन तेरा, खीर नीर का करै नबेरा। (प० ३४४-६)।

तेरी—तुम्हारी। उ० जन कबीर तेरी पनह समांनां। (प० ३३६-८)।

तेरे—तुम्हारे। उ० तेरे सिर परि जम खड़ा, खरच कदे का खाह। (सा० २-१४-२)।

तेरै—तुम्हारे। (पा० प० १७७-१)।

तेरौ—तेरा। उ० यामैं कछ नांहि तेरौ, काल अवधि आई। (प० ३२०-४)।

तेल—सं० (सं० तैल)—तेल। उ० दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट। (सा० १-१२-१)।

तेवड़—वि० (हि० तीन+हरा (प्रत्य०) — तिगुनी, तेहरी। उ० दोवर कोट अरु तेवड़ खाई। (प० ३५६-१)।

तेवर—दे० 'तेवड़'। (पा० प० २५-२)।

तेह—सं० पु० (हि० तेखना)—प्रचंडता, तेजी। उ० माटी गलि सैं जल भई, पांहण वोही तेह। (सा० ५५-२-२)।

तेंहि—दे० 'ते'। उसी। (पा० सा० १३-१-२)।

तेहि—दे०'ते'। उस। (पा०प० ७५-५)।

तैं (१)—प्रत्य० (सं० तस्)—से। उ० जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी वार। (सा० १-२-२)।

तैं (२)—दे०'ते'। तूने। (पा०प० ८६-२)।

तैंतिस—दे०'तेतीस'। (पा०प० १०५-८)।

तैंतीसउ—दे०'तेतीसूं'। (पा०प० १५५-५)

तैतीसौं—दे० 'तेतीसूं'। (पा० प० ५-७)।

तैसा—वि० (सं० तादृश, प्रा० ताइस) —वैसा, उस प्रकार का। उ० जिहि हरि जैसा जांणियां, तिनकूं तैसा लाभ। (सा० २-२१-१)।

तैसी—वैसी। (पा० सा० १५-८-१)।

तैसै—वैसे। (पा० प० ८४-६)।

तैसौ—वैसा। (पा० प० ५५-४)।

तोंहि—सर्व० (हि० तू)— तुझे, तुझको। उ० नैनां अंतरि आचरूं, निस दिन निरषौं तोंहि। (सा० ३-३३-१)।

तो—अव्य० (सं० तु)—तो। उ० दुरि दुरि करै तो जाउँ। (सा० ११-१५-१)।

तोड़ि—क्रि० स० (हि० टूटना से)—हटाकर, तोड़कर। (सा० १७-१०, नो० १२)।

तोड़ी—क्रि० स० (हि० टूटना से)—तोड़ दी, भंग कर दी। उ० कोइ एक जन ऊबरै, जिन तोड़ी कुल की कांणि। (सा० १६-८-२)।

तो तो करै—स० स्त्री० (अनु० तू तू)—कुत्ते की भांति बुलावे। उ० तो तो करै त बादुड़ौ, दुरि दुरि करै तो जाऊं। (सा० ११-१५-१)।

तोया—सं० पु० (सं० तोय)—पानी, जल। उ० धरती गगन पवन नहीं होता, नहीं तोया नहीं तारा। (सा० ५-२७-१)।

तोर—सर्व० (हि० तूं या तुम से)—तुम्हारा, पराया। उ० मोर तोर की जेवड़ी, बलि बंध्या संसार। (सा० १७-२२-१)।

तोरहि—तेरे। (पा० प० १८७-१०)।

तोरा—तेरा। (पा० प० ३८-१)।

तोरी—तेरी। (पा० प० १६-३)।

तोरउं—क्रि० स० (सं०√तुड्)—तोड़ूं। (पा० प० १८६-४)।

तोरणि—सं० पु० (सं०)—बटिद्वार पर। उ० काल खड़ा सिर ऊपरैं ज्यूं तोरणि आया बींद। (सा० ४६-४-१)।

तोरि—क्रि० स० (सं०√तुड्)—तोड़ दिया। (पा० प० १-६)।

तोरे—तोड़ दिए। (पा० प० २५-६)।

तोरै—तोड़ता है। (पा० प० २३-६)।

तोल—सं० पु० (सं० तौल)—तोल। उ० तोल न मोल माप कछु नाहीं, गिणंती

ग्यान न होई। (प० १६६-३)।

तोलि—तोल। (पा० प० १११-५)।

तोला—क्रि० स० (सं० तोलन)—तोल करना। (पा० र० २-३)।

तोली—वजन किया, तौला। उ० तुलह न तोली गजह न मापी, पहजन सेर अढाई। (प० १६२-४)।

तोलै—परखै, जाँचै। उ० बिन डांडी बिन पालड़ै, तोलै सब संसार। (सा० ३८-८-२)।

तोहरि—सर्व० (सं० तव)—तुम्हारी। (पा० प० १३६-४)।

तोहिं—दे० 'तोहि'। तुझको। (पा०प० ७-१)।

तोहि—सर्व० (हि० तूं या तुमसे)—तेरा, तुझको। उ० तब काढि खड़ग कोप्यो रिसाइ, तोहि राखनहारो मोहि बताइ। (प० ३७६-६)।

तौं—दे० 'तौ'। तो। उ० जे हँसि बोलौं और सौं, तौं नील रँगाऊँ दंत। (सा० ११-१-२)।

तौ—अव्य०(सं० तद्)—तो। उ० आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार। (सा० १-२६-२)।

तौपरि—अव्य० (हि० तौन+पर)—उस दशा में, तदुपरान्त। उ० मुख तौ तौपरि देखिए, जे मन की दुविधा जाइ। (सा० १३-८-२)।

तौलिए—क्रि० स० (सं० तोलन)—तोल कीजिए, साधिए। उ० पांहण टांकि न तौलिए, हाडि न कीजै वेह। (सा० २६-५-१)।

त्यांह—सर्व० (हि० तौन से)—उसका। उ० नारद से मुनियर गिले, किसौ भरोसौ त्यांह। (सा० १६-२१-२)।

त्यागा—दे० 'त्याग्या'। (पा० सा० ३०-८-२)।

त्यागि रहे—क्रि० अ० (सं० त्यज् से)—छोड़ दिया। उ० बहती सलिता र गई, मंछ रहे जल त्यागि। (सा० ६-२)।

त्यागी—त्याग दी। (पा० प० ६०-४)

त्याग्या—छोड़ दिया। उ० कबीर त्या ग्यांन करि, कनक कामनी दोइ। (३७-४-२)।

त्यूं—क्रि० वि० (सं० तत्+एवं)—प्रकार। उ० भावै त्यूं प्रमोधि ले, बंसि बजाई फूक। (सा० १-२१-२)।

त्यौं—दे० 'त्यूं'। (पा० प० ७-२)।

त्राहि—अव्य० (सं०√त्र)—बचाओ बचाओ। (र० ३-३४)।

त्रिकुटी—सं० स्त्री० (सं०)—भौंहो बीच में कुछ ऊपर का स्थान। उ सुमति सरीर कबीर बिचारी, त्रि सगम स्वांमीं। (प० ७-७)।

त्रिखा—सं० स्त्री० (सं० तृषा)—प्या इच्छा। (पा० प० १४५-७)।

त्रिखावंत—वि० (सं० तृषावान् का ब वचन। प्यासा। (पा०सा० १५-१२-२

त्रिखि—वि० (सं० तृषित)—प्यासी (पा० प० १६२-८)।

त्रिगुंण—दे० 'त्रिगुण'। उ० त्रि रहित फल रमिहम राखल, तब हमा नांउं रांम राई हो। (प० ५०-८)।

त्रिगुण—सं० पु० (सं०)—रजोगुण, गुण, तमो गुण। उ० त्रिगुण त्रि तलपत तिमरातन, तंती तंत मिलांनीं (प० १६८-३)।

त्रिगुणी—सं० पु० (सं०-त्रिगुण)—ती गुणों का समूह। (सा० १६-२४, नो २५)।

त्रिजुग जोनि—सं० स्त्री० (सं० तिर्य योनि)—पशु पक्षी आदि जीव। त्रिजुग जोनि सबै अधियारी। (र० ६३)।

त्रिन—सं० पु० (सं० तृण)—तिनका

(पा० र० १८-१)।

त्रिनकै—सं० पु० (सं० तृण)—तिनका। (पा० प० ६२-५)।

त्रिपुरारी—सं० पु० (सं०)–शिव। (वी० र० १-१)।

त्रिबिध—वि० (सं० त्रिविध)–तीन प्रकार का। (पा० सा० ३१-२१-१)।

त्रिविघि—दे० 'त्रिबिध'। तीन प्रकार का। उ० त्रिगुण त्रिविध तलपत तिमरातन, तंती तंत मिलांनों। (प० १६८-३)।

त्रिवेणी—सं० स्त्री० (स०)–इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना, इन तीनों नाड़ियों का संगम स्थान। जो दशमद्वार के निकट है। उ० त्रिवेणी मनाह न्हवाइए, सुरति मिलै जौ हाथि रे। (प० ४-११)।

त्रिभुवन—सं० पु० (स०)—तीनों लोक। (पा० प० ५६-२)।

त्रिभुवनराइ—सं० पु० (हि० त्रिभुवन राय)—संसार का स्वामी। उ० अनि न कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ। (सा० ५-२६-२)।

त्रिलोक—सं० पु० (सं०)—तीनों लोक। उ० हरि को नांउ तत त्रिलोक सार, लै लीन भये जे उतरे पार। (प० ३८०-१)

त्रिविध—दे० 'त्रिबिध'। तीन प्रकार का। उ० माया तरवर त्रिविध का, साखा दुख संताप। (सा० १६-२०-१)।

त्रिषा—दे० 'त्रिखा'। तृषा। उ० पावक कह्यां पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई। (प० ४०-३)।

त्रिषावंत—दे० 'त्रिखावंत'। उ० जो त्रिषावंत होइगा, तो पीवेगा झप मारि। (सा० ३७-७-२)।

त्रिष्णां—दे० 'तिसनां'। तृष्णा। उ० काम क्रोध त्रिष्णां तजै, ताहि मिलै भगवान। (सा० ३-३०-२)।

त्रिसनां—दे० 'तिसनां'। (पा० प० ५०-३)।

त्रिस्नांन—सं० पु० (सं० त्रि+स्नांन)—तीन स्नान। उ० अखंड मंडिल मंडित मंड, त्रिस्नांन करै त्रीखंड। (प० ३२८-४)।

त्री—वि० (स० त्रि)—तीन। (पा० प० १३०-७)।

त्री अस्थांन—सं० पु० (सं० त्रिस्थान)—स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तीनों स्थान। उ० त्री अस्थांन अंतर मृग छाला, गगन मंडल सींगी वाजै। (प० १५३-२)।

त्रीखंड—सं० पु० (सं० त्रि+खड)–तीनों खंड। उ० अखंड मंडिल मडित मंड, त्रिस्नांन करै त्रीखंड। (प० ३२८-४)।

त्रीया—सं० स्त्री० (सं० स्त्री०, हि० त्रिया)–स्त्री, औरत। उ० त्रीया त्रिष्णां पापणीं, तासु प्रीति न जोड़ि। (सा० १६-१४-१)।

त्रेता—सं० पु० (सं०)—त्रेतायुग। (पा० प० १४३-५)।

त्रेपग—सं० पु० (सं० त्रिपग)–तीन पग। उ० एक पग दोइ पग त्रे पग, संधें संधि मिलाई। (प० २०-६)।

त्रै—वि० (सं० त्रय)—तीन। (पा० चौ० र० १-१)।

थ

थंभ—सं० पु० (सं० स्तम्भ)—खंभा। उ० काया मंदिर मनसा थंभ। (प० ३६२-२)।

थंभा—खंभा। उ० माटी का चित्र पवन का थंभा। (प० २४६-७)।

थंभै—क्रि० अ० (स० स्तंभन)—रोक पाते हैं। उ० विरला थंभै वाग। (सा० २०-१५-१)।

थामैं—(पा० सा० ३०-१६-६)।

थई—क्रि० अ० (हि० होना)—हो गई

उ० लीर लीर लोई थई। (सा० २६-३-२)।

थकहित—क्रि० अ० (सं० स्तंभ या स्था+कृ, प्रा० थक्कन, हि० थकना)—मंद पड़ने पर। उ० थकहित प्रेम ताजनैं मारूँ। (प० २५-३)।

थकां—क्रि० अ० (हि० थकना से)—दौड़-धूप करके। उ० दिवस थकां सांई मिलौं। (सा० १३-१३-२)।

थका—थक गया। (पा० सा० ८-५-२)।

थकित—वि० (हि० थकना)—शिथिल। उ० थकित भया मैं हारचा। (प० २१६-१०)।

थर—सं० स्त्री० (सं० स्तर)—तह, परत। उ० द्वै थर चढ़ि गयौ रांड कौ करहा। (प० ७६-४)। [टि० 'थुर' पाठ होने पर स्कन्ध वा शाखा]

थरहर—सं० स्त्री० (अनु० थरथर)—कँपकँपी, जो डर के कारण हो। (पा० प० ७०-३)।

थरहरी—(हि० थरथराना)—कँपकँपी, जो डर के कारण हो। उ० थरहरी थूंनी परचौ मंदर। (प० ३१४-२)।

थल—सं०पु० (सं०स्थल)—सूखी धरती। उ० दाझै जल थल झील। (सा० ५१-१-१)।

थलि—(पा० चौ० र० २२-२)।

थलियांह—सं० स्त्री० (सं० स्थली)—वनस्थली में। (सा० ४८-१-नो०२)।

थली—सं० स्त्री० (सं० स्थली)—वनस्थली, परती जमीन। (सा० १२-५४-नो०-७०)।

थांघी—सं० पु० (हि० थाह से)—सहारा, आधार। (पा० सा० ६-३-१)।

थांन—सं०पु०(सं० स्थान)—जगह। उ० अरु दूजा महि थांन जी। (प० ३०-३)।

थानक—जगह (पा० चौ० ७-२२-२)।

थांनां—स्थान पर, जगह पर। (पा०प० ५९-६)।

थांभह—सं० पु० (सं० स्तम्भ) थंभा (पा० चौ० र० २२-२)।

थांहि—क्रि० अ० (हि० होना से) होते जा रहे हैं, पड़ते जा रहे हैं। (सा० ४६-९-नो०-१३)। [तु० दे० चो केरे पांन ज्यूं दिन दिन पीली था ('ढोला मारूरा दूहा,' दू० ४०३)]

था—क्रि० अ० (सं० स्था से)—रहा उ० पीछैं लागा जाइ था। (सा० १ ११-१)।

थी—स्त्री०। (पा० सा० २-४१-१)।

थे—बहुवचन रूप। (पा० प० ५०-७)

थौ—क्रि० अ० (सं० स्था)—था। उ० तब यदु नंद कहां थौ रे। (प० ४८-२)

थाकि—(१) सं० स्त्री० (हि० रटना) पूर्व की स्थिति। उ० बाकी रही थाकि। (सा० ६-१-१)।
(२) क्रि० अ० (सं० स्था+कृ, प्रा थक्कन, हि० थकना से)—हैरान होकर हार कर। उ० सब मुनिजन बैठे थाकि (सा० १४-९-१)।

थाकी—हारी, थकी। (पा०प० ८८-४)

थाके—रुक गये। उ० सुरनर थाके मुनि जनां, जहाँ न कोई जाइ। (सा० १४ १०-१)।

थाकौ—थक गया, हार गया। (पा प० १५४-३)।

थाघी—सं० पु० (हि० थाह से) सहारा, आधार। उ० जाके थाघी न कोइ। (सा० ४१-११-१)।

थाना—सं० पु० (सं० स्थान, हि० थान —अड्डा। (बी० र० १८-३)। नरतन जगह, स्थान। (बी० र० ४४-२)।

थापणि—सं० (सं० स्थापन)—प्रतिष्ठ बैठने का कार्य। उ० थापणि पाई थि भई। (सा० १-२९-१)।

थापनि—(पा० सा० १-११-१)।

थापहु—क्रि० सं० (सं० स्थापन, हि० थापना)—स्थापित करो। (पा० प० १६१-५)।

थापि—स्थापित करके। उ० आया थापि अवर कौ निंदैं। (प० २५३-५)।

थारी—सं० स्त्री० (सं० स्थाली)—बटलोई, थाली, वड़ी तश्तरी। उ० आप कटोरा आपैं थारी। (प० ३३१-३)।

थाल—पु०—थाल, वड़ी थाली। (सा० ४६-३०-नो०-५१)।

थारौ—सर्व० (हि० तिहारा, तिहारो)—तुम्हारा। (र० १-पादटि०-२४) (पा० चौ० र० ३२-२)।

थावर—सं० (?)—शनिश्चर, शनिवार। उ० थावर थिर करि घट मैं सोइ। (प० ३६२-१४)।

थासी—क्रि० अ० (?)—ठहरा। उ० पड़सी काया गढ़ माटी थासी। (प० २४७-२)।

थाह—सं० स्त्री० (सं० स्था)—पता, भेद, अंत। उ० थाहत थाह न आवई। (सा० ७-२-२)।

थाहत—क्रि० स० (हि० थाह से)—पता लगाते-लगाते। उ० थाहत थाह न आवई। (सा० ७-२-२)।

थिति—सं० (सं० स्थिति)—ठहराव, रक्षा। उ०थापणि पाई थिति भई, सतगुर दीन्हीं धीर। (सा० १-२६-१)।

थिर—वि० (सं० स्थिर) —निश्चित, शांत। उ० थिति पाई मन थिर भया। (सा० ५-२६-१)।

थिरथिर—स्थायी, टिकाऊ। उ० थिर थिर कांम करंत। (सा० ४६-३०-१)।

थिरु—स्थायी। (पा० प० ५५-५)।

थिरहु—वि० (सं० स्थिर)—स्थायी। उ० साच सोई जे थिरहु रहाई। (र० ३-१०१)।

थूंनि—सं० स्त्री० (सं० स्थूण, हि० थूनी) —सहारे का खंभा। (पा०प० ५२-३)।

थूंनी—उ० हिति चल की द्वै थूंनीं गिरांनीं। (प० १६-३)।

थैं—प्रत्यय (प्रा०सुंतो, हि० से)–से। उ० आगैं थैं सतगुर मिल्या।(सा० १-११-२)

थैं—से। उ० आप आप थै जानियैं। (र० ३-५६)।

थोड़ा—वि० (सं० स्तोक, पा० थोअ+ड़ा (प्रत्यय)—जरा सा, तनिक। उ० कबीर थोड़ा जीवणां। (सा० १२-५-१)।

थोरा—छोटा। (सा० ३१-२२-१)।

थोरी—थोड़ी, जरा-सी। उ० थोरी भगति वहुत अहंकारा। (प० ३४३-३)

थोरै—थोड़े। (पा० चौ० र० २२-२)।

थोथरा—वि० (हि० थोथा, देश०)–व्यर्थ का। उ० जप तप दीसैं थोथरा, तीरथ व्रत बेसास। (सा० २३-८-१)।

थोथरे—व्यर्थ के, नि:सार, निकम्मा। उ० सबै पिछोड़े थोथरे, एक विनां वेसास। (सा० ३५-१६-२)।

थोथी—कुंठित, निकम्मी, खाली। उ० विन सर थोथी मालि।(सा० ४-२-१)।

द

दंग—सं० पु० (फा०)—आश्चर्य, भय। (सा० ३३-७-नो०-८)।

दंत—सं० पु० (सं०)—दांत। उ० जे हंसि वोलौं और सौं, तौं नील रँगाऊँ दंत। (सा० ११-१-२)।

दइहौ—दे० 'दैंहौ'। दोगे। (पा० प० ५४-२)।

दई (१)—क्रि०स०(सं०दान, हि० देना) –दी। उ० दीपक दीया तेल भरि, वाती दई अघट्ट। (सा० १-१२-१)।

दई (२)—सं० पु० (सं० दैव)—दैव, भाग्य, विधाता, ईश्वर, प्रारब्ध । उ० जब दफतर देखैंगा दई, तब ह्वैगा कौंण हवाल । (सा० २२-८-२) ।

दखिन—वि० (सं० दक्षिण)-दक्षिण दिशा की ओर । उ० दखिन कूंट जब सुनहां भूंका, तब हम सुगन विचारा । (प० २०-२) ।

दगधे—क्रि० अ० (सं० दग्ध+ना (प्रत्यय))—जल गये । उ० प्रगटी जोति कपाटि खोलि दिये, दगधे जंम दुख द्वारा । (प० २६७-५) ।

दगध्या—क्रि० स० (सं० दग्ध+ना प्रत्य०)—कष्ट पहुँचाया । उ० छापा तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक । (सा० २४-१६-२) ।

दत्ता—सं० पु० (सं० दत्तात्रेय)—दत्तात्रेय ऋषि । (बी० र० ५४-४) ।

दफतर—सं० पु० (फा० दफ्तर)—सविस्तार वृत्तान्त । उ० जब दफतर देखैंगा दई, तब ह्वैगा कौंण हवाल । (सा० २२-८-२) ।

दफतरि—सविस्तार वृत्तान्त । (पा० सा० २१-५-२) ।

दमकरह्नु—मुहा० दे० 'दमकरै' । (पा० प० ८७-४) ।

दमकरै—फा० मुहा० । तपावैं, गर्म करे। उ० टुक दमकरारी जे करै, हाजिरां सूर खुदाइ । (प० २५७-६) ।

दमांमां—दे० 'दमामा' । (पा० सा० १४-२६-१) ।

दमामा—सं० पु० (फा०)—नगाड़ा, डंका । उ० ढोल दमामा दुड़बड़ी, सहनाई संगि भेरि । (सा० १२-३-१) ।

दमोदर—सं० पु० (सं० दामोदर)—श्रीकृष्ण, विष्णु, भगवान । उ० तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर, भगत-बछल भौहारी । (प० १६१-८) ।

दया—सं० स्त्री (सं०)—करुणा, रहम । उ० मतिवै राम दया करैं, बरसि बुझावैं अगिग । (सा० ३-११-२) ।

दयाल—वि० (सं० दयालु)—दया करने वाला, कृपालु, ईश्वर । उ० दरसन भया दयाल का, मूल भई सुख सौड़ि । (सा० ५-४८-२) ।

दयालु—दया करने वाला । (पा० प० ३६-१०) ।

दर (१)—सं० पु० (फा०)—मकान के अन्दर का भाग । (पा० प० ८०-५) ।

दर (२)—वि० (सं०)—किंचित्, जरा-सा । उ० आपन करता भये कुलाला, बहु विधि सिद्धि रची दर हाला । (र० ५-५८) ।

दरगह—सं० स्त्री० (फा० दरगाह)—दरबार, कचहरी । उ० घणीं सहैगा सासनां, जम की दरगह माहिं । (सा० १३-१७-२) ।

दरद—सं० पु० (फा० दर्द)—पीड़ा, व्यथा । (पा० प० ३६-७) ।

दरपन—सं० पु० (सं० दर्पण)—आइना, शीशा । उ० जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई । (प० २६२-७) ।

दरब—सं० पु० (सं० द्रव्य)—धन । उ० (बी० र० १३-१) ।

दरबांनीं—सं० पु० (फा० दरबान)—ड्योढ़ीदार, द्वारपाल । उ० कांम किवाड़ दुख सुख दरबांनीं, पाप पुंनि दरवाजा । (प० ३५६-२) ।

दरबार—सं० पु० (फा०)—राज सभा, कचहरी । उ० नौ ग्रह कोटि ठाढ़े दरबार धरमराइ पौली प्रतिहार । (प० ३४०-५) ।

दरबारि—दे० 'दरबार' । दरबार में । (पा० प० ४५-१) ।

दरबारी—सं० पु० (फा०)—दरबार में बैठने वाला । (पा० प० ४१-६) ।

दरबी—सं० स्त्री० (सं० दर्वी)—कल-

छूल, पीना। (बी० र० ३२-१)।

दरबेसा—सं० पु० (फा० दरवेश)—फ़क़ीर, साधु। (बी० र० ४६-१)।

दरबो—दे० 'दरबौ'। दया करो। उ० दरबो नहीं कांइ तुम्ह नाहा, तुम्ह बिछ़रे में वहु दुख चाहा। (र० ४-१०)।

दरमांदा—सं० पु० (फा० दरमांद:)—दु:खित, दीन, असहाय। (पा० प० ४५-१)।

दरवाजा—सं०पु०(फा०)—द्वार, मुहाने। उ० कांम किवाड़ दुख सुख दरबांनीं, पाप पुंनि दरवाजा। (प० ३५९-२)।

दरवाजे—उ० नव दरवाजे दसूं दुवार, बूझि रे ग्यांनी ग्यांन बिचार। (प० ४२-३)।

दरवेस—दे० 'दरवेसा'। फ़क़ीर, साधु। उ० पीरां मुरीदां काजियां, मुलां अरू दरवेस। (र० २५७-३)।

दरवै—क्रि० अ० (सं० द्रवण, हि० द्रवना)—पसीजती है, दयार्द्र होती है। उ० कौली घाल्यां बीडरि चालै, ज्यूं घेरों त्यूं दरवै। (प० १५२-४)।

दरवौ—दया करो। उ० जे तुम्ह दरवौ तौ पूरि जन पावैं। (र० ३-५१)।

दरस—सं० पु० (सं० दर्शन)—रूप, छवि। (पा० प० ४७-५)।

दरसन—सं० पु० (सं० दर्शन)—(१) साक्षात्कार, मिलन। उ० दरसन समि का कीजिये, जौ गुन नहिं होत समांन। (प० २८-६)।

(२) देखा-देखी, देखना। उ० मूवां पीछैं देहुगे, सो दरसन किहि क़ाम। (सा० ३-७-२)।

दरसा—क्रि० अ० (सं० दर्शन)—दिखाई पड़ा। (पा० प० १-८)।

दरसैं—दिखाई पड़ती है। (पा० प० १४५-४)।

दराज—क्रि० वि० (फा०)—बहुत अधिक। उ० मिस्त हुसकां दो जगां, दुंदर दराज दिवाल। (प० २५८-३)।

दरार—सं० स्त्री०(सं० दर)—कटाव, शिगाफ। उ० मेरैं मन मैं पड़ि गई, ऐसी एक दरार। (सा० ३७-१-१)।

दरि—सं० पु० (फा० दर)—द्वार पर, कचहरी में। उ० चढ़ि मसीति एकै कहै, दरि क्यूं साचा होइ। (सा० २२-६-२)।

दरिगह—दे० 'दरगह'। दरबार। उ० दरिगह तेरी सांईयां, नांम हरू मन होइ। (सा० ३८-३-२)।

दरिया—सं० पु० (फा०)—समुद्र, जलाशय। उ० सचुपाया सुखऊ पनां, अरु दिल दरिया पूरि। (सा० ५-२६-१)।

दरियाव—दे०'दरिया'। (पा०प० १-६)।

दरी-बल—सं० पु० (सं० दाड़िम)—अनार। उ० मोरै आगनि दाप दरीवल, कहै कबीर समझाई। (प० १७७-८)।

दरीबैं—सं० पु० (?)—पान का बाजार। उ० मनवां जाइ दरीबैं बैठा मगन भया रसि लागा। (प० ७०-५)।

दरोगां—सं० पु० (फा० दरोगा)—निगरानी रखने वाला, दरोगा। उ० दरोगां वकि वकि हूंहि खुसियां, बे-अकलि वकहि पुमांहि। (प० २५७-७)।

दरोगु—दे०'दरोगां'। (पा०प० ८७-५)।

दल—सं० पु० (सं०)—फूल की पंखड़ी, अंश। उ० अष्ट कंवल दल भींतरा, तहां श्री रङ्ग केलि कराइ रे। (प० ४-५)।

दलाली—सं० स्त्री० (फा०)—दलाल को मिलने वाला द्रव्य। उ० है कोई सत सहज सुख उपजै, जाकौं जप तप देउ दलाली। (प० १५५-१)।

दलिद्र—सं० पु० (सं० दारिद्र्य)—दरिद्रता, कगाली। उ० एकै लहरि समंद की, दुख दलिद्र सब जाइ (सा० ३५-१८-२)।

दवासूं—सं० स्त्री० (सं० दव)—वन की आग के समान। उ० अंगि उघाड़ै

लागिया, कई दवासूं फूटि। (सा० १-८-२)।

दवासौं—(पा० सा० १-२३-२)।

दष्या—सं० स्त्री० (सं० दशा)—जीवन की किसी भी अवस्था में। उ० तिन की दष्या मुकति नहीं, कोटि नरक फल होइ। (सा० २२-१३-२)।

दस—वि० (सं० दश)—दस की सख्या। उ० कबीर पटण कारिवां, पंच चोर दस द्वार। (सा० १२-७-१)।

दसगज—यौ०—(दस+गज)—थोड़ी-सी। उ० नवगज दस गज गज उगनींसा, पुरिया एक तनाई। (प० १९३-२)।

दसदिन--मुहा०—कुछ ही दिन। उ० कबीर नौबति आपणीं दिन दस लेहु बजाइ। (सा० १२-१-१)।

दसद्वार—यौ०—(दस+द्वार) दस दर-वाजे अर्थात इंद्रियां। उ० कबीर पटण कारिवां, पंच चोर दस द्वार। (सा० १२-७-१)।

दस लाखा—(सं०दश, लक्ष)—दस लाख, अनेक। (बी० र० १-१२)।

दसएँ—दे० 'दसवैं'। (पा० सा० २९-१-१)।

दसन—सं०पु०(सं० दशन)—दांत। उ० नैंन नासिका जिनि हरि सिरजे, दसन बसन बिधि काया। (प० २६१-७)।

दसमीं—सं० स्त्री० (सं० दशमी)—महीने की दसवीं तिथि। उ० नौंमी नेम दसमीं करि संजम, एकादसी जागरणां। (प० २५०-७)।

दसवां द्वारा—सं० पु० (सं० दशम् द्वार) —ब्रह्मांड में, ब्रह्मरंध्र में। उ० दसवां द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछांणि। (सा० २३-१०-२)।

दसवैं—वि० (सं० दशम्, हि० दसवां)-दसवें। उ० भगति दुवारा संकड़ा, राई दसवैं भाइ। (सा० १३-२६-१)।

दसवैं द्वारि—यौ०—दशम द्वार में, ब्रह्मरंध्र में। उ० दसवैं द्वारि लागि गई तारी, दूरि गवन आवन भयौ भारी। (प० २७३-३)।

दससैंसूत्र—यौ०(दससौ+सूत्र)—दस सौ नाड़ियाँ। उ० दससैंसूत्र की पुरिया पूरी, चंद सूर दोइ साखी। (प० २८८-२)।

दसहुँ—वि० (सं० दश)—दसों। (पा० सा० ३-२२-२)।

दसहूँ—दसों। (पा० प० १५२-१०)।

दसा—सं० स्त्री० (सं० दशा)—अवस्था, स्थिति, हालत। उ० जाता है सो जांण दे, तेरी दसा न जाइ।(सा० ३७-६-१)।

दसूंदुवार—सं० पु० (सं० दशद्वार)—दसों इंद्रियां। उ० नव दरवाजे दसूं दुवार, बूझि रे ग्यांनी ग्यांन विचार। (प० ४२-३)।

दसूंदुवार—दस इंद्रिय, दस छिद्र, २ कान, २ आँख, २ नाक, १ मुख, १ लिंग, १ गुदा, १ ब्रह्मरंध्र। उ० काल कंठ तैं गहैगा, रूंधै दसूं दुवार। (सा० २-२६-२)।

दसौं—दे० 'दसहुँ'। दसों। (पा० प० १२९-२)।

दस्तगीरी—सं० स्त्री० (फा०)—मदद, सहायता, सहारा। उ० महल माल अजीज औरति, कोई दस्तगीरी क्यूं नांहि। (प० २५७-२)।

दह (१)—वि० (फा०)—दस। उ० काहे रे मन दह दिसि धावै। (प० ८७-१)।

दह (२)—सं० स्त्री० (सं० दहन)—ज्वाला, धधक। उ० देखत हीं दह मैं पड़े, दई किसा कौं दोस। (सा० ५७-३-२)।

दह (३)—सं० पु० (सं० ह्रद)—गड्ढा, नदी का गहरा स्थान। उ० कोइ एक अथिर मन बस्या, दह मैं पड़ी बहोड़ि। (सा० १३-२४-२)।

दहिड़िया—सं० स्त्री० (हि० दही+हंडी, दहेंडी)–दही रखने का मिट्टी का बर्तन।

उ० एक दहिड़िया दही जमायौ, दुसरी परि गई साई रे। (प० ७६-७)।

दही—सं० पु० (सं० दधि)—खटाई के द्वारा जमाया हुआ दूध। उ० एक दहिड़िया दही जमायौ, दुसरी परि गई साई रे। (प० ७६-७)।

दहुं—दे० 'दहूं' (१)। दोनों। उ० दहुं कै वीचि समाधियां, तहां काल न पासैं आइ रे। (प० ४-४)।

दहूं (१)—वि० (हि० दो+ऊ)—दोनों, इड़ा व पिंगला नामक नाड़ियों ने। उ० सूर समांणां चंद मैं, दहूं किया घर एक। (सा० ५-१०-१)।

दहूं (२)—वि० (हि० दो)—दो। उ० दिन दहूं चहूं कै कारणैं, जैसैं सैंवल फूले। (प० १६०-१)।

दहूं चहूं—मुहा०—दो चार, अल्प, थोड़े से। (प० १६०-१)।

दहूठां—सं० पु० (हि० दो+ठाँव)—दोनों स्थानों पर। उ० तुरक मसीति दे हुरै हिंदू, दहूठां रांम खुदाई। (प० ५८-५)।

दहेंड़ियां—दे० 'दहिड़िया'। (पा० प० ७६-७)।

दांइम—दे० 'दाइम'। (प० ३२३-७)।

दांत—सं० पु० (सं० दंत)—दांत। उ० दांत उपाड़ौं पापणीं, जे संतौं नेड़ी जाइ। (सा० १६-२१-२)।

दांन—सं० पु० (सं० दान)—पुण्यार्थ दिया हुआ वस्त्रादि। उ० द्वादसी दांन पुनि की वेलां, सर्व पाप छयौ करणां। (प० २५०-८)।

दांमिनि—सं० स्त्री० (सं० दामिनी)—बिजली, विद्युत। उ० दादुर दांमिनि पवनां पूरी। (र० ३-२२)।

दांव—दे० 'दाव'। (पा० सा० १-३३-२)।

दांहिणैं—वि० (सं० दक्षिण)—बायां का उलटा। दाहिना। उ० अनवावैं लौहा दांहिणैं, वोवैं सु लुणतां होइ। (सा० ३४-२-२)।

दाइम—सं० पु० (?)—कर चुकाने वाले। (पा० प० ८७-८)।

दाउ—दे० 'दाव'। (पा०सा० १४-२६-२)।

दाझणां—क्रि० अ० (सं० दाहन, हि० दाझना)—संतप्त होता रहता, जलना। उ० आठ पहर का दाझणां, मोपें सह्या न जाइ। (सा० ३-३५-२)।

दाझत—जलता है, संतप्त होता है। उ० जा बन में क्रीला करी, दाझत है बन सोइ। (सा० ४-८-२)।

दाझनां—जलना। (पा०सा० २-४०-२)।

दाझनि—जलता है। (पा० सा० २१-३२-२)।

दाझन—सं० स्त्री० (सं० दहन)—जलन। (पा० सा० ४-७-१)।

दाझ्या—क्रि० स० (हि० दाझना से)—जलाया। (पा० सा० २-५०-१)।

दाझै—जलावैं। उ० आगि कह्यां दाझै नहीं, जे नहीं चंपै पाइ। (सा० ३३-२-१)।

दाढ़ी—सं० स्त्री० (सं० दाढ़िका)—ठुड्डी और दाढ़ पर के वाल। (पा० प० १३१-८)।

दाता—सं० पु० (स०)—देने वाला। उ० वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नांम। (सा० २८-४-२)।

दातात्रेय—सं० पु० (सं० दत्तात्रेय)—प्रसिद्ध योगीश्वर, जो विष्णु के २४ अवतारों में से एक हैं और जो अनसूया के गर्भ से उत्पन्न थे। (वी० र० ८-४)।

दाति—सं० (सं० दांति)—इन्द्रिय निग्रह। उ० सतगुरु सवाँन को सगा, सोधी सई न दाति। (सा० १-१-१)।

दाते—दे० 'दाता'। देने वाला। (पा० प० ४२-७)।

दादि—सं० स्त्री० (फा० दाद)—इंसाफ, न्याय। उ० बुरो दिवांन दादि नहिं

लागै, इक वांधै इक मारै हो रांम । (प० २२२-८) ।

दादुर—सं०पु०(सं० दर्दुर)—मेंढक । उ० ज्यू दादुर सुरसुरी जल भीतरि, हरि विन मुकति न होई । (प० ३४६-५) ।

दादुरि—दे० 'दादुर' । उ० एकनि दादुरि खाये पंच भवंगा । (प० १६०-३) ।

दादुल—दे०'दादुर' । (पा०प० १३७-७) ।

दादा—सं० पु० (सं० तात)—पितामह, पिता का पिता । (पा० प० १५८-६) ।

दाध—सं० स्त्री० (सं० दाह)–ताप, दाह, जलन । उ० दाध वली ता सव दुःखी सुखी न देखौं कोइ । (सा० ५१-३-१) ।

दाधा—क्रि० स० (सं० दग्ध)—जला हुआ, जल गया । उ० गुर दाधा चेला जल्या, विरहा लागी आगि । (सा० ४-७-१) ।

दाधी—दग्ध की हुई । उ० दाधी देह न पालवै, सतगुर गया लगाय । (सा० ४-६-२) ।

दाधें—जलाये जाने पर । उ० विष के दाधें विष नहीं भावै, जरत जरत सुख गसार पावै । (र० ४-७८) ।

दाधे—(पा० र० १८-६) ।

दामिनि—दे० 'दांमिनि' । (पा० र० १३-५) ।

दाविये—क्रि० स० (सं० दमन, हि० दवाना)—दवाइये, रोकिये । उ० जतन जतन करि दाविये, तऊ उजाला होइ । (सा० २६-१६-२) ।

दाया—दे० 'दया' । (पा० प० ३६-१) ।

दार—सं० पु० (सं० दारु)–काठ, लकड़ी । उ० जारै दार अग्नि समि करई । (र० ४-६०) ।

दारन—वि०(सं० दारुण)–कठिन, भीषण, दुःसह । उ० अरु दुख दारन व्यापै तेरी माया । (प० ८३-४) ।

दारुन—दे० 'दारन' । भीषण । (पा० प० ४३-१) ।

दालिद—सं० पु० (सं० दरिद्र)—निर्धन मनुष्य, कंगाल आदमी । उ० रांम जपत दालिद भला, टूटी घर की छांनि । (सा० ३०-१०-१) ।

दाव—सं० पु० (हि० दाँव)—उपाय, युक्ति । उ० सतगुर दाव वताइया, खेलै दास कवीर । (सा० १-३२-२) ।

दावा—सं० पु० (अ०)—स्वत्व, हक, अधिकार । उ० दावा किसही का नहीं, विन विलाइति वड़ राज । (सा० ३५-१३-२) ।

दावैं—स्वत्व में ही । उ० दावैं दाभण होत है, निरदावैं निसंक । (सा० ३७-६-१) ।

दावानल—सं० पु० (सं०)—दावाग्नि, वन की आग । उ० दावानल अति जरैं विकारा, माया मोह रोकि ले जारा । (र० ३-६२) ।

दावानेस—यौ० (दावा + नेस्त)—दावा नहीं, वश नहीं । उ० कवीर पनह खुदाइ की, रह दिगर दावानेस । (प० २५८-१०) ।

दास—सं० पु० (सं०)—सेवक, भगवान का भक्त । उ० साहिव सेवा मांहि हैं, वे परवांही दास । (सा० ५-२-२) ।

दासनि—दासों । (पा० सा० १६-१४-१) ।

दासा—सं० पु० (सं०)—(१) सेवक । (२) शूद्र । (वी० र० २७-७) ।

दासि—सं० पु० (सं० दास)–दास, भक्त । उ० एक भेक ह्वै मिलि रह्या, दासि कवीरा रांम । (सा० २१-३-२) ।

दासी—सं०स्त्री० (सं०)–टहलुनी, लौंडी । उ० माया दासी संत की, ऊंभी देइ असीस । (सा० १६-१०-१) ।

दासु—दे० 'दास' । (पा० प० ४२-८) ।

दाह—सं० पु० (सं०)—आग, अशान्ति । (वी० र० १२-५) ।

दाहिनैं—दे० 'दांहिणैं'। दाहिना। (पा० प० १९९-७)।

दिआ—दे० 'दीवा'। दीपक, चिराग। (पा०प० ६९-३)।

दिए—क्रि० स० (हि० देना से)—दिया। उ० पंच चोर संगि लाइ दिए हैं। (प० ३०८-४)।

दिखलाइ—क्रि० स० (हि० दिखलाना)—दिखला दो, ज्ञान करा दो। उ० कै विरहणि कूं मीच दे, कै आपा दिखलाइ। (सा० ३-३५-१)।

दिखलाइए—दिखलाया जाए। (पा० सा० २५-२३-१)।

दिखलांवहिंगे—दिखाएंगे। उ० जैसैं जलहि तरंग तरगनीं, ऐसैं हम दिखलां-वहिंगे। (प० १५०-७)।

दिखलावहिंगे—दिखाएंगे। (पा०प० ५७-७)।

दिखाइ—क्रि० स० (हि० दिखाना)—दिखला। (पा० सा० ४-२१-२)।

दिखाई—दिखला दी। उ० कहि कबीर परचा भया, गुरू दिखाई वाट। (सा० ५-६-२)।

दिखावणहार—वि०(हि० दिखावनहार)-दिखाने वाला। उ० लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार।(सा० १-३-२)

दिखावनहार—(पा० सा० १-१३-२)।

दिखावौ—क्रि० स० (हि० दिखाना)—दिखला दो। (पा० प० ४७-५)।

दिगर—सं० स्त्री० (हि० देर)—विलम्ब। उ० कबीर पनह खुदाइ की, रह दिगर दावानेस। (प० २५८-१०)।

दिज—सं० पु० (सं० द्विज)—ब्राह्मण। उ० इनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा। (प० ५८-४)।

दिठ—सं० स्त्री० (सं० दृष्टि)—अवलोकन। उ० जे दिठ ग्यांन न ऊपजैं, तौ अहटि रहै जिनि कोइ रे। (प० ५-१०)।

दिठियार—वि० (हि० दीठ)-देखनेवाला, आँख वाला। (वी० र० ४२-४)।

दिढ़—वि०(स०दृढ़) (१) गहरी, प्रगाढ़। उ० घाइल ही घाइल मिलैं, तब रांम भगति दिढ़ होइ। (सा० ४३-११-२)। (२) मजबूती के साथ, निश्चय करके। उ० तज बांवैं दांहिणैं विकार, हरि पद दिढ़ करि गहिये। (प० १३३-९)।

दिढ़ाइ—दे०'दिढाई'। (पा०प० ११०-८)।

दिढाई—क्रि० स० (सं० दृढ़+आना (प्रत्य०)—दृढ़ किया, निश्चित कर दिया। उ० रांम नांम कहि भगति दिढाई। (र० २-१५)।

दिढाया—दृढ़ किया। उ० तत मत सब ओषद माया, केवल रांम कबीर दिढाया। (प० ३६९-८)।

दिढावै—दृढ करता है। उ० विषई विषै दिढावै गावै। (प० १३८-३)।

दिन—सं० पु० (सं०)—समय, दिन। उ० बहुतक दिन विछुरें भये, तेरी औसेरि आवै मोहिरे। (प० ५-२)।

दिन दिन—मुहा०, क्रि० वि०—प्रतिदिन, नित्यशः, सदा। उ० त्रिष्णां सींची नां बुझै, दिन दिन बधती जाइ। (सा० १६-१५-१)।

दिनन की—दिनों से। उ० बहुत दिनन की जोवती, वाट तुम्हारी राम। (सा० ३-६-१)।

दिनां—दिन। उ० दिनां चारि के सुरङ्ग फूल। (प० ३८८-४)।

दिनु—दिन। (पा० प० ७०-१)।

दिनकार—सं० पु० (सं० दिनकर)—सूर्य। (वी० र० ४३-७)।

दिन न राति—मुहा०—कभी नहीं। उ० जे जन विछूटे राम सूँ, ते दिन मिले न राति। (सा० ३-३-२)।

दिनराति—क्रि० वि० (हि० दिन+रात) —सर्वदा। उ० तेल घट्या बाती बुझी, (व) सोवैंगा दिन राति।(सा० २-१०-२)।

दिपंती—क्रि० अ० (सं० दीप्ति)—प्रकाशित करती हुई। (पा० प० ९२-३)।

दिवाड़—सं० पु० (फा० दयार)—प्रदेश, प्रांत। (सा० १७-११-नो० १४)।

दियऊ—क्रि० स० (हि० देना)—दिया। (बी० र० २७-५)।

दिया—लगाया, धारण किया। उ० जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार। (सा० २-३-२)।

दियौ—दिया। (पा० प० १३६-३)।

दिल—सं० पु० (फा०)—कलेजा। उ० सतगुरु के सदकै करूं, दिल अपणीं का साछ। (सा० १-५-१)।

दिलदार—वि० (फा०)—उदार। उ० तू सकल गह गरा, सफ सफा दिलदार दीदार। (र० १-१)।

दिलहर—वि० (फा० दिलवर)—प्यारा, प्रिय। उ० रे दिल खोजि दिलहर खोजि, नां परि परेसांनी मांहि। (प० २५७-१)।

दिलाई—क्रि० स० (हि० देना)—दी, दिलाई। उ० बाबा आदम पै नजरि दिलाई, नबी मिस्त बनेरी पाई। (प० ३३९-६)।

दिलि—दे० 'दिल'। (पा० प० १७७-१२)।

दिलै—दे० 'दिल'। दिल ही। उ० दिल ही खोजि दिलै दिल भींतरि, इहां रांम रहिमांनां। (प० २५९-१२)।

दिवस—सं० पु० (सं०)—दिन में ही, जीवन में ही। उ० दिवस थकां सांई मिलौं, पीछैं पड़िहै राति। (सा० १३-१३-२)।

दिवसउ—दिवस और। (पा०प० ७२-३)।

दिवांन—सं०पु० (अ० दीवांन)—वजीर, मंत्री। उ० बुरो दिवांन दादि नहिं लागै, इक बांधै इक मारै हो रांम। (प० २२२-८)।

दिवांनपनां—सं० पु० (फा० दीवाना से दीवानापन)—पागलपन। उ० हड़ हड़ हड़ हड़ हसती है, दिवांनपनां क्या करती है। (प० १०६-१)।

दिवांनां—वि० (फा० दीवाना)—पागल, विक्षिप्त। (पा० प० ४२-५)।

दिवांनां—पागल, सिड़ी। उ० निरभै भया कछू नहीं व्यापै, कहै कबीर दिवांना। (प० ५५-८)।

दिवांनीं—सं० स्त्री० (फा० दीवाना की स्त्री० रूप)—पागल। (पा० प० १६-३)।

दिवांनी—पागल। उ० मीर मुहकम सेर दिवांनी, जंगल केर वजीनां। (प० १०६-४)।

दिवाजा—सं० पु० (सं० दीपार्चन)—आरती। उ० इनकै पूरब दिसा देस देव दिज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा। (प० ५८-४)।

दिवानि—सं० पु० (अ० दीवान)—दरबार में, राजसभा में। उ० पूणैं बैसि रषाइए, परगट होइ दिवानि। (सा० २०-६-२)।

दिवाल—सं० स्त्री० (हि० दीवार)—दीवार, बाधा। उ० मिस्त हुसकां दो जगां, दुंदर दराज दिवाल। (प० २५८-३)।

दिष्टि—(१) वि० (सं० दृष्ट)—देखा हुआ। उ० अति आतुर ऊदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मंद। (सा० १-१८-२)। (२) क्रि० स० (सं० दृश)—देखकर। उ० दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं पड़ता पूरी जांणि। (सा० १-१९-२)।

दिसा—सं० स्त्री० (सं० दिशा)—ओर, तरफ। उ० सिव सकती दिसि कौण जु जोवै, पछिम दिसा उठै धूरि। (सा० ५-४६-१)।

दिसावरां—सं० पु० (स० देश+अपर)—अन्य देश, विदेश। उ० पंषी चले दिसावरां, बिरषा सुफल फलंत। (सा०

४७-७-२) ।

दिसावरि—(पा० प० १५१-३) ।

दिसि—सं० स्त्री० (सं० दिशा)—ओर, दिशा । उ० सिव सकती दिसि कौण जु जोवै, पछिम दिसा उठै धूरि । (सा० ५-४६-१) ।

दिसिहीं—दिशाओं में, ओर । उ० आछै रहै ठौर नही छाड़ै, दह दिसिहीं फिरि आवै । (प० १५६-४) ।

दिस्टि—दे० 'दिष्टि' । (पा०प० १३३-२) ।

दीजै—क्रि० स० (हि० देना)—दीजिए । (पा० प० ४५-२) ।

दीठ—क्रि० स० (सं० दृश्, हि० देखना) —देखा हुआ, देखा है । उ० मैं का जांणौं राम कूं, नैंनूं कबहुँ न दीठ । (सा० ८-१-२) ।

दीठा (१)—देखा । उ० पति सँगि जागी सुंदरी, कौतिग दीठा तेणि । (सा० ५-१-२) ।

दीठा (२)—वि०(सं० दृष्ट)—देखा हुआ, पाया । उ० इस मन कौं बिसमल करौं, दीठा करौं अदीम । (सा० १३-६-१) ।

दीदार—(१) सं० पु० (फा०)—दर्शन, साक्षात्कार । उ० देहु दीदार विकार दूरि करि, तब मेरा मन मानै । (प० ३०८-८) ।

(२) वि० (फा०)—दर्शनीय, देखने योग्य । उ० तू सकल गहगरा, सफ सफा दिलदार दीदार । (र० १-१) ।

दीदै—सं० स्त्री० (फा० दीदा)—दृष्टि, नजर । उ० फाटै दीदै मैं फिरौं,नजरि न आवै कोइ । (सा० २९-१७-१) ।

दीन (१)—सं० पु० (अ०)—मत, धर्म, विश्वास । उ० दीन गँवाया दुनी सौं, दुनी न चाली साथि ।(सा० १२-४३-१) ।

दीन (२)—क्रि० स० (हि० देना से)— देते हुए । उ० राम नाम जांणैं नहीं, आये टापा दीन । (सा० १२-२४-२) ।

दीन (३)—वि० (सं०)—दुःखित, विनीत । उ० रांमहि थोड़ा जांण करि, दुनियाँ आगैं दीन । (सा० १६-१८-१) ।

दीनदयाल—वि० (सं०)—दीनों पर कृपा करने वाला । (पा० प० ४०-६) ।

दीनां—क्रि० स० (हि० देना)—दिया । उ० एकनि दीनां पाट पटंबर, एकनि सेज निवारा । (प० १०५-४) ।

दीनीं—दी । उ० एकनि दीनीं गरै गूदरी, एकनि सेज पियारा । (प० १०५-५) ।

दीनु—दिया ।(पा० प० १५६-६) ।

दीन्हाँ—दिया । उ० चेतनि चौकी बैसि-करि, सतगुरु दीन्हाँ धीर । (सा० १-२३-१) ।

दीन्हां—दिया । (पा० प० ६-६) ।

दीन्हीं—दिया । उ० थापणि पाई थिति भई, सतगुर दीन्हीं धीर । (सा० १-२९-१) ।

दीन्हें—देने से । (पा० सा० १४-४०-१) ।

दीनांनाथ—सं० पु० (सं० दीन+नाथ) —ईश्वर, स्वामी । (पा० प० ४३-७) ।

दीप (१)—सं० पु० (सं० द्वीप)— भूखंड । (बी० र० २७-१) ।

दीप (२)—दे० 'दीपक' । (पा० प० १३०-९) ।

दीपक—सं० पु० (सं०)—दी, चिराग । उ० आगै थै सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि । (सा० १-११-२) ।

दीपकु—दीया, चिराग । (पा० प० १९६-६) ।

दीयां—क्रि० स० (हि० देना से)—देने से । उ० मन दीयां मन पाइए, मन बिन मन नहीं होइ । (सा० १३-९-१) ।

दीया—दीया । उ० दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट । (सा० १-१२-१)

दीयैं—दिये, देने से । उ० का काजल स्यंदूर कै दीयैं । (प० १३९-५) ।

दीयौ—दिया, बनाया । उ० जीव जीभ मुख तास दीयौ । (सा० ३५-१-२) ।

दीरघ—वि० (सं० दीर्घ)—ऊँचा बड़ा। उ० जगत गुर अनहद कींगरी वाजै, तहाँ दीरघ नाद ल्यौ लागै। (प० १५३-१)।

दीवटी—सं० स्त्री० (सं० दीपस्थ, प्रा० दीवडु, हि० दीवट)—दीवाघर, चिराग-दान। उ० थावर थिर करि घट मैं सोइ, जोति दीवटी मेल्है जोइ। (प० ३६२-१४)।

दीवांन—सं० पु० (अ० दीवान)—दरबार, राजसभा। उ० उस चंगे दीवांन मैं, पला न पकड़ै कोई। (सा० २२-२२)।

दीवा—सं० पु० (सं० दीपक)—दीया, चिराग। उ० मंदिर मांहि फड़कती दीवा कैसी जोति। (सा० ४६-१७-१)।

दीवै—दीपक में। उ० कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै वाति। (सा० २-१०-१)।

दीवान—दे० 'दीवांन'। (पा० सा० २१-२-२)।

दीसंत—क्रि०स०(हि० दीसना से)—दीख पड़ते हैं। उ० कबीर हरि का भांवता थैं दूरैं दीसंत। (सा० २९-३-१)।

दीसहीं—क्रि० स० (हि० दीसना से)—दिखलाई पड़ते हैं। उ० रवि के उदै न दीसहीं बँधै न जल की पोट। (सा० १७-१७-२)।

दीसैं—दे० 'दीसै'। (पा० प० ८-४)।

दीसै—दिखलाई पड़ते हैं। उ० करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूंड। (सा० १८-५-१)।

दुंदर—सं० पु० (सं० द्वंद्व)—अशांति, झगड़ा। उ० भिस्त हुसकां दो जगां, दुंदर दराज दिवाल। (प० २५८-३)।

दुआरि—दे० 'दुवार'। दरवाजा। (पा० सा० १९-५-१)।

दुइ—वि० (सं० द्वि से)—दो। (पा० प० २१-५)।

दुकांन—सं० स्त्री० (फा०)—सौदा विकने का स्थान। उ० तहुआं एक दुकांन रच्यो है निराकार व्रत साजै। (प० १५३-३)।

दुक्ख—दे० 'दुख'। कष्ट। उ० कबीर सूता क्या करै, उठि न रोवै दुक्ख। (सा० २-१३-१)।

दुख—सं० पु० (सं० दुःख)—कष्ट, दुरवस्था। उ० पूरें सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि। (सा० १-३५-१)।

दुखड़ियां—क्रि० अ० (सं० दुख)—दुख रही हैं। उ० अंपड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ, लोग जांणैं दुखड़ियां। (सा० ३-२५-१)।

दुखनिकंदनां—वि० (सं० दुःख+निकंदन)—पाप, कष्ट नष्ट करने वाले। उ० कहैं कबीर दुख भंजनां, करौ दया तुरत दुख निकंदनां। (प० ११६-५)।

दुखभंजना—वि० (सं० दुःख+भंजन)—दुख दूर करने वाले। उ० कहै कबीर दुखभंजनां, करौ दया तुरत दुख निकंदनां। (प० ११६-५)।

दुखयादि—सं० पु० (सं० दुःख+आदि)—दुःख इत्यादि। उ० जिनि यहु सुपिनां फुर करि जांनां, और सबै दुखयादि न आंनां। (र० ३-५८)।

दुखवौ—क्रि० स० (सं० दुःख)—कष्ट पहुँचाओ। (पा० सा० ४-१६-१)।

दुखहि—सं०पु० (सं० दुःख)—दुख को। (पा० र० १७-२)।

दुखां—सं० पु० (सं० दुःख)—दुःखों। (पा० सा० १६-३१-१)।

दुखावै—क्रि० स० (सं० दुःख)—कष्ट पहुँचावे। (पा० प० ३५-४)।

दुखिइनि—वि०(हि०दुखिया)—पीड़ितों ने। उ० ये ले जारे वै ले गाड़े, इनि दुखिइनि दोऊ घर छाड़े। (प० १०३-५)।

दुखित—वि० (सं० दुःखित)—पीड़ित क्लेशित। (पा० प० १९७-४)।

दुखिया—वि० (हि० दुख+इया (प्रत्य०) —दीन, पीड़ित । उ० दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै । (सा० ३-४५-२) ।

दुखी—वि० (सं० दुःखित)—कष्ट में, पीड़ित । उ० कहै कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी । (प० १११-५) ।

दुखु—दे० 'दुख' । (पा० प० ४३-७) ।

दुचिते—वि० (हि० दो+चित)—अस्थिर चित्त । (पा० प० ५२-३) ।

दुड़बड़ी—सं० स्त्री० (प्रा० दडि—एक प्रकार का बाजा)—एक प्रकार का बाजा । उ० ढोल दमामा दुड़बड़ी, सहनाई संगि भेरि । (सा० १२-३-१) ।

दुतिअ—दे० 'दुतीय' । (पा०प० ६७-८) ।

दुतीय—वि० (सं० द्वितीय)—दूसरी की । (बी० र० २७-५) ।

दुनियां—दे०'दुनिया'। (पा०प० ७९-६) ।

दुनिया—सं० स्त्री० (अ०)—संसार, जगत । उ० दुनिया के धोखैं मुवा, चलै जु कुल की कांणि । (सा० १२-४६-१) ।

दुनियाई—सं० स्त्री० (अ० दुनिया+ई (प्रत्य०)—संसार । उ० सबद अतीत का मरम न जानैं, भ्रमि भूली दुनियाई । (प० ३६-६) ।

दुनीं—सं० स्त्री० (अ० दुनिया)—संसार, जगत । उ० कहै कबीर सुंनि पंडित गुंनी, रूप मूवा सब देखै दुनीं । (प० ४५-३) ।

दुपहरी—सं०स्त्री०) हि० दो+पहर)—दोपहर की । उ० नर जांणैं अमर मेरी काया घर घर बात दुपहरी छाया । (प० १०४-१) ।

दुबारां—सं० पु० (सं० द्वार)—दरवाजे पर । उ० राज दुबारां जौं फिरे, ज्यूं हरिहाई गाइ । (सा० १७-६-२) ।

दुबिधा—दे० 'दुबिध्या' । (पा० प० १२३-२) ।

दुबिध्या—सं० स्त्री० (सं० द्विविधा)—अनिश्चय, संशय । उ० माया कै मदि चेति न देख्या, दुबिध्या मांहि एक नहीं पेख्या । (प० ३६९-३) ।

दुमनां—वि० (हि० दो+मन)—दो मन का, द्वैधी भाव में पड़ा हुआ । उ० दुमनां ह्वै जिनि चित्त डुलावा, करि छिटके थैं थाह न पावा । (र० बा०-२७) ।

दुरगंध—सं० स्त्री० (सं० दुर्गन्ध)—बुरी महक । उ० अंध दुरगंध सहै दुख त्रासा । (र०४-७९) ।

दुरगंधि—दे० 'दुरगंध' । बुरी गंध । उ० नऊं दुवार नरक धरि मूं दे, तू दुरगंधि को बैढौ रे । (प० ३११-२) ।

दुरगा—दे० 'दुर्गा' । (पा०प० १५५-४) ।

दुरत—क्रि० अ० (हि० दूर से)—छिपे, ओझल होवे । (पा० प० १८-३) ।

दुरबल—वि० (सं० दुर्बल)—दुबला पतला । उ० कबीर मन मृतक भया, दुरबल भया सरीर । (सा० ४१-२-१) ।

दुरमति—सं० स्त्री० (सं० दुर्मति)—दुर्बुद्धि । उ० दुरमति दूरि गंवाइसी, देसी सुमति बताइ । (सा० २८-२-२) ।

दुरलभ—दे०' दुर्लभ' । कठिन, दुष्कर । उ० ईस कहै मैं ध्यांन न जांनूं, दुरलभ निज पद मोहीं । (प० ३६-३) ।

दुरस—वि० (फा० दुरुस्त)—ठीक, अच्छी दशा में । उ०सो हिंदू सो मुसलमांन, जिसका दुरस रहै ईमांन । (प० ३५५-३) ।

दुराई—क्रि० स० (हि० दूर से दुराना) —छिपाता है । उ० अनेक जतन करि गाड़ि दुराई, काहू सांची काहू खाई । (प० १-१-३) ।

दुराचारी—वि० (सं० दुराचारिन्)—बुरे आचरण करने वाला । उ० दुरा-

चारी वैश्नौं बुरा, हरिजन तहाँ न जाइ। (सा० ४२-२-२)।

दुरासनि—वि० स्त्री० (सं० दुराशय)—खोटी, बुरी नीयत वाली। उ० मेरौ हार हिरानौं मैं लजाऊँ, सास दुरासनि पीव डराऊँ। (प० ३७८-१)।

दुरिजन—सं० पु० (सं० दुर्जन)—खोटे मनुष्य। उ० मैं वासा मोई किया, दुरिजन काढ़े दूरि। (सा० २४-२६-१)।

दुरि दुरि करैं—अव्य० (हि० दुर दुर+करना)—तिरस्कारपूर्वक हटावे या भगावे। उ० तो तो करैं त वाहुड़ौं, दुरि दुरि करै तो जाउँ। (सा० ११-१५-१)।

दुरुस—दे० 'दुरस'। दुरुस्त, ठीक। (पा० प० १७२-४)।

दुर्गा—सं० स्त्री० (सं०)—दुर्ग नामक दैत्य को मारने वाली देवी, आदि शक्ति। उ० दुर्गा कोटि जाकै मरदन करैं। (प० ३४०-३)।

दुर्लभ—वि० (सं०)—दुष्प्राप्य, अनोखा। उ० कहौ संतौ क्यूँ पाइये, दुर्लभ हरि दीदार। (सा० २-२७-२)।

दुलंभ—दे० 'दुर्लभ'। (पा० सा० १४-३३-२)।

दुलभ—दे० 'दुर्लभ'। उ० कबीर पीवण दुलभ है, माँगै सीस कलाल। (सा० ६-२-२)।

दुलहा—सं० पु० (सं० दुर्लभ)—पति, स्वामी। (पा०प० १५-२)।

दुलहाई—सं० स्त्री० (हि० दूल्हा+आई (प्रत्य०)—विवाह के गीत, मंगलगान। (बी०र०३६-४)।

दुलहिनीं—सं० स्त्री० (हि० दूल्हा से दुलहन)—नई वहू, नई व्याही हुई स्त्री, अर्थात् अपने दायित्व को समझने वाली वालाएँ। उ० दुलहिनीं गावहु मंगलचार। (प० १-१)।

दुलीचा—सं० पु० (देश०)—गलीचा, कालीन। (सा० ३५-१२ नो १५)।

दुवादस—क्रि० (सं० द्वादश)—बारह। उ० तहां दुवादस खोजि ले, जनम होत नहीं मींच रे। (प० ४-८)।

दुवार—सं० पु० (सं० द्वार)—मार्ग, आवरण, दर्वाजा। उ० सुरति निरति परचा भया, तव खूले स्यंम दुवार। (सा० ५-२२-२)।

दुवारा—दे० 'दुवार'। मार्ग, रास्ता, दर्वाजा। उ० भगति दुवारा संकड़ा, राई दसवैं भाइ। (सा० १३-२६-१)।

दुविधा—दे० 'दुविधा'। उ० मुख तौ तौपरि देखिए, जे मन की दुविधा जाइ। (सा० १३-८-२)।

दुसमन—सं० पु० (फा० दुश्मन)—शत्रु, वैरी। उ० पंजर जसि करद दुसमन, मुरद करि पैमाल। (प० २५८-२)।

दुसर सयान—चौ०—द्वैतवादी लोग। (बी० र० ३६-२)।

दुसरी—वि० (हि० दूसरा)-दूसरी। उ० एक दहिड़िया दही जमाऔ, दुसरी परि गई साईं रे। (प० ७६-७)।

दुसरैं—दूसरी वात है कि। उ० इक त्रिषावंत दुसरैं रवि तपई, दह दिसि ज्वाला चहुँ दिसि जरई (र० ४-८०)।

दुह—वि० (सं० द्वि०, हि० दो)—दो, दोनों। उ० कहै कबीर सो जीवता, दुह मैं कदे न जाइ। (सा० ३१-७-२)।

दुहाई—सं० स्त्री० (सं० द्वि=दो+आह्वाय=पुकार) —शपथ, सौगंद। (प० ५-नो ५)।

दुहागनि—सं० स्त्री० (हि० दुहागी)—विधवा, अभागिन। उ० जो हाँ से ही हरि मिलैं, तौ नहीं दुहागनि कोइ। (सा० ३-२९-२)।

दुहागिनि—दे० 'दुहागनि'। (पा० सा० २-३८-२)।

दुहिये—क्रि० स० (हि० दुहना)—दुही

जाती है। उ० पंचवरन दस दुहिये गाइ, एक दूध देखौ पतिआइ। (प० ५३-३)।

दुहुदुहु—वि० (हि० दो-दो)—दोनों। उ० दुहुदुहु अंग सूँ लागि करि, डूबत है संसार। (सा० ३१-१-२)।

दुहूँ—क्रि० (हि० दो)—दोनों से। उ० दुहूं चूकां रीता पड़ै, ताकूं वार न पार। (सा० ३४-६-२)।

दुहूंधां—क्रि० वि० (?)—दोनों ओर। उ० आवत जांत दुहूंधां लूटे, सर्व तत हरि लीन्हां रे।(प० ३६६-२)।

दुहूधां-दे० 'दुहूंधां'। (पा०प० १०२-२)।

दुहेरा—दे० दुहेला'। (पा० प० ११-४)।

दुहेला—वि० (सं० दुर्हेला)—कठिन, दु:खदायी, दु:साध्य। उ० उड़ि पड़ै जब आंखि मैं, खरा दुहेला होइ। (सा० ५४-६-२)।

दुहेली—कठिन। उ० भरति दुहेली रांम की, नहिं कायर का कांम। (सा० ४५-२४-१)।

दूंणी--सं० स्त्री० (हि० दूना से)—डींग या शेखी में। (र० १-टि०५२)।

दूंदर—दे० 'दुंदर'। झगड़ालू। उ० दीन गरीबी दीन कौं, दूंदर कौं अभिमान। (सा० ४१-१२-१)।

दूखड़ियांह—दे० 'दुखड़ियां'। (पा०सा० २-२३-१)।

दूखा—सं० पु० (सं० दु:ख)—दुख में। (पा०सा० १७-२-२)।

दूज—स०स्त्री० (सं० द्वितीय, प्रा० दुइय, दुइज)—द्वैतभाव, दूसरी बातें। उ० पंच पयादा पाड़ि ले, दूरि करै सब दूज। (सा० ४५-३-२)।

दूजा—वि० (सं० द्वितीय, प्रा० दुइय, दुइज)—दूसरा, भिन्न। उ० सिर ऊपरि आरा सहै, तऊ न दूजा होइ। (सा० २६-४-२)।

दूजि—दे० 'दूज'। द्वैतभाव। (पा०सा० १४-१०-२)।

दूजी—दे० 'दूज'। स्त्री० रूप। दूसरी, भिन्न। उ० आसा एक जु राम की दूजी आस निरास। (सा० ११-११-१)।

दूजै—दूसरे। (पा० प० ६८-६)।

दूणां—वि० (हि० दूना)—दूना। उ० झूठे कौं झूठा मिलै, दूणां वधै सनेह। (सा० २२-१७-१)।

दूणी—दूनी। उ० कै लै दूणी कालिमां, भावै सौ मणं सावण लाइ। (सा० ४२-३,२)।

दूध—सं०पु० (सं० दुग्ध)—दूध। उ०जौ परि दूध तिवास का, ऊकटि हूवा आक। (सा० ३७-२-२)।

दूधा—दूध। (पा० र० १०-८)।

दूधै—दूध। (पा० सा० ५-१२-१)।

दूनां—दे० 'दूणां'। (पा०प० ६०-५)।

दूनीं—दे० 'दूणी'।(पा०सा० १८-८-२)।

दून्यूं—वि०। (हि० दो+नों (प्रत्य०))। —दोनों। उ० अंधै अँधा ठेलिया दून्यूं कूप पड़ंत। (सा० १-१५-२)।

दूवरी—दे०'दूवली'। (पा०प० १६-३-१)।

दूवली—वि० (सं० दुर्वल)—पतली, कमजोर। (सा० ४६-२१-नो० ३८)।

दूभर—वि०। (सं० दुर्भर)—दु:साध्य, कठिन। उ० दूभर पनियां भर्‌या न जाई। (प० १४०-१)।

दूरंतर—क्रि०वि०। (सं० दूर)—फासले पर। (प० ७-४)।

दूर—क्रि० वि०। (सं०)—फासले पर, दूरी पर। उ० ससिहर सूर दूर।

दूरंतर—लागी जोग जुग तारी। (प० ७-४)।

दूरहि—फासले से, दूर से। (पा० सा० ४-२६-१)।

दूरि—अलग, वहुत अन्तर पर। उ० कहै कवीर दूरि करि, आतम अदिष्टि काल।

(सा० १५-१-२)।

दूरैं—फासले से, दूर से। उ० कबीर हरि का भांवता दूरैं कैं दीसंत। (सा० २९-३-१)।

दूरी—सं० स्त्री० (सं०दूर+ई (प्रत्य०)। —फासला, अन्तर। (पा०प० ६९-७)।

दूलह—दे० 'दुलहा'। वर। उ० पूरि सुहाग भयौ बिन दूलह, चौक कैं रंगि धर्‍यौ सगौ भाई। (प० २२६-६)।

दूवा—सं० स्त्री० (अ० दुआ)-आशीर्वाद, असीस। उ० दाइय दूवा करद बजावैं, मैं क्या करूं भिखारी। (प० ३२३-७)।

दूषा—क्रि० अ० (हि० दुखना)—दर्द करता है, पीड़ित होता है। उ० सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूषा। (प० १७५-६)।

दूष्या—क्रि० स० (सं० दूषण से)—कलंकित कया, दोष लगाया। उ० पष छाड़ै निरपष रहै, सबद न दूष्या जाइ। (सा० ३९-३-२)।

दूसर—वि० (हि० दूसरा)-अपर, अन्य। (पा० प० ८७-९)।

दूहै—क्रि०स० (सं०दोहन)—दूध निकालता है। उ० बछरा दूहै तीन्यूं सांझ। (प० ८०-२)।

दृष्टि—दे० 'द्रिष्टि'। दृष्टि। (पा० प० १६२-८)।

दे—क्रि० सा० (सं० दान, हि०,देना)—देकर। उ० कसणी दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार। (सा०१-२८-२)।

देइ—देती है। (पा०प०३४-७)।

देइहौं—दूंगा। (पा० प० ९१-६)।

देई—देती, दे सकता है। उ० मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम। (सा० १६-४-२)।

देउं—दूं, देऊँ। उ० नां तुझ देखन देउं। (सा० ११-२-२)।

देणां—देना। उ० लेखा देणां सोहरा, जे दिल सांचा होइ। (सा० २२-२-१)।

देत—देते हुए। (पा०प० ४५-६)।

देती(वार)—देते (समय)। उ० खरी विगूचनि होइगी, लेखा देती वार। (सा० २२-१-२)।

देदे—दो। उ० जबहीं चालै पीठि दे, अंकुस दे दे फेरि। (सा० १३-१९-२)।

देन—देना। (पा० सा० १५-९-२)।

देनां—देना। (पा०सा० २१-२-१)।

देवा—दिया जाएगा। उ० हैं वर ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देवा खड़। (सा० १२-११-२)।

देवे (कौं)—देने के लिए। उ० राम कै पटं तरैं, देवे कौं कुछ नांहि। (सा० १-४-१)।

देवैं (१)-देवे। उ० ज्यूं हरि राखै त्यूं रहौं, जो देवैं सो खाउँ। (सा०११-१५-२)।

देसी—देगी। उ० देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगे सूरि। (सा०३-४४-२)।

देहीं—देते हैं। (पा०प० १६७-४)।

देही—देते हैं। उ० आपण देही चखा पानी, ताहि निदैं जिनि गंगा आंनी। (प० १४४-३)।

देहु—दो। उ० ताकि संगति राम जी सुपिनैं ही जिनि देहु। (सा०२८-९-२)।

देहुगे—दोगे। उ० मूवां पीछैं देहुगे, सो दरसन किति काम। (सा० ३-७-२)।

दैंहि—देते हैं। उ० दैंहि पईसा व्याज कौं, लेखाँ करतां जाइ। (सा० १७-७-२)।

दैं—देकर। (पा० प० १९-२)।

दैंण—देना। उ० जीव पड़्या बहुलूटि मैं, जागै तौ लैण न दैंण।(सा०१२-२२-२)।

दैहूं—दूंगा। उ० अब तोहि जान न दैहूं राम पियारे। (प० ३-१)

दैहौ—दोगे। उ० सो बैकुंठ कहौ धूं कैसा, करि पसाव मोहि दैहौ। (प० ५२-२)।

द्यौं—देऊं। उ० बलिहारी गुर आपणैं,

द्यौं हाड़ी कै वार। (सा० १-२-१)।

देउ—दे० 'देव'। (पा०प० १८७-२)।

देख—क्रि० स० (सं० दृश, प्रा० देक्खइ, हि० देखना से)—देखता है। (पा०प० १५७-६)।

देखउं—देखूं। (पा० प० १८६-२)।

देखत—देखत ही देखते। उ० कबीर देखत दिन गया निस भी देखत जाइ। (सा० ३-३४-१)।

देखन (देउं)—देखने। उ० नां हौं देखौं और कूं, नां तुझ देखने देउं। (सा० ११-२-२)।

देखहु—देखो। उ० अचिरज एक देखहु संसारा। (प० १४५-३)।

देखा—देख लिया, देखा। उ० अचंभा देखा रे भाई। (प० ११-१)।

देखि—देखकर। उ० माया मोहे अर्थ देखि करि, काहै कूं गरबांनां। (प० ५५-७)।

देखिअै—देखिए। (पा० प० ७८-३)।

देखिया—देखा। उ० एक अचंभा देखिया, बिटिया जायी बाप। (प० १३-४)।

देखिहु—देखा। उ० मरघट घाट खैंचि करि राखे, वह देखिहु हंस अकेलौ। (प० २४१-८)।

देखी—देखी। उ० कहै कबीर गुर दिया पलीता, सो फल विरलै देखी। (प० ८-८)।

देखु—देख। (पा० प० ६३-११)।

देखें(हीं)—देखते ही। उ० देखें हीं तन प्रजलैं, परस्यां ह्वै पैमाल। (सा० २०-१२-२)।

देखै—देखता है, देखेगा। उ० काहे न देखै जागि (सा० २-१२-१); बहुरि न देखै आइ। (सा० १२-१-२)।

देखै ही—देखते ही। उ० देखै ही कैं विष चढ़ै, खायें सू मरि जाइ।

देखौं—देखूं, देख सकूं, दर्शन करूं। उ० नां हौं देखौं और कूं नां तुझ देखन देउं। (सा० ११-२-२)।

देखौ—देखो, समझो, विचारो। उ० देखौ कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख। (सा० ५-१२-१)।

देख्यत—देखते ही। (प० २६७-७)।

देख्या—देखा। उ० मेरा देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पड़े फरंकि। (सा० १-२५-२)।

देख्या ही—देखने का ही। उ० कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवान। (सा० ५-३-२)।

देख्यौ—देखा। उ० अपने पुरिख मुख कबहूं न देख्यौ, सती होत समझी समझाई। (प० २२६-७)।

देबी—दे० 'देवी'। (पा० प० १२३-७)

देरी—सं० स्त्री० (फा० देर)—विलम्ब, अतिकाल। उ० कहै कबीर करुणांमय किया, देरी गलियाँ बहु बिस्तारा। (प० २६७-६)।

देव—सं० पु० (सं०) (१) देवता। उ० नींव बिहूंणां देहुरा, देह बिहूंणां देव। (सा० ५-४१-१)।
(२) वैश्य। (बी० र० २७-७)।

देवकी—सं० स्त्री० (सं०)—वसुदेव की स्त्री तथा श्री कृष्ण की माता। (पा० प० १५८-६)।

देवतनि—सं० पु० (सं० देवता)—देवताओं पर। (प० २५०-नो०-१५०)।

देवता—सं० पु० (सं०)—देवता, दिव्य पुरुष। उ० जिनि मानिषतैं देवता, करत न लागी वार। (सा० १-२-२)।

देवन—दे० 'देव'। देवताओं। (पा० प० ३३-५)।

देवर—सं० पु० (सं०)—पति का छोटा भाई। उ० खाया देवर खाया जेठ, सब खाया सुसर का पेट। (प० २२७-४)।

देवल—सं० पु० (सं० देवालय)—देव मंदिर। उ० देवल मांहैं देहुरी, तिल जेहै बिसतार। (सा० ३-४४-२)। (सा० ५-४२-१) और (६-७-२)।

देवाधिदेव—सं० पु० (सं०)—महादेव, देवताओं के स्वामी। उ० महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यंध प्रकट कियौ भगति भेष। (प० ३७९-११)।

देवी—सं० स्त्री० (सं०)—देवपत्नी, दुर्गा आदि देवी। उ० देवलि जाऊँ तौ देवी देखौं, तीरथि जांऊं त पाणीं। (प० १९७-३)।

देवै (२)—सं० स्त्री० (सं० देवकी)—वसुदेव की स्त्री तथा श्रीकृष्ण की माता। उ० देवै कूख न औतरि आवा, ना जसवै ले गोद खिलावा। (र०बा०५२)।

देषण—क्रि० स० (हि० देखना)—देखने के लिए। उ० आया था संसार मैं देषण कौं बहुरूप। (सा० ५-२४-१)।

देषणां—देखा। उ० हिरदा भीतरि आरसी, मुख देषणां न जाइ। (सा० १३-८-१)।

देषौं—देखूँ। उ० सेजैं रहूँ नैंन नहीं देषों। (प० २३०-३)। (पाठान्तर—देखौं)।

देस—सं० पु० (सं० देश)—(१)अवस्था, स्थिति। उ० पांणी पीया चंच विन, भूलि गया यहु देस। (सा० ५-२०-२)। (२) स्थान, प्रदेश। उ० कौंण देस कहाँ आइया, कहु क्यूँ जांण्यां जाइ। (सा० १४-१-१)।

देसड़ैं—सं० पु० (सं० देश)—स्थान पर, प्रान्त में, भूभाग में। उ० चली कबीर तिहि देसड़ैं जहाँ वैद विधाता होइ। (सा० ४७-१-२)।

देह—सं० स्त्री० (सं०)—शरीर, तन। उ० दाधी देह न पालवै, सतगुर गया लगाय। (सा० ४-६-२)।

देहड़ी—सं० स्त्री० (सं० देह)—मानव शरीर। (सा० १२-नो०-५९)।

देहरा—दे० 'देहुरा'। देवालय। (पा० मा० ९-१३-१)।

देहरि—दे०'देहली'। (पा०प० ६८-७)।

देहरी—दे० 'देहली'। (पा०प० १००-३)।

देहली—सं० स्त्री० (सं०)—दहलीज, देहरी। उ० देहली लग तेरी मिहरी सगी रे, फलसा लग सगी माइ। (प० ३१५-३)।

देहा—दे० 'देह'। शरीर। (पा० प० ९८-१)।

देहियां—दे० 'देह'। शरीर। (पा० प० ९६-२)।

देहीं—दे० 'देहीं'। शरीर। (पा० प० ६३-३)।

देही—सं० स्त्री० (सं० देह)—शरीर। उ० देही माटी बोलै पवनां, बूझि रे ग्यानी मूवा स कौनां। (प० ४२-४)।

देहुरा—सं० पु० (सं० दे०+हि० घर)—देवघर, देवालय। उ० नींव बिहूँणां देहुरा, देह बिहूँणां देव।(सा० ५-४१-१)

देहुरी—सं० स्त्री० (हि० देहली)—दहलीज, देहरी। उ० देवल माँहैं देहुरी तिल जेहै विसतार। (सा० ५-४२-१)।

देहुरै—दहलीज पर। उ० कबीर दुनियाँ देहुरै, सींस नवांवण जाइ। (सा० २३-११-१)।

दोइ—वि० (सं० द्वि०, हि० दो)—दो, भिन्न-भिन्न। उ० जे सोऊं तौ दोइ जणां, जागूँ तौ एक। (सा० १२-२३-२)। उ० कहै कबीर ते क्यूँ मिलैं, जब लग दोइ सरीर। (सा० ५-२५-२)।

दोई—वि० (हि० दो)—दोनों। (पा० र० १०-५)।

दोउ—दे० 'दोऊ'। (पा०,प० ३२-३)।

दोऊ—वि० (हि० दो से)—दोनों। उ० एक कनक अरु कांमनी, दोऊ अगनि की झाल। (सा० २०-१२-१)।

दोख—सं० पु० (स० दोष)—अवगुण, ऐब। उ० दोख पराये देख करि चल्या हसंत हसंत। (सा० ५४-२-१)।

दोजक—दे० 'दोजग'। नरक, (पा० प० १९६-२)।

दोजग—सं० पु० (फा० दोजख)—

नरक । उ० दोइ कहैं तिनहीं कौ दोजग, जिन नांहिन पहिचांनां । (प० ५५-२) ।

दोद्धा—वि० (?)—कठिन । उ० स्वांमी हूंणा सोहरा, दोद्धा हूंणां दास । (सा० १७-३-१) ।

दोनउं—दे० दोनिउं । (पा० सा० २०-३-२) ।

दोनां—सं०पु० (सं० दमनक, हि० दौना) —दवना नामक पौधे की पत्तियाँ । उ० दोनां मरवा चंपक फूला, तामैं जीव' वसैं कर तूला । (र० ५-५२) ।

दोनिउं—वि० (हि० दोनों से)—दोनों । (पा० प० १०-१२) ।

दोनौं—वि० (हि० दो+नौ (प्रत्य०)— दोनों । (पा० सा० १-१७-२) ।

दोन्यूं—दे० 'दोनौं' । दोनों । (पा० सा० १-६-२) ।

दोवटीं—सं० स्त्री० (हि० दो+मिट्टी, दोमट)—वह भूमि जिसकी मिट्टी में कुछ बालू भी मिली हो । उ० पांच गज दोवटी मांगी, चूंन लीयौ सांनि । (प० ३१४-४) ।

दोवर—वि० (हि० दो+हरा=दोहरा)- दोहरा, दुगुना । उ० क्यूं लीजैं गढ़ वंका भाई, दोवर कोट अरु तेवड़ खाई । (प० ३५६-१)

दोष—सं० पु० (सं०द्वेष)—घृणा, द्वेष, शत्रुता । उ० राग दोष दहूं मैं एकन भापि, कदाचि ऊपजैं तौ चिता न रापि । (प० १०७-३) ।

दोस—सं० पु० (सं० दोष)—अवगुण । (पा० प० ४७-३) ।

दोसत—दे० 'दोस्त' । मित्र, साथी । उ० एक ज दोसत हम किया, जिस गलि लाल कवाइ । (सा० १३-११-१) ।

दोसर—वि० (हि० दो)—अन्य, ऊपर । (पा० चौं० र० ८-१) ।

दोस्त—सं० पु० (फा०)—मित्र, साथी । (पा० प० ६६-१) ।

दोहाई—दे०'दुहाई' । (पा०प० ५६-८) ।

दौं—सं० स्त्री० (सं० दव, हि० दौ)— आग, जलन । उ० हिरदा भीतरि दौं बलै, धूवां न प्रगट होइ । (सा० ४-३-१) ।

दौड़णां—क्रि० स० (सं० धौरण, हि० धौरना)—दौड़ना । उ० डागल उपरी दौड़णां, सुख नींदड़ी न सोइ । (सा० १२-५६-१) ।

दौड़ी—क्रि० अ० (हि० दौड़ना से)— दौड़ गई, छा गई । उ० जीलक दौड़ी सांइयां, लोग कहै पिंड रोग । (सा० २६-१०-१) ।

दौनां—दे० 'दोनां' । दवना नामक पौधे की पत्तियाँ । (पा० र० ६-४) ।

दौरना—दे० 'दौड़णां' । दौड़ना । (पा० सा० १५-६३-१) ।

दौराऊं—क्रि० स० (हि० दौड़ना)— हांकूं, दौड़ाऊं । उ० दे मुहरा लगाम पहिराऊं, सिकली जीन गगन दौराऊँ । (प० २५-२) ।

दौरावउं—दे० 'दौराऊँ' । दौड़ाऊँ । (पा० प० ८१-३) ।

दौरि—क्रि० अ० (हि० दौड़ना से)— दौड़ जा । (पा० सा० १५-६६-२) ।

दौहनै—वि० (हि० दुहुन)—दोनों को ही । उ० दुहु कात्यां विचि जीव है, दौहनै संती सीष । (सा० ३४-५-२) ।

द्यौंहड़े—सं० पु० (सं० देव+घर)— देवालय, मानव-शरीर । उ० पुनै पाये द्यौंहड़े, ओछी ठौर न खोइ । (सा० १२-५६-२) ।

द्यौस—सं० पु० (सं० दिवस)—दिन । (पा० सा० १५-३८-२) ।

द्यौहड़ा—सं०पु०(हि० दिवस+डा)—दिन की अवधि । (सा० ५४-७-नो०-८) ।

द्रपन—सं० पु० (स० दर्पण)—आइना, स्वच्छ दर्पण । उ० सवद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोइ । (सा० ४०-३-२) ।

द्रुगम—वि० (सं० दुर्गम)—दुस्तर, कठिन । (पा०प० १३०-३) ।

द्वादस—वि० (सं० द्वादश)—बारह । उ० नवतन द्वादश लागी आगी । (प० ६४-५) ।

द्वादस आगी—सं० स्त्री०–द्वादश गंध द्रव्यों से बनी धूप की अग्नि (इसमें १२ पदार्थ इस प्रकार होते हैं—गुग्गुल, चंदन, तेजपात, कुट, अगर, केसर, जायफल, कपूर, जटामासी, नागरमोथ, नज और खस) । (प० ६४-५) ।

द्वादस कूंवा—बारह मात्रा-प्राणरूपी बारह कुएँ । उ० द्वादस कूंवा एक बन माली, उलटा नीर चलावै । (प० २१४-३) ।

द्वादसगम—बारह अंगुल प्राण-पथ । उ० द्वादसगम के अंतरा तहां अमृत कौं ग्रास । (प० १८-५) ।

द्वादस दल—बारह दल वाला अनाहत चक्र । उ० द्वादस दल अभिअंतरि म्यंत तहाँ प्रभू पाइसि करिलै च्यंत । (प० ३२८-११) ।

द्वादसी—सं० स्त्री० (सं० द्वादशी)—किसी पक्ष की बारहवीं तिथि । उ० द्वादसी भ्रमें लप चौरासी, गर्भवास आवै सदा मरै । (पा० १८३-६) ।

द्वापर—सं० पु० (सं०)—चार युगों में से तीसरा युग । पुराणों से यह युग ८६४००० वर्ष का माना गया है । (पा० प० १४३-६) ।

द्वार—सं० पु० (सं०)—दरवाजा, इंद्रियों का द्वार । उ० नहीं ग्रिह द्वार कछू नहीं तहियां, रचनहार पुनि नांहीं । (प० ३२-५) ।

द्वारा—दे० 'द्वार' । दरवाजा । उ० बैसि परहड़ी द्वारा मुंदावौ, ल्यांवों पूत घेरी । (प० २२-५) ।

द्वारामती—सं० स्त्री० (सं० द्वारावती)–द्वारिका । उ० द्वारामती सरीर न छाड़ जगननाथ ले प्यंड नगाड़ा । (र० बा० ५७) ।

द्वारावती—दे० *'द्वारामती' द्वारिका ।* (पा० र० ३-८) ।

द्वारि—दे० 'द्वार' । दरवाजा । उ० मन भंजन करि दसवैं द्वारि, गंगा संधि विचारि । (प० ३२६-४) ।

द्वारिका—सं० स्त्री० (सं०)—प्र तीर्थ स्थान । उ० मन मथुरा ८ द्वारिका, काया कासी जांणि । (स० २३-१०-१) ।

द्वारैं—दे० द्वार' । द्वार पर । (पा० प० ३३-२) ।

द्वै—वि० (सं० द्वि, हि० दो)—दो । उ न छाड़ै सूरिवां, झूझै द्वै दल मांहि (सा० ४५-१०-१) ।

द्वैदीन—यौ० (सं० द्वै + अ० दीन) दो धर्म, हिन्दू धर्म और मुस्लिम धर्म उ० मन मुसले की जुगति न जानैं मति भूलै द्वै दीन बखांनैं । (र० ५-२४)

द्वैसुर—दो सुर, इड़ा और पिंगला नाड़ी उ० सो सुलितांन जु द्वैसुर तानैं, बाह जाता भीतरि आनैं । (प० ३३०-६) ।

ध

धंध—(१) सं० पु० (सं० धनधान्य, हि० धंधा)–उद्यम, काम-काज । उ० धंध बंध कीन्ह बहु तेरा । (र० ३-१४) ।
(२) सं० स्त्री० (सं० धूम+अंध)—वह अंधेरा जो हवा में मिली धूल कारण हो । उ० रांम बिनां सं धंध कुहेरा । (प० ३१७-१) ।

धंधा—सं० पु० (सं० धनधान्य)

उद्यम, कामकाज का द्वन्द्व। उ० धंधा ही में मरि गया, वाहर हुई न बंब। (सा० १२-३३-२)।

धंधै—उ० जिनि धंधै मैं ध्याया नहीं। (सा० १२-२१-२)।

धंन—दे० 'धन' (२)। (प० ६६-४)।

धंनि—वि० (सं० धन्य)—सुकृती, प्रशंसा के योग्य। (पा० प० ५-६)।

धंसै—दे०'धसै'। (पा०सा० ३-१६-२)।

धका—सं० पु० (सं० ढक्क्, हि० धक्का)—(१) धक्का, झोंका। (पा० सा० १५-८६-२)।

(२) विपत्ति, आफत। (पा० सा० २०-२-२)।

धज—(१) सं० स्त्री० (हि० धज्जी से)—चिथड़े, टुकड़े-टुकड़े। उ० फाड़ि फुटोला धज करौ। (सा० ३-४१-१)।

(२) सं० स्त्री० (सं० ध्वज)—ध्वजा, पताका। उ० कोटी धज साह हस्ती वंध राजा। (प० ६६-३)।

धजा—स ० स्त्री० (सं० ध्वज)—ध्वजा, पताका। उ० काया देवल मन धजा बिषै लहरि फहराइ। (सा० १३-२८-१)

धड़—सं० पु० (सं० धर)—सिर व हाथ, पैर छोडकर शरीर का शेष भाग। उ० धड़ सूली सिर कंगुरै, तऊन बिसारौं तुझ। (सा० ४५-२६-२)।

धणहीना—वि० (सं० धनहीन)—निर्धन, गरीव। (सा० ५२-२-नो० ३)।

धणीं—सं०पु० (सं०धनिन्, हि० धनी)—पति, स्वामी। उ० तेज पुंज पारस धणीं, नैनू रहा समाइ। (सा० ५-३८-२)।

धनीं—उ० सिर परि साहिब रांम धनीं। (प० ६६-२)।

धन—(१) सं० स्त्री० (सं० धनी)—वधू, युवती। उ० धन मैली पिव ऊजला लागि न सकौं पाइ। (सा० ५-३६-२)।

(२) सं०पु० (सं०)—सम्पत्ति, दौलत। उ० साइ मूवे धन संचते, सो उवरे जे खाइ। (सा० १६-१२-२)।

धनक—सं० पु० (सं० धनु)—धनुष, कमान। उ० ध्यांन धनक जोग करम, ग्यांग वांन सांधा। (प० २१०-४)।

धनकि—धनुष। उ० उलटै धनकि पारधी मार्‌यो, यहु अचिरज कोइ बूझै। (प० १६२-८)।

धना—सं० स्त्री० (सं० धनिका, हि० धनिया)—स्त्री० भार्या। (बी० र० ५५-१)।

धनि—वि० (सं० धन्य)—कृतार्थ, प्रशंसा-योग्य, सुकृती। उ० कबीर धनि ते सुंदरी। (सा० ३०-७-१)।

धन्नि—धन्य। (पा० प० ११-५)।

धनिक—सं० पु० (सं०)—धनी मनुष्य। (पा० प० १७६-८)।

धनु—दे० 'धनक'। (पा० प० ११८-१०)।

धनुख—दे०'धनक'। (पा०प० १२१-४)

धनुहड़ी—धनुष। दे० 'धनक'। (पा० सा० १३-३-२)।

धनुहीं—धनुषहीं। दे० 'धनक'। (पा० प० १२४-५)।

धब—सं० पु० (धनु० धप)—हानि, धब्बा। उ० धव लोटै ही फाटी। (प० २५३-६)।

धरंम—दे० 'धरम'। (पा० स० २१-२६-१)।

धर—स० पु० (सं०) धरती, जमीन, धरणी। उ० त्रिस्नां छांनि परी धर ऊपरि। (प० १६-४)।

(२) पाताल, अधोलोक। (बी० र० ७-४)।

धरई—क्रि० स० (सं० धारण)—रखता है। (पा० चौ० र० ८-१)।

धरण—क्रि० स० (सं०)—लेने को, धरने को। उ० नांव धरण कौं तोहीं। (प० ३६-४)।

धरणि—सं० स्त्री० (सं०)—पृथ्वी। उ० धरणि महारस खावा। (प० १६२-६)।

धरणींधरा—सं० पु० (सं० धरणिधर)—शेष नाग। उ० ताकौ वार न पावै धरणींधरा। (प० ३२८-५)।

धरनींधरा—(पा० प० १३०-८)।

धरती—सं० स्त्री०। (सं० धरित्री)—पृथ्वी, जमीन। उ० धरती गगन पवन नहीं होता। (सा० ५-२८-१)।

धरनि—(१) सं० पु० (सं० धारण)—हठ, टेक, धारणा। उ० अब की धरनि धरी जा दिन थैं। (प० २२६-४)।
(२) सं० स्त्री० (सं० धरणी)—पृथ्वी। (बी० र० ७-४)।

धरनीं—वि० (हि० धरना)—धरने वाली। उ० मुई नारि सुरति बहु धरनीं। (प० ४६-३)।

धरम—सं० पु० (सं० धर्म)—धर्म, वेदादि विहित विधान। उ० जीव वधत अरु धरम कहत हौ। (प० ३६-७)।

धरमां—(पा० र० ८-१)।

धरमु—(पा० प० १६१-५)।

धर्म—(पा० सा० १५-३३-१)।

धरमराज्य—सं० पु० (सं० धर्मराज)—यमराज। (बी० र० २१-५)।

धर्मराइ—यमराज। उ० तौ धर्मराइ सूँ तूटै। (प० १०८-५)।

धरहिं—क्रि० स० (हि० धरना)—रखते हैं। (पा० सा० १५-२८-२)।

धरा—रक्खा। (पा० सा० १६-२०-१)।

धरावा—रखाता है। (पा०र० १०-४)।

धरावै—रखावैं, निश्चित करे। उ० नांव धरावैं सेत। (सा० २३-७-२)।

धरि—पकड़। उ० धरि करि सूधी मूठि। (सा० १-८-१)।

धरिए—रखिए। (पा० र० ४-७)।

धरिअै—रखिए। (पा० प० १०५-६)।

धरिया—लगाया, धारण किया, रखा। उ० जब मन धरिया ध्यान। (सा० ५-३२-१)।

धरिये—रखिये। उ० काकर धरिये नांव। (र० ५-१२)।

धरिहौ—देखोगे। (पा० प० १८१-६)।

धरी—रखी। उ० छींकै धरी चहोड़ि। (सा० १३-२४-१)।

धरे—धारण करने, रखने। (पा० सा० १६-६-२)।

धरैं—रखते हैं। (पा० प० १४६-६)।

धरै—रखे। उ० जिहि जिहि डाली पग धरै। (सा० ३८-१०-२)।

धरौं—रखूं। (पा० प० ४-२)।

धरौ—रखूं। (पा० प० १२३-११)।

धरौगे—लोगे, रखोगे। उ० नांव धरौगे कौंण। (सा० १-१४-२)।

धसैं—क्रि० अ० (हि० धँसना)—धीरे-धीरे अन्दर घुसते हैं, पुनर्जन्म लेते रहते हैं। उ० कलपत बिंद धसैं तिहिं द्वारा। (र० ५-५४)।

धसै—घुसे, अन्दर जाए। उ० जब लग धसै न आभ। (सा० २-२१-२)।

धवंती—वि० (सं० धमन, हि० धमना)—चलती हुई, धौंकी जाने वाली। उ० धवणि धवंती रहि गई। (सा० ४६-२१-१)।

धवणि—सं० स्त्री० (सं० धमनी, हि० धवनी)—लोहारों की धौंकनी। उ० धवणि धवंती रहि गई। (सा० ४६-२१-१)।

धाइ—क्रि० अ० (सं० धावन)—दौड़कर, बेचैन होकर। उ० पंथी बूझै धाइ। (सा० ३-५-१)।

धाऊं—दौडूं। (पा० प० ३५-६)।

धागा—सं० पु० (हि० तागा)—डोरा, बटा हुआ सूत। उ० संतौ धागा टूटा गगन विनसि गया। (प० ३२-१)।

उद्यम, कामकाज का द्वन्द्व । उ० धंधा ही में मरि गया, बाहर हुई न बंब । (सा० १२-३३-२) ।

धंधै—उ० जिनि धंधै में ध्याया नहीं । (सा० १२-२१-२) ।

धंन—दे० 'धन' (२) । (प० ६६-४) ।

धंनि—वि० (सं० धन्य)—सुकृती, प्रशंसा के योग्य । (पा० प० ५-६) ।

धंसै—दे०'धसै' । (पा०सा० ३-१६-२) ।

धका—सं० पु० (सं० हक्क्, हि० धक्का) —(१) धक्का, झोंका । (पा० सा० १५-८६-२) ।

(२) विपत्ति, आफत । (पा० सा० २०-२-२) ।

धज—(१) सं० स्त्री० (हि० धज्जी से) —चिथड़े, टुकड़े-टुकड़े । उ० फाड़ि फुटोला धज करौ । (सा० ३-४१-१) ।

(२) सं० स्त्री० (सं० ध्वज)—ध्वजा, पताका । उ० कोटी धज साह हस्ती बंध राजा । (प० ६६-३) ।

धजा—स ० स्त्री० (सं० ध्वज)—ध्वजा, पताका । उ० काया देवल मन धजा विषै लहरि फहराइ । (सा० १३-२८-१)

धड़—सं० पु० (सं० धर)—सिर व हाथ, पैर छोडकर शरीर का शेष भाग । उ० धड़ सूली सिर कंगुरैं, तऊन बिसारौं तुझ । (सा० ४५-२६-२) ।

धणहीना—वि० (सं० धनहीन)—निर्धन, गरीब । (सा० ५२-२-नो० ३) ।

धणीं—सं०पु० (सं०धनिन्, हि० धनी)— पति, स्वामी । उ० तेज पुंज पारस धणीं, नैनू रहा समाइ । (सा० ५-३८-२) ।

धनीं—उ० सिर परि साहिब रांम धनीं । (प० ६६-२) ।

धन—(१) सं० स्त्री० (सं० धनी)— वधू, युवती । उ० धन मैली पिव ऊजला लागि न सकौं पाइ । (सा० ५-३६-२) ।

(२) सं०पु० (सं०)—सम्पत्ति, दौलत । उ० साइ मूवे धन संचते, सो उबरे जे खाइ । (सा० १६-१२-२) ।

धनक—सं० पु० (सं० धनु)—धनुष, कमान । उ० ध्यांन धनक जोग करम, ग्यांग बांन सांधा । (प० २१०-४) ।

धनकि—धनुप । उ० उलटै धनकि पारधी मार्यो, यहु अचिरज कोइ बूझै । (प० १६२-८) ।

धना—सं० स्त्री० (सं० धनिका, हि० धनिया)—स्त्री० भार्या । (बी० र० ५५-१) ।

धनि—वि० (सं० धन्य)—कृतार्थ, प्रशंसा-योग्य, सुकृती । उ० कबीर धनि ते सुंदरी । (सा० ३०-७-१) ।

धन्नि—धन्य । (पा० प० ११-५) ।

धनिक—सं० पु० (सं०)—धनी मनुष्य । (पा० प० १७६-८) ।

धनु—दे० 'धनक' । (पा० प० ११८-१०) ।

धनुख—दे०'धनक' । (पा०प० १२१-४)

धनुहड़ी—धनुष । दे० 'धनक' । (पा० सा० १३-३-२) ।

धनुहीं—धनुषहीं । दे० 'धनक' । (पा० प० १२४-५) ।

धब—सं० पु० (धनु० धप)—हानि, धव्वा । उ० धब लोटै ही फाटी । (प० २५३-६) ।

धरंम—दे० 'धरम' । (पा० स० २१-२६-१) ।

धर—स० पु० (सं०) धरती, जमीन, धरणी । उ० त्रिस्नां छांनि परी धर ऊपरि । (प० १६-४) ।

(२) पाताल, अधोलोक । (बी० र० ७-४) ।

धरई—क्रि० स० (सं० धारण)—रखता है । (पा० चौ० र० ८-१) ।

धरण—क्रि० स० (सं०)—लेने को, धरने को । उ० नांव धरण कौं तोही । (प० ३६-४) ।

धरणि—सं० स्त्री० (सं०)—पृथ्वी। उ० धरणि महारस खावा। (प० १६२-६)।

धरणींधरा—सं० पु० (सं० धरणिधर)—शेष नाग। उ० ताकी वार न पावै धरणींधरा। (प० ३२८-५)।

धरनींवरा—(पा० प० १३०-८)।

धरती—सं० स्त्री०। (सं० धरित्री)—पृथ्वी, जमीन। उ० धरती गगन पवन नहीं होता। (सा० ५-२८-१)।

धरनि—(१) सं० पु० (सं० धारण)—हठ, टेक, धारणा। उ० अब की धरनि धरी जा दिन थैं। (प० २२६-४)।
(२) सं० स्त्री० (सं० धरणी)—पृथ्वी। (बी० र० ७-४)।

धरनीं—वि० (हि० धरना)—धरने वाली। उ० मुई नारि सुरति बहु धरनीं। (प० ४६-३)।

धरम—सं० पु० (सं० धर्म)—धर्म, वेदादि विहित विधान। उ० जीव वधत अरु धरम कहत हौ। (प० ३६-७)।

धरमां—(पा० र० ८-१)।

धरमु—(पा० प० १६१-५)।

धर्म—(पा० सा० १५-३३-१)।

धरमराज्य—सं० पु० (सं० धर्मराज)—यमराज। (बी० र० २१-५)।

धर्मराइ—यमराज। उ० तौ धर्मराइ सूं तूटै। (प० १०८-५)।

धरहि—क्रि० स० (हि० धरना)—रखते हैं। (पा० सा० १५-२८-२)।

धरा—रक्खा। (पा० सा० १६-२०-१)।

धरावा—रखाता है। (पा०र० १०-४)।

धरावै—रखावै, निश्चित करे। उ० नांव धरावैं सेत। (सा० २३-७-२)।

धरि—पकड़। उ० धरि करि सूधी मूठि। (सा० १-८-१)।

धरिए—रखिए। (पा० र० ४-७)।

धरिअै—रखिए। (पा० प० १०५-६)।

धरिया—लगाया, धारण किया, रखा। उ० जब मन धरिया ध्यान। (सा० ५-३२-१)।

धरिये—रखिये। उ० काकर धरिये नांव। (र० ५-१२)।

धरिहौ—देखोगे। (पा० प० १८१-६)।

धरी—रखी। उ० छींकै धरी चहोड़ि। (सा० १३-२४-१)।

धरे—धारण करने, रखने। (पा० सा० १६-६-२)।

धरें—रखते हैं। (पा० प० १४६-६)।

धरै—रखे। उ० जिहि जिहि डाली पग धरै। (सा० ३८-१०-२)।

धरौं—रखूं। (पा० प० ४-२)।

धरौं—रखूं। (पा० प० १२३-११)।

धरौंगे—लोगे, रखोगे। उ० नांव धरौंगे कौंण। (सा० १-१४-२)।

धसैं—क्रि० अ० (हि० धँसना)—धीरे-धीरे अन्दर घुसते हैं, पुनर्जन्म लेते रहते हैं। उ० कलपत विंद धसैं तिहि द्वारा। (र० ५-५४)।

धसै—घुसे, अन्दर जाए। उ० जब लग धसै न आभ। (सा० २-२१-२)।

धवंती—वि० (सं० धमन, हि० धमना)—चलती हुई, धौंको जाने वाली। उ० धवणि धवंती रहि गई। (सा० ४६-२१-१)।

धवणि—सं० स्त्री० (सं० धमनी, हि० धवनी)—लोहारों की धौंकनी। उ० धवणि धवंती रहि गई। (सा० ४६-२१-१)।

धाइ—क्रि० अ० (सं० धावन)—दौड़कर, बेचैन होकर। उ० पंथी बूझै धाइ। (सा० ३-५-१)।

धाऊं—दौड़ूं। (पा० प० ३५-६)।

धागा—सं० पु० (हि० तागा)—डोरा, बटा हुआ सूत। उ० संतौ धागा टूटा गगन विनसि गया। (प० ३२-१)।

धागि—डोरे में। (पा० सा० २८-५-१)।

धातु—सं० पु० (सं०)—तत्त्व। (पा० प० १७६-७)।

धानीं—सं० स्त्री० (सं० धानी)—स्थान, जगह। (पा० प० ६६-५)।

धावड़ि—क्रि० अ० (सं० धावन)—दौड़ना। उ० हावड़ि धावड़ि जनम गवावै। (प० २३६-१)।

धायै—क्रि०अ०(सं० तर्पण, हि० धापना)—दौड़-धूप करना। उ० आवागवन मिटैं धायैं। (प० १८३-६)।

धार—(१) सं० स्त्री० (सं० धारा)—हथियार का तेज किनारा। उ० जैसि खाँडे की धार। (सा० ४५-२५-१)।
(२) सं० स्त्री० (सं० धारा)—अखंड प्रवाह, बहाव। उ० दून्यूँ बूड़े धार मैं, चढ़ि पत्थर की नाव। (सा० १-१६-२)
(३) सं० पु० (सं० धारण)—ग्रहण करना। उ० सारंग श्रीरंग धार रे। (प० ५-८)।
(४) सं० स्त्री० (सं० धारा)—डाका, लूट, आक्रमण। (बी० र० ४४-५)।

धारा—(१) दे० 'धार' (१)। उ० जैसी षंडे धारा। (प० १७०-७)।
(२) सं० स्त्री० (सं०)—राजा भोज की नगरी-धारा। (बी० र० ५५-२)।

धारि—क्रि० स० (सं० धारण)—रखकर, ग्रहणकर। (पा० प० ८५-४)।

धारैं—रखते हैं। (पा० प० १४६-७)।

धारी—वि० (सं० धारिन्)—धारण करने वाला। (पा० प० १७६-१२)।

[illegible]ा—क्रि० अ० (सं० धावन)—दौड़ [illegible]ा। (पा० प० ११४-८)।

[illegible]—भागता फिरै, दौड़ै। उ० मन धावैं [illegible]चहुं वोर। (सा० २४-२-१)।

धाह—सं० स्त्री० (अनु०)—जोर से चिल्लाकर रोना। उ० उठि कबीरा धाह दे, दाभत है संसार। (सं० ५१-२-२)।

धाहड़ी—चिल्लाना, शब्द करने लगे। उ० देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगे सूरि। (सा० ३-४४-२)।

धाहिड़ी—जोर से चिल्लाकर रोना। (सा० ३८-१२,नो-१३)।

धियांन—सं० पु० (सं० ध्यान)—मानसिक प्रत्यक्ष। (पा० प० २३-६)।

धियांनां—ध्यान में। (पा०प० १८८-४)

धियान—ध्यान, मानसिक प्रत्यक्ष। उ० लागै प्रेम धियान। (सा० ५-४४-२)।

धियांनीं—वि० (सं० ध्यानिन्)—ध्यान करने वाला। उ० ब्रह्मगियांनी अधिक धियांनी। (प० २६४-६)।

धियावहु—क्रि० स० (सं० ध्यानं)—ध्यान करो। (पा० प० ८४-१०)।

धीजिये—क्रि० स० (सं० धृ, धार्य, धैर्य से धीजना)—विश्वास कर लीजिए, संतुष्ट हूजिए। उ० उज्जल देखि न धीजिए। (सा० २७-२-१)।

धीजैं—स्वीकार करता है, अंगीकार करता है। उ० तास गुरु मन धीजैं। (प० १५७-७)।

धीजौं—मान लूँ, स्वीकार करूँ। उ० मृतक कूं धीजौं नहीं। (सा० १३-२३-१)।

धीय—सं० स्त्री० (सं० दुहिता, प्रा० धीआ)—लड़की, बेटी। उ० जेठी धीय सासरैं पठवौं। (प० २२-६)।

धीर—सं० पु० (स० धैर्य)—धीरज, ढाढ़स। उ०सतगुरु दीन्हाँ धीर। (सा० १-२३-१)।

धीरा—(पा० चौ० र० १७-१)।

धीरज—(१) सं० पु० (सं० धैर्य)—चित्त की स्थिरता, धैर्य, चैन। उ० तहाँ टुक धीरज होइ। (सा० ५१-३-२)।
(२) वि० (सं० धैर्य)—धीर, अविचल। उ० तुम्ह धीरज मैं आतुर स्वामीं, काचै भांडै नीर। (प० ३०५-७)।

धीरैं धीरैं—क्रि०वि० (हि० धीरे से)—

धीरे धीरे, मंदगति से। उ० धीरैं-धीरैं पाव दे, पहुँचैंगे परवान। (सा०८-४-२)।

धीरैं-धीरैं—(पा०सा० १०-१२-२)।

धुंधुवाइ—क्रि०अ० (हि० धूंधुआना)—धुँआँ देकर जलना। (पा०सा०३-८-१)।

धुंनि—सं० स्त्री० (सं० ध्वनि)—शब्द, नाद। उ० कंसा नाद बजाव ले, धुंनि निमसिले कंसा। (प० १५४-५)।

धुनि—ध्वनि। उ० धुनि कहां निवासा। (प० १५४-६)।

धुजा—दे० 'धजा'। (पा०सा० ४-३-१)।

धुनहीं—सं०स्त्री०(हि०धनु+हीं (प्रत्य०) —धनुष। उ० ताकी धुनहीं पिनच नहीं रे। (प० २१२-५)।

धुनैं—क्रि०स० (हि०धुनकी से धुनना)—खूब पीटना, बार-बार पीटे। उ० ताली पीटैं सिर धुनैं (सा० २५-६-२)। सिर धुनैं—मुहावरा। (सा० २५-६-२)।

धुबिया—सं० पु० (हि० धोबी)—कपड़ा धोने वाला।उ० जैसैं धुबिया रज मल धोवै। (प० ३४२-४)।

धुवां—दे० 'धूवां'। (प०सा० २-७-१)।

धूं—अव्य० (सं० अथवा, हि० दंव, दहुँ) भला, न जाने। उ० मैं बपुरौ धूं का मैं का कर। (प० ४७-५)।

धूंधाऊँ—क्रि० अ० (धूंधुआना)—धुँआ देकर जलना। उ० समझि समझि धूं धाऊँ। (सा० ३-३७-१)।

धूंवरि—वि० (सं०धूम)—धुँए के रंग का। उ० जै सौ धूंवरि मेह (प० ३१३-४)।

धू—सं० पु० (सं० ध्रुव)—प्रसिद्ध पौराणिक भक्त। उ० धू प्रहिलाद वभीपन सेपा। (प० ३३-४)।

धूनहड़ी—सं० स्त्री० (हि० धुनना से धुन)। धनुही, छोटा धनुष। उ० ससा सींग की धूनहड़ी, रमैं बांझ का पूत। (सा० ५८-४-२)।

धूनि—क्रि० स० (हि० धुनकी से धुनना) —पीट-पीट कर धुनते हुए। उ० सीस धुनैं धूनि रोवै प्रांनी। (प० ६१-४)।

धूप—सं० पु० (सं०)—गंधद्रव्य। उ० आपैं धूप दीप आरती आप लगावै जातीं। (र० बा० ७५)।

धूप न छाँह—आपत्ति या संपत्ति में। उ० नाँ सुख धूप न छाँह। (सा० ३-४-२)।

धूमनां—(प्रा० दुमण, राज० दुमणो = खिन्न) दे० 'आमण' (धूमनां इसके पहले)! (प०३०२-२)।

धूर—सं० स्त्री० (सं० धूलि)—मिट्टी, रेत, गर्द। (पा० प० ६६-५)।

धूरि—(पा० प० ३०-४)।

धूरी—(पा० प० ६६-८)।

धूरौं—धूल, गर्द। उ० रांम कहे बिन धूरौं रे। (प० ८५-२)।

धूलि—उ० कबीर जे धंधै तौ धूलि। (सा० १२-२१-१)।

धूलै—क्रि० अ० (हि० धोना से)—साफ होना, शुद्ध होना। उ० बिन धंधैं धूलै नहीं। (सा० १२-२१-१)।

धूवां—सं० पु० (सं० धूम, हि० धुँआ)—धूम, धुआ। उ० ज्यूं धूवां जाइ सरग्गि। (सा० ३-११-१)।

धेन—सं० स्त्री० (सं० धेनु)—गाय। उ० तिहिं धेन थैं इंछ्या पूजी। (प० १५२-५)।

धोइ—क्रि० स० (सं० धोवण, हि० धोना से)—(१) साफ कर दो, त्याग दो। उ० ए दोइ बातैं धोइ। (सा० १२-४१-१)। (२) धोते-धोते। उ० सब जग धोबी धोइ मरै, तौ भी रंग न जाय। (सा० १३-११-२)।

धोइमधोइ—क्रि० स० (हि० धोना से)—धोइ-धोइ। उ० कपड़ धोइमधोइ। (सा० १२-५३-१)।

धोई—दे० 'धोइ'। (पा० प० १०[illegible]

धोखैं—सं०पु० (सं० धूक =

—धोखे में, भुलावे मे, छल मे। (पा० सा० १५-२८-१)।

ोखै—धोखे में। उ० दुनिया के धोखै मुवा, चल जु कुल की कांणि। (सा० १२-४६-१)।

ोषै—उ० कहै कबीर परहु मति धोषै। (प० ३-५)।

ोबी—सं० पु० (हि० धोवन से)—कपड़े धोने वाला। उ० सब जग धोबी धोइ मरै। (सा० १३-११-२)।

ोये जाहिं—क्रि० स० (हि० धोना से)—धुल जायँ, मिट जायँ। उ० मति वै धोये जाहिं। (सा० ५०-७-२)।

ोरै—क्रि० वि० (सं० धार)—पास, निकट, समीप। उ० धोरै वैठि चपेटसी, यूँ ले बूडै ग्यांन। (सा० २७-२-२)।

ोवै—क्रि० स० (सं० धावन, प्रा० धोअण, हि० धोना)—पानी से साफ करता है। उ० जैसैं धुविया रज मल धोवै, हर-तप रत सब निंदक खोवै। (प० ३४२-४)।

ौं—अव्य० (सं० अथवा, हि० दवँ, दहुँ)—(१) तो। उ० कहुँ धौं किहि राखिये। (सा० १६-३२-२)।
(२) न जाने, कौन जाने, कि। उ० कहौ धौं सबद कहां थै आवै। (प० ३६-५)

ौल—सं० पु० (सं० धवल)—भारी वैल, सफेद परेवा। उ० धौल मंदलिया वैलर वाबी। (प० १२-३)।

धौलह—दे० 'धौलहर'। उ० धुवाँ धौलह रहै संसार। (प० ३७४-३)।

धौलहर—सं० पु० (सं० धवल गृह, (हि० धौराहर)—महल, धरहरा, वुर्ज। उ० धूवाँ केरा धौलहर। (सा० १२-२७-२)।

धौला—वि० (सं० धवल)—सफेद, उजला। उ० प्यंडर केस कुसुम भये धौला। (प० ४०१-८)।

ध्याँन—दे० 'ध्यान'। (पा० प० ५६-३)।

ध्यांनां—दे०'ध्यान'। (पा०प० ११७-१)

ध्यांनीं—दे० 'धियांनीं (पा०प० १८६-५)

ध्याइलै—क्रि० स० (सं० ध्यान)—ध्यान करले, स्मरण करले। उ० कबीर राम ध्याइलै। (सा० २-३०-१)।

ध्याया—ध्यान नहीं किया। उ० जिनि धंधै मैं ध्याया नहीं। (सा० १२-२१-२)

ध्यावै—ध्यान करते, स्मरण करते। उ० अह निसि हरि ध्यावै नहीं। (सा० २-२८-२)।

ध्यान—सं० पु० (सं०)—मानसिक प्रत्यक्ष, समाधि। उ० जब मन धरिया ध्यान। (सा० ५-३२-१)।

ध्रंम—सं० पु० (सं० धर्म)—सुकृत कर्म, पुण्य। उ० करता हूँ। मैं ध्रंम। (सा० १७-२१-१)।

ध्रिग—अव्य० (सं० धिक्)—धिक्कार के योग्य, तिरस्कार के योग्य। उ० ध्रिग जीमण संसार। (सा० १२-२७-१)।

न

ंद—सं० पु० (सं०)—प्रसिद्ध गोपों का मुखिया, जिसके यहाँ श्री कृष्ण का वचपन व्यतीत हुआ था। उ० लोका तुम्ह ज कहत हौ नंद कौ नंदन, नंद कहौं धूँ काको रे। (प० ४८-१)।

ंदन—सं० पु० (सं०)—पुत्र, लड़का। (प० ४८-१)।

न—अव्य० (सं०)—नहीं। उ० सतगुरु सवाँ न को सगा, सोधी संई न दाति। (सा० १-१-१)।

नइ—क्रि०अ० (सं० नमन)—झुक जाए। (पा० सा० ८-३-२) दे० 'नवि'।

नउ—दे० 'नऊं'। नौ। (पा०प० ३१-२)

नऊं—वि० (सं० नव)—नौ की संख्या। (प० ३११-२)।

नऊंदुवार—सं० पु० (सं० नवद्वार)—नव द्वार उ०। नऊं दुवार नरक धरि मूंदे, तू दुरगंधि को वैंढौ रे। (प० ३११-२)।

नकटू—सं० स्त्री० (सं० नकू)—नासिका नाम की इंद्रिय। (पा० प० ४१-४)।

नकट्यां—सं० पु० (हि० नाक+कटना)-निर्लज्ज। (सा० ५४-१-नो०-२)।

नख—सं०पु० (सं०)—नाखून। उ० अनेक मेरे नख ऊपरी रोपैं। (प० ३३५-३)।

नखसिख—सं० पु० (सं० नखशिख)—नख से लेकर शिखा तक अंग। उ० मुगध न चेतै नखसिख जागी। (प० ९४-६)।

नखेद—सं० पु० (सं० निषेध)—मनाही, न करने का आदेश। उ० तजि भरम करम विधि नखेद, रांम नांम लेही। (प० ३२०-९)।

नग—सं० पु० (सं०)—नगीना। उ० फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ। (सा० २-३१-२)।

नगवेली—सं० स्त्री० (सं० नागवल्ली, हि० नागवेल)—पान की वेल। उ० आंव चढ़ी अंवली रे अंवली, ववूर चढ़ी नगवेली रे (प० ७६-३)।

नगर—सं० पु० (सं०)—शहर। उ० राज पियारे राम का, नगर वस्या भरि पूरि। (सा० २४-२६-२)।

नगरिया—दे० 'नगरी'। (पा०प० ९५-१)

नगरी—सं० स्त्री० (सं०)—शहर, नगर, गाँव। उ० वजर परौ इहि मथुरा नगरी, कान्ह पियासा जाई रे। (पा०प०७६-६)।

नग्र—दे० 'नगर'। (पा० प० १४४-४)।

नचींत—वि०(सं० निश्चित)-चिंता रहित, वेफिक्र। उ० जिन दिल वंधी एक सूं ते सुखु सोवैं नचींत। (सा० ११-१३-२)।

नच्यंत—दे० 'नचीत'। निश्चित। उ० रांम सनेही वाहिरा, तूं क्यूं सोवैं नच्यंत। (सा० ४६-३-२)।

नजरि—सं०स्त्री०(अ० नजर)—दृष्टि में, निगाह में। उ० कहै कवीरा संत हौ, पड़ि गया नजरि अनूप। (सा० ५-२४-२)।

नजरि आवै—क्रि० अ० (अ० नजर+आना)—दिखाई पड़ना, दृष्टिगोचर होना। उ० फाटै दीदैं मैं फिरौं नजरि न आवै कोइ। (सा० २९-१७-१)।

नजीक—वि० (फा० नजदीक)—निकट, पास, करीव। उ० जन कवीर तेही पनह समांनां, भिस्त नजीक राखि रहिमांनां। (प० ३३९-८)।

नजीकि—दे०'नजीक'। (पा०प० ४२-८)

नट—सं० पु० (सं०)—दृश्य अभिनय करने वाला, नाचने वाला। उ० कहै कवीर नट नाटिक थाके, मंदला कौंन वजावै। (प० ९२-७)।

नटवत—क्रि० अ० (सं० नट)—अभिनय करते हुए, नाचते हुए। (पा० र० ११-४)।

नटवर—सं० पु० (सं०)—प्रधान नट, परमेश्वर। उ० नटवर पंपि पेपना पेपैं, अनहद वेन वजावैं। (प० १६२-१४)।

नट विद्या—सं० स्त्री० (सं० नट+विद्या)—नटों की कला। उ० सूली ऊपरि नट विद्या, गिरूं त नाहीं ठाम। (सा० २-२९-२)।

नटवै—सं० पु० (सं० नट, हि० नटवा)-नट। उ० जिनि नटवै नट सरी साजी, जो खेलै सो दीसै वाजी। (र० २-१२)।

नटसरी—सं० स्त्री० (सं० नाटचशाला)-खेल, नाटचशाला। (र० २-१२)।

नणद—सं० स्त्री० (सं० ननंद)—पति की वहन, ननद। उ० कातौंगी हजरी का सूत, नणद के भइया की सौं। (प० १३-२)।

नदियां—सं०स्त्री० (नदी का वहुवचन)—

नदियां। उ० समंदर लागी आगि, नदिया जलि कोइला भई। (सा० ४-१०-१)।

नदिया—दे० 'नदी'। (पा० सा० २-५४-१)।

नदी—सं० स्त्री० (सं०)—नदी। उ० वांझ पियालैं अंमृत सोख्या, नदी नीर भरि राख्या। (प० १६२-१७)।

ननद—दे० 'नणद'। (प० १३५-४)।

नन्हा—वि० (सं०√न्यंच्)—छोटा, बारीक। (पा० सा० २६-१७-१)।

नफर—सं० पु० (फा०)—दास, सेवक। उ० साहिब गरवा लोड़िये, नफर बिगाड़ैं नित। (सा० ५६-२-२)।

नबी—सं० पु० (अ०)—ईश्वर का दूत, पैगंबर। उ० बाबा आदम पैं नजरि दिलाई, नबी भिस्त घनेरी पाई। (प० ३३६-६)।

नबेरा—दे० 'नबेरि'। (पा० चौं० र० २४-१)।

नबेरि—क्रि० स० (सं० निवृत्त, प्रा० निविड, हि० निबेरना)—त्यागो, छोड़ दो। उ० बो हालै बो चीरिये, सापित संग न बेरि। (सा० २५-४-२)।

नभ—सं० पु० (सं०)—आकाश। उ० पांणीं पवन श्रवनि नभ पावक, तिहि संगि सदा बसेरा। (प० १७२-७)।

नमसकारूं—क्रि० स० (सं० नमस्+करना)—प्रणाम करता हूं। उ० पूजा न करूं निमाज गुजारूं, एक निराकार हिरदै नमसकारूं। (प० ३३८-३)।

नयननेह—मुहा०—दिखावटी प्रेम। सौन्दर्योपासना से। (बी० र० २३-३)।

नर—सं० पु० (सं०)—मनुष्य। उ० माया दीपक नर पतंग, भ्रमि-भ्रमि इवैं पड़ंत। (सा० १-२०-१)।

नरक—सं० पु० (सं०)—जहन्नुम। उ० नर नारी सब नरक है, जब लग देह सकाम। (सा० २०-७-१)।

नरकहिं—नरक को। (पा०सा० ३०-११-१)

नरकि—नरक में। उ० केते अजहूं जाइसी, नरकि हसंत हसंत। (सा० २०-१३-२)।

नरकु—नरक। (पा० प० ८४-७)।

नरकै—नरक में। (पा० प० ३५-२)।

नरनाहा—सं० पु० (सं० नरनाक)—राजा, स्वामी। उ० कहै कबीर सुनहु नर नाहा, ना हम जीवत न मूंवाले माहां। (प० ६५-४)।

नरसिंघ—सं० पु० (सं० नृसिंह)—सिंह रूपी भगवान। (पा० प० २६-११)।

नरहरि—दे०'नरहरी'।(पा०प० १०-६)।

नरहरी—सं० पु० (सं०)—नृसिंह भगवान् जो विष्णु के दस अवतारों में से चौथे अवतार हैं। उ० इहि विधि सेविये श्री निरहरी, मन की दुविध्या मन पर हरी। (प० ३२६-१)।

नरा—सं० पु० (सं० नर)—मनुष्यों। उ० कहै कबीर व्यंदहु नरा, ज्यूं जल पूर्‌या सकल रस। (सा० ३३-६-६)।

नरी—सं० स्त्री० (फा०)—ढरकी के भीतर की नली जिस पर तार लपेटा जाता है, नार। (बी० र० २८-२), (पा० प० १५०-३)।

नल—सं० पु० (सं० नर)—मनुष्य। (बी० र० ४-५)।

नलदुलमलफलकीर—यौ० नल+दुलमल+फलकीर। मनुष्य बुरे मल से परिपूर्ण काल शुक्र का फल है। उ० सबहि नल दुलमल फलकीर, जल बुदबुदा ऐसो आहि सरीर। (प० ३७४-५)।

नलनी—सं० स्त्रीं० (सं० नलिनी)—कमल, कमलिनी। उ० नलनी सायर घर किया, दौ लागी बहुतेणि। (सा० १६-२२-१)।

नलिनीं—सुग्गों के फँसाने के लिए नली। उ० नलिनीं के सुवटा की नांई, जगसूं राचि रहै रे। (प० ३१०-६)।

नली—सं० स्त्री० (नल का स्त्री रूप)—

छोटा या पतला नल। उ० जब लग भरौं नली का वेह, तब लग टूटै रांम सनेह। (प० २१-४)।

नव—दे० 'नऊं'। नौ। (पा०प० १११-३)

नवका—सं० स्त्री० (सं० नौका)—नाव, जहाज। उ० जन कबीर नवका हरि, खेवट गुरु कीरा। (प० ३२१-६)।

नवखंडा—सं० पु० (सं० नव+खंड)—भूमि के नौ विभाग जैसे भारत इलावृत्त, त्रि पुरुष, भद्र, केतुमाल, हरि, हिरण्य, रमयवकश। (र० १-२३)।

नवग्रह—दे० 'नवग्रिह'। (पा०प० १४-३)।

नवग्रिह—सं०पु० (सं० नवग्रह)—फलित ज्योतिषानुसार नौग्रह। उ० नवग्रिह वाँमण भणता रासी। (प० १४२-५)।

नवणि—सं० स्त्री० (हि० नवना से)—नम्रता। (सा० ४२-१-नो०-१)।

नवतन—सं० पु० (सं० नव+तन)—नौ द्वारों वाला शरीर। उ० नव तन द्वादस लागी आगी। (प० ९४-५)।

नवदरवाजे—सं० पु० (सं० नव+फा० दरवाजा)—शरीर के नवद्वार—दो आँख, दो कान, दो नाक, एक मुख, एक गुदा, एक लिंग या भग। उ० नव दरवाजे दसूं द्वार, बूझि रे ग्यानी ग्यान विचार। (प० ४२-३)।

नवनिधि—सं०स्त्री०(सं०)—पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुंद, कुंद, नील, वर्च्च नामक नौ निधि। उ० अंड ब्रह्मांड खंड भी भारी, नवनिधि काया। (प० २४९-३)।

नवल—सं० पु० (सं० नकुल, प्रा० नउल, हि० नेवला)—नेवला। उ० ऐसा नवल गुंणी भया, सार दूलहि मारै। (प० १६१-८)।

नवसत—सं० पु० (सं० नव+सत)—नौ और सात, सोलह शृंगार। उ० नव सत साजे कांमनीं, तन मन रही सँजोइ। (सा० २४-२३-१)।

नवसूता—सं०पु०(सं० नवसूत्र)—कामना सहित नवधाभक्ति। (बी०र० ९-१)।

नवांवण—सं० पु० (हि० नवाना से)—नवाने, झुकाने। उ० कबीर दुनियाँ देहुरै सीस नवांवण जाइ। (सा० २३-११-१)।

नवाऊं—क्रि० स० (सं० नमन)—झुकाऊँ। (पा० प० ४-८)।

नवावन—दे० 'नवांवण'। (पा० सा० २६-७-१)।

नवावौं—क्रि०स०(सं० नमन)—झुकाऊँ। उ० अब मन रामहि ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि। (सा० २-८-२)।

नवि नवि जाइ—क्रि०अ० (सं० नमन)—झुक जाय। उ० जिहि जिहि डाली पग धरै, सोइ नवि नवि जाइ। (सा० ३८-१०-२)।

नवैंनिधि—दे० 'नवनिधि'। (प० २६९-५)

नवै—क्रि० अ० (सं० नमन)—झुकै। (सा० ४१-१२-नो० १४)।

नषसिष—दे० 'नखसिख'। उ० कबीर मूंडठ करमियाँ, नषसिप पापर ज्यांह। (सा० ५५-५-१)।

नसांनां—क्रि० अ० (सं० नाश, हि० नसाना)—नष्ट हो जाता है। उ० गत फल फूल तत तर पलव, अंकूर बीज नसांनां। (प० ७-२)।

नसाइगा—नष्ट हो जाएगा। (पा० र० ७-८)।

नसाई—नष्ट होती है। उ० जाग्या रे नर नींद नसाई, चितचेत्यौ च्यंतामणि पाई। (प० ३५२-१)।

नसावैं—क्रि० स० (सं० नाश, हि० नासना)—नष्ट करे, बिगाड़े। उ० नारि नसावैं तीनि सुख, जा नर पासैं होइ। (सा० २०-१०-१)।

नसावै—नष्ट करे। (पा०सा०३०-७-१)।

नसौंनां—कि० स० (हि० नासना)—नाश

करते हैं। (पा० र० ६-२)।

नसौंनां—(बी० र० ३०-२)।

नहिं—दे० 'नहीं'। (पा० प० ३-८)।

नहितर—दे० 'नहीं तर'। उ० राम कहें भला होइगा,नहितर भला न होइ। (सा० २-१-२)।

नहीं—अव्य०(सं० नास्ति)—नहीं। उ० भली भई जु गुर मिल्या नहीं तर होती हांणि। (सा० १-१६-१)।

नहींतर—क्रि० वि० (हि० नहीं तो)—नहीं तो। उ० गुर प्रसादि अकलि भई तो कौं नहींतर था बेगानां। (प० ८-२)।

नां—अव्य० (सं० न)—नहीं। उ० मैं मंता तिण नां चरै, सालै चिता सनेह। (सा० ६-५-१)।

नाँइ—सं० पु० (सं० नाम)—नाम। उ० हरि कैं नाँइ गहर जिनि करऊं, राम नांम चित मुखां न धरऊं। (प० १०७-१)।

नांईं—सं० स्त्री० (सं० न्याय)—तुल्य, समान। (पा० प० १०६-२)।

नांई—तुल्य। उ० सोधि सरीर कनक की नांई। (प० १७-२)

नांउँ—सं० पु० (सं० नाम)—नाम। उ० कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ। (सा० ११-१४-१)।

नांउं—(१)—दे० 'नांउँ'। (पा० प० २२-१)।

(२)—क्रि० स० (सं० नमन)—डालूँ, बहाऊँ। उ० पूज्या देव बहुरि नहीं पूजौं, न्हाये उदिक न नांउं। (प० ६-१२)।

नांऊं—दे० 'नांउं'। (पा० प० १३१-१२)।

नांक—सं० स्त्री० (सं० नक, प्रा० नक्क)—नासिका। (सा० २०-२२-नो०-२५)।

नांकी—नासिका। (सा० ५४-१-नो०-२)।

नांकै—सं० पु० (हि० नाकना)—प्रवेश-द्वार, सुई के छेद से। उ० गुरु प्रसाद सूई कै नांकै हस्ती आवें जांहीं। (प० १०-८)।

नांगा—वि० (सं० नग्न)—नंगा। (प० १२-४)।

नांगी—वि० (सं० नग्न से)—वस्त्रहीन, नंगी। उ० पतिव्रता नाँगी रहै, तो उसही पुरिस कौं लाज। (सा० ११-१७-२)।

नांगें—वि० (सं० नग्न)—विना पोशाक के रहने से। उ० का नागें का बांधे चांम, जौ नहीं चीन्हसि आतम रांम। (प० १३२-१)।

नांगे—(पा० प० १७४-३)।

नांण—दे० 'ज्ञान'। उ० जब जागे का ऐसहि नांण, विष से लागै वेद पुरांण। (प० ३५२-३) । दे० सहिनांण (आगे)

नांतर—अव्य० (हि० न+तो+अरु)—अन्यथा, और नहीं तो। उ० जिहि तुम्ह तारौ सोई पैं तिरई, कहै कबीर नांतर बांध्यौ मरई। (प० ४७-६)।

नांनां—वि० (सं० नाना)—अनेक प्रकार के, विविध। (सा० १४-२-नो०-३)।

नान्हां—वि० (स० न्यंच)-पतला, बारीक, महीन। उ० मैं मंता मन मारि रे नान्हां करि करि पीसि। (सा० १३-२०-१)।

नांन्हां काती—मुहा०-बारीक काम किया हुआ। उ० नांन्हां काती चित दे, महँगे मोलि बिकाइ।(सा०१२-५८-१)।

नांम—सं० पु० (सं० नाम)—नाम, ईश्वर का नाम। उ० रांम नांम विन बूडिहै, कनक कांमणी कूप। (सा० १६-१६-२)।

नांमहि—नाम को। (पा० र० ६-३)।

नांमां (१)–नाम। उ० पंडित दिसि पछिवारा कीन्हां मुख कीन्हौं जित नांमां। (प० १२२-६)।

(२)—नामदेव नाम के प्रसिद्ध महा-राष्ट्र देशीय भक्त। उ० सनक सनंदन

जै देव नांमां, भगति करी मन उनहुं न जानां। (प० ३३-२)।

नांमु—नाम (पा० प०२०-६)।

नांयें—क्रि० स० (सं० नमन)—झुकाये। उ० क्या तू जू जप भंजन कीयें, क्या मसीति सिर नांयें। (प० २५६-५)।

नांव—दे० 'नाम'। नाम। उ० जाति पांति कुल सब मिटै नांव धरौगे कौंण। (सा० १-१४-२)।

नांव (१)—सं०पु० (सं० नाम)—नाम। (पा० प० २८-२)।

नांव (२)—सं० स्त्री० (सं० नौ के नाव: रूप से)—नाव, किश्ती। उ० कागद केरी नांव री, पांणी केरी गंग। (सा० १३-२१-१)।

नांवणु—दे०'न्हवाये'। (पा०प० ८४-२)।

नांहि—अव्य० (सं० नास्ति)—नहीं। (पा० प० २०-४)।

नांहि—दे० 'नांहि'। नहीं। उ० राम नाम कै पटंतरै, देवे कौं कुछ नांहि। (सा० १-४-१)।

नांहिन—दे० 'नांहि'। नहीं। उ० चीन्हत नांहिन एक चिनीं। (प० ६६-१२)।

नांहीं—दे०'नांहि'। नहीं। (पा०प० ३४-२)।

नाइक—सं० पु० (सं० नायक)—स्वामी, मालिक, सरदार। उ० नाइक एक वनिजारे पाँच, वैल पचीस कौ संग साथ। (प० ३८३-२)।

नाइकु—नायक। (पा० प० १२६-३)।

नाई—दे० 'नांई'। तरह, तुल्य। (पा० प० १८-५)।

नाउँ—दे० 'नांउँ'। नाम। उ० कोटि क्रम पेलै पलक मैं, जे रंचक आवै नाउँ। (सा० २-२०-१)।

नाएं—दे० 'नांयें। झुकाए। (पा० प० १७७-५)।

नाक—दे० 'नांक'। नासिका। (पा० प० १६५-५)।

नाकै—दे० 'नांकै'। (प० ६६-६)।

नाग—सं० पु० (सं०)—सर्प, शेषनाग। उ० विषै कर्म की कंचुली, पहरि हुआ नर नाग। (सा० २०-२१-१)।

नागणीं—दे० 'नागिनी'। उ० कांमणि काली नागणीं, तीन्यूं लोक मँझारि। (सा० २०-१-१)।

नागिनि—दे० 'नागिनी'। (पा० प० २-४)।

नागिनी—सं० स्त्री० (हि० नागिन)—सर्पिणी, कुंडलिनी। उ० प्रेम पियालै पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी। (प० ७४-८)।

नागे—वि० दे० 'नांगें'। नग्न, खाली। उ० नागे हाथूं ते गये, जिनकै लाख करोड़ि। (सा० १२-३७-२)।

नाचिबौ—क्रि० अ० (सं० नर्तन)—नाचना। उ० तातैं मोहि नाचिबौ न आवै, मेरौ मन मंदला न वजावै। (प० २८१-१)।

नाचु—नाच करो। (पा० प० १४-१)।

नाचेउ—नाचा। (पा० प० ६७-७)।

नाचैं—नाचते हैं। (पा० प० १४-३)।

नाचै—नाचता है। उ० पहरि चोल नांगा दह नाचै, भैंसा निरति करावै। (प० १२-४)।

नाचौ—नाचो। उ० होइ निसंक मगन ह्वै नाचौ, लोभ मोह भ्रम छाड़ौ। (प० १२६-३)।

नाज—सं० पु० (हि० अनाज)—अन्न, भोजन-सामग्री। उ० मीठा खांण मधूकरी, भांति भांति कौ नाज। (सा० ३५-१३-१)।

नाटक—सं० पु० (सं० नाटक)—(पा० प० १४२-६)।

नाटिक—सं० पु० (सं० नर्तक)—अभिनय करने वाले, नर्तक। उ० कहै कवीर नट नाटिक थाके, मंदला कौंन वजावै। (प० ६२-७)।

नाठी—क्रि० अ० (हि० नाटना)—नष्ट हो गई। उ० बिसरे ग्यांन बुद्धि सब नाठी, भई विकल मति बौरी । (प० ३०३-२)।

नातर—अव्य० (हि० न+तो+अरु)—और नहीं तो, अन्यथा । (पा० सा० ३-२५-२)।

नातरु—दे० 'नातर' । अन्यथा । (पा० प० १३४-२)।

नाति—अव्य० (हि० न तो)—न तो। उ० नाति सरूप न छाया जाकै, विरध करै बिन पांणीं। (प० १६३-२)।

नाती—सं० पु० (सं० नप्तृ, प्रा० नत्ती)—बेटी या बेटे का बेटा । उ० इक लप पूत सवा लप नाती, ता रावन घरि दिवा न वाती। (प० ६८-३)।

नाथ—सं० पु० (सं०)—(१) नाथपंथी योगियों की एक पदवी । उ० सिध सोई जो साधै इती, नाथ सोई जो त्रिभुवन जती। (प० ३२७-७)।
(२) गोरखनाथ। (बी० र० ५४-४)।

नाथौ—क्रि० स० (हि० नाथना)—वश में कर लो। उ० जी महाराज चाही महरईये, तौ नाथौ ए मन बौरा हो। (प० ७७-६)।

नाद—सं० पु० (सं०)—(१) वर्णो का अव्यक्त मूलरूप। उ० नाद व्यंद की नाव री रांम नांम क निहार। (प० १८-११)।
(२) ध्वनि, संगीत । उ० तहाँ दीरघ नाद ल्यौ लागै। (प० १५३-१)।

नादहिं—दे० 'नाद' (१) । (पा० प० १२३-६)।

नादहि—दे० 'नाद' (१)। उ० नादहिं व्यंद कि व्यंदहि नाद, नादहि व्यंद मिलै गोव्यंद। (प० ३२६-५)।

नादी—वि० (सं० नाद)—शब्द करने वाले। (पा० प० १८६-६)।

नाना—वि० (सं०)—विविध, अनेक। उ० नाना भोजन स्वाद सुख, नारी सेती रंग। (सा० २०-६-१)।

नापाक—वि० (फा०)-अशुद्ध, अपवित्र। उ० अलह पाक तूं नापाक क्यूं, अब दूसर नांहीं कोइ। (प० २५७-६)।

नाभि—सं० स्त्री० (सं०)—तुंदी। उ० जब लग नाभि कवल नहीं सोधै। (प० २०२-६)।

नारद—सं० पु० (सं०)—प्रसिद्ध देवर्षि नारद। उ० नारद से मुनियर मिले किसौ भरोसौ त्यांह। (सा० १६-३१-२)।

नारदी—वि० (सं० नारदीय)—नारद-प्रचारित । उ० भगति नारदी मगन सरीरा। (प० २७८-६)।

नारांइणां—सं० पु० (सं० नारायण)—परमेश्वर। उ० ताथैं सेविये नारांइणां। (प० २४८-१)।

नाराइन—दे० 'नारांइणां' । (पा० प० १८८-१)।

नाराइनां—दे० 'नारांइणां'। (पा० प० १०१-१)।

नारि—दे० 'नारी' (१)। स्त्री । उ० खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरै होवै। (प० ३७०-२)।

नारी (१)—सं० स्त्री० (सं०)—स्त्री, औरत। उ० नर नारी सब नरक है, जब लग देह सकाम। (सा० २०-७-१)।

नारी (२)—सं० स्त्री० (सं० नाड़ी)—धमनी, नाड़ी। उ० एकहीं रूप दीसैं सब नारी। (प० ११८-३)।

नाल—(१) सं० स्त्री० (हि० नाला से) जल निकलने का मार्ग। (सा० ४६-३०-नो० ५१)।
(२) सं० स्त्री० (सं०)—कमल आदि फूलों की डंडी। उ० ब्रह्मा खोजि पर्‌यौ गहि नाल, कहै कबीर वै रांम निराल। (प० ३५-४)।

नाला—सं० पु० (सं० नार)—पानी वहने के लिए वना हुआ रास्ता। (पा० प० १-५)।

नालि(१) —सं० स्त्री० (सं० नाल)—*कमल आदि फूलों की डंडी।* उ० वंक नालि के अंतरैं, पछिम दिसा की वाट। (प० ४-६)।

नालि (२)—सं० स्त्री० (सं० नाल)—जुलाहों की नली जिसमें वे सूत लपेटते हैं। उ० मैं वुनि करि सिरांनां हों रांम, नालि करम नहीं ऊवरे। (प० २०-१)।

नालि (३)—क्रि० वि० (मारवाड़ी लैर)—साथ, पीछे। उ० विरहीन थी तौ क्यूं रहीं, जली न पीव की नालि। (सा० ३-३६-१)।

नाले—दे० 'नालि'। साथ, पास। उ० ज्यूं नाले राषीं रसमइया। (प० २०२-१६)।

नाव—सं० स्त्री० (सं० नौका अथवा फा०)—नाव, किश्ती। उ० दरिया केरी नाव ज्यूं, संजोगे मिलियांह। (सा० १२-५६-२)।

नावनु—दे० 'न्हांन'। (पा० प० ६७-१०)।

नावरी—दे० 'नाव'। छोटी सी नाव। उ० नाद व्यंद की नावरी, रांम नांम क निहार। (प० १८-११)।

नावैं—दे० 'नांयें'। झुकाए। (पा० प० १४६-५)।

नास—सं० पु० (सं० नाश)—ध्वंस, वरवादी। उ० करणी किया करम का नास, पावक मांहि पुहुप प्रकास। (प० ३२६-२)।

नासा—क्रि० स० (सं० नाशन)—नष्ट हुआ। (पा० प० ८८-७)।

नासी—नष्ट हुई। (पा० प० १३२-८)।

नाह—सं० पु० (सं० नाथ)—प्रभु, स्वामी। (पा० प० १३५-६)।

नाहर—सं० पु० (सं० नरहरि)—सिंह, शेर। उ० गाइ नाहर खायौ काटि काटि अंगा। (प० १६०-४)।

नाहा—दे० 'नाह'। स्वामी। उ० कारनि कौंन विसारी नाहा। (र० ४-६)।

नाहिन—दे० 'नहीं'। (पा० प० ७६-२)।

नाहीं—अव्य० (सं० नहि)—नहीं है। उ० सायर नाहीं सीप विन, स्वांति वूंद भी नांहि। (सा० ५-८-१)।

नित—अव्य० (सं० नित्य)—प्रतिदिन, रोज। उ० तेरी वारी रे जिया, नेड़ी आवै नित। (सा० ४६-६-२)।

निंदई—दे० 'नींदई'। (पा० सा० २३-१-१)।

निंदउ—दे० 'नींदौ'। (पा० सा० ३३-२-२)।

निंदक—सं० पु० (सं०)—निंदा करने वाला। उ० निंदक नेड़ा राखिये, आंगणि कुटी वंधाइ। (सा० ५४-३-१)।

निंदहि—क्रि० स० (हि० नींदना)—निंदा करते हैं। (पा० प० १६७-४)।

निंदा—सं० स्त्री० (सं०)—दोष-कथन। (पा० प० ३२-३)।

निंदिए—निंदा कीजिए। (पा० सा० ४-११-१)।

निंदै—निंदा करता है। (पा० सा० २३-६-१)।

निआउ—दे०'न्याव' (पा०प० १८३-१)।

निकंदिया—क्रि० स० (सं० निकंदन)—नष्ट कर दिया। उ० कवीर मूल निकंदिया कौंण हलाहल खाइ। (सा० २३-६-२)।

निकटि—क्रि०वि० (सं० निकट)—पास, समीप। उ० जे हरि चरणां राचियां, तिनके निकटि न जाइ। (सा० २०-२-२)।

निकसनहार—वि० (हि०निकलने+हार) —निकलने वाला। (पा० सा० २४-७-२)।

निकसी—क्रि०अ० (सं० निष्कासन से)—निकलो। उ० मैं वड़ी बलाइ है, सकै तौ निकसी भाजि। (सा० १२-६०-१)।

निकसै—निकलता है। (पा०प० ५१-७)।

निकाया—सं० पु० (सं० निकाय)—परमात्मा या निवास स्थान, बिना शरीर के। उ० रांम रंगि सदा मतिवाले, काया होइ निकाया। (प० १०६-६)।

निकुंज—सं० पु० (सं०)—घने वृक्षों तथा लताओं से घिरा स्थान। उ० तिहि बिवोग तजि भए अनाथा, परे निकुंज न पावैं पंथा। (र० ३-२४)।

निकुल—वि० (सं० निष्कुल)—बिना परिवार के। उ० राम निकुल कुल मेंटि लै, सब कुल रह्या समाइ। (सा० १२-४५-२)।

निखेद्य—दे० 'नखेद'। निषेध। (पा० प० २०-६)।

निगलै—क्रि० स० (हि० निगलना)—गट करता है, खा जाता है। उ० चकवा वैसि अंगारे निगलै, समंद अकासां धावा। (प० १२-८)।

निगुरांह—वि० (हि० नि+गुरु)—बिना गुरु का। उ० सगुरां सगुरां चुणि लिया चूक पड़ी निगुरांह। (सा० ५५-३-२)।

निगुसांव—वि० (हि० नि+गुसांईं)—बिना मालिक का। उ० निगुसांवां वहि जायगा, जाकै थाघी नहीं कोइ। (सा० ४१-११-१)।

निगुसावां—(पा० सा० ६-३-१)।

निगौड़ी—सं० स्त्री० (हि० निगुरा)—अभागिन, जिसके आगे-पीछे कोई न हो। उ० का पचि मरै निगौड़ी बौरी। (प० १३६-८)।

निग्रह—सं० पु० (सं०)—रुकावट, दमन, रोक, अवरोध। उ० अनेक जतन करि निग्रह कीजै, बिसै बिकार न जाई। (प० २००-६)।

निंचित—दे० 'नचींत'। निश्चिन्त। (पा० सा० १५-१-२)।

निचींता—दे० 'निंचित'। निश्चिन्त। (पा० प० ६४-७)।

निचोइ—क्रि० स० (हि० निचुड़ना से)—निचोड़ कर। (पा० प० १४६-२)।

निज—वि० (सं०)—(१) मुख्य। उ० तत तिलक तिहूँ लोक मैं राम नाँव निज सार। (सा० २-३-१)।

(२) अपना। उ० कवल ज फूल्या फूलबिन, को निरषै निज दास। (सा० ५-५-२)।

निज ग्यान—सं० पु० (सं० निज+ज्ञान)—आत्मज्ञान। उ० भगति मुकति निज ग्यान मैं, पैसि न सकई कोइ। (सा० २०-१०-२)।

निज देव—सं० पु० (सं० निज+देव)—आत्मदेव, परम आत्मा। उ० कहै कबीर वै क्यूँ मिलैं, निह कामी निज देव। (सा० ११-१०-२)।

निज परमाना—सं० पु० (सं० निज+प्रमाण)—स्वतः प्रमाण। (बी० र० ८-३)।

निझरू नीरू—यौ० (सं० निर्झर+नीर)—सब समय बहने वाला जल। (बी० र० २६-२)।

निडर—वि० (हि० नि+डर)—निर्भय, निःशंक। (पा० चौ० र० १८-२)।

निड़ै—अव्य० (सं० निकट, प्रा० निअड़)—समीप, पास। उ० कबीर चंदन कै निड़ै, नींव भि चंदन होइ। (सा० ५५-१२-१)।

नित—क्रि० वि० (सं० नित्य)—सदैव, सर्वदा, सदा। उ० गांवण हारा कदे न गावै, अण बोल्या नित गावै। (प० १६२-१३)।

नितप्रति—अव्य० (सं० नित्य प्रति)—प्रतिदिन, सदा। उ० सोई नारि सुलषणीं नितप्रति भूलण जाइ। (सा० ५२-५-२)।

नित—दे० 'नित' । नित्य, निरन्तर । उ० सब रँग तंतर बाव तन, विरह वजावै नित्त । (सा० ३-२०-१) ।

निदांन—अव्य० (सं० निदान)—अन्त में, आखिर । उ० लोग वटाऊ चलि गये हूंम तुझ रहे निदांन । (सा० ४५-३३-२) ।

निदान—(पा० सा० १४-३-२) ।

निदानि—आखिर । (सा० २०-६-नो०) ।

निदानीं—अंत में । उ० जल जंत न देखिसि प्रानीं, सव दीसै झूठ निदानीं । (प० २९६-८) ।

निद्रा—सं० स्त्री० (सं०)—नींद । (पा० प० १५-६) ।

निधड़क—क्रि०वि० (हि० नि+धड़क)-विना किसी भय या चिंता के । उ० निधड़क वैठा राम विन, चेतनि करै पुकार । (सा० ४६-१३-१) ।

निधरक—विना भय के । (सा० ३५-१६-नो० २१) ।

निधान—सं० पु० (सं० निधान)—आश्रय । उ० तार्थें भाई पाईये परम निधांन । (प० १२१-१) ।

निधांनु—(पा० प० ८२-१) ।

निधि—सं०स्त्री०(सं०)-खजाना, सम्पत्ति । उ० निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर साहस धीर । (सा० १-३०-१) ।

निध्य—दे० 'निधि' । सम्पत्ति । उ० मैं निरासी जव निध्य पाई, रांम नांम जीव जाग्या जाई । (र० ४-१४) ।

निनार—वि० (हि० निनर)—न्यारा । उ० तो तौ आहि निनार निरंजनां, आदि अनादि न आन । (र० २-१०) ।

निनारा—न्यारा । (पा० र० १-४) ।

निनारे—दे० 'निनार' । न्यारे, अलग । उ० हमहि लाड़ि कत चले हो निनारे । (प० ३९४-४) ।

निनारै—दे० 'निनार' । न्यारे । (पा० प० १३९-३) ।

निपजि—क्रि० अ० (सं० निष्पद्यते, प्रा० निपज्जई)—उत्पन्न हुई, वढ़कर । (पा० प० ७९-३) ।

निपजै—उपजै, उत्पन्न होवे । उ० अमृत वरिसै हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल । (सा० ५-४७-१) ।

निपजी—सं० (हि० निपजना से)-लाभ, उपज । उ० निपजी मैं साझी घणां, वाँटै नहीं कवीर । (सा० १-३०-२) ।

निपात—सं० पु० (सं०)—नाश, पतन । (वी०र० ५३-७) ।

निपूतौ—वि० (हि० नि०+पूत)—पुत्र-हीन । उ० खसम निपूतौ आंगणि सूतौ, रांड़ न देई लेप । (प० ८१-४) ।

निवहै—क्रि० अ० (हि० निवहना)—पूरी होती है, विकसित होती है । उ० निवरति कै निवहै नही, परवति परपंच मांहि । (सा० १६-२७-२) ।

निवांणां—सं० पु० (सं० निम्न)—नीची जमीन, जहाँ पानी भरा हो । उ० डूंगरि वूठा मेह ज्यूं, गया निवांणां चालि । (सा० १३-२२-२) ।

निवारि—क्रि० स० (सं० निवृत्त)-मुक्त हो जा, छुटकारा पा ले । उ० जायंण मरण विचारि करि, कूड़े कांम निवारि । (सा० १२-१४-१) ।

निवेड़ि—क्रि० स० (सं० निवृत्त, प्रा० निविड्ड)—सुलझाओ, मुक्त होओ । (सा० ३७-५ नो० ८) ।

निवेरहु—दै० 'निवेड़ि' । सुलझाओ । (पा०प० २७-१) ।

निवेरि—सुलझा । (पा० सा० १५-१३-२) ।

निवेरा—सं० पु० (सं० निवृत्त)-वचाव, छांट । (पा०प० २८-६) ।

निमसिले—क्रि० अ० (हि० निमसना) —वन्द हो जाने पर, समाप्त होने पर। उ० कंसानाद वजावले, धूंनि निमसिले कंसा । (प० १५४-५) ।

निमसै—दे० 'निमसिले'। समाप्त होता है। (र० १, टि० १५)।

निमिख—सं० पु० (सं० निमेष)—पल, क्षण। (पा० प० ४०-४)।

नियरा—अव्य० (सं० निकट, प्रा० निअड़, हि० नियर)—पास, समीप। उ० नेड़ैं थैं दूरि दूर थैं नियरा, जिनि जैसा करि जांना। (प० ८-३)।

नियरे—पास। (पा०र० ६-८)।

नियरैं—पास। (पा० प० १३४-५)।

नियरायल—दे० 'नियरा'। पास, निकट। (बी० र० २३-५)।

नियांनां—क्रि०अ० (?)—पूरा हो गया, समा गया। (पा० प० १७७-८)।

नियाई—सं० पु० (सं० न्यायी)—न्याय करने वाले। उ० जो जस करिहै सो तस पइहै राम रांम नियाई। (प०२००-२)।

नियारा—वि० (सं० निर्निकट, प्रा० निन्निअड़)—और ही। उ० झूठे फोकट कलू मंझारा, राम कहैं ते दास नियारा। (प० २७८-५)।

निरंकारा—सं० पु० (सं० निराकार)—ईश्वर। (पा० प० ८४-६)।

निरंजन—सं० पु० (सं०)—मायानिर्लिप्त, परमात्मा। (सा० ४३-१३ नो० १६)।

निरंजना—(पा० र० ११-७)।

निरंतर—क्रि० वि० (सं०)—बराबर, हमेशा, सदा। उ० लीन निरंतर वपु बिसराया। (प० १४६-७)।

निरंतरि—सदा। (पा०प० १४३-८)।

निरंध—वि० (सं०)—भारी अंधा, महा-मूर्ख। उ० जाका गुर भी अंधला, चेला खरा निरंध। (सा० १-१५-१)।

निरअथि—सं० पु० (सं० निः+अर्थ)—बिना अर्थ के। (पा० र० १७-११)।

निरकारा—दे० 'निरंकार'।—निर्गुणब्रह्म। उ० कहै कबीर जग देखि संसारा, पड़सी घट रहसी निरकारा। (प० २४७-५)।

निरख—क्रि०स० (सं० निरीक्षण, हि० निरखना)—देखा। (पा० चौ० र० २५-२)।

निरखत—देखते-देखते। उ० अब क्या कीजै ग्यान बिचारा, निज निरखत गत ब्यौहारा। (प० २८२-१)।

निरखि—निरखकर। उ० परहरि बकुला ग्रहि गुन डार, निरखि देखि निधि वार न पार। (प० ३२६-६)।

निरखूं—देखूँ। (पा०सा० २-४७-१)।

निरखैं—देखे हुए। (पा०चौ०र० २५-२)।

निरखैं—देखता है। (पा० सा० ६-१६-२)। निरखै निरख मिलावा-(मुहा०)—तुलना की, समीक्षा की। (र० १-टि० ४८)।

निरगुंण—दे० 'निरगुण'। (प० ४६-१)।

निरगुण—सं० पु० (सं० निर्गुण)—परमेश्वर, निर्गुण ब्रह्म। उ० निरगुण रांम निरगुंण रांम जपहु रे भाई। (प० ४६-१)।

निरगुन—दे० 'निरगुण'। (पा० प० १२३-८)।

निरचू—वि० (सं० निर + चूना)—न चूने वाला। उ० जोग जुगति करि संतौं बाँधी, निरचू चुवैं न पांणी। (प० १६-५)।

निरजीउ—वि० (सं० निर्जीव)—जीव-रहित, बेजान। (पा०प० १८७-४)।

निरतत—क्रि० स० (सं० नर्त्तन, हि० निरतना)—नाचते हैं। उ० बिनहीं सबद अनाहद बाजैं, तहाँ निरतत है गोपाला। (प० १५६-६)।

निरति (१)—सं० पु० (सं० नृत्य)—नाच। उ० पहरि चोल नांगा दह नाचैं, भैंसा निरति करावै। (प० १२-४)।

निरति (२)—सं० स्त्री० (सं०)—तल्लीनता। उ० मुद्रा निरति सुरति करि सींगी, नाद न षंडै धारा। (प० ६६-२)।

निरदावै—सं० पु० (सं० निर+दावा)—अधिकार की लालसा न रखने पर ही। उ०दावै दाझंण होत हैं, निरदावैं निसंक।

(सा० ३७-६-१)।

निरधन—वि० (सं० निर्धन)—गरीव, निर्धन। उ० नांउ मेरे निरधन ज्यूं निधि पाई, कहै कवीर जैसे रंक मिठाई। (प० ३३३-५)।

निरधार—वि० (सं० निराधार)—विना अवलंव के, निराश्रय । उ० सुरति संयाणी निरति मैं, निरति रही निरधार। (सा० ५-२२-१)।

निरपख—दे० 'निरपष'। (पा०सा० १७-२-२)।

निरपष—वि० (सं० निष्पक्ष)—निश्चय मत करके, पक्षपात रहित हो। उ० निरपष होइ हरि भजै, सो साधू सयांनां। (प० १८१-२)।

निरफल—वि० (सं० निष्फल)—व्यर्थ, जिसका कोई फल न हो। उ० कवीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ। (सा० २८-१-१)।

निरवक—वि०(?)–खालिस, विना मिला हुआ। (वी० र० ४५-३)।

निरवल—वि० (सं० निर्वल)—वलहीन, कमजोर। (पा० सा० ४-१७-१)।

निरवही—क्रि० स० (सं० निर्वाह)—निवाही गई। (वी०र० १७-२)।

निरवांण—सं०पु०(सं० निर्वाण)–निर्वाण, मुक्त, निश्चल। उ० आपा पर सव एक समान तव हम पाया पर निरवांण। (प० १६७-८)।

निरवांन—दे० 'निरवांण'। (पा० र० ७-७)।

निरवांनु—दे० 'निरवांण'। (पा० प० १३२-६)।

निरबाल्या जाइ—क्रि०स० (सं० निवारण, हि० निरवारना)—रोका जाए, हटाया जाए। उ० जे मन लागै एक सूं, तौ निरवाल्या जाइ। (सा० ११-१२-१)।

निरबाहै—क्रि०स० (सं० निर्वाह)–निर्वाह करे। (पा०सा० २४-१४-१)।

निरवैर—(सं० निर्वैर)—शत्रुरहित। उ० तव निरवैर भया सवहिन थैं, काम-क्रोध गहि डारा। (प० १८६-२)।

निरवैरी—वि० (सं०निर्वैर)—द्वेषरहित। उ० निरवैरी निहकांमता, सांई सेती नेह। (सा० २६-१-१)।

निरभै—वि० (सं० निर्भय)—निडर। उ० राम सुमिर निरभै हुवा, सव जग गया अऊत। (सा० ३०-७-२)।

निरमई—क्रि० स० (सं० निर्माण से हि० निरमना)—वनाई, रची। (पा० सा० २-१४-२)।

निरमया—वनाया, रचा। उ० जाकौ जेता निरमया ताकौं तेता होइ। (सा० ३५-८-१)।

निरमल—वि० (सं०निर्मल)—मलरहित, स्वच्छ। उ० निरमल वूंद अकास की, पड़ि गई भोमि विकार।(सा० २५-१-१)।

निरमोलिक—वि० (सं० निर्+मोल)—अमूल्य, अनमोल। उ० कवीर अव तौ ऐसा भया निरमोलिक निज नाउं (सा० ५०-८-१)।

निरमोलिका—अमूल्य। उ० यहु हीरा निरमोलिका, कौड़ी पर वीका। (प० १७८-८)।

निरमोली—दे० 'निरमोलिक'। अमूल्य। उ० च्यंतामणि क्यूं पाइए ठोली, मन दे रांम लियौ निरमोली। (प० ३३४-४)।

निरवरई—क्रि० स० (सं० निवारण)—निर्णय करता है, तैं करता है। (पा० चौ०र० २६-२)।

निरवांनां—सं० पु० (सं० निर्वारण)—समाप्ति। उ० सार आहि संगति निरवांनां, और सवै विसया के कांयां। (र० ३-६६)।

निरवालै—क्रि०स० (हि० निरुवारना) —दूर कर देवे। (र० १–टि० १७)।

निरषै—क्रि० स० (सं० निरीक्षण)—

देखता है। उ० कवल ज फूल्या फूल बिन, को निरषै, निज दास। (सा० ५-५-२)।

निरषौं—देखूं, अवलोकन करूँ। उ० नैंना अंतरि आचरूं, निस दिन निरषौं तोंहि। (स० ३-३३-१)।

निरष्या—देखा। उ० आपै मैं तब आपा निरष्या, अपन पैं आपा सूझ्या। (प० ६-१५)।

निरस—वि० (सं० नीरस)—रसहीन। (र० १-टि० ६३)।

निराकार—सं० पु० (सं०)—जिसका आकार न हो, प्रभु। उ० तहुआं एक दुकान रच्यो है निराकार ब्रत साजैं। (प० १५३-३)।

निरालंब—वि० (सं०)—बिना अवलंब के। (वी०र० ६-७)।

निराल—वि० (सं० निरालय, हि०निराला)—अनोखा, वेजोड़। उ० कहैं कबीर वै रांम निराल। (प० ३५-४)।

निराला—दे० 'निराल'। अनोखा, अनुपम, सबसे भिन्न। उ० रतन निराला पाईया जगत ढंढौल्या बादि। (सा० ५-३३-२)।

निरास—वि० (सं० निराश)—आशा-रहित। उ० घर बन देखौं दोऊ निरास। (प० ७९-२)।

निरासा—दे० 'निरास'। (पा०प०८६-४)

निरुवारै—दे० 'निरवालै'। दूर करे। (प० चौ० १०-१)।

निरोधहु—क्रि० स० (सं० निरोध)—रोको, नाश करो। (पा० चौ० र० ३६-१)।

निर्फल—वि० (सं० निष्फल)—व्यर्थ, निरर्थक। उ० जब लग भगति सकांमता तब लग निर्फल सेव। (सा० ११-१०-१)।

निर्बंध—सं० पु० (सं०)—बिना बंधन के। (पा० प० १-९)।

निर्मल—वि० (सं०)—(१) शुद्ध, साफ। उ० निर्मल कीन्हीं आत्मां, तार्थैं सदा हजूरि। (सा० १-३५-२)।

(२)—प्रकाशमान, सुन्दर। उ० कबीर कवल प्रकासिया, ऊग्या निर्मल सूर। (सा० ५-४३-१)।

निवरति—सं० स्त्री० (सं० निवृत्ति)—निवृत्ति मार्ग। उ० निवरति कै निबहै नहीं, परवर्ति परपंच मांहि। (सा० १६-२७-२)।

निर्वति—निवृत्ति। उ० सब आसण आसा तणां, निर्वति कै को नांहि। (सा० १६-२७-१)।

निवांनैं—सं० पु० (देश० हि० नवाड़ा)—छोटी नाव। (पा० सा० २२-११-२)।

निवाज—सं० पु० (फा० नमाज)—मुसलमानों की ईश्वर-प्रार्थना। उ० यहु सब झूठी बंदिगी, बरियां पंच निवाज। (सा० २२-५-१)।

निवाजा—नमाज। उ० आपुन मैं जे करै निवाजा, सो मुलनां सरबत्तरि गाजा। (र० १-८)।

निवाजे—क्रि० स० (फा० निवाज)—अनुग्रह किये। उ० जिनि हंम साजे साज्य निवाजे, बाँधे काचै धागैं। (प० २७०-१०)।

निवार—क्रि० स० (सं० निराकरण, हि० निवारना)—बचाओ। उ० जैसैं सती तजै स्यंगार, ऐसैं जियरा करम निवार। (प० १०७-२)।

निवारि—रोको। बचाओ। उ० जु राम राम भाजिया, पुनरपि जनम निवारि रे। (प० ४-१६)।

निवारैं—रोकते हैं, बचाते हैं। उ० खाहि हलाल हरांम निवारैं, भिस्त तिनहु कौं होई। (प० १०२-७)।

निवारै—बचावे। (पा० प० १९५-१३)।

निवारा—सं० स्त्री० (फा० नवार)—मोटे सूत की चौड़ी पट्टी, जिससे पलंग

बुने जाते हैं, नेवार। उ० एकनि दीनां पाट पटंबर, एकनि सेज निवारा। (प० १०५-४)।

निवालै—सं० पु० (फा० निवाला)—टुकड़ा, कौर, ग्रास। उ० चाकरी चोर निवालै हाजिर, सांई सेती खोटे। (प० ३२३-६)।

निवास—सं० पु० (सं० निवास)—रहना, टिकाव। (पा० प० १३०-६)।

निवासा—रहना, टिकाव। उ० तब लग नहीं हरि चरन निवासा। (प० २४-३)

निवासु—रहना। (पा० प० ८२-२)।

निवासिया—सं० पु० (सं० निवासिन्)—रहने वाला। उ० पट दल कंवल निवासिया, चहु कौ फेरि मिलाइ रे। (प० ४-३)।

निवासी—रहने वाला। (पा० प० १७७-१०)।

निश्चल—वि० (सं०)—स्थिर। (बी० र० ५३-२)।

निसंक—वि० (सं० निःशंक)—निडर। उ० इंद्री केरे वसि पड़्या, मूंचै विषै निसंक। (सा० २०-२६-२)।

निसंगा—दे० 'निसंक'। निडर। (पा० प० ११५-६)।

निस—सं० (सं० निशा)—रात। उ० निस अँधियारी कारणैं, चौरासी लख चंद। (सा० १-१८-१)।

निसह—रात। उ० जल विन हंस निसह विन रवू। (प० ३७६-५)।

निसांह—रात। (पा० सा० १६-२७-१)।

निसहुरा—वि० (नि० + शऊर)—बेशऊर, बेढंगे को। उ० तऊ न मेटि निसहुरा हो। (प० ७७-८)।

निसजाम—क्रि० वि० (सं० निशा + याम)—सदा, सर्वदा। उ० नैंना नीझर लाइया, रहट वहै निसजाम (दिन जाम) (सा० ३-२४-१)।

निसप्रेही—वि० (सं० निस्पृही)—लालच से रहित। उ० एक निसप्रेही निरधार का, गाहक गोपीनाथ। (सा० २४-२२-२)।

निसरनी—सं० स्त्री० (सं० निःश्रेणी)—सीढ़ी, जीना, सोपान। उ० वड़ी निसरनी नांव रांम कौ, चढ़ि गयौ कीर कवीरा। (प० १०८-८)।

निसांन—दे० 'निसानैं'। नगाड़ा। (पा० प० १६४-१०)।

निसांनैं—दे० 'निसानैं'। नगाड़ा। (पा० सा० १४-२६-१)।

निसानैं—सं० पु० (फा० निशान)—नगाड़ा, धौंसा। उ० गगन दमांमां वाजिया, पड़्या निसानैं घाव। (सा० ४५-६-१)।

निसि—दे० 'निस'। रात। (पा० प० ३५-६)।

निस्तरिता—क्रि० अ० (सं० निस्तार, हि० निस्तरना)—मुक्त हुआ, छूटा। उ० जाकौं यहु जग विण करि चालै, ता प्रसादि निस्तरिया। (प० १६२-१०)।

निस्तार—दे० 'निस्तारा'। (पा० प० ४५-४)।

निस्तारा—सं० पु० (सं० निस्तार)—छुटकारा। उ० हरि भजि ह्वै निस्तारा (प० १०६-७)।

निहकर्म—सं० पु० (सं० निष्कर्म)—निष्काम कर्म। उ० निहकर्म नदी ग्यांन जल, सुंनि मंडल मांहि रे। (प० ३६१-५)।

निहकांम—दे० 'निहकाम'। (पा० सा० ३०-५-५)।

निहकांमता—सं०स्त्री० (सं० निष्कामता)—अनासक्ति। उ० निरवैरी निहकांमता सांई सेती नेह। (सा० २९-१-१)।

निहकांमी—दे० 'निहकामी'। (पा० सा० १५-४९-२)।

निहकाम—वि० (सं० निष्काम)—अनासक्त, जिसमें कोई कामना न हो। उ० कहै कबीर ते रांम के, जै सुमिरैं निहकाम। (सा० २०-७-२)।

निहकामी—वि० (सं० निष्कामिन्)—अनासक्त। उ० कहै कबीर वै क्यूं मिलैं, निहकामी निज देव। (सा० ११-१०-२)।

निहचल—वि० (सं० निश्चल)—अचल, स्थिर। उ० चित अंचल निहचल कीजै, तब रांम रसांइन पीजै। (प०१७३-१४)।

निहचै—सं०पु० (सं० निश्चय)—अवश्य। उ० कछू एक किया कछू एक करणां, मुगध न चेतै निहचै मरणां। (प० १०४-३)।

निहतत्त—सं० पु० (सं० निः+तत्व)—निस्तत्व। बिना तत्व के। (पा० प० १-८)।

निहफल—वि० (सं० निष्फल)—व्यर्थ। (पा०प० १८६-४)।

निहाइति—वि० (अ० निहायत)—अत्यन्त, बहुत अधिक। उ० धंधा बहुत निहाइति मरनां। (प० ६६-२)।

निहारा—क्रि० सं० (सं० निमालन = देखना)—देखा। उ० बिन नैंननि रूप निहारा। (प० २८२-६)।

निहारि-निहारि—देख-देख कर। उ०अंषड़ियां झांई पड़ी, पंथ निहारि-निहारि। (सा० ३-२२-१)।

निहारियाँ—ध्यानपूर्वक देखा। (सा० १२-३६-नो-५२)।

निहारूं—देखूं। उ० हूं तेरा पंथ निहारूं स्वांमीं। (प० २२४-३)।

निहारै—देखता है। (पा० प० ६०-७)।

निहाला—सं० पु० (फा० निहाली)—बड़ी निहाई, लोहे का घन। उ० लोह निहाला अगनि मैं, जलि-बलि कोइला होय। (सा० २०-१६-२)।

निहुरा—क्रि० अ० (हि० निहुरना)—झुके हुए, झुककर। उ० यहु संसार जात मैं देखौं, ठाढा रहौ कि निहुरा हो। (प० ७७-१४)।

निहोरा—सं० पु० (सं० मनोहर, मनुहार)—प्रार्थना, अनुग्रह, आसरा। उ० और कौंन का करौं निहोरा। (प० ११४-२)।

नींकी—वि० (सं०न्यक्त)—उत्तम, भली। उ० सवथैं नीकी संत मंडलिया, हरि भगतिन की भेरौ रे। (प० ८५-५)।

नींचा—वि० (सं० नीच)—अधम। उ० नहीं को ऊंचा नहीं को नींचा। (प० ४१-५)।

नींडर—वि० (हि० निडर)—निर्भय। उ० ग्यांनी तौ नींडर भया, मांनैं नांही शंक। (सा० २०-२६-१)।

नींद—सं० स्त्री० (सं० निद्रा)—नींद। उ० अणरता सुख सोवणां, रातै नींद न आइ। (सा० २६-५-१)।

नींदई—क्रि० स० (हि० नींदना)—निंदा करते हैं। उ० लोग विचारा नींदई, जिनह न पाया ग्यांन। (सा० ५४-१-१)।

नींदये—निंदा कीजिए, तिरस्कृत कीजिए। उ० क्यूं नृपनारी नींदये, क्यूं पनिहारी कौं मांन। (सा० ३०-६-१)।

नींदौ—निंदा करैं, वदनाम करैं। उ० रांम नांम सूं प्रीति करि, मल मल नींदौ लोग। (सा० १६-१-२)।

नींदड़ी—सं० स्त्री० (सं० निद्रा)—नींद में। उ० उजल हूवा न छूटिये, सुख नींदड़ी न सोइ। (सा० १२-५३-२)।

नींदरी—दे० 'नींदड़ी'। (पा० सा० ४-१५-२)।

नींदै—दे० 'नींद'। नींद में। उ० वो नींदै वौ झौंकत जाई। (प० २२१-४)।

नींव—सं० स्त्री० (सं० निंव)—नीम। उ० चंदन होसी वांधना, नींव (नीव) न कहसी कोइ। (सा० २८-१-२)।

नींबू—सं० स्त्री० (सं० निंबू)—नींबू। उ० आप सदा फल आपै नींबू, आपै

मुसलमान आप हिंदू। (प० ३३१-४)।

नींव—सं०स्त्री०(सं० नेमि, प्रा० नेह)—मकान की नींव। (पा०सा० ९-१३१)।

नींसांणी—सं० स्त्री० (फा० निशानी)—यादगार। उ० मेट नींसांणी मीच की। (सा० २५-५-१)।

नींसांन—दे० 'निसानैं'। उ० राम कै नाइ नींसांन वागा, ताका मरम न जानैं कोई। (प० २२०-१)।

नीकली—क्रि० अ० (हि० निकलना से)—निकली। उ० सती जलन कूं नीकली, पीव का सुमरि सनेह। (सा० ४५-३६-१)।

नीकल्या— निकला। उ० सबद सुनत जीव नीकल्या, भूलि गई सब देह। (सा० ४५-३६-२)।

नीकसा—क्रि० अ० (हि० निकलना से)—निकला। (पा० सा० १४-२४-२)।

नीकसि—निकल कर। (पा० सा० १५-७१-१)।

नीकसी—निकली (पा०सा० १४-२४-२)।

नीकसैं—निकले। उ० पांणी मैं घीव नीकसैं, तौ रूखा खाइ न कोइ। (सा० १३-२९-२)।

नीकां—क्रि० वि० (सं० व्यक्त)—अच्छी तरह। उ० रामचरन नीकां गही, जिनि जाइ जनम ठगाइ। (सा० १६-१-२)।

नीका—वि० (सं०व्यक्त)—अच्छा, भला। उ० जीव अछित जोवन गया, कछू कीया न नीका। (प० १७८-७)।

नीकै—भले, अच्छे। उ० ऊपरि मूल फूल तिन भीतरि जिनि जान्यां तिनि नीकै। (प० १७६-६)।

नीच—वि० (सं०)—अधम, बुरा। (पा० सा० ३०-२०-२)।

नीझर—सं० पु० (सं० निर्झर)—झरना, सोता। उ० नैंना नीझर लाइया, रहत वहै दिन जाम। (सा० ३-२४-१)।

नीझरु—झरने का। (पा० र० १८-२)।

नीठि नीठि—क्रि० वि० (सं० अनिष्टि, प्रा० अनिट्ठि)—ज्यों-त्यों करके। (र० १-टि० ३१)।

नीत—दे० 'नित्त'। नित्य। (पा० सा० ११-२-२)।

नीधनवंता—वि० (सं० निर्धन+वंत)—गरीब, निर्धन। उ० भले रे पोच अकुल कुलवंता, गुणी निरगुणी धनं नीधनवंता। (र० ३-५)।

नीपजैं—क्रि० अ० (सं० निष्पद्यते से, प्रा० निपज्जइ)—उपजता है, पैदा होता है। उ० कबीर मोती नीपजैं, सुन्नि सिषर गढ़ मांहि। (सा० ५-८-२)।

नीपजै—विकसित होते हैं, वृद्धि करते हैं। उ० ते नर कदे न नीपजैं, ज्यूं कालर का खेत। (सा० २५-३-२)।

नीम—दे० 'नींब'। नीम। (पा० र० १२-४)।

नीर—सं० पु० (सं०)—जल, श्वास की धार। उ० कया कमंडल भरि लिया, उज्जल निर्मल नीर। (सा० ७-१-१)।

नीर मैं—जल में। उ० अगनि जु लागी नीर मैं, कंदू जलिया झारि। (सा० ४-५-१)।

नीरा—जल। (प० ३२१-३)।

नीरु—जल। (पा० प० ८३-७)।

नीरू—जल। (बी० र० १०-५)।

नीरैं—नीर के, जल के।(पा०प० ११६-६)।

नीरै—जल के। उ० रूप बिन नारी पुहप बिन परमल, बिन नीरै सरवर भरिया। (प० १५८-६)।

नील—वि० (सं०)—नीले रंग का। (सा० ११-१-२)। रँगाऊँ दंत-(मुहा०)—बदनामी उठाना। उ० जे हँसि बोलौं और सौं, तौ नील रँगाऊँ दंत। (सा० ११-१-२)।

नीव—दे० 'नींव'। उ० चंदन होसी

वांधना, नीव न कहसी कोइ। (सा० २९-१-२)।

नीसरै—क्रि० अ० (सं० निःस्रवण, हि० निसरना)—निकलता है। (सा० २४-१५-नो०)।

नूर—सं० पु० (अ०)—प्रकाश, ज्योति। उ० निस अँधियारी मिटि गई, वाजे अनहद नूर। (सा० ५-४३-२)।

नृप नारी—सं० स्त्री० (सं०)—नृपनारी, रानी, स्त्री। उ० क्यूं नृपनारी नींदये, क्यूं पनिहारी कौं मांन। (सा० ३०-६-१)।

नेक—क्रि० वि० (फा०)—थोड़ा, जरा। (पा० प० १४६-२)।

नेजा—सं० पु० (फा०)—भाले। (पा० सा० २२-१२-२)।

नेड़ा—क्रि० वि० (सं० निकट)—पास, निकट। उ० गाहक ताजा राम है और न नेड़ा आइ। (सा० १२-५८-२)।

नेड़ी—पास। उ० दांत उपाड़ौं पापणीं, जे संतौं नेड़ी जाइ।(सा० १६-२१-२)।

नेड़ैं—पास। उ० नेड़ैं थैं दूरि दूर थैं नियरा, जिनि जैसा करि जांना। (प० ८-३)।

नेपै—क्रि० स० (सं० मापन)—मापता है। उ० गांइकु ठाकुर खेतकु नेपै, काइथ खरच न पारै। (प० २२२-५)।

नेम—सं० पु० (सं० नियम)—रीति, कृत्य। उ० नौंमी नेम दसमीं करि संजम एकादसी जागरणां। (प० २५०-७)।

नेरा—दे० 'नेड़ा'। पास। (प० र० १४-३)।

नेरै—दे० 'नेड़ै'। पास। (पा० सा० २३-४-१)।

नेवगी—सं० पु० (सं० नैयमिक) नेग अथवा पुरस्कार पाने वाले अमले। उ० तेरे नेवगी खरे सयांनें हो रांम। (प० २२२-२)।

नेस—वि० (फा० नेस्त)—नष्ट, हैरान। उ० कहां थें तुम्ह किनि कीये, अकलि है सब नेस। (प० २५७-४)।

नेह—सं० पु० (सं० स्नेह)-प्रेम, प्रीति। उ० नारी सेती नेह, बुधि बबेक सबहीं हरै। (सा० २०-८-१)।

नेहा—प्रेम। (पा० प० १५-२)।

नेहु—प्रेम। (पा० सा० ४-२८-१)।

नेहरौ—सं० पु० (सं० ज्ञाति, प्रा० णाति, णाइ)—पीहर, मायका। उ० सहज सुंनि की नेहरौ, गगन मंडल सिरि मौर। (प० १८-७)।

नैं—परसर्ग (हि० की)-की। उ० त्रिसनां नैं लाभ लहरि, कांम क्रोध नीरा। (प० ३२१-३)।

नैंक—दे० 'नैक'। जरा भी, तनिक भी। उ० नैंक जौ नांव पतिब्रत आवै। (प० १९९-२)।

नैंण—दे० 'नैंन'। आँख। (सा० १२-३९-नो० ५२)।

नैंन—सं० पु० (हि० नयन)-नेत्र, आँखें। उ० परवति परबति मैं फिरया, नैंन गवाये रोइ। (सा० ३-४०-१)।

नैंननि—नेत्र। (पा० प० ११८-७)।

नैनन—नेत्रों। (पा० प० ७९-३)।

नैनां—आँखों से। उ० नैनां नीझर लाइया, रहट बहै दिन जाम। (सा० ३-२४-१)।

नैनां—नेत्रों के। उ० नैनां अतरि आव तूं, ज्यूं हौं नेंन झँपेउं। (सा ११-२-१)।

नैनूं—सं० पु० (सं० नयन)—नेत्रों में। उ० तेज पुंज पारस धणीं, नैनूं रहा समाइ। (सा० ५-३८-२)।

नैन—आँखों को। उ० नैनां अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैंन झँपेउं। (सा० ११-२-१)।

नैंहर—दे० नेहरौ'। पीहर। उ० नैंहर जात बहुत दुख पावा। (प० ९०-८)।

नौंमी—सं० स्त्री० (सं० नवमी)—महीने

की नवीं तिथि। उ० नौंमी नेम दसमीं करि सजम, एकादसी जागरणां। (प० २५०-७)।

नौं—वि० (सं० नव)—नौ की संख्या। उ० नौ मण सूत अलूझिया, कबीर घर घर बारि। (सा० ३३-५-१)।

नौका—सं० स्त्री० (सं०)—नाव। उ० रांम नांव नौका गह्या, तव पांणी पंक न लाग। (सा० ५०-१०-२)।

नौतनु—दे० 'नौतम'। (पा० प० ६-५)।

नौतम—वि० (सं० नवतम)—बिलकुल नया, अत्यन्त नवीन। उ० तुम्ह सतगुर मैं नौतम चेला। (प० १२०-७)।

नौबति—सं० स्त्री० (फा० नौबत)—उत्सव पर बजने वाला मंगलसूचक बाजा। उ० कबीर नौबति आपणीं, दिन दस लेहु बजाइ। (सा० १२-१-१)।

नौ मन सूत—सं० पु० (मुहा०)—पंच विषय, तीन गुण, एक मन अथवा सकाम कर्म। उ० नौ मन सूत उरझि नहीं सुरझै जनमि जनमि उरझेरा। (प० २३८-११)।

नौ रंग धागा—सं० पु० (यौ०)–नये रंग-ढंग का, नौ रंग का। उ० वांणीं सुरंग सोंधि करि आंणीं, आणौं नौ रंग धागा। (प० २११-२)।

नौसत—दे० 'नवसत'। सोलह। (पा० सा० २५-१३-१)।

न्यंदक—दे० 'निंदक'। निंदा करने वाला। उ० न्यंदक दूरि न कीजिये, दीजै आदर मांन। (सा० ५४-४-१)।

न्याइ—(१) वि० (सं० न्याय, हि० नाईं)–तुल्य, समान। उ० तूरा दुइ मुखि वाजणां, न्याइ तमाचे खाइ। (सा० ११-१२-२)।

(२) सं० पु० (सं० न्याय)—सद्विवेक में ही। उ० जुगिया न्याइ मरै मरि जाइ। (प० २२-१)।

न्यारा—वि० (सं० निर्निकट, प्रा० निन्नियड़, निन्नियर, पू० हि० निन्यार)–अलग, पृथक्। उ० आलोकत सचु पाइया, कवहूँ न न्यारा सोइ। (सा० १३-१४-२)।

न्यारी—अलग। (पा० प० १५७-१)।

न्यारे—अलग। उ० अपनें अपनें रस के लोभी, करतब न्यारे न्यारे। (प० ३६६-३)।

न्यारौ—अलग। (पा० प० १७६-१)।

न्याव—सं० पु० (सं० न्याय)—इंसाफ, निर्णय। उ० जोरी कीयां जुलम है, मांगै न्याव खुदाइ। (सा० २२-६-१)।

न्यूंति—दे० 'न्यौति'। उ० न्यूंति जिमांऊ अपनौं करहा। (प० ७६-८)।

न्यौति—क्रि० स० (हि० न्योता का ना० धा० रूप)—न्योता देकर। (पा० प० १३१-८)।

न्रिपनारी—दे० 'नृपनारी'। रानी। (पा० सा० ४-११-१)।

न्हवाइए—क्रि० स० (हि० नहाना का स० रूप)—स्नान कराइए। उ० त्रिवेणी मनाह न्हवाइए, सुरति मिलै जौ हाथि रे। (प० ४-११)।

न्हवाएं—स्नान कराना। (पा० प० १७७-३)।

न्हवायें—स्नान कराना। उ० क्या जल देह न्हवायें। (प० २५६-३)।

न्हांन—सं० पु० (सं० स्नान)—नहाने की क्रिया। उ० मन उलटचा दरिया मिल्या, लागा मलि मलि न्हांन। (सा० ७-२-१)।

न्हाइ—क्रि० अ० (सं० स्नान, प्रा० हारण, बुंदे० हनाना)—स्नान करता है, नहाता है। उ० जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैं मलि मलि न्हाइ। (सा० ६-७-१)।

न्हाई—स्नान किया। उ० तूंवी अढसठि तीरथ न्हाई, कड़वापन तऊ न जाई। (प० २७७-२)।

न्हावै—स्नान करता है। (पा० प० ८४-३)।

प

पंक—सं० पु० (सं०)—कीचड़, कीच। उ० रांम नांव नौका गह्या, तब पाणीं पंक न लग्ग। (सा० ५०-१०-२)।

पंकज—सं० पु० (सं०)—कमल। (पा० प० ३०-४)।

पंख (१)—सं० पु० (सं० पक्षी, हि० पंखी)—पक्षी। उ० सुत सरीर धन प्रग्रह कबीर, जीये रे तर्वर पंखबियार। (र० ३-१०६)।

पंख (२)—सं० पु० (सं० पक्ष, हि० पांख)—पर। (पा० प० १-३)।

पंखा—दे० 'पंख'। (पा० प० ११६-७)।

पंखि—दे० 'पंखी' (पा० प० ५५-४)।

पंखी—दे० 'पंखि'। (पा० प० १०८-७)

पंखेरू—सं० पु० (सं० पक्षालु, प्रा० पक्खाहु)—पक्षी, चिड़िया। उ० जैसे तरवर वसत पंखेरू, दिवस चारि के वासी। (प० २५३-४)।

पंखेरूवा—पक्षी। उ० जम के चर चहुँ दिसि फिरि लागे, हंस पंखेरूवा अब कहाँ जांइवे। (र० ३-६४)।

पंगी—वि० (सं० पंगु)—लँगड़ी। (पा० प० १-७)

पंगुड़ा—सं० पु० (सं० पोगंड)—पाँच से १० वर्ष तक की अवस्था का बालक। उ० किसकी ममां चचा पुंनि किसका, किसका पंगुड़ा कोई। (प० १०२-३)।

पंगुरनी—सं० स्त्री० (सं० पंगु)—एक प्रकार का वात रोग जो मनुष्य के पैर में जाँघों में होता है, जिससे रोगी के पैर सिकुड़ जाते हैं। उ० चल अचल पांइन पंगुरनी, मधु करि ज्यूं लेहि अधरनीं। (र० ४-६७)।

पंगुरा—दे० 'पंगुड़ा'। बच्चों। उ० कहै कबीर अलह का पंगुरा, साचे सूँ मन लावौ। (प० २४६-६)।

पंगुल—वि० (सं० पंगु)—लंगड़ा। उ० पाऊँ थैं पंगुल भया, सतगुर मार्‍या बाण। (सा० १-१०-२)।

पंगुला—दे०'पंगुल'। (पा०पा० १५७-७)।

पंच (१)—वि० (सं०)—चार से एक अधिक। (पा० प० ३६-४)।

पंच कुटंब—यौ० पाँच कुटब मिलि झूझन लागे, बाजत सबद संघेरैं। (प० ६-४)।

पंच चोर—यौ०—मनुष्य के ज्ञान रूपी धन को हरने वाले पाँच दोष। उ० कबीर पटण कारिवां पंच चोर दस द्वार। (सा० १२-७-१)।

पंच तत्त—यौ०—पाँच तत्व, पंच भूत। उ० काया कसूँ कमांण ज्यूं, पंचतत्त करि बांण। (सा० १३-३०-१)।

पंच पंषुरिया—यौ०—फूलों का दल। उ० पंच पंषुरिया एक ससीरा, कृष्ण कवल दल भवर कबीरा। (प० १०४-५)

पंचपरांनी—यौ०—पाँच प्राणी। उ० करगहि एकविनांनी, ता भींतरि पंच परांनीं। (प० २८६-३)।

पंचपहरवा—यौ०—पाँचौं संतरी अर्थात् इंद्रियाँ। उ० पंच पहरवा सोइ गये हैं, बस तैं जागण लागी। (प० २३-५)।

पंचपीर—यौ० पाँच पैगम्बर। उ० मन मसीति मैं किनहूं न जांनां, पंचपीर मालिम भगवांनां। (प० २५६-४)।

पंचबैल—यौ०—पाँच बैल। उ० पंच बैल जब सूध चलाऊं, राम जेवरिया जोरूँ। (प० ३८६-६)।

पंच सखी—औ० पाँच सखियाँ। उ० पंच सखी मिलिहैं सुजांन, चलहु तजई ये त्रिवेणी न्हान। (प० ३७८-४)।

पंचसँगी—यौ० पाँच साथी, पाँचों इंद्रियाँ (ज्ञान की)। उ० पंच सँगी पिव पिव करैं, छठा जु सुमिरे मंन। (सा० २-७-१)।

पंच सुवटा—यौ० पंच शुक, पाँच प्राण। उ० पंच सुवटा आइ बैंठे, उदै भई वनराइ। (प० २८०-८)।

पंच—(२) सं० पु० (सं०)—पाँचों इंद्रियाँ। उ० मन न मारचा मन करि सके न पंच प्रहारि। (सा० १३-१५-१)।

पंचनि—पंचेन्द्रियों ने। उ० इन पंचनि मिलि लूटी हूँ, कुसंग आहि वदेसा। (प० १४-२)।

पंचाननि—सं० पु० (सं० पंचानन)—सिंह। उ० तूं विन पंचाननि श्री मुरारि। (प० ३८५-२)।

पंचूं—वि० (सं० पंच, हि० पाँच)—पाँचों। उ० पंचूं लरिका पटिक करि, रहै रांम ल्यौ लाइ। (सा० ४३-४-२)।

पंचूं पुरी—सं० स्त्री० (यौ०)—पाँचों पुरियाँ, पाँच तन्मात्राएँ। उ० गुरमुखि कलमा ग्यांन मुखि छुरी, हुई हलाल पंचूं पुरी। (प० २५६-३)।

पंचैं—दे० 'पंचूं'। (पा० प० १२९-४)।

पंजर—सं० पु० (सं०)—(१) शरीर। उ० कबीर पीर पिरावनीं, पंजर पीड़ न जाइ। (सा० ३-१३-१)।
(२) पिंजड़ा। उ० चतुराई सूवै पढ़ी, सोई पंजर माँहि। (सा० १७-१४-१)।

पंजरि—शरीर में। (पा०सा० ९-७-१)।

पंड—सं०पु० (सं० पिंड)—शरीर, मांस-पिंड। उ० प्रांण पंड कौं तजि चलै, मूवा कहैं सब कोइ। (सा० १५-२-१)।

पंडा—सं०पु० (सं० पंडित, प्रा० पंडिअ)—पुजारी। (पा० प० १६३-४)।

पंडिआ—दे० 'पंडा'। (पा०प० १३३-३)।

पंडित—सं० पु० (सं०)—धर्मोपदेशक, ब्राह्मण। उ० पंडित वाद वदंते भूठा। (प० ४०-१)।

पंडिता—दे० 'पंडित'। बुद्धिमान लोग, पंडित व्यक्ति। उ० उतर दषिण के पंडित, रहे विचारि विचारि। (सा० ४-५-२)।

पंथ—सं० पु० (सं० पथ)—(१) मार्ग। उ० लंबा मारग दूरि घर विकट पंथ वहु भार। (सा० २-२७-१)।
(२) चाल, रीति, व्यवस्था। उ० सायर उतरौ पंथ संवारौ, बुरा न किसी का करणां। (प० १०२-११)।

पंथ सिरि—सं०पु० (हि० पंथ+सिर)—राह के किनारे या राह की छोर पर। उ० विरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ। (सा० ३-५-१)।

पंथां—दे० 'पंथ' (१)—मार्ग। (पा० सा० १५-५३-२)।

पंथा—दे० 'पंथ' (१)। मार्ग। (पा०र० १६-१)।

पंथी—सं० पु० (सं० पथिन्)—राही, वटोही, पथिक। उ० पंथी ऊभी पंथ सिरि, वुगचा वाँध्या पूठि। (सा० ४६-२२-१)।

पंथूं—सं० पु० (सं० पथ)—रास्ते से, मार्ग से। उ० जिनि पंथूं तुझ चालणां, सोई पंथ सँवारि। (सा० १२-१४-२)।

पंन—सं० पु० (सं० पर्ण, प्रा० पण्ण)—पत्ता, ताम्बूल। उ० चंदन भागां गुण करै, जैसे चोली पंन। (सा० ३७-३-१)।

पंप—दे० 'पंख' (२)। पर। उ० मापी गुड़ मैं गहि रही, पंप रही लपटाइ। (सा० २५-६-१)।

पंषि—सं० पु० (सं० पक्षी)—प्राण, सुरति। उ० पंषि उड़ानीं गगन कूं, प्यंड रह्या परदेस। (सा० ५-२०-१)।

पंषी—सं० पु० (सं० पक्षी, प्रा० पक्खी)—चिड़िया। उ० दौं लागी साइर जल्या, पंषी बैठे आइ। (सा० ४-६-१)।

पंपेरू—दे० 'पंखेरू'। उ० पसु पंपेरू जीव जंत, तिनकी गाडि किसी ग्रंथ। (सा० ३५-६-२)।

पइअँ—दे० 'पइहै'। पाएगा। (पा० प० ७७-१)।

पइहै—क्रि० स० (हि० पाना)—पाएगा, भोगेगा। उ० जो जस करिहै सो तस राजा रांम निसई। (प० २००-२)।

पईयत—पाया जाता। उ० जोपै सुख पईयत इन मांही। (प० ८७-५)।

पईसा—सं०पु० (सं० पाद या पणाश)—पैसा। (पा० सा० २१-१६-२)।

पउढ़े—क्रि०अ० (सं० प्रलोठन)—लेटे, विद्यमान हैं। (पा० प० १३०-६)।

पऊवा—सं० पु० (सं०पाद, प्रा० पाय, हि०पाव)—पउला, पैर मे पहनने का वग़ैरा। उ० तांना लीन्हा बांना लीन्हां, लीन्हें गोड के पऊवा। (प० २०-४)।

पकड़ा—क्रि०स०(सं०प्रकृष्ठ, प्रा०पक्कढ़)—ग्रहण किया। (पा०सा० १-३३-१)।

पकड़ि—पकड़ कर। (पा० प० ४-६)।

पकड़िया—ग्रहण किया। (पा० सा० २४-१२-१)।

पकड़ै—धरे, गहे, पकड़े। उ०पूँछ ज पकड़ै भेद की, उतर्‌या चाहै पार। (सा० १७-२०-२)।

पकड़्या—ग्रहण किया। उ० पासा पकड़्या प्रेम का सारी किया सरीर। (सा० १-३२-१)।

पकड़ावौ—क्रि० स० (सं० प्र कृष्ठ से)—पकड़ाओ। (पा० सा० १५-८६-१)।

पकरि—दे० 'पकडि'। पकडकर, वश में आकर। उ० सकति से नेह पकरि करि सुनति, यहु न बदूं रे भाई। (प० ५६-३)

पकरी—पकड़कर। (पा० प० १७८-१०)

पकरैं—गहें। उ० कर पकरैं अंकरी गिनैं, मन धावै चहुं वोर। (सा० २४-२-१)।

पकरै—गहै। (पा० प० ६०-६)।

पकर्‌यौ—पकड़ा। (पा० प० २५-१०)।

पकाए—क्रि० स० (हि० पकना से)—आंच द्वारा तैयार किये। (पा०प० ११४-१)।

पकाया—तैयार किया। उ० अंन जूठा पांनी पुनि जूठा, जूठे वैठि पकाया। (प० २५१-५)।

पकाये—तैयार किये। उ० हरि के बारे वडे पकाये, जिनि जारे तिनि पाये। (प० १२-१)।

पख—सं० पु० (सं० पक्ष)—पहलू, भेदभाव। उ० आदि अनंत उभै पख निरमल द्रिष्टि न देख्या जाई। (प० १५७-१२)।

पखा—पहलू। (पा० सा० २०-७-१)।

पखी—पहलू (पा० सा० २०-७-१)।

पखांन—दे० 'पषांण'। पत्थर। (पा०सा० २६-२१-२)।

पखारै—दे० 'पषालै'। धोवै। (पा० प० ३-४)।

पखिआरी—दे० 'पचिहारी'। (पा० प० १६२-६)।

पखेरुवा—सं० पु० (हि०पखेरू)—चिड़िया, पक्षी, प्राण। (सा० ४६-१४-नो० २१)।

पग—सं० पु० (सं० पदक, प्रा० पअक)—पैर, पाँव। (सा० १२-६१-२)।

पगपग—कदम-कदम पर। उ०देस मालवा गहर गंभीर, डग डग रोटी पग पग नीर। (प० ६८-६)।

पगां—पैरों के। (पा० प० १७६-६)।

पगु—पैर। (पा० प० ८१-२)।

पगड़ा—सं०पु० (सं० प्रकट, प्रा० पगड़ = प्रकाश, प्रभात)—प्रातःकाल या सूर्योदय का समय, यात्रा आरम्भ करने का समय। (सा० १२-६२-नो० ८४)।

पगरा—दे० 'पगड़ा'। (पा० सा० ११-४-१)।

पगरी—सं०स्त्री० (सं० पटक)—पगड़ी। (पा० प० ४४-२)।

पचास—वि० (सं० पंचाशत)—चालीस और दस। उ० स्वामी हूवा सीत का, पैका कार पचास (सा० १७-४-१)।

पचि—क्रि० अ० (सं० पचन)—क्षीण होकर। उ० अति अभिमाँन वदत नहीं काहू, वहुत लोग पचि हारे। (प० ३६६-४)।

पचिमरै—मुहा० जी तोड़ मेहनत करना, हैरान होना। उ० का पचिमरै निगोड़ी वौरी। (प० १३६-८)।

पचिहारी—मुहा० थकी-हारी। उ० पीछैं लागी फिरै पचिहारी संत की ठठकी फिरै विचारी। (प० ३३०-५)।

पचीस—वि० (सं० पंचविंशति)—वीस और पाँच। उ० नाइक एक वनिजारे पंच, वैल पचीस को संग साथ। (प० ३८३-२)।

पचीसौं—पचीसों। (पा० प० २-४)।

पचे—वि० (सं० पंच मे)—पाँचवें। (सा० १२-१३-नो०-१८)।

पच्छिम—दे० 'पछिम'। (पा० प० १७७-११)।

पछताइ—क्रि० अ० (हि० पछताव)—पीछे से दुःखी होता है, पश्चात्ताप करता है। (पा० सा० २६-११-२)।

पछताय—पश्चात्ताप करता है। उ० करता था तौ क्यूं रह्या, अव करि क्यूं पछताय। (सा० १३-२७-१)।

पछांणीं—सं० स्त्री० (सं० प्रत्यभिज्ञान)—पहचानने का भाव। उ० जहाँ नहीं जहाँ नहीं तहाँ कछू जाणी, जहाँ नहीं तहाँ लेहु पछांणीं। (प० ३२६-२)।

पछांनां—क्रि० स० (हि० पहचानना)—पहचाना। (पा० चौ० र० ८-१)।

पछांनि—पहचानना। (पा०चौ०र० ४१-१)।

पछांनैं—पहचानता है। (पा० प० १६०-६)।

पछाड़ा—दे० 'पछाड़्या' (पा० प० १६१-६)।

पछाड़िलै—क्रि० स० (हि० पछाड़ी)—अधिकार जमा लो। उ० यहु मन पटकि पछाड़िलै, सव आपा मिटि जाइ। (सा० ४७-४-१)।

पछाड़्या—पटक दिया। उ० अरथ करतां मिसर पछाड़्या, तूंट फिरै मै मंती। (प० १८७-६)।

पछितांनां—क्रि० अ० (हि० पछताना से)—पश्चात्ताप करना। (पा० प० ८३-४)।

पछिताइगा—पश्चात्ताप करेगा। उ० वेगि छाड़ि पछिताइगा, ह्वै है मूरति भंग। (सा० २०-६-२)।

पछिताई—पछताकर। (पा०प० १६४-८)।

पछितानौं—पश्चात्ताप करना। उ० तीस वरस कै रांम न सुमिर्यौ। फिरि पछितानौं विरध भयौ। (प० २४३-४)।

पछिताया—पश्चात्ताप किया। (पा० प० १४७-५)।

पछितावै—पछताता है। उ० तव देवल ज्यूं ध्रज आछै, पड़ियां पछितावै पाछै। (प० २६६-६)।

पछिताहु—पछताओगे। (पा०प० ६३-८)

पछिताहुगे—पछताओगे। उ० पीछैं ही पछिताहुगे, यहु तन जैहै छूटि। (सा० २-२५-२)।

पछिम—सं० पु० (सं० पश्चिम)—वह दिशा जिसमें सूर्य अस्त होता है। उ० सिव सकती दिसि कौण जु जोवै, पछिम दिसा उठै धूरि। (सा० ५-४६-१)।

पछेला—क्रि० स० (हि० पिछाड़ी+ना प्रत्य०)—पीछे डालना। उ० कहै कवीर उन गुर की कृपा थैं, तिनि सव भरिम पछेला। (प० ३१६-८)।

पछेवड़ा—दे० 'पछेवरा'। उ० दिल मंदिर मैं पैसि करि, तांणि पछेवड़ा सोइ। (सा० ३५-३-२)।

पछेवरा—सं० पु० (सं० पक्षपट, प्रा० पच्छवड़)—पिछौरा, चादर। उ०वो छन हमरै एक पछेवरा, लोक बोलै इकताई हो। (प० ५०-६)।

पछोड़े—क्रि० स० (सं० प्रक्षालन)—फटकना। (पा० सा० ३२-३-२)।

पछोरि—दे० 'पछोड़' । पछोड़ कर, फटक कर। (पा० सा० १७-७-१)।

पटंतर—सं० पु० (सं० पट्ट+तल)—बराबर। उ०तास पटंतर नां तुलै, हरिजन की पनिहारि। (सा० ३०-५-२)।

पटंतरै—बराबरी में, समता में। उ० राम नाम कै पटंतरै, देबे कौं कुछ नांहि। (सा० १-४-१)।

पटंबर—सं० पु० (सं० पाट+अंवर)—रेशमी कपड़ा। उ० एकनि दीनां पाट पटंबर, एकनि सेज निवारा। (प० १०५-४)।

पट—सं० पु० (सं०)—पर्दा, आवरण। उ० जा दिन कृतम नां हुता, होता हट न पट। (सा० ५-२८-१)।

पटकि—क्रि० स० (हि० पटकना से)—पटककर। उ० यहु मन पटकि पछाड़ि लैं, सब आपा मिटि जाइ। (सा० ४७-४-१)।

पटकि करि—पटक कर। उ० डारी खाँड़ पटकि करि, अंतरि रोस उपाइ। (सा० ३-३२-१)।

पटकै—पटकता है। (पा० प० ७४-५)।

पटण—दे० 'पटन' । उ० कबीर पटण कारिवां पंच चोर दस द्वार। (सा० १२-७-१)।

पटताला—सं० पु० (सं० पट्ट+ताल)—मृदंग का एक ताल। उ० बिनहीं तालां ताल बजावै, बिन मंदल पटताला। (प० १५६-५)।

पटन—सं० पु० (सं० पट्टन)—बड़ा नगर। उ० ए पुर पटन ए गली बहुरि न देखै आइ। (सा० १२-१-२)।

पटम—वि० (हि० पटपटाना)—भूख से पटपटाकर अंधा हुआ। उ० जीव कै मनि भावै नहीं, पटम की में क्या होइ। (सा० २४-२३-२)।

पटल—सं० पु० (सं०)—आवरण, पर्दा। उ० दरसन देखत यहु फल भया, नैंनां पटल दूरि है गया। (प० ३६५-३)।

पटिक करि—क्रि० स० (सं० पतन+करण)—नीचे डालकर, गिराकर। उ० पंचूं लारिका पटिक करिं, रहै रांम ल्यौ लाइ। (सा० ४३-४-२)।

पटिया—दे० 'पाटी'। (पा०प० २६-४)।

पटै—सं० पु० (सं० पट्ट, हि० पटा)—अधिकार-पत्र में, पट्टे में। उ० ब्रह्म गियांनी अधिक धियांनीं, जम कै पटैं लिखावा। (प० २६४-६)।

पट्टन—दे०'पटन' । बड़ा बाजार, नगर। (पा० सा० ४-४-१)।

पठएँ—क्रि० स० (सं० प्रस्थान, प्रा० पट्ठाव, हि० पठाना)—भेजने। (पा० प० ५३-४)।

पठए—भेजने। उ० पठए न जांऊं आवा नहीं आंऊं, सहजि रहूं हरि आई हो। (प० ५०-५)।

पठ्यौ—भेजा। (पा० प० ८६-५)।

पठवौं—भेजूं। उ० जेठी धीय सासरै पठवौं, ग्यूं बहुरि न आवै फेरी। (प० २२-६)।

पठाइये—भेजिए, उ०इतथैं सवै पठाइये, भार लदाइ लदाइ। (सा० १४-२-२)।

पठाउँ—भेजूं। उ० लेखणि करूँ करंक की लिखि लिखि राम पठाउँ। (सा० ३-१२-२)।

पठाता—भेजता है। उ० जे जाता ते कौंण पठाता, रहता ते किन राख्या। (प० १७४-११)।

पठावै—भेजे। (पा० प० १५७-६)।

पड़ंत—क्रि०अ० (सं० पतन, प्रा० पड़न)

—पड़ते हैं। उ० अंधै अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पड़ंत। (सा० १-१५-२)।

पड़गा—क्रि० अ० (हिं० पड़ना)—पड़ गया। (सा० १७-१५-नो० २१)।

पड़तां—पड़ते समय, पड़ने पर। उ० अणी सुहेली सेल की, पड़तां लेइ उसास। (सा० ३६-१-१)।

पड़ता—टूट पड़ा। उ० दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं, पड़ता पूरी जांणि। (सा० १-१६-२)।

पड़न—पड़ने का, प्रवेश करने का। उ० अब कै ग्यांन गयंद चढ़ि, खेत पड़न का जोग। (सा० ४५-८-२)।

पड़सी—पड़ेगी। उ० कूड़ वड़ाई बूड़सी, भारी पड़सी काल्हि। (सा० १२-५२-२)

पड़ा—पड़ा। (पा० सा० १-२०-२)।

पड़ि—पड़कर। (पा० सा० ६-३२-२)।

पड़िया—पड़ती है। उ० औरों कौं प्रमोधतां, मुख मैं पड़िया रेत। (सा० १७-१५-२)।

पड़ी—पड़ गई, छा गई, फैल गई। उ० अंपड़ियां झांई पड़ी,पंथ निहारि निहारि। (सा० ३-२२-१)।

पड़े—पड़ गए। उ० कुसलहि कुसल करंत जग खींना, पड़े काल भी पासी। (प० ३६६-६)।

पडेंगे—पड़ जायेंगे। (पा० सा० १६-३६-२)।

पड़ै—पड़ता है। (पा० सा० ६३-६)।

पड़्या—पहुँचा, पड़ा। उ० लागत ही मैं मिल गया, पड़्या कलेजै छेक। (सा० १-७-२)।

पड़दा—सं० पु० (फा० परदा)—ओट, आवरण। उ० पड़दा खोखि मिलै हरि ताकूं, जांया अरथहि बूझै। (प० १५७-११)।

पढंतां—क्रि० स० (सं० पठन)—पढ़ते हुए। उ० वेद पढंतां ब्राह्मण मारा, सेवा करतां स्वामीं। (प० १८७-५)।

पढंता—पढ़ते हुए। (पा० प० १६१-५)।

पढ़उँ—पढ़ूं। (पा० प० १६०-३)।

पढ़त—पढ़ते हुए। उ० पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहीं जांनैं। (प० ५६-२)।

पढ़न—पढ़ने। उ० मोहि और पढ़न सूं कौन कांम। (प० ३७६-२)।

पढ़ा—पढ़ लिया। (पा०सा० २१-३४-१)

पढ़ि—पढ़कर। उ० कुरांना कतेवां अस पढ़ि पढ़ि, फिकरिया नहीं जाइ। (प० २५७-५)।

पढ़िएं—दे० 'पढ़िये'। (पा०प० ७२-६)।

पढ़िबा—पढ़ना। उ० मैं जांन्यूं पढ़िबौ भलौ, पढ़िवा थैं भलौ जोग। (सा० १६-१-१)।

पढ़िवौ—पढ़ना। (सा० १६-१-१)।

पढ़िये—पढ़िए। उ० का पढ़िये का गुनियें का वेद पुराना सूंनियें। (प० २६२-८)।

पढ़ी—पढ़ली, पढ़ी। उ० चतुराई सूवै पढ़ी, सोई पंजर मांहि। (सा० १७-१४-१)।

पढ़ूं—पढ़लूं। उ० विद्या न पढ़ूं वाद नहीं जांनूं। (प० १४७-५)।

पढ़ें—पढ़ना। उ० वेद पढ़ें पढ़ि पंडित मूये, रूप भूले मूई नारी (प० ३१७-८)

पढ़े—पढ़ना। (पा० प० ८५-५)।

पढ़ैं—पढ़े, पठन करे (पा०प० १४६-६)।

पढ़ै—पढ़े, पठन करे। उ० एकै अपिर जीव का, पढ़ै सु पंडित होइ। (सा० १६-४-२)।

पढ्या—पढ़ा। उ० कबीर पढ़िबा दूरि करि, आथि पढ्या संसार। (सा० १६-३-१)।

पढ़नसाल—सं० स्त्री० (सं० पाठशाला)—पढ़ने का स्थान। उ० प्रहलाद पधारे पढ़नसाल, संग सखा लीयें बहुत बाल।

(प० ३७६-३) ।

पढ़ाइ करि—क्रि० स० (सं० पठन से)—पढ़ा कर भी । उ० चारिउं वेद पढ़ाइ करि, हरि सूं न लाया हेत । (सा० १७-६-१) ।

पढ़ाई—पढ़ा दी । (पा० र० ७-३) ।

पढ़ाए—पढ़ने के लिए भजे । (पा० प० २६-३) ।

पढ़ावसि—पढ़ाता है । (पा० प० २६-४)

पढ़ावा—पढ़ा दिया । (पा० र० ६-१) ।

पढ़ावै—पढ़ाता है । उ० मोहि कहा पढ़ावै आलजाल, मेरी पाती मैं लिखि दे श्री गोपाल । (प० ३७६-४) ।

पढ़िया—वि० (सं० पठित)—पढ़े हुए, विद्वान । उ० जाइ पूछौ गोविंद पढ़िया पंडिता, तेरां कौन गुरू कौन चेला । (प० १५८-१) ।

पणि—अव्य० (हि० पर, परन्तु)—किन्तु, फिर भी । उ० टूटै पणि छूटै नहीं, भई ज वाचा बंध । (सा० १६-२६-२) ।

पणिहारा—दे० 'पनिहार । पानी भरने वाले । (प० ३४०-११) ।

पतँग—सं० पु० (सं० पतंग)—भुनगा । उ० माया दीपक नर पतँग भ्रमि भ्रमि इवैं पड़ंत । (सा० १-२०-१) ।

पतंग—दे० 'पतँग' । (सा० २५-५-नो० ६) ।

पतगा—दे० 'पतँग' । (पा० र० ११-६)

पतड़ा—सं० पु० (सं० पत्र+ड़ा)—पटरा, पत्र । (पा० सा० २५-२०-२) ।

पतला—वि० (सं० पात्रट)—झीना, हलका । उ० पुहुप बास थैं पतला, ऐसा तत अनूप । (सा० ३६-४-२) ।

पताल—दे० 'पतालि' । (पा० प० ११७-४) ।

पतालि—सं०पु० (सं० पताल)—पाताल. नीचे । उ० कंकर कूई पतालि पनियां, सूनैं बूंदि बिकाई रे । (प० ७६-५) ।

पति (१)—सं० पु० (सं०)—स्वामी, मालिक, गुरु । उ० पति सँगि जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि । (सा० ५-१-२) ।

पति (२)—सं० स्त्री० (हि० पत)—लज्जा, आवरू, इज्जत । उ० वीनती एक राँम सुनि थांरी, अवन बचाइ राखि पति मांरी । (प० ७८-१) ।

पतिअइअै—दे० 'पतिअइये' । (पा० प० २६-५) ।

पतिअइये—क्रि० स० (सं० प्रत्यय+हि० आना)—विश्वास किया जाए । उ० कहें सुनें कैसैं पतिअइये, जबलग तहाँ आप नही जइये । (प० २४-४) ।

पतिआइ—दे० 'पतियाइ' । (प० ५३-३)

पतिआरा—सं० पु० (सं० प्रत्यय, प्रा० पत्तिआव)—विश्वास । (पा०प०८०-५)।

पतित—वि० (सं०)—गिरा हुआ, नीति भ्रष्ट । उ० अजामेल गज गनिका, पतित करम कीन्हाँ । (प० ३२०-५) ।

पतिताई—क्रि०स० (सं० प्रत्यय+आना)-मान गई, पति बना लिया । उ० नांनां रंगैं भांवरि फेरी, गाँठि जोरि पतिताई। (प० २२६-५) ।

पतिबरता—दे० 'पतिव्रता' । (पा० सा० ११-८-२) ।

पतिव्रता—(१) वि० (सं०) साध्वी स्त्री। उ० जौ पैं पतिव्रता ह्वै नारी । (प० १३६-६) ।

(२) सं० स्त्री० (स०)—सती, साध्वी । उ० पतिव्रता नाँगी रहै, तो उसही पुरिस कौं लाज । (सा० ११-१७-२) ।

पतियांना—क्रि० स० (सं० प्रत्यय)—विश्वास किया । (पा० प० ७२-११) ।

पतियाइ—क्रि० स० (स० प्रत्यय+हि० आना)—विश्वास करता है, मानता है। उ० दीठा है तौ कस कहूँ, कह्यां न को पतियाइ । (सा० ८-२-१) ।

पतियाई—मान गई । (पा० प० १०६-५(

पतियांना—दे०'पतनियनां'। (प० २६२-११)।

पतियारा—दे० 'पतिआरा'। विश्वास, प्रतीति। उ० तीनि बेर पतियारा लीन्हां, मन कठोर अजहूँ न पतीनां। (प० ३६५-८)।

पतीजै—क्रि० अ० (हिं० प्रतीत+ना प्रत्य०)—भरोसा किया जाए। उ० पतियानां जौ न पतीजै, अंधै कूँ का कीजै। (प० २६२-११)।

पतीनां—क्रि० स० (हिं० प्रतीत+ना)—विश्वास किया। उ० मन कठोर अजहूँ न पतीनाँ। (प० ३६५-८)।

पतीनैं—(पा० प० ८४-४)।

पत्रा—सं० पु० (स० पत्र)—पत्रा। (पा० प० ११६-६)।

पत्याइ—दे० 'पतियाइ'। मानता। उ० अकथ कहांणीं प्रम कीं, कह्यां न को पत्याइ। (सा० ४१-१०-२)।

पत्र—सं०पु०(सं०)—पत्ता। उ० साखा पत्र कछू नहीं वाकै, अष्ट गगन मुख वागा। (प० १६५-३)।

पथिन—सं० पु० (सं० पथिन्)—यात्री। उ० जे नहीं उपज्या धरनि सरीरा, ताकै पथिन सीच्या नीरा। (र० ५-४)।

पद—सं० पु० (सं०)—(१) गीत, भजन। उ० पद गांये लैं लीन ह्वैं, कटी न संसै पास। (सा० ३५-१६-१)।
(२) दर्जे पर। उ० इंहि पद नरहरि भेटिये, तूँ छाड़ि कपट अभिमांन रे। (प० ५-६)।

पदहि—पद को। (पा० प० ११०-११)।

पदहि—पद को। उ० कहै कबीर सो पंडित ग्याता, जो या पदहि बिचारै। (प० १३-११)।

पदु—पद, दर्जा। (पा० प० ३२-६)।

पदपंक्यजा—चौ० (पद+पंकज)—कमल-चरणों के। उ० कहै कबीर पद-पक्यजा, अब नेड़ां चरण निवास जी। (प० ३०-८)।

पदवी—सं० स्त्री० (सं०)—ओहदा, दर्जा। उ० नीच पावैं ऊँच पदवी, बजाते नीसान। (प० ३०१-२)।

पदारथ—सं० पु० (सं० पदार्थ)—वस्तु। उ० पाइ पदारथ पेलि करि, कंकर लीया हाथि। (सा० ४८-१-१)।

पदारथु—वस्तु। (पा० सा० १८-४-१)।

पदुम—सं० पु० (सं० पद्म)—कमल का फूल। (पा० सा० २६-१७-२)।

पनच—सं० स्त्री० (सं० पतंचिका)—धनुष की डोरी, प्रत्यंचा। (पा० प० १२४-५)।

पनह—सं० स्त्री० (फा० पनाह)—शरण, ठिकाना। उ० कबीर पनह खुदाइ की, रह दिगर दावानेस। (प० २५८-१०)।

पनि—वि० (हिं० अपनी से)—अपनी, निज की। उ० पाड़ोसनि पनि भई विरांनीं, मांहि हुई घर घालैं। (प० ८१-५)।

पनिआं—दे० 'पनियां'। पानी। (पा०प० १३७-२)।

पनियां—सं० पु० (हिं० पानी)—पानी। कंकर कूंई पतालि पनियां, सूनैं बूंद बिकाई रे। (प० ७६-५)।

पनिहार—सं० पु० (हिं० पानी+हारा प्रत्य०)—पानी भरने वाला। (पा० प० १५५-८)।

पनिहारि—सं० स्त्री० (हिं० पानी+हारा प्रत्य०)—पानी भरनेवाली, नौकरानी। उ० तास पटंतर नां तुलैं, हरिजन की पनिहारि। (सा० ३०-५-२)।

पनिहारी—दे० 'पनिहारि'। पानी भरने वाली, पनहारिन। उ० कैसैं नीर भरै पनिहारी। (प० १४०-४)।

पपिहा—दे० 'पपीहा'। (पा० सा० २-४८-२)।

पपीलका—सं० स्त्री० (सं० पिपीलिका)—चींटी। उ० पाव न टिकै पपीलका, लोगनि लादे बैल। (सा० १४-७-२)।

पपीहा—सं० पु० (देश०)—चातक नामक पक्षी। उ० पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम। (सा० ३-२४-२)

पमाँवहीं—क्रि० अ० (हि० पवाड़ा)—डींग मारते हैं। उ० कायर बहुत पमाँवहीं, बहकि न बोलै सूर। (सा० ४५-१४-१)

पमावहीं—दे० 'पमाँवहीं'। (पा० सा० ४५-१४-१)।

पयंप्या—क्रि० स० (हि० प्रजल्प)—कहा। उ० पंच सखी मिलि पवन पयंप्या, वाड़ीं पाणी मेल्ही। (प० १६३-६)।

पयंबर—दे० 'पैंकंबर'। धर्म-प्रवर्त्तक। (पा० प० १६४-७)।

पयांनां—सं० पु० (सं० प्रमाण)—रवानगी उ० उदया सूर निस किया पयांनां, सोवत थैं जब जागा। (प० ६-६)।

पयादा—सं० पु० (फा० प्यादा)—(१) पदाति, पैदल, शतरंज की प्यादा नामक गोट। उ० पंच पयादा पाड़ि ले, दूरि करै सब दूज। (सा० ४५-३-२)।
(२) दूतों को। (सा० ४५-३-नो०)।

पयादौ—पैदल, हरकारा। उ० सात सूत मिलि बनिज कीन्ह, कर्म पयादौ संग लीन्ह। (प० ३८३-४)।

पयाना—सं० पु० (सं० प्रयाण)—गमन, यात्रा, रवानगीं। दे० 'पयांनां'। उ० कबीर चित्त चमंकिया, किया पयाना दूरि। (सा० २२-३-१)।

पयारा—सं० पु० (सं० पयाल)—पुआल, धान, कोदों आदि के सूखे डंठल जिसके दाने झाड़ लिए गए हों। उ० एकनि दीनीं गरै गूदरी, एकनि सेज पयारा। (प० १०५-५)।

परंत—क्रि० अ० (हि० पड़ना)—गिरता है, पड़ता है। (पा० सा० १-६-२)।

पर—सं० पु० (सं०)—शत्रु, वैरी, दूसरा। उ० आपा पर संमि चीन्हिये, दीसै सरब समांन। (प० ५-५)।

परअपबादहि—दे० 'पर अपवाद'। पर-निंदा। (पा० प० ४०-५)।

परअपवाद—सं० पु० (सं० परापवाद)—परनिंदा। उ० कांम क्रोध मोह मद मछर, पर-अपवाद न सुणियें। (प० २५३-७)।

परअपवादैं—परनिंदा। उ० परनिंदा परधन परदारा, परअपवादैं सूरा। (प० १९१-४)।

परआत्म—दे० 'परमातम'। (सा० ३२-३-२)।

परई—दे० 'पड़ी' (पा० चौ० र० २७-२)।

परउपगारी—सं० पु० (सं० परोपकार से)। परोपकारी। उ० है कोइ ऐसा पर उपगारी, हरि सूं कहै सुनाइ रे। (प० ३०७-६)।

परकास—सं पु० (सं० प्रकाश)—दीप्ति, आलोक। उ० जाकै सूरिज कोटि करै परकास, कोटि महादेव गिरि कविलास। (प० ३४०-२)।

परकासा—दे० 'प्रकासा'। (पा० र० १८-४)।

परकासै—दे० 'प्रकासिया'। (पा० प० ११२-२)।

परकीरति—सं० स्त्री० (सं० प्रकृति)—स्वभाव। उ० तौ करि त्राहि चेति जा अंधा, तरि परकीरति भजि चरन गोब्यंदा। (र० २-२८)।

परख—सं० स्त्री० (सं० परीक्षा)—जाँच, परीक्षा। (पा० सा० १८-५-२)।

परखनहारे—सं० पु० (सं० परीक्षा से)—परखने वाले। (पा० सा० १८-२-२)।

परखानां—क्रि० स० (हि० परखना से)—परीक्षा करवाना। उ० खरा न खोटा नां परखानां। (प० २३४-५)।

परखि—क्रि० स० (सं० परीक्षण)—

परखकर। (पा० सा० ९-४१-२)।

परगट—वि० (सं० प्रकट)—प्रत्यक्ष, जाहिर। उ० पूर्णं वैसि खाइए, परगट होइ दिवानि। (सा० २०-६-२)।

परगास—दे० 'परकास'। (पा० प० १३०-३)।

परगासु—दे० 'परकास'। (पा० प० ८०-६)।

परचा—सं० पु० (सं० परिचय)—जान-पहचान, ज्ञान। उ० कहि कबीर परचा भया गुरू दिखाई बाट। (सा० ५-६-२)।

परचै—पहचान से, जानकारी से। उ० अपनैं परचै लागी तारी, अपन पै आप समांनां। (प० ६-१७)।

परचौ—परिचय। (पा०चौ० र० १६-२)।

परजरै—दे० 'प्रजलै'। (पा० सा० ३०-१०-२)।

परजला—दे० 'प्रजल्या'। (पा० सा० २-५२-१)।

परजली—दे० 'प्रजल्या'। (पा० सा० २-५१-१)।

परजा—सं० स्त्री० (सं० प्रजा)—रियाया। उ० राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ। (सा० ४५-२१-२)।

परजारी—दे० 'प्रजारी'। जला दी। उ० यहु रस तौ सब फीका भया, ब्रह्म अगनि परजारी रे। (प० ७१-३)।

परजारै—जला दे। (पा० प० १२८-५)।

परजाली—जला दी। (पा० प० २५-८)।

परणऊं—क्रि० स० (सं० परिणयन, हि० परणना)—विवाह कर लिया। उ० बिन रजांनि परणाऊँ परसोतम, कहि कबीर रंगि राता। (प० १५३-८)।

परत—दे० 'परति'। तह। (पा० प० ५८-८)।

परतखि—दे० 'प्रतषि'। प्रत्यक्ष। (पा० सा० ३०-३-१)।

परताप—सं० पु० (सं० प्रताप)—महत्व, प्रभुत्व। उ० नर कै साथि सूवा हरि बोलैं, हरि परताप न जानै। (प०४०-५)।

परति—सं० स्त्री० (सं० पत्र, हि० पत्तर) तह। उ० हरत इहाँ ही हारिया, परति पड़ी मुखि धूल। (सा० १२-३२-२)।

परतीति—सं० स्त्री० (सं० प्रतीति)—ज्ञान, विश्वास। उ० मनि परतीति न ऊपजै, तौ राति दिवस मिलि गाइ। (सा० ३३-६-२)।

परदा—दे० 'पड़दा'। पर्दा। (पा० सा० २०-२-२)।

परदास—सं० पु० (हि०)—दासों का भी दास। उ० कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास। (सा० ४१-१३-१)

परदेस—सं० पु० (सं० परदेश)—पराया देश, विदेश, पराये संसार में। उ० नां जाणौं कहां मारिसी, कै घरि कै परदेस। (सा० १२-१२-२)।

परदेसी—वि० (सं० परदेशी)—विदेशी, अपरिचित। उ० मैं परदेसी काहि पुकारौं, इहां नहीं को मेरा। (प० १०२-५)।

परधा—दे० 'प्रधा'। (पा० सा० १५३ ५४-२)।

परन—दे० 'पड़न'। (पा० सा० १४-२७-२)।

परनारी—सं० स्त्री० (सं० पर+नारी)-परस्त्री। उ० परनारी परसुन्दरी, विरला बंचै कोइ। (सा० २०-४-१)।

परनीं—सं० स्त्री० (सं० परिणिता)—विवाहिता। उ० नां हूं परनीं नां हूं क्वारी' पूत जन्यूं द्यौ हारी। (प० २३१-२)।

परपंच—सं० पु० (सं० प्रपंच)—बखेड़ा, जंजाल, सांसारिक व्यवहार। उ० निवरति कै निवहै नहीं, परवति परपंच माहिं। (सा० १६-२७-२)।

परपूरन—वि० (सं० परिपूर्ण)—सफल, सिद्ध। उ० या कांमनां करौ परपूरन, समरथ हौ रांम राइ। (प० ३०६-४)।

बत—सं० पु० (सं० पर्वत)—पहाड़।
० राई थैं परवत करैं, परबत राई
ंहि। (सा० ३८-१२-२)।

बति परबति—पर्वत-पर्वत पर, हर
हीं। उ० परवति परबति मैं फिर्या,
न गवाये रोइ। (सा० ३-४०-१)।

वसि—वि० (स० परवश) - पराधीन।
० सवै पियारे राम के वैठे परवसि
इ। (सा० ४३-६-२)।

बोधि—क्रि० स० (सं० प्रबोधन)—
ानोपदेश करते-करते। उ० जग पर-
ाधि होत नर खाली, करते उदर
पाया। (प० १७०-३)।

भाति—सं० पु० (सं० प्रभात)—प्रात:
ाल, सवेरे। उ० एक दिनां छिप
ाहिंगे, तारे ज्यूं परभाति। (सा०
६-१४-२)।

ाव—सं० पु० (सं० प्रभाव)-असर।
० भगति जात्र पर भाव न जइयौ, हरि
चरन निवासा। (प० २३५-८)।

—वि० (सं०)—सबसे बढ़ा चढ़ा,
्यधिक। उ० सूरा होइ सु परम पद
वैं, कीट पतंग होइ सव जरिया।
० १५८-८)।

जोति—सं० स्त्री०—ब्रह्म ज्ञान। उ०
गा भ्रम दसौं दिस सुझ्या, परम
ोति प्रकासा। (प० ६-४)।

ल—सं० पु० (सं० परिमल)—
ास, उत्तम गंध। उ० रूप विन नारी
प विन परमल, विन नीरैं सरवर
रेया। (प० १५८-६)।

ानंद—सं० पु० (सं० परमानंद)—
ानंद, आनन्द स्वरूप ब्रह्म। उ० कव
रहूँ कव देखिहूँ, पूरन परमांनंद।
ा० ४५-१३-२)।

ानंदा—ब्रह्म। उ० कहै कवीर चरन
हि बंदा, घर मैं धर दे परमांनंदा।
० ७६-४)।

ातम—सं० पु० (सं० परमात्मन्)—
ईश्वर। (पा० सा० २७-२-२)।

परमानंद—दे० 'परमांनंद'। ब्रह्म। (पा०
सा० १४१-५)।

परमारथ—सं० पु० (सं० परमार्थ)—
मोक्ष, सारवस्तु। उ० कहत सुनत सुख
ऊपजै, अरु परमारथ होइ। (र० ३-
४७)।

परमिति—दे० 'प्रमिति'। सीमा। (पा०
प० २६-३)।

परमेसुर—सं० पु० (सं० परमेश्वर)—
परमातमा। उ० धरि परमेसुर पांहुणां,
सुणौं सनेही दास। (सा० ११-१८-१)।

परमोधतां—क्रि० स० (सं० प्रबोधन, हि०
परबोधना)—ज्ञानोपदेश करते-करते,
सचेत करते-करते। उ० औरूं कौं
परमोधतां, गया मुहरकां मांहि। (सा०
१७-१३-२)।

परमोधि—सचेत कर। (पा० सा० ३०-
२१-२)।

परमोधिए—दे० 'प्रमोधि ले'। (पा० सा०
१-५-२)।

परलै— सं० पु० (सं० प्रलय)—नाश।
(पा० प० १६५-६)।

परवरै—क्रि० स० (फा० परवरदिगार)–
परवरिश करता है। उ० लख चौरासी
रब परवरै, सोइ करीम जे एती करै।
(प० ३२७-५)।

परवर्ति—वि० (सं० प्रवृत्त)—रत, लगा
हुआ, नियुक्त। उ० निवरति कै निबहै
नहीं, परवर्ति परपंच मांहि। (सा०
१६-२७-२)।

परवांन—सं० पु० (सं० प्रमाण)—(१)
सीमा, हद। उ० जिन लोइनि मन मोहिया
ते लोइन परवांन। (प० २८-३)।

परवान—दे० 'परवांन'। (१) पूर्णता,
सीमा। उ० धीरैं धीरैं पावदे, पहुँचैंगे
परवान। (सा० ८-४-२)।
(२) प्रमाण, अंदाज। उ० कहिवे कूं

सोभा नहीं, देख्या ही परवान। (सा० ५-३-२)।

परवाना—प्रमाण। (र० १-टि० २५)।

परखिये—क्रि० स० (सं० परीक्षण, प्रा० परीक्खण, हि० परखना)—समझिये, पहचानिये, परखिये। उ० सूरा तबही परपिये, लड़े धणीं कै हेत। (सा० ४५-६-१)।

परसंग—दे० 'प्रसंग'। (पा० प० ४०-६)।

परस—सं० पु० (सं० स्पर्श)—छूना। (पा० प० १७६-७)।

परसत—क्रि० स० (सं० स्पर्शन)—छूता, है, स्पर्श करता है। (पा०प० ३४-२)।

परसती—वि० (सं० स्पर्श)—स्पर्श करता हुआ, काम में लाता हुआ। उ० पाँचू राखै परसती, सहज कहीजै सोइ। (सा० २१-२-२)।

परसरांम—सं० पु० (सं० परशुराम)—जमदग्नि ऋषि के पुत्र और ईश्वर के छठें अवतार। उ० वद्री वैस्य ध्यांन नहीं लावा, परसरांम ह्वै खत्रीन सतावा। (र० वा० ५६)।

परसादं—सं० पु० (सं० प्रसाद)—प्रसाद, अनुग्रह। उ० कहै कवीर मैं पूरा पाया, भया रांम परसादं। (प० २८१-६)।

परसादा—प्रसाद। (पा० प० ५०-८)।

परसादि—दे० 'प्रसादि'। प्रसाद। (पा० १३४-२)।

परसुन्दरी—सं० स्त्री० (सं० पर+सुन्दरी)—पर स्त्री। उ० पर नारी पर सुन्दरी, विरला वंचै कोई। (सा० २०-४-१)।

परसैं—क्रि० स० (सं० स्पर्शन)—छूते हैं। उ० जोगी जती तपी संन्यासी, मठ देवल वसि परसैं कासी। (प० २६०-२)

परसोतम—सं० पु० (सं० पुरुषोत्तम)—भगवान। उ० विनर जांनि परणऊं परसोतम, कहि कवीर रंगि राता। (प० १५३-८)।

परस्यां—क्रि०स०(सं०स्पर्शन)—स्पर्श करने से। उ० देखें ही तन प्रजलै, परस्यां ह्वै पैमाल। (सा० २०-१२-२)।

परहड़ी—स० स्त्री० (सं० परिहार)—पशुओं के चारागाह में, परती में। उ० वैसि परहड़ी द्वारा मुंदावौं, ल्यावौं पूत घर घेरी। (प० २२-५)।

परहर्या—क्रि०अ० (सं० परिहरण, हि० परिहरना)—त्याग दिया, छोड़ दिया। उ० जो रस गासो परहर्या, विड़राता प्यारे। (प० १६०-३)।

परहरैं—छोड़े, त्यागे। उ० ताहि न कवहूँ परहरै, पलक न छाड़ै पास। (सा० ५२-३-२)।

परहि—क्रि० अ० (सं० पतन, प्रा० पड़न, हि० पड़ना)—गिरता है। (पा० प० १६६-६)।

परहु—गिरो, फंसो। इत मन मंदिर रहौ नित चोपै, कहै कवीर परहु मति घोपै। (प० ३-५)।

परांइनि—वि० (हि० पड़ना से)—पड़ने वाली। उ० सापत कै यहु प्यउ परांइनि हमारी द्रिष्टि परैं जैसैं डांइनि। (प० ३७०-७)।

परांण—सं० पु० (सं० प्राण)—श्वास, जीवन, जान। उ० वेगि मिलौ तुम आइ करि, नहीं तर तजौं परांण। (सा० ५२ १-२)।

परांन—दे० 'परांण'। प्राण। (पा० प० १५५-१६)।

परा—दे० 'पड्या'। पड़ गया। (पा० सा० १-६-२)।

पराई—वि० (सं० पर)—दूसरे की, विरानी। उ० रासि पराइ रापतां, खाया घर का खेत। (सा० १७-१५-१)।

पराए—दूसरे का। (सा० १२-३२-नो० ४२)।

परान—दे० 'परांण'। प्राण, शरीर की

वायु। उ० माया रस माया कर जांन, माया कारनि तजै परान। (प० ८४-४)।

ाराना—प्राण। (र० १-टि० ३५)।

ारि—(१) अव्य० (सं० परंतु)—किन्तु, लेकिन। उ० बूड़े थे परि ऊबरे, गुर की लहरि चमंकि। (सा० १-२५-१)।
(२) प्रत्य० (सं० उपरि)—ऊपर। उ० तेरे सिर परि जम खड़ा, खरच कदे कर खाइ (सा० २-१४-२)।

ारिगौ—क्रि० अ० (सं० पतन)—पड़ गया। (पा० सा० ३३-६-१)।

ारिघरि—सं० पु० (हि० परघर)—दूसरे का घर। (सा० १२-५७-नो०)।

रिपूरता—वि० (सं० परिपूरित)—लबालब, खूब भरा हुआ। उ० जद सर जल परिपूरता, चात्रिग चितह उदास। (प० ११६-२)।

रिमल—दे० 'परमल'। परिमल, सुगंध। उ० राजा रांम कवन रंगैं जैसैं परिमल पुहप संगैं। (प० १६७-१)।

रिया—दे० 'पड़्या'। पड़ गया। (पा० सा० ३३-५-२)।

रिलोक—सं० पु० (सं० परलोक)—दूसरा लोक, विदेश। उ० देस भला परिलोक बिरांनां। (प० २३४-११)।

रिवार—सं० पु० (सं०)-परिजन-समूह, आश्रित वर्ग। उ० चंदन वास भेदै नहीं, जाल्या सभ परिवार। (सा० ५५-११-२)।

रिखणहारे—वि० (हि० परखना से)—ारखने वाले। उ० परिषणहारे वाहिरा, कौड़ी बदलै जाइ। (सा० ४८-२-२)।

रेहरि—क्रि० अ० (सं० परिहरण)—छोड़कर। (पा० प० ८-५)।

रेहरिया—छोड़ दिया। (पा० र० १८-२)।

रेहरी—छोड़ दी। (पा० प० १२३-२)

परिहरु—छोड़ो। (पा० प० ७७-४)।

परिहरै—छोड़ता है। (पा० सा० ११-१४-२)।

परिहै—क्रि० अ० (सं० पतन)—पड़ेगी। (पा० सा० १५-३८-२)।

परी—क्रि० अ० (सं० पतन से)—पड़ गई। उ० त्रिस्नां छानि परी पर ऊपरि, कुबुधि का भांडा फूटा। (प० १६-४)।

परें—पड़े। उ० प्यंड परें जींव जैसे जहाँ, जीवन ही ले राखौ तहाँ। (प० ३२६-११)।

परे—पड़े। (पा० प० १०५-८)।

परैं—पड़ते हैं। दे० 'पड़ै'। (पा० सा० २-३०-२)।

परै—पड़ती है। उ० हमारी द्रिष्टि परै जैसैं डांइनि। (प० ३७०-७)।

परैगी—पड़ेगी। (पा० सा० २१-१५-२)।

परौ—पड़ जाए। उ० बजर परौं इहि मथुरा नगरी, कान्ह पियासा जाई रे। (प० ७६-६)।

परीति—सं० पु० (सं० प्रीति)—अनुराग, प्रेम। उ० एक ज पीड़ परीति की, रहीं कलेजा खाइ। (सा० ३-१३-२)।

परेसांनीं—सं० स्त्री० (फा० परेशानी)—बहुत अधिक घबराहट। उ० रे दिल खोजि दिलहर खोजि, नां परि परेसांनीं मांहि। (प० २५७-१)।

परेसानीं—दे० 'परेसांनी'। (पा० प० ८७-१)।

परोसा—दे० 'परोस्या'। (पा० प० १९२-६)।

परोस्या—क्रि० स० (सं० परिवेषण, हि० परोसना)—परसा, दिया। उ० जूठी कड़छी अन परोस्या, जूठे जूठा खाया। (प० २५१-६)।

पर्चा—दे० 'परचा'। परिचय। उ० साहिब सूं पर्चा नहीं, ए जांहिगें किस ठौर। (सा० १४-४-२)।

परयुं—क्रि० वि० (सं० अव्य० परश्वः)—परसों। उ० काल्हि परयुं भवैं लेटणाँ, ऊपरी जामैं घास। (सा० १२-१०-२)।

पलंग—सं० पु० (सं० पल्यंक, हि० पलँग)—पलंग, पर्यंक। (पा० प० ६५-५)।

पल—सं० पु० (सं०)—समय का एक छोटा अंश। उ० कोटि कर्म पल मैं करै, बहु मन विपिया स्वादि। (सा० १३-१८-१)।

पलक—सं० स्त्री० (सं० पल+क)—क्षण में, क्षण भर में। उ० ताहि न कबहूँ परहरै, पलक न छाड़ै पास। (सा० ५२-३-२)।

पलट—क्रि० अ० (सं० प्रलोठन, हि० पलटना)—बदल गया। (पा० प० ६८-४)।

पलटि—पलट कर, बदल कर। (पा० सा० १५-३६-१)।

पलटै—उलट जाए। उ० जब लग गगन जोति नहीं पलटै। (प० २०२-३)।

पलट्या—बदल गया। उ० वरियाँ बीती बल गया, बरन पलटन और (सा० ४६-२५-१)।

पलांणियाँ—क्रि० स० (हि० पलान+ना प्रत्य०)—उस पर पलान कस दिया, धावा करने के लिए तैयार किया। उ० कबीर तुरीं पलांणियाँ, चाबक लीया हाथि। (सा० १३-१३-१)।

पलांन—दे० 'पलांनि'। (पा० प० ४-३)

पलांनि—सं० पु० (सं० पल्याण)—गद्दी। उ० बैसंदर पोपरी हांडी, चाल्यौ लादि पलांनि। (प० ३१४-५)।

पलांनियां—दे० 'पलांणियाँ' (पा० सा० १५-३८-१)।

पला—सं० पु० (सं० पटल)—पल्ला, आँचल। उ० उस चंगे दीवांन मैं, पला न पकड़ै कोइ। (सा० २२-२-२)।

पलास—सं० पु० (सं० पलाश)—पलास का वृक्ष, टेसू, ढाक। उ० टेसू फूले दिवस चारि, खंखर भई पलास। (सा० १२-८-२)।

पलीता—सं० पु० (फा० फतील:)—वत्ती के आकार का वह कागज जिस पर कोई मंत्र लिखा हो और जिसकी धूनी प्रेतग्रस्त को दी जाए। उ० कहै कबीर गुर दिया पलीता, सो फल विरलै देखी। (प० ८-८)।

पलेटी—वि० (हि० लपेटना से)—लपेटी हुई। उ० कब लग राखौं हे सखी रुई आगि। (सा० १२-६०-२)।

पल्लव—सं० पु० (सं०)—पत्ते। उ० ते तौ आहि अनंद सरूपा, गुन पल्लव विस्तार अनूपा। (र० ७-३)।

पवन—सं० पु० (सं०)—वायु, हवा। उ० धरती गगन पवन नहीं होता, नहीं तो या नहीं तारा। (सा० ५-२७-१)।

पवनां—वायु से, हवा से भी। उ० पवनां वेगि उतावला, सो दोसत कबीरै कीन्ह। (सा० १३-१२-२)।

पप—सं० पु० (सं० पक्ष)—पक्ष, लगाव, सम्बन्ध। उ० पप ले बूडी पृथमीं, झूठी कुल की लार। (सा० २४-२१-१)।

पपनियां—सं० पु० (हि० पखावज से)—पखावज बजाने वाले व्यक्ति। उ० गये पपनियां उभरी बाजी, को काहू कै आवै। (प० ६२-८)।

पपां—सं० पु० (सं० पक्ष)—पाख, १५ दिनों का समय। उ० उरध पाव अरध सीस, वीस पपां इम रपियौ। (सा० ३५-१-३)।

पपांण—सं० पु० (सं० पाषाण)—पत्थर, शिला। उ० फाटा फटक पपांण ज्यूँ, मिल्या न दूजी बार। (सा० ३७-१-२)।

पपालि—क्रि० स० (सं० प्रक्षालन, हि० पखारना)—धोओ। उ० कबीर कुसमल झड़ैं, कांई मांहि लौ अंग पपालि रे। (प० ३६१-८)।

पालै—धोवै, साफ करता है। उ० रे नर कहा पषालै काया, सो तन चीन्हि जहां थैं आया। (प० २७६-३)।

रि—क्रि० स० (सं० प्रसारण, हि० पसारना)—फैलाकर। (सा० ४८-१-तो० ३)।

रयौ—क्रि० अ० (सं० प्रसारण, हि० पसरना)—फैला हुआ। उ० जब हंस पवन ल्यौ खेलै, पसरयो हाटिक जब मेलै। (प० २६६-१५)।

ाउ—दे० 'पसाव'। कृपा। (पा० प० १४-२)।

ार—सं० पु० (सं० प्रसार)—काम-धंधा। (पा० प० १११-१०)।

ारा (१)—सं० पु० (सं० प्रसार)—काम-धंधा। उ० छांड़ि पसारा रांम कहि बौरे कहै कबीर समझाई। (प० १६३-६)।

ारा (२)—सं पु० (हि० पइस)—प्रवेश, पहुँच। उ० लरके परके सब जागत हैं, हम धरि चोर पसारा हो रांम। (प० २०-३)।

ारि—क्रि० स० (सं० पसारण)—फैलाकर। उ० एक दिनां भी सो वणां, बैं पाँव पसारि। (सा० २-११-२)।

ाव—सं० पु० (सं० प्रसाद, प्रा० पसाव)—कृपा, अनुग्रह। उ० सो बैकुंठ कहाँ कैसा, करि पसाव मोहि दै हौ। (प० २-२)।

—सं० पु० (सं० पशु)—(१) साधारण प्राणी के जीव। उ० इहि औसरि चेत्या नहीं, पसु ज्यूं पाली देह। (सा० १२-०-१)।

) जानवर। उ० पसु पंषेरू जीव ा, तिनकी गाडि किसा ग्रंथ। (सा० -६-२)।

ा—सं० पु० (सं० पशु)—लोगूल। विशिष्ट चतुष्पद जंतु। उ० जब लग ा नीच करि जांनां, ते पसूवा मूले भ्रंम जांनां। (प० ६६-५)।

पसू—दे० 'पसु'। जानवर। उ० दिन प्रति पसू करै हरि हाई। (प० १३६-३)

पहजन—क्रि० अ० (प्रा० प्रवज्जण)—मानने को। उ० तुलह न तोली गहि न मापी, पहजन सेर अढ़ाई। (प० १६३-४)।

पहनाम—सं० पु० (?)—पारिभाषिक नाम। उ० पहनांम परदा ईत आतस, जहर जंगम जाल। (प० २५८-४)।

पहर—सं० पु० (सं० प्रहर)—समय, एक दिन का चतुर्थांश। उ० चारि पहर निस मोरा, जैसें तरवर पंखि बसेरा। (प० १०३-३)।

पहरइया—सं० पु० (सं० प्रहरी)—पहरेदार। उ० मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै साँप पहरइया। (प० ८०-४)।

पहरि—क्रि० स० (सं० परिधान)—पहन कर, धारण कर। उ० विषै कर्म की कंचुली, पहरि हुआ नर नाग। (सा० २०-२१-१)।

पहरि करि—पहन कर। उ० उजल कपड़ा पहरि करि, पान सुपारी खांहि। (सा० १२-५४-१)।

पहरिया—सं० पु० (सं० प्रहरी)—पहरा देने वाले। उ० चहूँ दिसि बैठे चारि पहरिया, जागत मुसि गये मोर नगरिया। (प० २७३-४)।

पहरुआ—पहरेदार। (पा० प० ८०-५)।

पहरैं—क्रि० स० (हि० पहनना)—पहने, धारण करे। उ० माला पहरैं मनमुषी, ताथैं कछू न होइ (सा० २४-३-१)।

पहर्‌यां—पहने। उ० माला पहर्‌यां हरि मिलै, तौ अरहर कै गलि देष। (सा० २४-६-२)।

पहरै—सं० पु० (हि० पहर, पहरा)—नियुक्ति पर, चौकी पर, पहरे पर। उ० कोइ एक राखै सावधान, चेतनि पहरै

जांगि। (सा० ३४-१०-१)।

पहला—अ० (सं० प्रथम)—पहलादी। उ० अवहि रुपहला दिन (५५-६-२)।

पहली—अव्य० (सं० प्रथम, प्रा० पहिली)—पहले आरम्भ में। उ० सुख मांगै दुख पहली आवै, तायै सुख मांग्या नहीं आवै)। प० ८२-३)।

पहा—सं० पु० (सं० पथ, हि० पाहा)—बीच का रास्ता, मेंड। उ० जागहु रे नर सोवहु कहा, जम वटपारैं रूंधैं पहा। (प० ३५१-१)।

पहाड़ी—सं० स्त्री० (हि० पहाड़+ई (प्रत्य०)—पहाड़ पर। उ० वन कै ससै समंद घर कीया मंछा वसै पहाड़ी। (प० १०-३)।

पहार—दे० 'प्रहार'। (पा० प० २६-७)

पहि—अव्य० (हि० पास)—पास। (पा० प० ८६-८)।

पहिचांनां—क्रि० स० (हि० पहचान से)—समझ लिया, जान लिया। उ० जब कैं मोर तोर पहिचांनां। (प० ६६-२)।

पहिचांनैं पहचानता है। (पा० चौ० र० ३३-१)।

पहचानिए—समझिए। (पा० सा० १५-१७-१)।

पहिरवा—सं० पु० (हि० पहनावा)—पहनावा, पोशाक। उ० वाकुल वसतर किता पहिरवा, का तप वन खंडिरासा। (प० ८८-३)।

पहिरहिं—क्रि० स० (हि० पहनना)—पहनते हैं। (पा० सा० १५-२६-१)।

पहिरांऊं—क्रि० स० (हि० पहनना)—पहना दूं, चढ़ा दूं। उ० दे० मुहरा लगाय पहिरांऊं, सिकली जीन गगन दौराऊं। (प० २५-२)।

पहिराऊँ—पहनाऊं। उ० फाड़ि फुटोला धज करौं, कामलड़ी पहिराऊँ। (सा० ३-४१-१)।

पहिरावऊं—पहनाऊँ। (पा० प० ८१-३)।

पहिरा—क्रि० स० (हि० पहनना)—पहना। (पा० प० १४३-६)।

पहिरि—पहन कर। (पा० प० १७-४)।

पहिरी—पहन ली। (पा० प० १७५-५)।

पहिरे—पहनने से। (पा० सा० २५-१०-२)।

पहिला—अव्य० (हि० पहला)—आरम्भ में। (पा० सा० २२-६-२)।

पहिली—आरम्भ में ही, पहले ही। उ० काल्हि जुकाटां भाजिसी, पहिली क्यूं न खडाउं। (सा० ५०-१-२)।

पहिले—पहले। (पा० र० २-१)।

पहिलैं—पहले ही। (पा० प० ११०-१२)

पहूंती—दे० 'पहूंची'। पहुंचा। (प० १३७-३)।

पहुंचा—क्रि० अ० (सं० प्रभूत, प्रा० पहूच+ना (प्रत्य०)—प्राप्त किया, पहुंच गया। (पा० प० १९५-१४)।

पहूंची—पहुंच पाई। (पा० प० १७४-४)

पहुंचैंगे—प्राप्त कर लेंगे। उ० पहुंचैंगे तव कहैंगे, ऊमडेंगे उस ठांइ। (सा० ८-५-१)।

पहुंचौगे—पहुंच जाओगे। (पा० सा० १०-१२-२)।

पहुंची—हो गई, पहुंच गई। (पा० सा० ११-४-१)।

पहुंचै—पहुंच जाए। (पा० सा० १६-२६-२)।

पहुप—सं० पु० (सं० पुष्प)—फूल। उ० पहुप विन एक तरवर फलिया, विन कर तूर वजाया। (प० ६-१)।

पहूंती—दे० 'पहुंची'। उपस्थित हुई। उ० जे जम आगैं ऊवरौं, तो जुरा पहूंती आइ। (सा० ४६-८-२)।

पांइन—सं० पु० (सं० पाद, हि० पाँव)—पैर। उ० विन हाथनि पांइन विन

कांननि, विन लोचन जग सूझै। (प० १५६-२)।

ाउं—पैर के। (पा० प० ११६-३)।

ाऊं (१)—पैर। उ० बांझ का पूत बाप बिन जाया, बिन पांऊं तरवरि चढ़िया। (प० १५८-३)।

ाँऊं—क्रि० स० (हि० पाना)—पाता, प्राप्त कर पाता। उ० सो बूटी पाँऊँ नहीं, जातैं जीवनि होइ। (सा० ३-४०-२)।

ाऊं—प्राप्त करूँ। (प० ११८-२)।

ाँच—वि० (सं० पंच)—चार और एक। उ० पांच कहार का मरम न जांनां। (प० ६०-५)।

ाचउ—पाँचों। (पा० प० ५-३)।

ाँचू—पांच। उ० पाँचू राखैं परसती, सहज कहीं जै सोई। (सा० २१-२-२)।

ाँचों—पाँच। उ० इंद्र सरीखे गये नर कोड़ी, पाँचो पांडौं सरिषी जोड़ी। (प० २४७-३)।

ाँचौं—पाँच। (पा०प० २-४)।

ाँचौ—पाँच। (पा० प० ५६-६)।

ांडल—सं० पु० (सं० पांडर)—कुंद का फूल। उ० पांडल पंजर मन भवर, अरथ अनूपम वास। (सा० ३५-१६-१)

ाँडे—सं० पु० (सं० पंडित)—धर्मोपदेशक। उ० वेद पुरांन पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसैं मारा। (प० ३६-३)।

ांडौं—सं० पु० (सं० पांडव)—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव। उ० इंद्र सरीखे मर गये नर कोड़ी, पांचों पांडौं सरिषी जोड़ी। (प० २४७-३)।

ांण—सं० पु० (पाण)—दाँव, बाजी, वश। उ० चित चर्णूं मैं चुमि रह्या तहाँ नहीं काल का पांण। (सा० ४७-५-२)।

ांणति—सं० स्त्री० (सं० प्रज्ञप्ति, प्रा० पण्णति)—उपाय, युक्ति। उ० चंद सूर दोऊ पांणति करिहैं, गुरमुषि बीज विचारी। (प० २१४-८)।

पांणतिहारी—वि० (सं० प्रज्ञप्ति, प्रा० पण्णति+हि० हारी (प्रत्य०)—उपाय करने वाली। उ० कबहू न सोवै काज संवारे, पांणतिहारी माती। (प० २१६-४)।

पांणियां—सं० पु० (सं० पानीय)—पानी, जल, शुद्ध चेतन। उ० लूंण बिलगा पांणियां, पांणीं लूंण विलग। (सा० ५-१६-२)।

पांणीं—दे० 'पांणियां'। पानी। (सा० ५-१६-२)।

पाँति—सं० स्त्री० (सं० पंक्ति)—बिरादरी पाँत। उ० जाति पाँति कुल सब मिटे नाँव धरौगे कौंण। (सा० १-१४-२)।

पांति—(पा० प० १-४)।

पांत्य—बिरादरी। उ० नांतिहि जाति पांत्य कुल लीका, नांतिहि छोति पवित्र नहीं सींचा। (र० वा०-६४)।

पांन (१)—सं० पु० (सं० पान)—सफलता। उ० जुलहै तनि बुनि पांन न पावल, फारि बुनी दस ठांई हो। (प० ५०-७)।

पांन (२)—सं० पु० (सं० पर्ण, प्रा० पण्ण)—पत्ता। उ० सूकित पाँन परत तरवर थैं, उलटि न तरवरि आवैं। (प० ३६७-४)।

पांनहीं—सं० स्त्री० (सं० उपानह, हि० पनही)—जूता। (पा० सा० ४-१३-२)।

पांनां—दे० 'प्रांनां'। (पा० र० २-२)।

पांनियां—दे० पनियां। पानी। (पा० प० १३१-५)।

पांनीं—सं० पु० (हि० पानी)—जल। (पा० प० ३४-४)।

पांनौं—पानी, जल। (पा० सा० २२-७-१)।

पाँव—सं० पु० (सं० पाद, प्रा० पाव)—पैर। उ० एक दिनां भी सोवणां, लंबे

पाँव पमारि। (सा० २-११-२)।

पांवड़ै—दे० 'पाइडै'। रकाव। (पा० प० ८१-२)।

पांवरी—सं० स्त्री० (हि० पाँव + री)—खड़ाऊँ। (पा० प० १४३-५)।

पांवां—सं० पु० (सं० पाद, प्रा० पाव)—पैर। (पा० सा० १-१२-२)।

पांषां—सं० पु० (सं० पक्ष, हि० पांख)—पर, पंख। उ० देव बिन देहुरा पत्र बिन पूजा, बिन पांषां भवर बिलंबिया। (प० १५८-७)।

पांसा—दे० 'पासा'। (पा० सा० १६-६-२)।

पांहण—सं० पु० (सं० पाषाण, प्रा० पाहाण)—पत्थर। उ० पांहण केरा पूतला, करि पूजैं करतार। (सा० २३-१-१)।

पांहनि—दे० 'पांहणि'। पत्थर द्वारा। उ० पांहनि बोई पृथमीं, पंडित पाड़ी बाट। (सा० २३-२-२)।

पांहुणां—सं० पु० (सं० प्राघूर्ण)—अतिथि, पाहुन, मेहमान। उ० घरि परमेसुर पाँहुणां, सुणों सनेही दास। (सा० ११-१८-१)।

पांहुनडौ—दे० 'पांहुणां'। मेहमान, पाहुन। उ० भयौ रे मन पांहुनडौ दिन चारि। (प० ३१३-१)।

पाइं—दे० 'पाइ' (१) पैर। (पा० प० १-३)।

पाइ (१)—सं० पु० (सं० पाद, हि० पाय)—पैर। उ० पाइ पदारथ पेलि करि, कंकर लीया हाथि। (सा० ४८-१-१)।

पाइ (२)—क्रि० स० (हि० पाना)—प्राप्त की। उ० कहै कबीर संसा नहीं, भगति मुकति गति पाइ रे। (प० ५-१८)।

पाइए—पाया जा सकता है। उ० हँसि हँसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ। (सा० ३-२६-१)।

पाइअै—प्राप्त हो। (पा० प० ८२-१)।

पाइबो—प्राप्त कर लूंगा। उ० अब मैं पाइबौ रे पाइबो ब्रह्म गियान। (प० ६-१)।

पाइबौ—प्राप्त करूँगा। (प० ६-१)।

पाइया—प्राप्त किया। (पा०प० ३४-६)

पाइये—पाया जा सकता है। उ० कहौ संतौ क्यूं पाइये, दुर्लभ हरि दीदार। (सा० २-२७-२)।

पाइसि—*पाओगे। उ० द्वादस दल अभि-*अंतरि म्यंत, तहां प्रभू पाइसि करि लै च्यंत। (प० ३२८-११)।

पाई (१)—प्राप्त की, पा लिया। उ० थापणि पाई थिति भई, सतगुर दीन्हीं धीर। (सा० १-२६-१)।

पाईया—प्राप्त किया। उ० रतन निराला पाईया, जगत ढंढौल्या बादि। (सा० ५-३३-२)।

पाए—प्राप्त किया। (पा० प० ६-२)।

पाया—पा लिया। उ० आई सूति कबीर की पाया राम रतन। (सा० २-७-२)।

पाये—प्राप्त किया। उ० बहुत दिनन थै मैं प्रीतम पाये। (प० २-१)।

पायौ—प्राप्त किया। उ० उपपति ब्यंद भयौ जा दिन थैं, कबहूं सच नहीं पायौ। (प० ३०८-३)।

पावई—प्राप्त कर पाते हैं, पाते हैं। उ० मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया बिश्राम। (सा० ५-११-२)।

पावउं—प्राप्त करूँ। (पा० प० १८९-५)।

पावल—पाते हैं। (पा० प० ५३-६)।

पावहि—पाते हैं। (पा० सा० ११-२-२)।

पावहिंगे—प्राप्त करेंगे। उ० तब हम रांमहि पावहिंगे। (प० १५०-२)।

पावहीं—पाते हैं। (पा० सा० ६-२१-२)।

वहु—प्राप्त करो। (पा० प० १२८-२)

वा—प्राप्त किया। उ० कहै कबीर मन ानहि मिलावा, अमर भये सुख सागर ावा। (प० ४३-५)।

वैं—पाते, ग्रहण करते। उ० उहु मार्ग ावैं नहीं, भूलि पड़े इस मांहि। (सा० १४-१-२)।

वै—प्राप्त कर ले, पा सकता है। उ० ाहनिसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूं पावै ुलभ जोग। (सा० २-२८-२)।

वौं—प्राप्त करूँ। (पा० प० ८-३)।

हीं—पाते हैं। (प० प० ३३-५)।

इक—सं० पु० (सं० पादातिक)—ादल सिपाही। उ० पाइक पंच पुहमि ाकै प्रकटै, सो क्यूं कहिये दूरा। (प० १६१-६)।

इडै—सं० पु० (हि० पाँव+रा)—ाकाव जिस पर घोड़े की सवारी के ामय पाँव रखते हैं। उ० अपनें बिचारि ासवारी कीजै सहज कै पाइडै पाव जब ाीजै। (प० २५-१)।

इल—सं० स्त्री० (हि० पाय+ल)—ायल, नूपुर, पाजेब। उ० का चूरा ाइल झमकायें, कहा भयौ बिछुवा ामकायें। (प० १३६-३)।

ई (२)—सं० स्त्री० (सं० पाद)—किसी एक ही निश्चित घेरे में चलने या नाचने की क्रिया अथवा जुलाहों की टिकठी। उ० ऐसै पाई पर बिथुराई, त्यूं रस बांनि बनायौ री, माई को बीनैं। (प० १६-५)।

उ—दे० 'पाँव'। पैर। (पा० प० १८७-५)।

ाऊँथैं—सं० पु० (सं० पाद)—पैर से। उ० पाऊँ थैं पंगुल भया, सतगुर मारचा बाण। (सा० १-१०-२)।

ाकंपाक—वि० (फा० पाक)—सर्वथा शुद्ध। (पा० प० ८७-६)।

ाक—वि० (फा०)—पवित्र, शुद्ध। उ० दिल नहीं पाक पाक नही चीन्हां, उसदा षोज न जांनां। (प० ६२-६)।

पाकड़ि—क्रि० स० (हि० पकड़ना से)—पकड़कर। उ० तिहिं धेन थैं इंछ्या पूगी, पकड़ि खूंटै बांधी रे। (प० १५२-५)।

पाकडै—पकड़े। उ० देखा देखी पाकड़ै, जाइ अपरचै छूटि। (सा० २६-१-१)।

पाका—क्रि० स० (हि० पकाना से)—पका हुआ, पकाया हुआ। उ० पाका कलस कुँभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि। (सा० ६-१-२)।

पाखंड—दे० 'पाषंड'। ढोंग। (पा० प० ६६-४)।

पाखर—दे०'पाषर'। (पा०प० ११६-४)

पाखांन—सं० पु० (सं० पाषाण)—पत्थर। (पा० प० १७६-८)।

पाग—सं० स्त्री० (हि० पगड़ी)—पगड़ी। उ० टेढ़ी पाग बडजूरा, जरि भए भसम कौ कूरा। (प० २६४-३)।

पागा—दे० 'पाग'। पगड़ी। उ० जा सिरि रचि बांधत पागा, ता सिरि चंच सँवारत कागा। (प० २६५-४)।

पाछां—क्रि० वि० (हि० पीछा)—पीछा। (सा० १६-१४-२)।

पाछां पडै—(मुहा०)-तंग कर देती है। उ० पैंड़ी चढ़ि पाछां पड़ै, लागै मोटी खोड़ि। (सा० १६-१४-२)।

पाछैं—पीछे। (पा० सा० १-१४-१)।

पाट—सं० पु० (सं० पट्ट, पाट)—शहतीर जो कुएँ के मुँह पर पानी निकालने वाले के खड़े होने के लिए रखा जाता है। उ० द्वै थर चढि गयौ रांड कौ करहा, मनह पाट की सैली रे। (प० ७६-४)।

पाटन—सं० स्त्री० (हि० पाटना)-छत, ऊपर की मंजिल। उ० तन पाटन मैं कीन्ह पसारा, मांगि मांगि रस पीवै विचारा। (प० ७३-४)।

पाट पटंवर—सं०पु० (सं० पट्ट, पाटंवर)—रेशमी वस्त्र। उ० एकनि दीनां पाट पटंवर, एकनि सेज निवारा (प० १०५-४)।

पाटी में—सं० स्त्री० (सं० पाट)—तख्ती पटिया में। उ० मेरी पाटी मैं लिखि दे श्री गोपाल। (प० ३७९-४)।

पाटै—सं० पु० (सं० पट्ट, पाट)—तख्त, सिंहासन। उ० ठाकुर ले पाटै पौढावा, भोग लगाइ अरु आपै खावा। (र० चौ० २९)।

पाटौं—क्रि० स० (हि० पाटना)—भर दूं, समतल कर दूं। उ० सायर फोडि नीर मुकलाऊं, कुंवा सिला दे पाटौं (प० १९६-४)।

पाठ—सं० पु० (सं०)—पढ़ना। उ० अंजन विद्या पाठ पुरांन, अंजन फोकट कथहि गियांन। (प० ३३६-५)।

पाडल—सं० पु० (सं० पाटल)—फूल विशेष का पौधा। (सा० ११-११-नो० १२)।

पाड़िये—क्रि० स० (हि० पाटना या पड़ना)—डाला जाए, फेंका जाए। उ० कत कत की सालि पाड़िये, गल वल सहर अनंत। (सा० ३७-५-२)।

पाड़िले—गिरादे, जीतले। उ० पंच पयादा पाड़िले, दूरि करै सब दूज। (सा० ४५-३-२)।

पाड़ी (१)—डाल दी। उ० पांहनि बोई पृथमीं, पंडित पाड़ी वाट। (सा० २३-२-२)।

पाड़ैगा—गिरा देगा। (पा० सा० १५-८३-२)।

पाड़ी—क्रि० अ० (सं० पतन, प्रा० पड़न, हि० पड़ना)—पड़गई। उ० सतगुर मिल्या त का भया, जे, मन पाड़ी मोल। (सा० १-२४-१)।

पाड़ै—क्रि० अ० (सं० पारय)—समर्थ होता है, सकता है। उ० आंसा पास पंड नहीं पाड़ै, यौं मन सुंनि न लूटै। (प० १७९-५)।

पाड़ोसनि—सं० स्त्री० (हि० पड़ोस+ई प्रत्य०)—प्रतिवासी। उ० पाड़ोसनि पनि भई विरांनी मांहि हुई घर घालैं। (प० ८१-५)।

पाड़ोसी—सं० पु० (हि० पड़ोस+ई)—प्रतिवेशी, हमसाया। उ० पाड़ोसी जूं रूसणां, तिल तिल सुख की हांणि। (सा० १७-१२-१)।

पांणीं मांहैं—सं० पु० (सं० पानीय)—जलमें। उ० पाणीं मांहैं प्रजली, भई अप्रवल आगि। (सा० ४-९-१)।

पात—सं० पु० (सं० पत्र)—पत्ता। उ० द्विवस चारि की है पति साही, ज्यूं वनि हरियल पात। (प० ४००-४)।

पातग—सं० पु० (सं० पातक)—पाप। उ० एकही वात रहै दस मासा, सूतग पातग एकै आसा। (र० चौ०-३)।

पातरा—दे० 'पातला'। (पा० सा० २९-३-१)।

पातला—वि० (सं० पात्रट, प्रा० पात्तड़, हि० पतला)—तरल, पतला। उ० पांणी हीं तैं पातला, धूंवाँ ही तैं भीण। (सा० १३-१२-१)।

पाताल—सं० पु० (सं०)—अधोलोक। उ० सद पांणीं पाताल का, काढ़ि कबीरा पीव। (सा० ५०-५-१)।

पातालि—पाताल। (पा० प० १५६-३)।

पाताले—पाताल में। उ० आकासे मुखि औंधा कुवां, पाताले पनिहारि। (सा० ५-४५-१)।

पातालै—पाताल में। (पा० सा० ९-३८-१)।

पातिग—दे० 'पातग'। पाप, गुनाह। उ० नां तिहि सूतिग पातिग जातिग, नां तिहि माइ न देव कथा पिक। (र० वा० ६२)।

पातिव्रत—सं० पु० (सं० पातिव्रत)—

तीत्व। (पा० प० १७६-६)।

तसाह—सं० पु० (फा० पादशाह)—
ादशाह। उ० जोटि कटक गढ तोरि
ातिसाह, खेलि चल्यौ एक खेला।
ा० ३१६-४)।

ी—स० स्त्री० (सं० पत्र, हि०
त्रा)—छोटा पत्रा। उ० मांहैं पाती
ांहि जल, मांहैं पूजण हार। (सा०
-४२-२)।

—पत्ते। (पा० सा० ६-६-२)।

पातौं—पत्ते-पत्ते। उ० डाली डाली
फिरौं, पातौं पातौं दुख। (सा०
८-११-२)।

र—सं०पु० (सं०प्रस्तर, प्रा० पत्थर)—
थर। उ० साधू प्रतषि देव हैं, नहीं
ाथर सू कांम। (सा० २३-५-२)।

—सं० पु० (हि० पानी)—जल।
० अंन पान जहाँ जरै, तहां तैं अनल
चषियौ। (सा० ३५-१-४)।

सुपारी—यौ० (पान+सुपारी)—
बूल के कीड़े। उ० उजल कपड़ा
ुरि करि पान सुपारी खांहि। (सा०
२-५४-१)।

—सं० पु० (सं०)—गुनाह, दुष्कृत,
धर्म। उ० रांम कह्यां थैं जलि मरै,
ो पूरि बला पाप। (सा० २०-२२-२)

ाणीं (१)—सं० स्त्री० (सं० पापिनी)
र, नृशंस पातकिन। उ० कबीर माया
ापणीं फंध ले वैठी हाटि। (सा० १६-
-१)।

पणीं (२)—वि० (सं० पापिनी)—
ूर। उ० तैं पापणीं सबै संघारे, काकौ
ाज संवारचौ। (प० २६६-७)।

पिनीं—(पा० सा० १५-८४-२)।

पी—वि० (सं० पापिन्)—पात की।
उ० तुम्ह समांनि दाता नहीं, हम से
ाहीं पापी। (प० १७८-१०)।

रं—दे० 'पार'। (पा० प० ११५-१०)

पार—सं० पु० (स०)—दूसरी ओर।
उ० पैंली पार के पारधी, ताकी धुनहीं
पिनच नहीं रे (प० २१२-५)।

पारधियां—दे० 'पारधी'। शिकारी।
(सा० ४२-१-नो०-१)।

पारधी—सं० पु० (सं० परिधान)—
शिकारी, वहेलिया। उ० रोहै मृग
ससा वन घेरैं, पारधी बाँण न मेलैं।
(प० ६-५)।

पारधी पनौं—सं० पु० (हि०)-तीरन्दाज
उ० पारधी पनौं जे साधै कोई, अध
खाधा सा राखै सोई। (प० ३५३-४)।

पारबती—सं० स्त्री० (सं० पार्वती)—
उमा, शिवा। (पा० प० १०३-३)।

पारब्रम्ह—सं० पु० (सं० परब्रह्म)—
निर्गुण, निरुपाधि ब्रह्म। उ० पारब्रह्म
के तेज का, कैसा है उनमान। (सा०
५-३-१)।

पारब्रह्म—(पा० प० १५५-१४)।

पारषू—वि० (सं० परीक्षक, हि०
पारिख)—गुण-दोष देखने वाला। उ०
कबीर जुलाहा भया पारषू, अनभै
उतरचा पार। (सा० ५-४७-२)।

पारस (१)—सं० पु० (सं० स्पर्श)—
स्पर्शमणि, पारस पत्थर। उ० पाथर
घाटा लोह सब, रतवर पारस कौणें
काम। (सा० ३-८-२)।

पारस (२)—वि० (सं० स्पर्श)—उत्तम,
नीरोग, चंगा। उ० कबीर सुपनैं रैनिकै,
पारस जीभ मैं छेक। (सा० १२-२३-१)।

पारा—दे० 'पार'। दूसरा छोर। उ०
तन मन डस्यौ भुजंग भामिनी, लहरी
वार पारा। (प० ३०८-५)।

पारि—दे० 'पार'। दूसरे किनारे। उ०
सवल सनेहीं हरि मिले, तव उतरे पारि
कवीर। (सा० ५०-६-२)।

पारिखू—दे० 'पारिषू'। परीक्षक। (पा०
सा० १८-१-२)।

पारिख—सं० स्त्री० (सं० परीक्षा, प्रा० परिभव, हि० परख)—पहचान, जाँच। उ० नां सो भारी नां सो हलवा, ताकी पारिख लषै न कोई। (प० १६६-४)।

पारिखू—दे० 'पारखू'। परीक्षक। उ० जवर मिलैगा पारिखू, तव हीरां की साटि। (सा० ४६-३-२)।

पारी—सं० स्त्री० (सं०)—हाथी के पैर की रस्सी में। उ० पांच किसानां भाजि गये हैं, जीवधर वांध्यौ पारी हो रांम। (प० २२२-१०)।

पारोसनि—दे० 'पाड़ोसनि'। उ० तौका पारोसनि कैं हुलराये। (प० १३६-२)।

पालड़ै—सं० पु० (सं० पटल, हि० पलड़ा) —तराजू का पल्ला, तुलापट। उ० विन डांडी विन पालड़ै, तोलै सव संसार। (सा० ३८-८-३)।

पालरै—दे०'पालड़ै'। (पा०सा० ८-१०-२)।

पालवै—क्रि० अ० (सं० पल्लव+ना)—पल्लवित होता है। उ० दाधी देह न पालवै, सतगुर गया लगाय। (सा० ४-६-२)।

पाला—सं० पु० (सं० प्रालेय)—तुषार, चेतन, जीव। उ० पाला गलि पांणी भया ढुलि मिलिया उस कूलि। (सा० ५-१८-२)।

पालि—सं० स्त्री० (सं०)—पानी को रोकने वाला वाँध। उ० सूकै सरवर पालि वँधावै, लुणै खेत हठि वाड़ि करै। (प० २४३-५)।

पाली—क्रि० स० (हि० पालना से)—रक्षा की, वचाई, भरण-पोपण की। उ० इहि औसरि चेत्या नहीं, पसु ज्यूं पाली देह। (सा० १२-३०-१)।

पाल्यो—रक्षा की, पाली। उ० राम नाम जाण्यां नहीं, पाल्यो कटक कुटुंव। (सा० १२-३३-१)।

पाव—सं० पु० (सं० पाद)—(१) पैर। उ० पावक कह्यां पाव जे दाझै, जल कहि त्रिपा बुझाई। (प० ४०-३)। (२) चतुर्थांश, चार छटांक का मान। उ० अढाई मैं जे पाव घटै तो करकस करै वजहाई। (प० १६३-५)।

पावक—सं० पु० (सं०)—आग। उ० दीपक पावक आंणिया, तेल भी आंण्या संग। (सा० ४-१-१)।

पावढौ—सं०पु० (हि० पावटा)—पावटा, जो क्यारियों को ठीक से भरने के लिए ढाला जाता है, पैट। उ० त्रिकुटी चढचौ पावढौ ढारै, अरध उरध की क्यारी। (प० २१४-७)।

पावस—सं० स्त्री० (सं० प्रावृष, प्रा० पाउस)—वर्षा काल, वरसात। उ० वासी पावस पड़ि मुए, विषै विलंवे जीव। (सा० ५०-५-२)।

पावां—दे० 'पाँव'। पैर। (पा० सा० २३-३-१)।

पाखंड—सं०पु० (सं०)—ढोंग, आडम्वर। उ० रोड़ा ह्वै रहौ वाट का, तजि पाषंड अभिमान। (सा० ४१-१४-१)।

पाषंड—दे० 'पाषँड'। ढोंग। उ० छह दरसन छ्यांनवै पाषंड, आकुल किनहूं न जांनां। (प० ३४-४)।

पाषर—सं० स्त्री० (सं० प्रक्षर, प्रा० पक्खर)—राल चढाये हुए टाट से वनी पोशाक, लोहे की झूल, जिरह-वख्तर। उ० कवीर मूँडठ करमियाँ, नष सिष पाषर ज्यांह। (सा० ५५-५-१)।

पाषें सूं—सं०पु० (सं० पक्ष, हि० पाख)—दीवार का ऊँचा भाग। उ० मगरी तजौं प्रीति पाषें सूं, डांडी देहु लगाइ। (प० २२-३)।

पाषैं—अव्य० (?)—विना। उ० चरन पाषैं निरतिकरि, जिभ्या विनां गुंण गाइ। (प० २८०-२)।

पासंग—सं० पु० (फा०)—पसंगा। उ० सीस काटि पासंग दिया, जीव सर भरि

ीन्ह । (सा० ४५-२२-१) ।

ा (१)—सं० पु० (सं० पाश)—फंदा, धन । उ० जे कुछ चितवैं राम बिन, ोइ काल की पास । (सा० २-६-२) ।

ा (२)—सं० पु० (सं० पार्श्व)—ाकटता । उ० षट रस भोजन भगति रि, ज्यूं कदे न छाड़ै पास । (सा० ११-८-२) ।

ा—सं० पु० (सं० पाशक, प्रा० सा)—चौसर के खेल का एक अंग । ० पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया रीर । (सा० १-३२-१) ।

ारु—सं० पु० (सं० प्रसार)—फैलाव, ़ार । (पा० प० ६७-६) ।

स—(१) सं०स्त्री० (सं० पांशु)—पाँस । ० पासि बिनंठा कप्पड़ा, क्या करै चारी चोल । (सा० १-२४-२) ।

ा (२)—सं० पु० (सं० पार्श्व)—र, तरफ । उ० माया जल थलि माया कासि, माया व्यापि चहुँ पासि । (प० ़-६) ।

गयां—क्रि०अ० (हि० पास जाना)—ा जाने पर । उ० कै हरि आयां जिसी, कै हरि ही पासि गयां । (सा० ६-२) ।

—दे० 'पास' (१) । पाश, फंदा । कुसलहि कुसल करत जग खींना, काल भौ पासी । (प० ३६६-६) ।

—अव्य० (सं० पार्श्व)—पास में, धकार में । उ० नारि नसावैं तीनि ा, जाना पासैं होइ । (सा० २०-१०- ।

ा—सं० पु० (सं० पाषाण, प्रा० ़ाण)—पत्थर । (पा०प० १८६-४) ।

ाहुं—पत्थर से भी । (पा०प० १३६- ।

न—पत्थर । (पा०सा० २६-२-२) ।

ां—यौ० अव्य० (सं० पार्श्व, प्रा० पाह)—पास गया । (सा० ४८-१-नो०३)।

पाहुणां—सं० पु० (सं० प्राघूर्ण)-अतिथि । उ० सूनें घर का पाहुणां, ज्यूं आया त्यूं जाव । (सा० २-१८-२) ।

पाहुनां—दे० 'पाहुणां' । अतिथि । (पा० प० ३३-१) ।

पाहुनें—अतिथि । (पा० प० ५-४) ।

पिंगला—दे० 'प्यंगुला' । नाड़ी-विशेष । (पा० प० ११३-४) ।

पिंगुला—दे०'पिंगला' (पा०प० १२७-४)।

पिंजर—सं० पु० (सं० पंजर)—शरीर, देह । उ० पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनंत । (सा० ५-१३-१) ।

पिंजरु—पिंजर । (पा० प० ६-४) ।

पिंड—सं० पु० (सं०)—पके हुए चावल आदि का गोल लोंदा जो श्राद्ध में पितरों को अर्पित किया जाता है । दे० 'प्यंड' (पा० प० ६२-३) ।

(२) शरीर । (पा० प० ११३-३) ।

पिंडि—शरीर । (पा० प० १३०-१३) ।

पिंडु—शरीर । (पा० प० ४०-२) ।

पिंडरोग—सं० पु० (सं०)—ऐसा रोग जिसने शरीर में घर किया हो । उ० पीलक दौड़ी सांइयां, लोग कहै पिंडरोग । (सा० २६-१०-१) ।

पिआएँ—दे० 'पिलांये' (पा०प० १६८-४)

पिआरी—दे० 'पियारा' का स्त्री० रूप । (पा० प० १३५-३) ।

पिआला—सं० पु० (फा० प्याला)—छोटा कटोरा । (पा० प० १३३-७) । दे० 'पियाला' ।

पिउ—दे० 'पीव' । (पा० प० ११-१) ।

पिउरिया—दे०'पिउ' । (पा०प० १३६-१)

पिऊँ—दे०'पीऊँ'। पीता हुआ । (पा०सा० २-४४-२) ।

पिऊंगा—पान करूँगा । (पा०प० १६३-२)।

पिअै—पीता है । (पा० सा० १४-३४-२)।

पिचकारी—सं० स्त्री० (हि० पिचकना से)—नलदार यंत्र जिसका व्यवहार जल फैंकने के लिए किया जाता है। (पा० प० १४४-३)।

पिछांणि—सं० स्त्री० (सं० प्रत्यभिज्ञान)—पहचान। उ० हथ लेवा हौंसैं लिया, मुसकाल पड़ी पिछांणि। (सा० २४-२४-२)।

पिछांनि—दे० 'पिछानि'। (पा० प० १२३-३)।

पिछाना—क्रि० स० (हि० पहचान)—समझा। (र० १-टि० १३)।

पिछानिलेइ—क्रि० स० (हि० पहचान)—पहचान ले। उ० ऐसा कोई नां मिलै, हम कौं लेइ पिछानि। (सा० ४३-२-१)।

पिछै—दे० 'पीछैं'। बाद में। (पा० प० ११६-३)।

पिछोड़े—सं० पु० (सं० पक्षपट, प्रा० पच्छवड, हिं० पिछौरा)—रक्षार्थ ऊपर से डाली हुई ओट। उ० सबै पिछोड़े थोथरे, एक विनां वे सास (सा० ३५-१९-३)। अथवा

क्रि० स० (सं० प्रक्षालन)—पछोड़ना, फटकना। (सा० ३५-१९-२)।

पिछौरा—दे० 'पिछोड़े'। (पा० सा० ३२-४-२)।

पिटारै—सं० पु० (सं० पिटक, हि० पिटारा)—बाँस, वेंत आदि का बना ढकनेदार पात्र। उ० सापनि एक पिटारैं जागे। (प० ८३-५)।

पितंबर—वि० (सं० पीतांवर)—पीले वस्त्र वाला। उ० नां वो वारा व्याह वराता, पीत पितंवर स्यांम न राता। (र० वा०-४५)।

पिता—सं० पु० (सं० पितृ)—पिता। (प० ४००-७)।

पित्र—सं०पु० (सं० पितृ)—पिता। उ० जीवत पित्र कूं अन न ख्वांवैं, मूंवां पाछैं प्यंड भरावें। (प० ३५६-४)।

पित्रहि—पिता को। उ० जीवत पित्रहि मारहि डंगा। (प० ३५६-३)।

पिनच—दे० 'पनच'। प्रत्यंचा। उ० पैली पार के पारधी, ताकी धुनहीं पिनच नहीं रे। (प० २१२-५)।

पिपीलिका—दे० 'पपीलका'। चींटी। (पा० सा० १०-२-२)।

पिय—दे० 'पीव'। प्रिय, पति। (पा०प० ६-४)।

पियहि—पति को। उ० नां जानौं को पियहि पियारी। (प० ११८-३)।

पियन—क्रि० स० (हि० पीना से)—पीने। (पा० सा० ३३-६-२)।

पिया (१)—पी लिया। उ० कवीर हरि रस यौं पिया, वाकी रही न थाकि (सा० ६-१-१)।

पिया (२)—दे० 'पिय'। प्रिय, पति (पा० प० १७-१)।

पियाइ—क्रि० स० (सं० पान)—पिलाकर। (पा० प० १६४-५)।

पियाइए—पिलाइए। (पा० सा० ५-१२-१)।

पियावत—पिलाते। (पा० सा० १५-१२-१)।

पियावहु—पिलाओ। (पा० सा० १२-१०-२)।

पिलांये—पान कराने। उ० का विसहर कौ दूध पिलांये। (प० २२-२)।

पिलावत—पिलाते, पान कराते। उ० नीर पिलावत क्या फिरै, सायर घर घर वारि। (सा० ३७-७-१)।

पियादें—दे० 'पयादा'। (पा० सा० १४-१०-२)।

पियारा—वि० (सं० प्रिय)—प्रेम पात्र, प्रिय। उ० संसा खूटा सुख भया मिल्या पियारा कंत। (सा० ५-१३-२)।

पियारी—प्यारी। उ० नां जानौं को

पयहि पियारी। (प० ११८-३)।

पयारे—उ० भिस्त न मेरे चाहिये, वाझ पियारे तुझ। (सा० ११-७-२)।

पयारो—उ० पूर पियारो पिता कौं, गौहनि लागा धाइ। (सा० ३-३१-१)।

पयारियां—वि० (सं० प्रिय)—प्यारी, सखियाँ, साथिनें। उ० झूलें पंच पियारियाँ, तहां झूलैं जीय मोर। (प० १८-४)।

प्याला—सं० पु० (फा० प्याला)—छोटा कटोरा। उ० अब तौ एक अनूपम बात भई, भवन पियाला साजा। (प० १५३-६)।

प्यालै—उ० प्रेम पियालै पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी। (प० ७४-८)।

प्यासं—हु० 'पियास' (पा०प० ११५-७)

प्यास—सं० स्त्री० (सं० पिपासा)—तृषा, प्यास। उ० कवीर सीप समंद की, रटै पियास पियास। (सा० ११-५-१)।

प्यासा—वि० (सं०पिपासित)—तृषित। उ० बजर परौ इहि मथुरा नगरीं, कान्ह पेयासा जाई रे। (प० ७६-६)।

पृथिमी—दे० 'पृथमी'। पृथ्वी। (पा० सा० २५-१६-१)।

पृथी—दे० 'पृथी'। (पा० प० ५७-३)।

पिरानीं—क्रि० अ० (सं० पीड़न, हि० पिराना)—दुखने लगी, दर्द करने लगी। उ० कऊवा उड़ावत मेरी बहियां पिरानीं। (प० ३६०-४)।

पिरावनीं—क्रि० स० (हि० पिरावना)—दुखाने वाली। उ० कबीर पीर पिरावनीं पंजर पीड़ न जाइ। (सा० ३-१३-१)।

प्रीति—दे० 'प्रीति'। (पा० सा० २-३-२)।

प्रेम—दे० 'प्रेम'। (पा०सा० २४-६-१)

पिव—सं० पु० (सं० प्रिय)—स्वामी, पति। उ० धन मैली पिव ऊजला, लागि सकौं पाइ। (सा० ५-३६-२)।

पिवैं—क्रि० स० (हि० पीना से)—पिये, पान करे। (पा० प० ३८-५)।

पिवै—पिये। उ० सिर सौं पै सोई पिवै, नहीं तो पिया न जाइ। (सा० ६-३-२)।

पी—पान किया। (पा०सा० ३१-२५-२)।

पीआ—पी लिया। (पा० प० ५५-१)।

पीऊं—पान करूँ। उ० डरता पाणीं ना पीऊं, मति वै धोये जाहिं। (सा० ५०-७-२)।

पीएँ—पान करने से। (पा० चौ० र० ३३-२)।

पींड—दे० 'पेड़'। (पा० प० १०८-३)।

पीउ—दे० 'पिव'। पति। (पा० प० ७०-३)।

पीछैं—अव्य० (हि० पीछा)—पीठ की ओर, बाद में, पश्चात। उ० कबीर आरणि पैसि करि, पीछैं रहै सु सूर। (सा० ४५-५-१)।

पीजै—क्रि० स० (हि० पीना से)—पान करे। (पा० प० १४६-२)।

पीटै—क्रि० स० (सं० पीड़न, हि० पीटना)—बजावै, मारै। उ० ताली पीटै सिर धुनैं, मीठै बोई माइ। (सा० २५-६-१)।

पीठिदे—(मुहा०)—विमुख होकर, मुँह मोड़कर। उ० जवहीं चालै पीठि दे, अंकुस दे दे फेरि। (सा० १३-१९-२)।

पीठिदै—मुँह मोड़कर। (पा० सा० २९-१६-२)

पीड़—सं० स्त्री० (सं० पीड़ा)—व्यथा, वेदना। उ० एक ज पीड़ परीति की, रही कलेजा खाइ। (सा० ३-१३-२)।

पीत—वि० (सं०)—पीला। उ० अबरन बरन स्यांम नहीं पीत, हाहु जाइ न गावै गीत। (प० ३२८-८)।

पीतल—दे० 'पीतलि'। (पा० सा० २१-१८-१)।

पीतलि—सं० पु० (सं० पित्तल)—पीतल

नामक धातु। उ० राम नांम चीन्हैं नहीं, पीतलि ही कै चाह। (सा० १७-५-२)।

पीपल—सं० पु० (सं० पिप्पल)—पीपल का पेड़। (सा० १२-२४-नो०-३२)।

पीयरी—वि० (सं० पीत)—पीली। उ० कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल माह। (सा० ३१-६-१)।

पीया—क्रि० स० (हि० पीना से)—पान किया। उ० पाँणी पीया चंच विन, भूलि गया यहु देस। (सा० ५-२०-२)।

पीर (१)—सं० पु० (सं० पीड़ा)—दुःख। उ० कबीर पीर पिरावनीं, पंजर पीड़ न जाइ। (सा० ३-१३-१)।

पीर (२) सं० पु० (फा०)—सिद्ध, धर्म-गुरु। उ० मीरां मुझ मैं क्या खता, मुखां न बोलै पीर। (सा० ५६-६-२)।

पीरां—धर्मगुरु। उ०पीरां मुरीदां काजियां, मुलां अरू दरवेस। (प० २५७-३)।

पीरौं—क्रि० स० (सं० पीड़न, हि० पेरना)—नष्ट भ्रष्ट कर दूँ। उ० पाप पुंनि दोऊ पीरौं। (प० ३८६-५)।

पीलक—सं० स्त्री० (सं० पीत)—पियराई, पीलापन। उ० पीलक दौड़ी सांइयां, लोग कहै पिंड रोग। (सा० २६-१०-१)।

पीला—वि० (सं० पीत)—पीतवर्ण, निस्तेज, कांतिहीन। उ० तंबोली के पान ज्यूं, दिन दिन पीला होइ। (सा० २६-६-२)।

पीव—सं० पु० (सं० प्रिय)-पति, स्वामी। उ० एकै अषिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होई। (सा० १६-४-२)।

पीवण—क्रि० स० (हि० पीना से)—पीना। उ० कबीर पीवण दुलभ है, मांगै सीस कलाल। (सा० ६-२-२)।

पीवत—पीते समय। उ० राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल। (सा० ६-२-१)।

पीवन—पीना। (पा० सा० १४-३३-२)।

पीवहिं—पीते हैं। (पा० प० १०६-३)।

पीवें—पीते हैं। उ० पंडित भए सरावगी पाणी पीवें छांणि। (सा० १७-१२-२)।

पीवेगा—ग्रहण करेगा, पान करेगा। उ० जो जिवावंत होइगा, तो जीवेगा झप मारि। (सा० ३७-७-२)।

पीवैं—पीता है। उ० कासी कांठैं घर करैं, पीवैं निर्मल नीर। (सा० १७-१६-१)।

पीवै—पीता है। उ० ता का पाँणि को हंसा पीवै, विरला आदि विचारि। (सा० ५-४५-२)।

पीवनहारा—सं०पु० (हि० पीना+हारा)—पीने वाला। (पा० प० ५६-४)।

पीसि—क्रि० स० (सं० पेपण, पीसना)-कुचलो, चूर्ण करो। उ० मैं मंता मन मारि रे, नांन्हां करि पीसि। (सा० १३-२०-१)।

पीहर—दे० 'पीहरि'। (पा०प० १६०-७

पीहरि—सं० पु० (सं० पितृ+गृह)—नैहर, मायका। उ० पीहरि जाँऊँ न रहूँ सासुरैं, पुरषहि अंगि न लांऊं। (प० २३१-६)।

पुंगरा—दे० 'पंगुड़ा'। (पा० प० १७७-१४)।

पुंज—सं० पु० (सं०)—समूह, ढेर। उ० कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या विरहा पुंज। (सा० ३-१-२)।

पुंनि (१)—दे० 'पुन्नि'। पुण्य। उ० कांम किवाड़ दुख सुख दरवांनीं, पाप पुंनि दरवाजा। (प० ३५६-२)।

पुंनि (२)—दे० 'पुनि'। फिर। (प० ३२-३)।

पुकार—सं० स्त्री० (हि० पुकारना)—दुहाई, टेर। उ० रात दिवस कैं कूकणैं, (मत) कबहूं लगैं पुकार। (सा० २-१६-२)।

पुकारतें—क्रि० स० (सं०प्र०+ क्रुश, हि० पुकारना)—चिल्लाते। (पा० सा० ३३-६-१)।

पुकारन—पुकारने के लिए। (पा० र० ३८-३)।

पुकारि-पुकारि—नाम ले-लेकर, चिल्लाते-चिल्लाते। उ० जीभड़ियां छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि। (सा० ३-२२-२)।

पुकारिया—पुकारता। उ० सारा बहुत पुकारिया, पीड़ पुकारै और (सा० ४०-८-१)।

पुकारी—पुकार कर (पा०प० १७०-१)।

पुकारे—पुकारता है। उ० अहेड़ी दौं लाइया, मृग पुकारे रोइ। (सा० ४-८-१)।

पुकारै—चिल्लाता है, पुकारता है। उ० पड़्या पुकारै व्रिछ तरि, आजि मरै कै काल्हि। (सा० ४-२-२)।

पुजादा—सं० पु० (सं० पूजा+कारी, पुजारी)—पूजा करने वाला। उ० पूजि पुजारा ले गया, दे मूरति कै मुहि छार (प० १६८-८)।

पुटोला—सं० पु० (सं० पटोला, हि० पटोर)—रेशमी कपड़ा। उ० फाड़ि पुटोला धज करौं, कामलड़ी पहिराउँ। (सा० ३-४१-१)। दे० 'फुटोला'।

पुड़—सं० पु० (हिं० पुट=नारि का पुटों को)—पुट। उ० दोइ पुड़ जोड़ि निगाई माठी, चुंया महा रस भारी। (प० ७२-५)।

पुड़िया—दे० 'पुड़ी'। (पा० सा० १५-४-१)।

पुड़ी—सं० स्त्री० (सं० पुटिका, प्रा० पुड़िया)—पुड़िया। उ० कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी ज बाँधी एह। (सा० १२-२०-१)।

पुतला—सं० पु० (सं० पुत्रक, पुत्तल)—क्रीड़ा के लिए बनी मूर्त्ति। उ० मन रे तन कागद का पुतला। (प० ६२-१)।

पुतिहाई—क्रि० स० (सं० प्लुत, प्रा० पुत+ना)—चुपड़ते गए, चढ़ाते गए। उ० पाई पाई तूं पुतिहाई, पाई की, तुरियां बेचि खाई री, माई को वीनैं। (प० १६-३)।

पुनरपि—क्रि० वि० (सं०)—फिर भी, दुबारा। उ० जुरायण भ्रम भाजिया पुनरपि जनम निवारि रे। (प० ४-१६)

पुनि—क्रि० वि० (सं० पुनः)—फिर। (पा० प० ११३-५)।

पुनिम—सं० स्त्री० (सं० पूर्णिमा)—पूनो। उ० पुनिम विमल ससि मास वसंता, दरसन जोति मिले भगवंता। (र० ४-१०२)।

पुनैं—दे० 'पुन्नि'। 'पुण्य'। उ० पुनैं पाये द्यौं हड़े, ओछी ठौर न खोइ। (स १२-५६-२)।

पुन्नि—सं० पु० (सं० 'पुण्य')—सुकृत, सुकर्म। उ० अनेक जुग जे पुन्नि करैं, नहीं राम बिन ठाउँ। (सा० २-२०-२)।

पुनैं—दे० 'पुन्नि'। 'पुण्य'। (पा० सा० १५-६३-२)।

पुन्य—दे० 'पुन्नि'। पुण्य। उ० जहाँ कबीरा बंदिगी; (तहां) पाप पुन्य नहीं छोति। (सा० ५-४-२)।

पुर—सं० पु० (सं०)—नगर, शहर। उ० एपुर पटन एगली, बहुरि न देखै आइ (सा० १२-१-२)।

पुरई—क्रि० स० (हि० पूरना)—पूरी की, पुजा दी। उ० अबिनासी मोहि ले चल्या, पुरई मेरी आस। (सा० ५०-२-२)।

पुरख—सं० पु० (पुरुष)—मर्द। (पा० प० २६-११)।

पुरखहि—पुरुष को। (पा० प० १६०-६)।

पुरखोतम—दे० 'परसोतम'। (पा० प० १३३-६)।

पुरभि—क्रि० स० (अनु०)—पुलभना।

(पा० सा० २१-४-२)।

पुरपटण—सं० पु० (सं० पुर+ हि० पाटन)—नगर, परमपद। उ० कहै कबीर अगम पुर पटण प्रगटि पुरातन जारे। (प० १६८-८)।

पुरया—दे० 'पुरई'। पूर दिया। उ० अमृत कूंपी साँचा पुरया, मेरी त्रिष्णां भागी रे। (प० ७१-६)।

पुरवन—पुजाने वाला। उ० मन वंछित सव पुरवन काजा। (प० ३५८-४)।

पुरवैं—पूरा करता है, पुजावैं। (सा० ११-११-नो०-१२)।

पुरर्षाहि—दे० 'पुरखहि'। (प० २३१-६)।

पुरांन—सं० पु० (सं० पुराण)—हिन्दुओं के विभिन्न पुराण। उ० वेद पुरांन पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसें भारा। (प० ३६-३)।

पुरांनां–दे० 'पुराना'। (पा०प० ५०-४)।

पुरांने—दे० 'पुराने'। पुराना। (प० ३८८-६)।

पुरा—वि० (सं० पूर्ण, हि० पूरा)—भरपूर, पूर्ण। उ० थाहत थाह न आवई तूं पुरा रहिमांन। (सा० ७-२-२)दे०'पूरा'।

पुरातन—सं० पु० (सं०)—विष्णु। उ० कहै कबीर अगम पुरपटण प्रगटि पुरातन जारे। (प० १६८-८)।

पुराना—वि० (सं० पुराण)—जीर्णशीर्ण। उ० काम चोलनां भया पुराना, मोपैं होइ न आना। (प० २८१-५)।

पुरानें—प्राचीन । (पा०प०-७५-७)।

पुरिख—दे० 'पुरख'। पुरुष। (पा० प० ५-८)।

पुरिखां—पुरुष। (पा० प० १२२-१२)।

पुरिखा—पुरुष, मर्द। उ० आप कटोरा आपैं थारी, आपैं पुरिखा आपैं नारी। (प० ३३१-३)।

पुरिजापुरिजाह्वै पडैं—(मुहा०)–खंड-खंड हो जाए। उ० पुरिजा पुरिजा ह्वै पडैं, तऊ न छाड़ै खेत। (सा० ४५-६-२)।

पुरिया—सं० स्त्री० (हि० पुटी)—पुटी, साड़ी, इंद्रिय संघात रूप ताना। उ० नव गज दस गज गज उगनींसा, पुरिया एक तनाई। (प० १६३-२)।

पुरिष—सं० पु० (सं० पुरुष)—स्वामी, पति। उ० कहैं कबीर हम व्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासो। (प० १-८)।

पुरिस—दे० 'पुरिष'। आत्मा। उ० अविगत पुरिस की गति लखी न जाइ, दास कबीर अगह रहे ल्यो लाई। (र० १-२४)।

पुरिसां—सं०पु० (सं० पुरुष)—पूर्वज लोग। उ० धरती उलटि अकासहि ग्रासै यहु पुरिसां की वांणीं। (प० १६२-१६)

पुरुख—दे० 'पुरिष'। पुरुष। (पा० प० १४५-५)।

पुरुब—वि० (सं० पूर्व)–पिछला, पुराना। (पा० प० ४६-३)।

पुसतक—सं०स्त्री० (सं० पुस्तक)–पोथी, पुस्तक। उ० कबीर पढ़िवा दूरि करि, पुसतक देइ वहाइ। (सा० १६-२-१)।

पुसतग–दे० 'पुसतक'। पोथी। (पा०सा० ३३-१-१)।

पुहमि—सं०स्त्री० (सं० भूमि)—पृथ्वी। उ० प्रथमे गगन कि पुहमि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पवन कि पांणीं। (प० १६४-३)।

पुहप—सं०पु० (सं० पुष्प)—फूल। उ० पुहुप वास थैं पतला, ऐसा तत अनूप। (सा० ३६-४-२)।

पूंगरा—दे० 'पंगुड़ा'। (पा० सा० १६-३२-२)।

पूंछ—सं० स्त्री० (सं० पुच्छ)—पूंछ। (पा० सा० २१-२८-२)।

पूंजी—सं० स्त्री० (सं० पुंज)—मूलधन, संचित धन। उ० पूंजी बितड़ि बंदि लै दैहै, तब कहै कौन कै छूटै। (प० १०८-६)।

पूजी—क्रि० स० (सं० पूरण, हि० पूरना)—पूरा किया, सिद्ध किया। उ० सांई संगि साध नहीं पूरी, गयौ जोबन, सुपिनां की नांई। (प० २२६-२)।

पूछहिंगे—क्रि० स० (सं० पृच्छण, हि० पूछना)—पूछेंगे। उ० कबीर सांईं तौ मिलहिंगे, पूछहिंगे कुसलात। (सा० ५६-१-१)।

पूछहु—पूछो। (पा० प० १६१-६)।

पूछें—पूछने पर। (पा० प० १६६-८)।

पूछै—पूछता है। (पा० सा० ८-१४-१)।

पूछौं—पूछता हूँ। उ० हौं तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यूं न मराइ। (सा० ४५-३८-१)।

पूछौ—पूछ लो। उ० जाइ पूछौ गोबिन्द पढ़िया पंडिता, तेरां कौंन गुरू कौंन चेला। (प० १५८-१)।

पूजउं—क्रि० स० (सं० पूजन, हि० पूजना)—पूजा करूँ। (पा०प० १८६-४)।

पूजते—पूजते होते। उ० हम भी पांहन पूजते होते रन के रोझ। (सा० २३-४-१)।

पूजणहार—सं० पु० (सं० पूजन+हि० हार)—पूजने वाला, पुजेरी। उ० मांहैं पाती मांहि जल, मांहैं पूजणहार। (सा० ५-४२-२)।

पूजन—सं० पु० (सं०)—पूजा की क्रिया, आराधना। (पा० प० ६७-१०)।

पूजनहार—दे० 'पूजणहार'। (पा० सा० ६-१४-२)।

पूजहु—पूजो। (पा० प० ८४-१)।

पूजा—सं० स्त्री० (सं०)—अर्चना, आराधना। उ० पापी पूजा बैंसि करि, भषैं मांस मद दोइ। (सा० २२-१३-१)।

पूजि—पूजकर। उ० सकल बरण इकत्र ह्वै सकति पूजिनि लिखांहि। (सा० २२-१४-१)।

पूजिए—पूजा जाए। उ० पांहन कु का पूजिए, जे जनम न देई जाब। (सा० २३-३-१)।

पूजी—पूजा की। (पा० प० १०६-२)।

पूजें—पूजने से। (पा० प० १८६-४)।

पूजेला—सं०पु० (सं० पूजिल)—देवता। उ० आपैं मंत्र आपैं मंत्रेला, आपैं पूजै आप पूजेला। (र० बा० ७३)।

पूजैं—पूजते हैं। उ० पांहण केरा पूतला, करि पूजैं करतार। (सा० २३-१-१)।

पूजै—पूजता है। उ० कोई न पूजै वांसूं प्रांनां, आदि अंति वो किनहूँ न जांनां। (र० बा० २)।

पूजौं—पूजा करूँ। उ० पूज्या देव बहुरि नहीं पूजौं, न्हाये उदिक न नांउं (प० ६-१३)।

पूजौ—पूजा करो। (पा० प० ७३-७)।

पूज्या—वि० (हि० पूजना)—पूजित, पूजा जाने वाला। उ० पूज्या देव बहुरि नहीं पूजौं, न्हाये उदिक न नांउं। (प० ६-१३)।

पूठिदे—सं० स्त्री० (सं० पृष्ठ)—पीठ दे, विमुख हो। उ० माया हमसौं यौं कह्या, तू मति दे रे पूठि। (सा० १६-२६-१)।

पूत (१)—सं० पु० (सं० पुत्र)—बेटा, लड़का। उ० बेस्वां केरा पूत ज्यूं, कहै कौन सूं बाप। (सा० २-२२-२)।

पूत (२)—वि० (सं०)—पवित्र, शुद्ध। उ० पंडित चारि बेद गुंण गावा, आदि अंति करि पूत कहावा। (र० १-१६)।

पूतरा—दे० 'पूतला'। (पा० सा० १६-१४-१)।

पूतरी—दे० 'पुतली'। (पा०सा० ७-२-१)

पूतला—स० पु० (सं० पुत्त, पुत्तल)—पत्थरादि का बना पुरुषाकार ढाँचा। उ० पांहण केरा पूतला, करि पूजैं करतार। (सा० २३-१-१)।

पूतली—सं० स्त्री० (हि० पुतला)—आँख की पुतली। उ० ज्यूं नैंनूं मैं पूतलीं,

त्यूं खालिक घट मांहि। (सा० ५३-६-१)

पूता—दे० 'पूत' (१)। पुत्र। (पा० प० १४०-५)।

पूति—दे० 'पूत' (१)। पुत्र। (पा० प० ११८-८)।

पूनीं—सं० स्त्री० (सं० पिंजिका)—धुनी हुई रुई की वह वत्ती जो चर्खे पर सूत कातने के लिए तैयार की जाती है। उ० जहां सूत कपास न पूनीं, तहाँ वसै इक मूनीं। (प० ३१-४)।

पूर—दे० 'पूरा'। पूर्ण। (पा०प० ६३-३)

पूरण—वि० (सं० पूर्ण)—पूरा। उ० भांडा घड़ि जिनि मुदिया, सोई पूरण जोग। (सा० ३५-२-२)।

पूरणहारा—वि०(सं० पूर्ण + हि०हारा)—पूरा करने वाला। उ० कहै कवीर सुनहूं री माई, पूरणहारा त्रिभुवन राई। (प० २१-४)।

पूरन—दे० 'पूरण'। अखंडित, पूरा। उ० कव मरिहूँ कव देखिहूँ, पूरन परमानंद। (सा० ४५-१३-३)।

पूरनहारा—ते० 'पूरणहारा'। (पा० प० १२-५)।

पूरब—वि० (सं० पूर्व)—पहले का। उ० देखौ कर्म कवीर का, कछु पूरव जनम का लेख। (सा० ५-१२-१)।

पूरवला—वि० (सं० पूर्व + ला)—पूर्व जन्म का। उ० मन का च्यंता तव भया कछू पूरवला लेख। (सा० ५-१०-२)।

पूरवी—वि० (सं० पूर्वीय)—पूरव की। (सा० ४६-३-नो०-५)।

पूरा—वि० (सं० पूर्ण)—भरपूर, पूर्ण। उ० पूरा किया विसाहुणां, वहुरि न आँवौं हट्ट। (सा० १-१२-२)।

पूरि—क्रि० स० (सं० पूरण)—मर गया। उ० सचु पाया सुख ऊपनां, अरु दिल दरिया पूरि। (सा० ५-२६-१)।

पूरिरह्या—मर रहा हूँ। उ० विचकै वासै रमि रह्या, काल रह्या सर पूरि। (सा० ४६-२३-२)।

पूरिया—क्रि० अ०—व्याप्त हो गया, मर गया। उ० ए सकल व्रह्मंड तैं पूरिया, अरु दूजा महि थांन जी। (प० ३०-३)।

पूर्‌या—क्रि० अ०—पूर्ण होना, व्याप्त होना। उ० कहै कवीर व्यंदहु नरा, ज्यूँ जल पूर्‌या सकल रस। (सा० ३३-६-६)।

पूरिन—दे० 'पूरण'। पूर्ण। (पा० प० १५०-४)।

पूरिबला—दे० 'पूरवला'। पूर्व जन्म का। उ० रांम कह्यां थैं जलिमरै, को पूरिवला पाप। (सा० २०-२२-२)।

पूरी—वि० (सं० पूर्ण)—पूर्ण। उ० दीपक दिष्टि पतंग ज्यूँ, पड़ता पूरी जांणि। (सा० १-१६-२)।

पूरे—पूर्ण, परमेश्वर। उ० पूरे सूँ परचा भया, सव दुख मेल्या दूरि। (सा० १-३५-१)।

पूरेकी—सं० पु० (सं० पूर्ण)—भगवान विष्णु। उ० पूरेकी पूरी द्रिष्टि, पूरा करि देखै। (प० १८१-७)।

पृथमीं—सं० स्त्री० (सं० पृथ्वी)—जमीन, पृथ्वी। उ० पांहनि वोई पृथमीं, पंडित पाड़ी वाट। (सा० २३-२-२)।

पृथी—सं० स्त्री० (सं० पृथ्वी)—पृथ्वी। उ० पृथी का गुण पांणी सोष्या, पांनीं तेज मिलांवहिगे। (प० १५०-३)।

पेखनुं—क्रि० स० (सं० प्रेक्षण)—देखूं। (पा० प० १३५-२)।

पेखनां—देखना। (पा० सा० १५-४-२)।

पेखा—देखा। (पा० प० ४८-५)।

पेखि—देखकर। (पा० प० १२२-१०)।

पेखिए—देखिए। (पा० र० ४-७)।

पेखै—देखता है। (पा० प० ६७-५)।

पेट—सं० पु० (सं० पेट = थैला)—उदर। उ० सर अपसर समझै नहीं, पेट भरण

सूँ काज। (सा० २६-७-२)।

पेड़—(१) दे० 'पेट'। उ० जैसी उपजै पेड़ सूं तैसी निवहै ओरि। (सा० ३४-७(१)।

(२) सं० पु० (?)—वृक्ष। उ० सींचौ पेड़ पीवैं सब डारी। (प० ११४-८)।

पेड़ा—सं० पु० (सं० पिंड)—पेड़ा नाम की मिठाई। उ० पेड़ा रोटी खाइ करि, गला कटावै कौंण। (सा० २२-१२-२)।

पैणें—दे० 'पिंड'। शरीर में। उ० औधूत जोगी आतमां, कांई पेणैं संजीम न्हाहि रे। (प० ३६१-६)।

पेतां—सं० पु० (?) सम्भवत: पाएंता। (सा० १२-५६-नो०-७६।

पेरा—सं० पु० (हि० पेला)—आक्रमण, धावा। उ० सिरि प्रवार्या जंम का पेरा। (प० ३१७-२)।

पेलि—क्रि० स० (सं० पीड़न, हि० पेरना)—दबाकर रस निकालना, कष्ट देना। (पा० सा० २४-६-२)।

पेलै—पेलता है। (पा० सा० १७६-६)।

पेषणां—सं० पु० (सं० प्रेक्षण, प्रा० पेक्खण, हि० देखना)—दृश्य। उ० दिवस चारि का पेषणां, विनस जाइगा काल्हि। (सा० १२-१६-२)।

पेषनां—दृश्य। उ० नटवर पेषि पेषनां पेषै, अनहद वेन वजावै। (प० १६२-१४)।

पेषि—देखकर। (प० १६२-१४)।

पेषै—देखता है। (प० १६२-१४)।

पेस—क्रि० वि० (फा० पेश)—सामने, आगे, सम्मुख। उ० दंभ चु बूंदनि बूंद खालिक, गरक हम तुम पेस। (प० २५८-६)।

पैं—अव्य० (सं० पर, हि० पै)—अवश्य, निश्चय, पास। उ० जिहि तुम्ह तारौ सोपैं तिरई, कहै कबीर नांतर बांध्यौ मरई। (प० ४७-६)।

पैंड़ा—सं०पु० (हि० पांय + ड़ा)—रास्ता, मार्ग। (पा०प० १४४-६)।

पैंड़ी—स्त्री०—मार्ग। उ० पैंड़ी चढ़ि पाछां पड़ैं, लागैं मोटी खोड़ि। (सा० १६-१४-२)।

पैंड़े—रास्ता। उ० तव पैंडे लागा हरि फिरैं कहत कबीर कबीर। (सा० ४१-२-२)।

पैंडै—रास्ते में, मार्ग में। उ० जहि पैंडै पंडित गए, दुनियाँ परी बहीर। (सा० ३१-५-१)।

पैंषड़ा—सं० पु० (हि० पांय + कड़ा)—पैकड़ा, पैर का कड़ा, वेड़ी। उ० मेरी पग का पैंषड़ा, मेरी गल की पास (सा० १२-६१-२)।

पैं—दे० 'पैं'। (पा०प० ११-४)।

पैकंबर—सं०पु० (फा० पैगम्बर)—धर्म-प्रवर्तक। उ० इनकै काजी मुलां पीर पैकंबर, रोजा पछिम निवाजा। (प० ५८-३)।

पैकाकार—सं० पु० (फा० पैकार)—छोटा व्यापारी, फुटकर रोजगारी। उ० स्वांमीं हूवा सीत का, पैकाकार पचास। (सा० १७-४-१)।

पैका पैका—सं० पु० (फा० पैकार)—थोड़ी-थोड़ी रकम, पैसा-पैसा। उ० पैका पैका जोड़तां, जुड़िसी लाष करोड़ि। (सा० ३४-७-२)।

पैगंबर—दे० 'पैकंबर'। धर्म प्रवर्तक। (पा० प० ४२-३)।

पैठि—दे० 'पैसि'। घुसकर। (पा० सा० २-२-१)।

पैदा—वि० (फा०)—उत्पन्न, प्रकट। उ० सुर नर मुनि जन पीर अवलिया, मीरां पैदा कीन्हां रे। (प० ३६६-५)।

पैमाल—वि० (फा० पामाल)—मलना, रौंदना, नष्ट, चौपट। उ० पंजर जसि करद दुसमन, मुरद करि पैमाल। (प० २५८-२)।

पैली—वि० (स०पर+हि० ला (प्रत्य०)-अंत के। उ० पैली पार के पारधी, ताकी धुनहीं पिनच नहीं रे। (प० २१२-५)।

पैसी—क्रि० अ० (सं० प्रविश, प्रा० पइस)—घुसकर, प्रवेश करके। उ० भगति मुकति निज ग्यान मैं, पैसि न सकई कोइ। (सा० २०-१०-२)।

पैसीले—प्रवेश किया (पा०प० ११५-५)।

पैसे—घुसे। उ० सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर मांहि। (सा० ४५-१९-२)।

पैसै—घुसे। (पा० सा० १४-३१-२)।

पोई—क्रि० स० (सं० प्रोत, प्रा० पोइअ, पोय+ना)—पिरोई, गूंथी। उ० हरि मोत्यां की माल है, पोई काचै तागि। (सा० ३३-८-१)।

पोख—दे० 'पोष' (पा०सा० १६-३७-१)।

पोच—वि० (फा० पूच)—क्षुद्र, निकृष्ट। उ० भले रे पोच अकुल कुलवंता, गुणी निरगुणीं धनं नींधनवंता। (र० ३-५)।

पोट—सं० स्त्री० (सं०)—गठरी, पोटली, समूह। उ० रवि कै उदै न दीसहीं, वंधै न जल की पोट। (सा० १७-१७-२)।

पोटली—सं० स्त्री० (सं० पोटलिका)—छोटी गठरी। उ० सीस चढांयें पोटली, ले जात न देष्या कोइ। (सा० १६-१३-२)।

पोटि—दे० 'पोट'। गठरी। (पा० प० २३-७)।

पोतनहारी—सं० स्त्री० (हि० पोतना+हारी)—कपड़े की गीली तह चढ़ाने वाला। उ० मूंदे मदन सहज धुनि उपजी, सुखमन पोतनहारी। (प० १५५-६)।

पोती—क्रि० स० (सं० प्लुत, प्रा० पुत+ना, हि० पोतना)—गीली तह चढ़ाई। उ० माटी सूं माटी ले पोती, लागी कहौ कहां धूं छोती। (र० चौ० २३)।

पोथी—सं० स्त्री० (सं० पुस्तिका, प्रा० पोत्थिआ)—पुस्तक। उ० पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ। (सा० १९-४-१)।

पोयी—क्रि०स० (सं० प्रोत, प्रा० पोइअ, हि० पोयना)—पिरोया है। उ० उन मोतियन मैं नीर-पोयी, पवन अंवर धोइ। (प० २८०-४)।

पोष—सं० पु० (सं०)—पोषण, पुष्टि, संतोष। (सा० ४६-१४-नो० २१)।

पौंडै—क्रि० अ० (हि० पैरना, तैरना)-तैरता है। (पा० प० ३४-६)।

पौणा—वि० (सं० पाद+ऊन, प्रा० पाओन)—तीन चौथाई। (सा० ४६-१८-नो० २७)।

पौढावा—क्रि० स० (हि० पौढ़ाना)—लेटा दिया, सुला दिया। उ० ठाकुर ले पाटै पौढावा, भोग लगाय अरु आपै खावा। (र० चौ० २९)।

पौनें—दे० 'पौंणा'। तीन-चौथाई। (पा० सा० १६-१२-२)।

पौलि—सं० स्त्री० (सं० प्रतोली, प्रा० पओली)—ड्योढ़ी। उ० ऊँचा मंदर धौ लहर, माँटी चित्री पौलि। (सा० ४६-१८-१)।

पौली—दे० 'पौलि'। ड्योढ़ी। उ० नौ ग्रह कोटि ठाढे दरवार, धरयधाइ पौली प्रतिहार। (प० ३४०-५)।

प्यंगुला—सं० स्त्री० (सं० पिंगला)—पिंगला नाम की नाड़ी। उ० इला प्यंगुला सुषमन नांहीं, ए गुण कहां समांहीं। (प० ३२-४)।

प्यंजर—सं० पु० (सं० पंजर)—शरीर, देह। उ० प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास। (सा० ५-१४-१)।

प्यंड—सं०पु० (सं० पिंड)—शरीर, देह। उ० पंषि उडानीं गगन कूं, प्यंड रह्या परदेस। (सा० ४-२०-१)।

प्यंडर—वि० (सं० पांडुर)—पीला। उ० प्यंडर केस कुसुम भये धौला, सेत पलटि गई वांनीं। (प० ४०१-८)।

प्यारा—दे० पियारा'। (पा०प० ६-४)।

प्यारी—दे० 'पियारी'। (पा०प० २-३)।

प्यारे--दे० 'पियारे' (पा०प० १५-१०)।

प्यालै--सं० पु० (फा०)--प्याले। उ० कबीर प्यालै प्रेम कै, भरि भरि पीवै रसाल। (सा० १२-४६-२)।

प्यास—सं० स्त्री० (सं० पिपासा)-- तृष्णा, प्यास। उ० तन मन जोबन भरि पिया, प्यास न मिटी सरीर। (सा० ७-१-२)।

प्यासे--वि० (सं० पिपासित)—प्यासा, तृषित। उ० ज्यूं कामीं कौं काम पियारा ज्यूँ प्यासे कूँ नीर रे। (प० ३०७-५)।

प्रकार—सं० पु० (सं०)—भेद, किस्म। (पा० प० १८०-३)।

प्रकारा—दे० 'प्रकार'। भेद। उ० नहीं तन नहीं मन नहीं अहंकारा, नही सत-रज तम तीनि प्रकारा। (प० ३८-३)।

प्रकास—सं० पु० (सं० प्रकाश)–ज्योति, आलोक। (पा० र० १८-५)।

प्रकासा—क्रि० अ० (सं० प्रकाशन)— प्रकाशित हुई, फैल गई। उ० भागा भ्रम दसौं किस सुझ्या, परम जोति प्रकासा। (प० ६-४)।

प्रकासिया—विकसित हुआ, प्रकाशित हुआ। उ० अंतरि कवल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहाँ होइ। (सा० ५-७-१)।

प्रकासी—प्रकाशित हुआ। (पा० सा० १-१६-१)।

प्रकासै—प्रकाशित होता है। उ० नवग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल मैं ब्यंब प्रकासै। (प० १६२-४)।

प्रकास्या—प्रगट हुआ। उ०ग्यान प्रकास्या गुर मिल्या, सो जिनि बीसरि जाइ। (सा० १-१३-१)।

प्रगट—वि० (सं० प्रकट)—उत्पन्न। उ० जिनि नर हरि अठरांइ, उदिकंथैं पंड प्रगट कियौ। (सा० ३५-१-१)।

प्रगटहोइ—क्रि० अ० (सं० प्रकटन)— प्रगट होता है। हिरदा भीतरि दौं वलै, धूवां न प्रगट होइ। (सा० ४-३-१)।

प्रगटा—प्रगट हुआ। (पा० प० ८५-२)।

प्रगटे—प्रगट हुए। (पा० प० १४६-८)।

प्रगटै—प्रगट होता है। (पा० सा० २५-२-२)।

प्रगट्या—प्रगट हुआ। उ० सिरि प्रगट्या जंम का पेरा। (प० ३१७-२)।

प्रगट्यौ—प्रगट हुई। उ० खंभा मैं प्रगट्यौ गिलारि, हरनाकस मार्‌यौ नख बिदारि। (प० ३७६-१०)।

प्रगासा—दे० 'प्रकास'। प्रकाश। (पा० प० ५२-६)।

प्रग्रह—सं० पु० (सं० परिग्रह)—धनादि का संग्रह, परिवार। सुत सरीर धन प्रग्रह कबीर, जीये रे तर्वर पंख बसियार (र० ३-१०६)।

प्रघर—सं० पु० (सं० परगृह)—दूसरे का घर। उ० इत प्रघर उतघर, वणजण आये हाट। (सा० १२-५७-१)।

प्रजली—क्रि० अ० (सं० प्रज्वलित)— भली भाँति जल उठी। उ० पाणी माँहैं प्रजली, भई अप्रबल आगि। (सा० ४-६-१)।

प्रजलै—प्रज्वलित हो। उ० देखें ही तन प्रजलै, परस्याँ ह्वै पैमाल। (सा० २०-१२-२)।

प्रजल्या—जल उठा। उ० कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या विरहा पुंज। (सा० ३-१-२)।

प्रजारी—क्रि० स० (सं० प्र०+हि० जारना)—जला दी। उ० प्रगट प्रकास ग्यांन गुरगमि थैं, ब्रह्म अगनि प्रजारी। (प० ७-३)।

प्रतखि—वि० (सं० प्रत्यक्ष)—जो सामने हो। (पा० प० १८७-१०)।

प्रतषि—दे० 'प्रतखि'। प्रत्यक्ष। उ०

साधु प्रतपि देव हैं, नहीं पाथर सू कांम। (सा० २३-५-२)।

प्रताप—सं० पु० (सं०)—पौरुष। (पा० प० ७३-३)।

प्रतिपारा—दे० 'प्रतिपाल'। रक्षा। उ० सो क्यूं न करै जन की प्रतिपारा। (प० ११४-६)।

प्रतिपारैं—क्रि० स० (सं० प्रतिपालन)—रक्षा करना, पालन करना। (पा० र० ८-२)।

प्रतिपाल—सं० पु० (सं०)—रक्षा। उ० रांम विना कोई न करैं प्रतिपाल। (र० २-३३)।

प्रतिपालन—दे० 'प्रतिपाल'। रक्षा, पालन। उ० कृष्ण कृपाल कबीर कहि, हम प्रतिपालन क्यों करैं। (सा० ३५-१-६)।

प्रतिपाली—दे०। 'प्रतिपाल'। रक्षा। (पा० र० १०-३)।

प्रतिंबिब—सं० पु० (सं० प्रतिबिम्ब)—छाया, झलक। (पा० प० १३२-६)।

प्रतिव्यंब—दे० 'प्रतिबिंब'। छाया, झलक। उ० ज्यूं जल मैं प्रतिव्यंब त्यूं सकल रांमहिं जांणीजै। (सा० ३३-६-४)।

प्रतिहार—सं० पु० (सं०)—द्वारपाल। उ० नौग्रह कोटि ठाढे दरवार, धरमराइ पौली प्रतिहार। (प० ३४०-५)।

प्रतीति—सं० स्त्री० (सं०)—दृढ़ विश्वास। उ० मन प्रतीति न प्रेम रस, नां इस तन मैं ढंग। (सा० ११-१६-१)।

प्रधांन—सं० पु० (सं० प्रधान)—मुखिया। उ० क्रोध प्रधांन लोभ वड़ दूंदर, मन मैं वासी राजा। (प० ३५६-३)।

प्रधा—वि० (हि० परधा)—अपराद्धं। अथवा आधा का आधा। उ० आधा प्रधा ऊबरै, चेति सकै तौ चेति। (सा० १२-१५-२)।

प्रफुलित—वि० (सं० प्रफुल्लित)—प्रसन्न। उ० प्रफुलित आनन्द मैं, गोव्यंद गुंण गावै। (प० ३६३-४)।

प्रभु—सं०पु० (सं०)—स्वामी, भगवान। (पा०प० २६-७)।

प्रभू—दे० 'प्रभु'। स्वामी। उ० विन च्यंता च्यंता करै, इहै प्रभू की वांणि। (सा० ३५-५-२)।

प्रमिति—सं० स्त्री० (सं० परिमिति)—सीमा, नाप। उ० जोजन एक प्रमिति नहीं जांनैं, वातनि हीं वैकुंठ वपानैं। (प० २४-२)।

प्रमोधतां—क्रि० स० (सं० प्रवोधन)—प्रवोधता हुआ, सचेत करता हुआ। उ० औरां कौं प्रमोधतां, मुख मैं पड़िया रेत। (सा० १७-१५-२)।

प्रमोधि—सचेत करे। उ० कुवधि न जाई जीव की, भावै स्यंभ कहौ प्रवोधि। (सा० २०-१६-२)।

प्रमोधै—ज्ञानोपदेश करे। उ० फिरि प्रमोधै आंन कौं, आपण समझै नांहि। (सा० १७-१४-२)।

प्रलै—सं० पु० (सं० प्रलय)—नाश। उ० एक राम के नांव विन, जदि तदि प्रलै जाइ। (सा० १२-३८-२)।

प्रलै काल—प्रलय का समय। उ० प्रलै काल कहूं कितेक भाप, गये इंद्र से अगिणत लाप। (प० ३५-३)।

प्रवांनां—सं० पु० (सं० प्रमाण)—दृढ़ धारणा। उ० जीवत कछू न कीया प्रवांनां, मूपा मरम को काकर जांनां। (प० १३१-४)।

प्रवालै—सं० पु० (सं० प्रवाल)—मूंगे में, विद्रुम। उ० रतन प्रवालै परम जोति, ता अंतरि अंतरि लागे मोति। (प० ३७८-३)।

प्रसंग—सं० पु० (सं०)—विषय, बात। उ० सतगुर हम सूं रीझि करि एक कह्या प्रसंग। (सा० १-३३-१)।

प्रसाद—सं०पु० (सं०)—कृपा, अनुग्रह।

उ० सतगुर के प्रसाद थैं, सहज सील मतसार। (सा० ४०-२-२)।

सादि—कृपा से। उ० अगम् कथैं हूँ रह्या, सतगुर के प्रसादि। (सा० ३१-६-१)।

ह्लाद—सं० पु० (सं० प्रहलाद)—प्रसिद्ध भक्त, जो दैत्यराज हिरण्य-कशिपु का पुत्र था। (पा० प० २६-३)।

हिलाद—प्रह्लाद। (प० ३३-४)।

हारी—वि० (सं० प्रहारिन्)—मारने वाला। (पा० र० ७-६)।

ांण—सं० पु० (सं० प्राण)—प्राण वायु, जीव। उ० प्रांण पंड कौं तजि चलै, मूवा कहैं सब कोइ। (सा० १५-२-१)।

ांणी—सं० पु० (सं० प्राणिन्)—प्राण-धारी मनुष्य, जीव। उ० सो प्रांणीं काहै चलै, भूठे जग की लार। (सा० २२-१६-२)।

ांन—दे० 'प्रांण'। (पा० प० १५-१०)।

ांननाथ—सं० पु० (सं० प्राणनाथ)—प्रियतम, प्रिय व्यक्ति। उ० प्रांननाथ जग जीवनाँ, दुरलभ रांम पियार। (र० ३-१०५)।

ांनां—दे० 'प्रांणी'। जीवधारी, मनुय। उ० कोई न पूजै वाँसूँ नाँ, अणदि अंति वो किनहूं न जांनां। (र०वा०२)।

ांनी—दे० 'प्रांणीं'। (पा०प० ६०-१)।

ान—दे० 'प्रांण'। जीव। उ० प्रान गये ले वाहरि जारा। (प० ६३-४)।

प्रिथमीं—सं० स्त्री० (सं० पृथ्वी)-भूतल। उ० अरु प्रिथमीं का रोम उपारैं, देखत जीव कोटि संघारैं। (र० ५-५३)।

प्रिथिमीं—दे० 'प्रिथमीं'। पृथ्वी। (पा० प० ६-५)।

प्रीतड़ी—सं० स्त्री० (सं० प्रीति)—प्रेम, स्नेह। उ० कबीर प्रीतड़ी तौ तुझसौं, बहु गुण वाले कंत। (सा० ११-१-१)।

प्रीतम—सं० पु० (सं० प्रियतम)—पति, स्वामी। वहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये। (प० २-१)।

प्रीतिड़ी—दे० 'प्रीतड़ी'। (सा० १२-१८-२)।

प्रीति—सं० स्त्री० (सं०)—प्रेम। उ० एक जुवाह्या प्रीति सूं, भीतरि रह्या शरीर। (सा० १-६-२)।

प्रेत—सं० पु० (सं०)—मरा हुआ व्यक्ति, मृतक प्राणी। उ० मूयें पीछैं लेहु लेहु करि, प्रेत रहन क्यूं दीनूं। (प० २४१-३)।

प्रेम—सं० पु० (सं०)—भक्ति। उ० पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया सरीर। (सा० १-३२-१)।

प्रेमी—सं० पु० (सं० प्रेमिन्)—चाहने वाला, आशिक। उ० प्रेमी कौं प्रेमीं मिलै, तव सब विप अमृत होइ। (सा० ४३-१२-२)।

प्रेमी—दे० 'प्रेमी'। चाहने वाला। उ० प्रेमी ढूंढ़त मैं फिरौं, प्रेमीं मिलै न कोई। (सा० ४३-१२-१)।

फ

फंक—सं० स्त्री० (सं० पर्पदी, हि० फांक)—पतली झिल्ली। (पा० चौ० र० २७-२)।

फंफ—(र० २-नो०-५१)।

फंद—सं० पु० (सं० पाश या वंध, हि० फंदा)—वंधन, वंध, फाँस। (पा० प० ६४-७)।

फंदा—(पा० प० १६६-२)।

फंदिया—क्रि० स० (हि० फंदना)—फँदे में फँसाना। (पा० सा० ३१-१-२)।

फंदै—फंदे में, वंधन में। (पा० सा० ३१-१-२)।

फंध—जाल, फाँस। उ० कबीर माया पापणीं, फंध ले बैठी हाटि। (सा० १६-२-१)।

फंधा—फाँस, फंदा। उ० राम बिनां जंम मेलै फंधा। (प० १२८-२)।

फंधै—फंदे में। **फंधै पड़्या**—फंस गया। उ० सब जग तौ फँधै पड़्या। (सा० १६-२-२)।

फकीरा—सं० पु० (अ० फ़क़ीर)—साधु, भिखमंगा। उ० कहै कबीरा दास फकीरा (प० ५८-६)।

फगुवा—सं० पु० (हि० फागुन)—फगुआ खेलने के उपलक्ष में दिया जाने वाला उपहार। (पा० प० १४४-६)।

फटक—सं० पु० (सं० स्फटिक, पा० फटिक)—बिल्लौर पत्थर, स्फटिक। उ० सींधव नीर कबीर मिल्यौ है, फटक न मिलै परवान। (प० २८-७)।

फटकि-क्रि० स० (अनु० फट से फटकना)-कूड़ा-कर्कट निकालकर, परख कर। (सा० ३२-१-नो०-२)।

फटा—क्रि० स० (हि० फाड़ना से)—फट गया। (पा० सा० १६-१५-२)।

फटि—क्रि० अ० (हि० फाड़ना का अकर्मक रूप)-फूटना या नष्ट होना। (पा० प० ६५-५)।

फटिक—दे० 'फटक'। (पा० सा० २६-२१-२)।

फफ—दे० 'फंफ'। (र० १-नो०-५१)।

फरंकि—क्रि० अ० (अ० फर्क)—अलग हो कर। उ० मेरा देख्या जरजरा,(तव) ऊतरि पड़े फरंकि। (सा० १-२५-२)।

फर—दे० 'फल'। (पा० प० १५७-३)।

फरराइ—दे० 'फहराइ'। उ० छत्र धजा फरराइ। (सा० ३०-४-१)।

फरुफरिया—क्रि० स० (अनु० फड़-फड़ाना)—हिलना। (पा०प० ११२-६)।

फरे—क्रि० अ० (सं० फलन)—फलयुक्त होना। (पा० प० १८०-४)।

फलंत—क्रि० अ० (सं० फलन)—फल देता है, फल लाता है। उ० तरवर तास विलंविए, वारह मास फलंत। (सा० ४७-६-१)।

फल—सं० पु० (सं०)—(१) परिणाम, नतीजा। उ० पाया फल संम्रथ्थ। (सा० ५-३४-१)।
(२) लाभ। उ० सो तैसे फल खाइ। (सा० २६-७-२)।

फलसा—सं० पु० (अ० फर्श)—देहरी की सीमा तक। उ० फलसा लग सगी भाइ। (प० ३१५-३)।

फलिया—क्रि० अ० (सं० फलन, हि० फलना)—फल लाया, फल दिया। उ० पहुप विना एक तरवर फलिया। (प० ६-६)।

फले—फल लाये। उ० विष अमृत फल फले अनेक (प० ३८-४)।

फलै-फलता है। (पा० सा० १५-१४-२)।

फहराइ—क्रि० अ० (सं० प्रसरण, हि० फहराना, फरराना)—फहराती है। उ० विषै लहरि फहराइ। (सा० १३-२८-१)

फांकै—क्रि० स० (हि० फंकी)—वस्तु को दूर से मुँह में डालना, फाँकना। (पा० प० १६७-३)।

फांगुण—सं० पु० (सं० फाल्गुन)-फागुन का महीना। (सा० ४६-६-नो० १३)।

फांदिया—क्रि० स० (सं० फणन, हि० फाँदना)—कूद कर लाँघना। उ० कागिल गर फाँदिया, वटेरै बाज जीता। (प० १६०-६)।

फांस—सं० स्त्री० (सं० पाश)—वंधन, फंदा। (पा० प० ६७-६)।

फांसी—(पा० प० ५८-५)।

फांसि—क्रि० स० (हि० फाँस से)—पाश में वाँधना। (पा० प० १६३-२)।

फाग—सं० पु० (हि० फागुन)—होली

का उतसव। (पा० प० १४४-८)।

ाटा—क्रि० अ० (हि० फाड़ना का अकर्मक रूप)—फटा हुआ, खंडित हुआ। उ० फाटा फटक पषांण ज्यूं, मिल्या न दूजी वार। (सा० ३७-१-२)।

ाटि—फटकर। (पा० सा० २२-५-२)।

ाटिसी—फट जाएगा, जीर्णशीर्ण हो जाएगा। उ० जो पहर्‌या सो फाटिसी। (सा० ४६-१२-१)।

ाटै—फाड़े, खोले, खोलकर। उ० फाटै दीदै मैं फिरौं, (सा० २९-१७-१)।

ाटा (मन)—(मुहा०)—विरक्ति हुई। (सा० ३७-२-१)।

ाड़ि—क्रि० स० (सं० स्फाटन, हि० फाटना)—चीरकर, फाड़कर। उ० फाड़ि फुटोला धज करौं। (सा० ३-४१-१)।

ारि—उ० फारि वुनी दस ठांई हो। (प० ५०-७)।

ारै—फाड़ता है (पा०चौ०र० २७-२)।

ावी—क्रि० अ० (सं० प्रभवन)—सुन्दर लगना, भला लगना। उ० कहै कबीर फावी मतिवारी। (प० ७३-५)।

फकरि—सं० स्त्री० (अ० फिक्र)—चिंता, सोच। उ० फिकरिया नहीं जाइ। (प० २५७-५)।

फकरु—(पा० प० ८७-३)।

फकिर—(पा०प० ८७-८)।

फरंत—क्रि० अ० (हि० फिरना)—घूमना, विचरण करना। (पा० सा० ४-२६-२)।

फिरत—घूमते। उ० फिरत फिरत सब चरन तुरानैं। (र० ३-३-१)।

फिरता—फिरता था, चक्कर लगाता था। उ० फिरता ठांवैं ठाउं (सा० ५०-८-२)।

फिरहि—फिरते हैं। (पा० प० १५५-७)।

फिरहिंगे—चलेंगे, घूमेंगे। (सा० १२-१३ नो० १८)।

फिरहु—फिरते हो। (पा० प० ६८-१)।

फिरा—घूमा-फिरा, चक्कर लगाया। उ० कबीर वन वन मैं फिरा। (सा० २८-५-१)।

फिरिया—घूमा। (पा० र० ३-४)।

फिरौं—घूमता हूँ। (पा० ५८-६)।

फिरु—घूमो। (पा० प० ८७-१)।

फिरूं—घूमूं। (पा० सा० ५-१०-१)।

फिरैं—घूमते हैं। (पा० प० १७४-३)।

फिरैं—घूमते हैं, फिरते हैं। उ० वहुतैं फिरैं अचेत। (सा० २४-४-१)।

फिरै—फिरता है। (पा०प० ६४-४)।

फिरौं—घूमता हूँ, चक्कर लगाता हूं। उ० फाटै दीदै मैं फिरौं। (सा० २९-१७-१)।

फिरौ—घूमते हो। (पा० सा० १६-७-२)।

फिरया—घूमा, चक्कर लगाया। उ० परवति परवति मैं फिरया। (सा० ३-४०-१)।

फिर्‌यौं—फिरा हूँ। (पा० प० १४३-६)।

फिर—क्रि० वि० (हि० फिरना)—एक-वार और, पुनः। (सा० १३-२-१)।

फिरि—उपरांत, पीछे, दोवारा। उ० ज्वाला तैं फिर जल भया। (सा० ५-३१-२)।

फिरकिड़ी—सं० स्त्री० (अ० फिरका)—जाति, जत्था। (पा० सा० ४-३३-१)।

फिरिकड़ी—जाति। (सा० २९-२८-११-नो० १२)।

फिरांया—क्रि० स० (हि० फेरना से)—फेरने से। उ० जाहि फिरांयां हदि मिलै, सो भया काठ की ठौर। (सा० २४-२-२)।

फिरायां—(पा० सा० २५-७-२)।

फिरावै—क्रि० स० (हि० फिराना)—घुमाता है, फेरता है। उ० मन न फिरावै आपणां, कहा फिरावै मोहि। (सा० २४-५-२)।

फिल—क्रि० अ० (हि० फिरना)—फिर जाते हैं, बदल जाते हैं। उ० कोटि करम फिल पलक मैं। (सा० २-१६-२)।

फिलादि—सं० स्त्री० (अ० फरियाद)—हाय, वेदनासूचक शब्द। (सा० १३-३०-नो० ३५)।

फीका—वि० (सं० अपक्व, प्रा०अपिक्क)—स्वादहीन, नीरस। उ० यहु रस तौ सब फीका भया, ब्रह्म अगनि परजारी रे। (प० ७१-३)।

फीकी—नीरस। उ० माल मनीं करि फीकी। (प० २५५-७)।

फीकौ—अरुचिकर, स्वादहीन। उ० फल फीकौ तनि ताप। (सा० १६-२०-२)।

फुंनिगा—सं० पु० (सं० फणिन्)—साँप। उ० फुंनिगा कैसैं गरड़ भषत हैं। (प० १४५-२)।

फुनिगा—(पा० प० १६६-२)।

फुकि गई—क्रि० स० (ह० फूंकना से)—भस्म हो गई, जलती है। (सा० ५८-६-नो० ७)।

फुटि—दे०'फूटि'। (पा०सा० १५-५६-२)

फुटोला—सं० पु० (सं० पटोल)—रेशमी वस्त्र। उ० फाड़ि फुटोला धज करौं। (सा० ३-४१-१)।

फुनफुनी—अव्य० (सं० पुनः पुनः)—बार-बार, अनेक बार। उ० हरि भगति बिनां दुख फुनफुनी। (प० २६-५)।

फुनि—अव्य० (सं० पुनः)—फिर, और, इसके साथ ही।

फुर—वि० (हि० फुरना)—सत्य, सच्चा। उ० जिनि यहु सुपिनां फुर करि जांनां। (र० ३-५८)।

फुरमाइस—सं० स्त्री० (फा० फरमाइश)—आज्ञा, जो कोई वस्तु लाने के लिए दी जाय। उ० वहु तक भाँति करै फुरमाइस। (प० ३१६-२)।

फुरमाई—क्रि० स० (फा० फरमान से हि० फुरमाना)—आज्ञा दी, कहा था, कही हुई। उ० किनि फुरमाई गाइ। (सा० २६-२१-२)।

फुरमाया—(पा० प० १८४-३)।

फूंक—क्रि० स० (हि० फूंकना)—फूंक कर। (पा० सा० १-५-२)।

फूक—फूंककर। उ० ज्यूं वंसि वजाई फूक। (सा० १-२१-२)।

फूटमफूट—दे० 'फूटिमफूट'। (पा० सा० २-५-१)।

फूटा—वि० (हि० फूटना)—भग्न, टूटा हुआ। उ० फूटा, नग ज्यूँ जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ। (सा० २-३१-२)।

फूटे—भग्न। (पा० प० ६६-५)।

फूटि—क्रि० अ० (सं० स्फुटन, प्रा० फुडन)—व्याप्त हो गई, फैल गई। उ० गई दवा सूं फूटि। (सा० १-८-२)।

फूटि गया—भग्न हो गया, खंड-खंड हो गया। उ० ढवका लगा फूटि गया। (सा० १२-३६-२)।

फूटी—वाहर निकल कर फैली, व्याप्त हो गई। उ० बांणी फूटी वास। (सा० ५-१४-२)।

फूटे—खंड-खंड हो गए। (पा० सा० १५-२७-१)।

फूटै—फूटता है, टूटता है। (पा० प० १८-२)।

फूटिमफूटि—क्रि० अ० (सं० स्फुटन, प्रा० फुडन)—एकदम नितांत टूट-फूट गया। (सा० ४-४-१)।

फूल—सं० पु० (सं० फुल्ल)—फूल, पुष्प। उ० कवल ज फूल्या फूल बिन, को निरषै, निज दास। (सा० ५-५-२)।

फूलनि—फूलों, पुष्पों। (पा० प० १४१-४)।

फूलां—फूलों के। उ० बिन फूलां फल लागा। (प० १६५-२)।

फूला—क्रि० अ० (सं०√फुल्ल)—गर्व

करना, इतराना। (पा० प० ६३-४)।

ूलि—इतराकर, गर्व करके। (पा० प० १७०-३)।

ूलिये—गर्व करना चाहिए, इतराना चाहिए। उ० गंदी देही देखि न फूलिये। (प० २६-४)।

ूली—खिली हुई (पा०सा० १६-३४-२)।

ूले—विकसित, प्रस्फुटित हुए। उ० टेसू फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास। (सा० १२-८-२)।

ूलै—फूलता है, पुष्पित होता है। उ० तव यहु फूलै सव वनराइ। (प० ३४६-६)।

ूल्या—विकसित हुआ। उ० कवल ज फूल्या फूल विन। (सा० ५-५-२)।

ूल्या फिरै—(मुहा०)—गर्व करता हुआ घूमा करता है, घमंड में रहता है। उ० कवीर मन फूल्या फिरै। (सा० १७-२१-१)।

ूल्यो—पुष्पित हुआ। उ० विन फूलनि फूल्यो रे अकास। (प० १२१-१५)।

ूल्या-फल्यौ—(मुहा०) सम्पन्न अथवा उन्नतिशील है। उ० फूल्यौ फल्यौ अगाध (सा० ३२-४-१)।

ूस—सं० पु० (सं० तुष, प्रा० भूस, फूस)—सूखी हुई लंबी घास, खर। उ० फूस क जोड़ा दूरि करि, ज्यूं वहुरि न लागै लाइ। (सा० ४५-३६-२)।

ेरतां—क्रि० स० (सं० प्रेरणा, प्रा० फेरन, हि० फेरना)—घुमाते-घुमाते। उ० मन माला कौं फेरतां, जग उजियारा सोइ। (प्रा० २४-३-२)।

ेरा—सं० पु० (हि० फेरना)—आवागमन, वार-वार आना-जाना। उ० वहुरि न करिहै फेरा। (प० ६२-४)।

ेरि—(१) क्रि० वि० (हि० फिर)—दोवारा, फिर से, पुनः-पुनः। उ० जिहि मुखि रामन ऊचरे, तिहि मुख फेरि कहाइ। (सा० २-२३-२)।

(२) क्रि० स० (सं० प्रेरणा, प्रा० पेरन, हि० फेरना)—घुमाओ, लौटाओ। उ० अंकुस दे दे फेरि। (सा० १३-१६-२)।

फेरि राखै—(मुहा०)—वापस कर सके, लौटाले। उ० है कोइ राखै फेरि। (सा० १२-३-२)।

फेरी (१)—सं० स्त्री० (सं० प्रेरणा, प्रा० पेरन, हि० फेरना)—(१) घुमाव, भाँवरी। उ० वारी फेरी वलि गई। (सा० २-६-२)।

(२) भिक्षार्थ वरावर आना। उ० जोगी फेरी फिल करौ, यौं विननां वैं सूति। (सा० १३-३-२)।

फेरी (२)—क्रि० स० (सं० प्रेरणा, प्रा० पेरन, हि० फेरना)—घुमाई। उ० नानां रंगैं भांवरि फेरी। (प० २२६-५)।

फेरू—सं० पु० (हि० फेरना)—चक्कर। उ० चौरासी लख लीया फेरू। (र० ३-७६)।

फेरें—क्रि० स० (सं० प्रेरण), प्रा० पेरन, हि० फेरना)—फेरने (पा० सा० २५-११-१)।

फेरै—फेरता है। (पा०सा० २५-२२-१)।

फोकट—वि० (हि० फोक)—तुच्छ, व्यर्थ। उ० ग्यान विना फोकट अवधूत। (प० १२६-४)।

फोकटवाजी—सं० स्त्री० (हि० फोकट+वाजी)—व्यर्थ का प्रपंच। उ०रांम विनां सव फोकट वाजी। (प० १४२-४-)।

फोड़ै—क्रि० स० (सं० स्फोटन, प्रा० फोडन, हि० फोड़ना)—आघात पहुँचावे, पीटै। उ० सिर फोड़ै सूझै नहीं, को आगिला अभाग। (सा० २०-२१-२)।

फोरि—भग्न करके। उ० सव घर फोरि विलूंटा खायौ। (प० ८१-३)।

फोरी—फोड़ कर, नष्ट करके। (पा० प० १६५-५)।

फोरे—फोड़ने से भी। (पा० प० १८-२)।

फोरैं—फोड़े, पीटे। (पा० सा० ३०-२२-२)।

फौज—सं० स्त्री० (अ० फौज)—सेना, लशकर। उ० छूटी फौज आंनि गढ़ घेरचौ। (प० ६६-७)।

ब

बं—सं० पु० (सं० वन)—जंगल या जलाशय। उ० रात्यूं रूंनी बिरहनी, ज्यूं बंचीकूं कुंज। (सा० ३-१-१)।

बंकनालि—सं० स्त्री० (सं० वंकनाल)—त्रिकुटी और सहस्रदल के मध्य का छोटा मार्ग। उ० बंकनालि के अंतरै, पछिम दिसा की बाट। (प० ४-६)।

बंका—वि० (सं० वंक)—टेढ़ा, तिरछा। उ० क्यूं लीजै गढ़ बंका भाई, दोवर, कोट अरु तेवड़ खाई। (प० ३५६-१)।

बंग—दे० 'बांग'। उ० पढ़िले काजी बंग निवाजा। (प० ६१-१)।

बंचै—क्रि० अ० (सं० वंचन, हि० बचना)—अलग रह सकते हैं। उ० मांगण मरण समान है, बिरला बंचै कोइ। (सा० ३५-१५-१)।

बंछित—वि० (सं० वांछित)—इच्छित। उ० झूठे केरी संगति त्यागौ, मन बंछित फल पावौ। (प० २४६-७)।

बंझा—सं० स्त्री० (सं० वंध्य)—बाँझ। उ० चपि बिन दिवस जिसी हैं संझा, ब्यावन पीर न जानैं बंझा। (प० २८५-३)।

बंद—सं० पु० (फा० या सं० बंध)—जोड़, बंध। (र० १-टि०५३)।

बंदहिं—जोड़ को। (पा०चौ०र० २८-१)

बंदहि—जोड़ को। (र० १-टि-५३)।

बंदगि—दे० 'बंदिगी'। (पा० चौ० र० २८-१)।

बंदगी—दे० 'बंदिगी'। (पा० चौ० र० २८-२)।

बंदन—सं० पु० (सं० वंदन)—पूजा, प्रणाम। उ० कुंजर पोट वहु बंदन करै, अजहूं न सूझै काजी अंधरै। (प० ३६५-७)।

बंदा—सं० पु० (फा०)—सेवक, दास। उ० मोहि भरोसा इष्ट का, बंदा नरकि न जाइ। (सा० ३५-११-२)।

बंदे कौं—सेवक को। उ० अब की बेर बकसि बंदे कौं, सब खत करौं नबेरा। (प० २२२-१२)।

बंदै—सेवक। (पा० प० १७७-२)।

बंदि—सं० स्त्री० (सं० वंदिन्)—कैद में, कारावास में। उ० पूंजी बितड़ि बंदि लै दैहै, तब कहै कौन कै छूटै। (प० १०८-६)।

बंदिग—दे० 'बंदिगी'। (र० १-टि० ५४)।

बंदिगी—सं० स्त्री० (फा० बंदगी)—आराधना, सेवा। उ० जहाँ कबीरा बंदिगी, (तहां) पाप पुन्य नहीं छोति। (सा० ५-४-२)।

बंदीवान—सं० पु० (सं० वंदिन्)—कैदी। (सा० ५२-३-नो० ६)।

बंध (१)—सं० पु० (सं० बंधु)—भाई। उ० देवी न देवा पूजा नहीं जाप, भाइ न बंध माइ नहीं बाप। (प० ३२६-६)।

बंध (२)—सं० पु० (सं० बंध)—बंधन। (पा० प० १-६)।

बँधते—क्रि०अ० (सं०बंधन, हि०बंधना)—बाँधे जाते थे, बद्ध होते थे। उ० जिनके नौबति बाजती, मैंगल बँधते बारि। (सा० १२-२-१)।

बँधते—(पा० सा० १५-४२-१)।

बंधन—सं० पु० (सं० बंधन)—बंधन।

उ० बाबा करहु कृपा जन मारगि लावो, ज्यूं भव बंधन छूटै। (प० १७६-१)।

धना—उलझन, बंधन। उ० जहाँ-जहाँ कलपै तहाँ-तहाँ बंधनां। (प० ८७-३)।

धव—सं०पु० (सं० बांधव)—भाई-बंधु, नातेदार। उ० नांउ मेरे बंधव नांव मेरे भाई, अंत बिरियां नांव सहाई। (प० ३३३-४)।

धा—क्रि०अ० (सं० बंधन)—बँधा हुआ है। (पा० प० १५२-२)।

धाइ—क्रि० स० (सं० बंधन से)—बाँध कर। (पा० सा० २१-१६-१)।

धाइया—बाँधा जाता है। उ० आपहिं आप बँधाइया, द्वै लोचन मरहिं पियास रे। (प० ५-४)।

धाइया—बाँधा जाता है, बंधन में आ जाता है। (पा० प० १०-४)।

धायौ—बंधा लिया है। उ० कहै कबीर कोई आप बंधायौ, ज्यूं नलनीं का सूवा। (प० २४१-१०)।

धावा—बंधन में आ गया है। (पा० चौ० र० १२-२)।

धावै—बँधाए। उ० सूकै सरवर पालि बंधावै, लुणै खेत हठि बाड़ि करै। (प० २४३-५)।

धया—बँधा है। (पा०सा० १५-२५-१)

बहावसी—वहा देगी। (पा० सा० ४-२२-२)।

बहियां (१)—सं० स्त्री० (सं० बाहु, हि० बाँह)—भुजा, बाँह। उ० कऊवा उड़ावत मेरी बहियाँ पिरानीं। (प० ३६०-४)।

बहियां (२)—सं० स्त्री० (सं० बद्ध, हि० बही)—बहीखाता। उ० नव बहियां दस गौनि आदि, कसनि बहत्तरि लागे ताहि। (प० ३८३-३)।

बहिरा—दे० 'बहरा'। सुनने के अयोग्य। (पा० सा० २६-३-१)।

बहीर परी—अव्य० (सं० बहिस्)—बाहर हो गई, निकल पड़ी, चल पड़ी। उ० जहि पैंडे पंडित गए, दुनियाँ परी बहीर। (सा० ३१-५-१)।

बहु—वि० (सं०)—बहुत। उ० लंबा मारग दूरि घर, बिकट पंथ बहु भार। (सा० २-२७-१)।

बहुड़े—क्रि० अ० (सं० प्रघूर्णन, प्रा० पदोलन)—लौटे, वापस आए। उ० गए ते बहुड़े नहीं, कुसल कहै को आइ। (सा० १४-६-२)।

बहुत—वि० (सं० बहुतर)—अनेक। उ० बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये। (प० २-१)।

बहुतक—वि० (सं० बहुतर, हि० बहुत +एक)—बहुत से। उ० मनवां तौ अधर बस्या, बहुतक झीणां होइ। (सा० १३-१४-१)।

बहुतज—दे० 'बहुतक'। बहुतेरे, बहुत से। उ० कबीर कलियुग आइकरि, कीये बहुतज मीत। (सा० ११-१३-१)।

बहुतेणि—क्रि० वि० (हि० बहुत+एरा)—बहुतेरा, बहुत परिमाण में। उ० नलनी सायर घर किया, दौ लागी बहुतेणि। (सा० १६-२२-१)।

बहुतेरा—दे० 'बहुतेणि'। बहुत अधिक। (पा० र० १४-३)।

बहुतैं—दे० 'बहुतक'। बहुत से। (पा० र० १७-४)।

बहुतै—बहुत से। (पा० सा० ११-२-१)।

बांच्या—बच पाता है।(पा०प० ८४-७)।

बांछिऐ—क्रि०स० (सं० वांछा)—इच्छा करो। (पा० प० ८२-२)।

बांझ—(१) सं० स्त्री०—(सं० बंध्या)—निःसंतान स्त्री। उ० ससा सींग की धूनहड़ी, रमैं बाँझ का पूत। (सा० ५८-४-२)।

(२) वि०—(सं० वंध्या)—बच्चा न देने

वाली। उ० वैल वियाइ गाइ भई वांझ, वछरा दूहै तीन्यूं सांझ। (प० ८०-२)।

वांटि—क्रि० स० (सं० वितरण)—बाँट कर। (पा०र० १४-४)।

वांटैं—हिस्सा लगा कर देता है। उ० निपजी मै साझी घणां, वांटै नहीं कवीर। (सा० १-३०-२)।

वांटी—(१) सं०स्त्री० (देश० वाँड़ी)–छोटी लाठी, छड़ी। उ० आवैंगे जम के घालैंगे वाँटी। (प० ३२२-५)।

वांटी—(२) वाँटकर। दे० 'वाँटि'। (प० ३२२-५)।

वांण—सं० पु० (सं० वाण)—तीर, शर। उ० भागां ही छूटैं नहीं, भरि भरि मारै वांण। (सा० १६-६-२)।

वांणि—सं० स्त्री० (हि० वनना से)—स्वभाव, आदत, अभ्यास। उ० मन क मतै न चालिये, छाडि जीव की वांणि। (सा० १३-१-१)।

वांणियां—सं०पु० (सं० वणिक)—वनिया, व्यापारी। उ० साँई मेरा वांणियां, सहजि करै व्यौपार। (सा० ३८-८-१)।

वांणी—सं० स्त्री० (सं० वाणी)—वोली, वचन, शब्द। उ० मुख कसतूरी महमहीं, वांणी फूटी वास। (सा० ५-१४-२)।

वांधउं—क्रि० स० (सं० वंधन)—वाँध दूं। (प० प० २२-२)।

वांधत—वाँधते हैं। (पा० ६२-४)।

वांधल—वाँधा था। (पा० प० १०३-४)।

वांधहु—वाँधो। (पा० प० १२८-२)।

वांधा—वाँधा हुआ है। उ० चित तरउवा पवन षेदा, सहज मूल वांधा। (प० २१०-३)।

वाँधि—वाँधकर। उ० कहा अपराध संत ही कीन्हां, वांधि पोट कुंजर कूं दीन्हां। (प० ३६५-६)।

वाँधी—वाँधी हुई है। उ० कवीर धूलि सकेलि करि, पुड़ीया वाँधी एह। (सा० १२-२०-१)।

वांधी—वाँधी हुई। उ० गाडर आंणीं ऊन कूँ, वांधी चरैं कपास। (सा० १७-३-२)।

वांधैं—वाँधता है। उ० है हजूरि क्या दूरि वतावै दुंदर वांधैं सुन्दर पावै (प०३३०-१)।

वांधे—वँधा हुआ। उ० एकै हरि का नाँव विन, वांधे जमपुरि जांहि। (सा० १२-५४-२)।

वांधै—वाँधता है। (पा० प० १६५-३)।

वांधौं—वाँधूं। उ० सोधन मेरे हरि का नांउ, गांठि न वांधौं वेचि न खांउं। (प० ३३३-१)।

वांधौ—वाँधो। उ० रांम नांम लिखि मेरा वांधौ, कहै उपदेस कवीर। (प० २५०-१०)।

वांध्या—वाँधा हुआ, वद्ध होकर। उ० दोइ अषिर गुरु वाहिरा, वांध्या जमपुरि जाइ। (सा० १७-११-२)।

वांध्यौ—वाँध लिया। उ० पांच किसानां भाजि गये हैं, जीवधर वांध्यौ पारी हो रांम। (प० २२२-१०)।

वांधना—वि० (सं० वामन)—वौना, छोटे डील का। उ० चंदन होसी वांधना, नींव न कहसी कोइ। (सा० २८-१-२)।

वांन—दे० 'वाँण'। तीर। (पा० प० १२१-४)।

वांनां (१)—दे० 'वांण'। तीर। उ० जा नहीं लागे सूरजि के वांनां, सो मोहि आंनि देहु को दांनां। (र० ५-५)।

वांनां (२)—सं० पु० (सं० वर्णक)—पहनावा, पोशाक। (पा० प० १३७-६)।

वांनि—दे० 'वांणि'। आदत, स्वभाव। (प० ३९७-६)।

वांनियां—दे० 'वांणियां'। (पा० प० ९३-१)।

वांनीं—दे० 'वांणी'। (पा० प० १७-५)।

वांनी—सं० स्त्री० (सं० वर्ण)—आभा, रंग। उ० बादल वांनी राम घन उनयां, बरिषै अमृत धारा। (प० १५१-३)।

वांबि—सं० स्त्री० (सं० वाल्मीक)—बांबी, साँप के बिल। उ० मूसा पैठा वांबि मैं, लारै सापणि धाई। (प० १६१-३)।

बाँवी—दे० 'वांवि'। (सा० २०-२३-नो० २७)।

बांबी—(पा० ३४-१३)।

बांभण—दे० 'वांम्हण'। ब्राह्मण जाति का। उ० सापत बांभण मतिमिलै, बैसनों मिलै चँडाल। (सा० ३०-६-१)।

बांमन—दे० 'वाह्मण'। ब्राह्मण। उ० जेतू बांमन बमनीं जाया। (प० ४१-७)

बांम्हण—सं० पु० (सं० ब्राह्मण)—ब्राह्मण जाति का मनुष्य। उ० सुइ पीवै बांह्मण मतवाला, फल लगा बिन वाड़ी। (प० १०-४)।

ब्रांम्हन—दे० 'वांम्हण'(पा०प० १६६-१)।

बांवन (१)—वि० (सं० द्वि पंचाशत, पा० द्विपण्णासा, प्रा० विवण्णा)—बावन की संख्या। उ० बांवन आषिर सोधि करि, ररै भमैं चित लाइ। (सा० १६-२—२)।

बांवन (२)—सं० पु० (सं० वामन)—विष्णु का वामनावतार। उ० बांवन होय नहीं बलि छलिया, धरनी वेद ले न उधरिया। (र० वा० ५४)।

बांवरिया—सं० पु० (हि० बाबुल)—पिता। (पा० प० ६४-७)।

बांवैं—क्रि० वि० (सं० वाम, हि० बाँया)-बाईं तरफ। उ० फल बांवै फल दाहिनैं, फलहि माँहि व्योहार। (सा० ३८-७-१)।

बहुरता—(१) क्रि०अ० (सं० प्रघूर्णन, प्रा० पहोलन)—लौट आया। (पा० सा० १२-२६-१)।

(२) वि० (हि० बहु+रत)—बहुत अधिक अनुरक्त। उ० आया अण आया भया, जे बहुरता संसार। (सा० १२-२६-१)।

बहुरि—क्रि० वि० (हि० बहुरना)-फिर, इसके उपरांत। उ० पाका कलस कुमार का, बहुरि न चढ़ई चाकि। (सा० ६-१-१)।

बहुरिया—सं० स्त्री० (सं० वधूटी, प्रा० वहूड़िया)—नई बहू। उ० हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया। (प० ११७-३)।

बहुरे—दे० 'बहुड़े'। लौटे। (पा० सा० १०-१-२)।

बहू—सं० स्त्रीं० (सं० वधू)—पत्नी, वधू। उ० सुवधी कैं घरि लुवधी आयौ, आन बहू कै माइ। (प० १३-७)।

बहोड़ि—अव्य० (हि० बहोर)—फिर, दूसरी बार। उ० काया हाँड़ी काठ की, नाऊँ चढ़ै बहोड़ि। (सा० १२-३१-२)।

बहोड़िलेहु—क्रि० स० (हि० बहोरना से)—लौटा लो। उ० कबीर यहु तन जात है, सकै तौ लेहु बहोड़ि। (सा० १२-३७-१)।

बहोरि (१)—दे० 'बहोड़ि'। फिर। (पा० सा० १५-१८-२)।

बहोरि (२)—दे० 'बहोड़िलेहु'। लौटा लो। (पा० सा० १५-२१-१)।

बांका—वि० (सं० वंक)—अत्यन्त साहसी, वीर, बहादुर। उ० कहै कबीर यहु बास विकट अति, ग्यांन गुरू ले बांका। (प० १५५-८)।

बांग—सं०स्त्री० (फा०)—पुकार, अजान। (पा० प० १२६-१)।

बांच—दे० 'बाछ'। वांच्छा। (पा० सा० १-२०-२)।

बांचिहौ—क्रि० स० (सं० वाचन)—पढ़ो, वांचो। (पा० प० १५२-१)।

बांचु—कहो। (पा० प० ६७-१)।

बांचै—क्रि० अ० (हि० बचना)—बच पाता है। (पा० सा० ३०-१७-१)।

बांस—दे० 'बास'। (पा०सा० २२-८-२)।

बांसि—सं० पु० (सं० वंश)—बांस

(पा० सा० १-५-२)।

बांह—सं० स्त्री० (सं० बाहु)—भुजा, हाथ। उ० जे छांड़ौं तौ डूबिहौं, गहौं त डसिये बांह। (सा० ३-४३-२)।

बांहण लगा—क्रि० स० (सं० वहन से)—चलाने लगा, फेंकने लगा। उ० सतगुरु लई कमांण करि, बांहण लागा तीर। (सा० १-६-१)।

बांहणहारा—वि० (हि० वाहना से)—चलाने वाले, फेंकने वाले। उ० बांहणहारा जाणि है, कै जांणैं जिस लाग। (सा० ४५-१५-२)।

बांहणीं—सं० स्त्री० (सं० वाहिनी)—सवारी या सेना। उ० हस्ती, घोड़ा, बैल बांहणीं, संग्रह किया घणेरा (प० २३८-७)।

बांहदे—सं० स्त्री०(सं० बाहु)—हाथ देती है, सहायता पहुँचाती है। उ० कबीर माया जिनि मिलै, सौबरियां दे बांह। (सा० १६-३१-१)।

बांहि—सं० स्त्री० (सं० बाहु)–भुजा को, हाथ को। (पा० सा० २-११-२)।

बांहीं—भुजा को। (पा० प० १४६-५)।

बांही—क्रि० स० (सं० वहन, हि० वाहना)—बोया हुआ। उ० रांम नांम करि बोंहड़ा, बांही बीज अघाइ। (सा० ३५-४-१)।

बांह्मण—सं० पु० (सं० ब्राह्मण)—ब्राह्मण जाति। उ० बांह्मण गुरू जगत का, साधू का गुरु नाहिं। (सा० १७-१०-१)।

बांह्मन—दे०'बांह्मण' (पा०प०१६०-५)।

बांह्मनि—स्त्री० ब्राह्मणी। (पा०प० १६० -५)।

बाइक—सं० पु० (सं० वाचक)—बुनने, बोलने वाला। उ० मन फाटा बाइक बुरै, मिटी सगाई साक। (सा० ३७-२-१)।

बाई—सं० स्त्री० (सं० वायु)—बेसुध करने वाला वायु-दोष। उ० झूठी अनभै बिस्तरी, सब थोथी बाई। (प० १५६-६)।

बाकस—सं० पु० (हि० बक्कस)—बासी या सड़ा हुआ मांस। उ० बाकस ले चमरां कूं दीन्हीं, तुचा रंगाइ करौती कीन्हीं। (र० चौ० १७)।

बाकुल—सं०पु० (सं० वल्कल)—वल्कल। उ० बाकुल बसतर किता पहिरवा, का तप बनखंडि बासा। (प० ८८-३)।

बाकी—वि० (अ० बाक़ी)–शेष, अवशेष। उ० कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि। (सा० ६-१-१)।

बाग—सं० स्त्रीं० (सं० वल्गा)—लगाम। उ० नारी कुंड नरक का, बिरला थंभै बाग। (सा० २०-१५-१)।

बागड़—सं० पु० (देश०)—नदी किनारे की वह भूमि जहाँ तक नदी का पानी कभी पहुँचता ही नहीं। उ० बागड़ देस लूवन का घर है। (प० ६८-१)।

बागा (१)—क्रि० अ० (सं० वाक्)—बोला, गूँजा। उ० कहै कबीर जिय संसा नांहीं, सबद अनाहद बागा (प० ७०-६)।

बागा (२)—क्रि० अ० (सं० वल्ग)—गमन करता है। उ० दीपक बिन जोति जोति बिन दीपक, हद बिन अनाहद सबद बागा। (प० १५८-६)।

बागि—दे० 'बाग'। लगाम। (पा० सा० ३०-१६-१)।

बागे—(सं० वाक्) बजता है, बोलता है। (पा० सा० ६-३६-२)।

बागुल—सं० पु० (सं० बाल्डालिक = चमगादड़)। उ० ते बिधना बागुल रचे, रहे अरध मुखि झूलि। (सा० १२-२८-१)।

बाघ—सं०पु० (सं० व्याघ्र)—बाघ। उ० मैं मेरी करि बहुत बिगूतें, बिषैं बाघ जग खाया। (प० १६२-८)।

बाघनि—सं० स्त्री० (सं० व्याघ्र)—बाघिन। उ० बाघिन संगि भई सबहिन कै, खसम न भेद लहाई। (प० ८१-२)।

बाचवंत—वि० (सं० वाक् से)—बोलने वाले हैं। उ० सोई अषिर सोई बैयन, जन जू जू बाचवंत। (सा० ३३-७-१)।

बाचा—सं० स्त्री० (सं० वाक् से)—वचन से। उ० मनसा बाचा हरि हरि भाखै, गंध्रुप सुत वड़ भागी। (प० २६६-६)।

बाचाबंध—वि० (सं० वाक्+वद्ध)—प्रतिज्ञावद्ध। उ० तूटै पाणि छूटै नहीं, भई ज बाचा बंध। (सा० १६-२६-२)।

बाछ—सं० स्त्री० (सं० वांछा)—इच्छा, चाह। उ० कलियुग हम स्यूं लड़ि पड्या मुहकम मेरा बाछ। (सा० १-५-२)।

बाजंतरी—सं० स्त्री० (सं० वाद्य)—वाद्ययंत्र। (पा० सा० १५-१३-१)।

बाज—सं० पु० (अ० बाज)—बाज नामक पक्षी। उ० काल अच्यंता झड़पसी ज्यूं तीतर को बाज। (सा० ४६-६-२)।

बाजई—क्रि० अ० (हि० बजना)-बजता है। उ० कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गए सब तार। (सा० ४६-२०-१)।

बाजती-बजती थी। उ० जिनके नौवति बाजती, मैंगल बँधते बारि (सा० १२-२-१)।

बाजते—बजते थे, बजाए जाते थे। उ० सातौं सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग। (सा० १२-४-१)।

बाजा—बजने लगा। (पा० प० १०८-५)।

बाजिया—बजा। (पा०सा० १४-२६-१)।

बाजे—बज जाए। उ० निस अंधियारी मिटि गई, बाजे अनहद नूर। (सा० ५-४३-२)।

बाजै—बजे, शब्द करे। उ० बाजै बाव बिकार की, भी मुवा जीवै। (सा० १३-२३-२)।

बाजणां—सं० पु० (सं० वाद्य)—बजने वाला। उ० तूरा दुइ मुखि बाजणां, न्याइ तमाचे खाइ (सा० ११-१२-२)।

बाजनदे—क्रि० अ० (हि० बजना)—बजने दे। (पा० सा० १५-१३-१)।

बाजनां—दे० 'बाजणां'। (पा० सा० ११-३-२)।

बाजार—सं० पु० (फा०)—बाजार। उ० चौपड़ि मांडी चौहटै अरध उरध बाजार। (सा० १-३१-१)।

बाजारि—दे० 'बाजार'। (पा० सा० १-३२-१)।

बाजी—सं० स्त्री०(फा० बाज़ी)—ऐसा खेल जिसमें शर्त या दाँव लगा हो। उ० गयौं पषनियां डामरी बाजी, को काहू कै आवै (प० ६२-८)।

बाजीगर—सं० पु० (फा० बाज़ीगर)—जादूगर। उ० बाजी की बाजीगर जांनैं कै बाजीगर का चेरा (प० २३८-६)।

बाजु—दे० 'बाज'। (पा० प० १३८-४)।

बाझ—अव्य (सं० वर्ज या फा० बाज़) —बिना, वगैर। उ० भिस्त न मेरे चाहिये, बाझ पियारे तुझ (सा० ११-७ २)।

बाझि पर्‌यौ—क्रि० अ० (सं० वद्+ना प्रत्य०, प्रा० वज्झ, हि० बझना)-फँस गए हैं। उ० सुरति सुमृति दोइ कौ बिसवास, बाझि पर्‌यौ सब आसा पास। (प० ४७-४)।

बाट—सं० पु० (सं०वाट) मार्ग, रास्ता, राह। उ० बहुत दिननकी जोवती, बाट तुम्हारी राम। (सा० ३-६-१)।

बाटपाड़ी (पारी)—(मुहा०)-डाका मारा, लूट मचायी। उ० पांहनि बोई पृथमीं, पंडित पाड़ी बाट। सा० (२३-२-२)।

बाटि—दे० 'बाट'। रास्ते पर, मार्ग पर। (पा० सा० १८-१२-२)।

बाटै—क्रि० अ० (हि० बढ़ना)—बढ़े। (पा० प० ६०-३)।

वाड़—दे० 'वाड़ि'। फुलवारी। (पा०सा० ३१-१०-१)।

वाड़ि—सं० स्त्री० (सं० वारी)—वाटिका, फुलवारी। उ० वाड़ि चढ़ेती वेलि ज्यूं, उलकी आसा फंधा। (सा०१६-२६-१)।

वाड़ी—दे० 'वाड़ि'। फुलवारा। उ० सुइ पीवै वांम्हण मतवाला, फल लागा विन वाड़ी। (प० १०-४)।

वाड़ै—सं० पु० (हि० वाड़ा)-पशुशाला। (सा० १२-५०-नो०-६५)।

वाढ़—सं०स्त्री० (सं० वाट)-काटने वाले अस्त्रों की धार, सान। उ० खूंदन तौ धरती सहै, वाढ़ सहै वनराइ (३९-२-१)।

वाढ्यौ—क्रि० अ० (हि० वढ़ना से)—वढ़ गया। (पा० प० १५-११)।

वाण—दे० 'वांण' तीर। उ० सतगुर मार्‍या वाण भरि, धरि करि सूधी मूठि। (सा० १-८-१)।

वाणै—सं० पु० (सं० वचन, हि० वुनना) —भरनी, कपड़े की वनावट में आड़े वल लाने में भरा जाने वाला धागा। उ० तांणै वाणै पड़ी अनं वासी, सूत कहै वुणि गाढी। (प० १०-६)।

वात—सं० स्त्री० (सं० वार्त्ता) (१) उद्देश्य, अभिप्राय। उ० राम नाम जाण्यां नहीं, वात विनंठी मूल। (सा० १२-३२-१)।(२)—रहस्य, कर्त्तव्य। उ० मन जांणै सव वात, जाणत ही औगुण करै। (सा० १३-७-१)।

वातां की वात—(मुहा०)—मुख्य वात। उ० चतुराई हरि नां मिलै, ए वातां की वात। (सा०२४-२२-१)।

वातन—वातों से। (पा० प० १६७-३)।

वातनि—वातों में। उ० जोजन एक प्रमिति नहीं जानैं, वातनि हीं वैकुंठ वषानैं। (प०२४-२)।

वातैं—वात, काम, वस्तु। उ० कवीर अपनैं जीवतैं, ए दोइ वातैं धोइ। (सा० १२-४१-१)।

वाति—सं०स्त्री० (सं०वर्त्ति,प्रा०वत्ति, हि० वाती)—वत्ती, वाती। उ० कवीर निरभै राम जपि, जव लग दीवै वाति। (सा० २-१०-१)।

वाती—दे० 'वाति'। वत्ती। उ० दीपक दीया तेल भरि, वाती दई अघट्ट। (सा० १-१२-१)।

वाद—सं० पु० (सं० वाद)—तर्क-वितर्क, खंडन-मंडन की वातचीत। उ० पंचतत तहां सवद न स्वादं, अलख निरंजन विद्या न वादं। प० (३७-५)।

वाद—दे० 'वादं'। तर्क। उ० पंडित वाद वदंते झूठा। (प० ४०-१)।

वाद विवादं—सं०पु०(सं० वाद-विवाद)—तर्क-वितर्क। उ० जे थे समय अचल ह्वै काके, करते वाद विवादं।(प० २८१-८)।

वादरी—सं० स्त्री० (हि० वादल का अल्प) —वादर, वादल। (सा० १२-३२-नो०-४२)।

वादल—सं० पु० (सं० वारिद)—मेघ, वादल। उ० वरस्या वादल प्रेम का, भीजि गया सव अंग। (पा० १-३३-२)

वादली—दे० 'वादरी'। घन-विस्तार। उ० कवीर गुण की वादली, तीतरवानीं छांहि। (सा० १६-२३-१)।

वादि—अव्य० (सं० वादि) व्यर्थ ही, निष्प्रयोजन। उ० रतन निराला पाईया, जगत ढंढोल्या वादि। (सा० ५-३३-२)।

वादु—दे० 'वाद'। (पा० प० ८७-५)।

वाना—सं० पु० (सं० वर्ण)—रूप, पहनावा, वेशविन्यास। उ० अपना वाना वाहिया, कहि कहि थाके माइ। (सा० ३८-६-२)।

वानारसि—सं० स्त्री० (सं० वाराणसी)—काशी। उ० हिरदै कठोर मरै वानारसि, नरक न वंच्या जाई। (प० ३४५-६)।

वाप—सं० पु० (सं० ताप)—पिता, जनक।

उ० बेस्वां केरा पूत ज्यूँ, कहैं कौन सूँ बाप। (सा० २-२२-२)।

बापु—पिता। (पा० सा० १३५-५)।

बापुड़े—वि० (सं० वराक)—बेचारे, तुच्छ। ते क्यूं छूटैं बापुड़े, बाँधे सिरजन हार। (सा० १६-२५-२)।

बापुरा—दे० 'बापुरा'। बेचारा। (पा० सा० १५-६८-२)।

बापुरे—बेचारे। (पा० सा० ३१-९-१)।

बापुरैं—बेचारे। (पा० सा० १९-३-२)।

बापौ—दे० 'बाप'। पिता, जनक। (पा० प० १५४-६)।

बाबाम—सं० पु० (तु० बाबा)–पिता। उ० बाबल मेरा ब्याह करि, वर उत्यम ले जाहि। (प० १३-५)।

बाबा—सं० पु० (तु०)—पिता। उ० बाबा करहु कृपा जन मारगि लावो, ज्यूँ भव बंधन षूटै। (प० १७९-१)।

बाबुल—दे०'बाबल'। (पा०प० ११०-५)

बाबू—सं० पु० (हि० बाप)–भलामानुस। उ० उन देस जाइबो रे बाबू, देखिबो रे लोग किन-किन खैबू लो।(प० ३७६-२)

बाबै—सं०पु० (तु० बाबा)—बाप कोही। उ० नांनां रंगैं भांवरि फेरी, गांठि जोरि बाबै पतिताई। (प० २२६-५)।

बामन—दे० 'बांमन'। ब्राह्मण। (पा० प० १८२-३)।

बारंबार—क्रि० वि० (सं० वारंवार)–बार-बार। कँवल कुवाँ मैं प्रेम रस, पीवै बारं-बार। (सा० १०-२-२)।

बारंबारा—बार-बार। (स० २६२-१)।

बार (१)—सं० पु० (सं० वार)—काल, समय। उ० सं० खरी विगूचनि होइगी, लेखा देती बार। सा० २२-१-२)।

बार(२)—सं० पु० (हि० बाट)–मार्ग में। (सा० ४६-७-नो-८)।

बार (३)—सं० पु० (सं० बाल)–बालक, लड़का। उ० नां हम बार बूढ़ नाहीं हम, नां हमरै चिलकाई हो। (प० ५०-४)।

बारबार—दे० 'बारंबार'। फिर-फिर। उ० मोहि कहा डरावै बारबार, जिनि जल थल गिर कौ कियौ प्रहार। (प० ३७९-७)।

बारह—पि० (सं० द्वादश)–दस और दो। उ० बारह बरस बालापन खोयौ, बीस बरस कछू तप न कीयौ (प० २४३-३)।

बारहमास—क्रि० वि० (हि० बारह+ मास)–बारहों महीने, सदा। उ० तरवर तास बिलंबिस, बारहमास फलंत। (सा० ४७-६-१)।

बारा (१)—दे० 'बारह'। द्वादश (दल कमल)। उ० पुहुप बास भवरा एक राता, बारा ले उर धरिया। (प० १६६-५)।

बारा (२)—वि० (सं० बाल)—बालक। उ० नहीं सो ज्वांन न विरध नहीं बारा, आपें आप आपनपौ तारा। (र० बा० -३७)।

बारि (१)—सं० स्त्री० (सं० वारि)–हाथी के बाँधने की जंजीर। उ० बारि जु बांध्या प्रेम कै, डारि रह्या सिरि षेह। (सा० ६-५-२)।

बारि (२)–सं० पु० (सं० वार, हि० द्वार) –द्वार पर, दरवाजे पर। उ० जिनके नौबति बाजती, मैंगल बँधते बारि। (स० १२-२-१)।

बारि (३)—सं० स्त्री० (हि० बाड़ी)–मकान। उ० नौ मण सूत आलूझिया, कबीर घर घर बारि। (सा० ३३-५-१)

बारि (४)—सं० पु० (सं० वारण)–दूर, निवारण। (सा० १२-१३-नो०-२०)।

बारि (५)—सं० स्त्री० (सं० वारि)–जल। (सा०१२-३२-नो०-४२)।

बारिक—दे० 'बालक'। बच्चा। (पा० प० १२-३)।

बारी—दे० 'बाड़ी'। फुलवारी। उ० नांउ

मेरे खेतो नांउ मेरे वारी, भगति करौं मैं सरनि तुम्हारी। (प० ३३३-२)।

वारू—सं०पु०(सं० वालुका, हि० वालू)—रेत, वालू। उ० वारू के घरवा मैं वैठो, चेतत नहीं अयांनां। (प० ३११-७)।

वारुनि—सं० स्त्री० (सं० वारुणी)—मदिरा। उ० यूं मन वारुनि मथा हमारा, दाधी दुख कलेस संसारा। (र० ४-८४)।

वाल—दे० 'वारा' (२) वालक। उ० संग सखा लीयें वहुत वाल। (प० ३७९-३)।

वालक—सं०पु० (२) लड़का, पुत्र। उ० कहै कवीर एक वुधि विचारी, वालक दुखी दुखी महतारी। (पा० १११-५)।

वालपन—दे०'वालापन' (पा०प० ८३-३)

वालपनां—दे० 'वालापन'। (पा० प० १३९-३)।

वालम—सं०पु० (वल्लभ)—पति, स्वामी। (पा०प० १३-१)।

वाला—दे० 'वाल'। वालक। (पा० प० ७०-३)।

वालापन—सं० पु० (सं० वाल+हि० पन)—वचपन, लड़कपन। उ० वारह वरस वालापन खोयौ, वीस वरस कछू तप न कियौ। (प० २४३-३)।

वालि (१)—सं० स्त्री० (हि० वाल)—पौधों के डंठल जिसमें दाने चारों ओर रहते हैं। उ० वालि कवीरा ले गया, पंडित ढूंढै खेत। (सा० १७-९-२)।

वालि (२)—सं० पु० (सं० वारि)—जल। उ० इला प्यंगुला सुषमनां, पछिम गंगा वालि रे। (प० ३९१-७)।

वालिक—दे०'वालक'। लड़का। उ० हरि जननी मैं वालिक तेरा। (प० १११-१)।

वालू—दे०'वारू'। रेत (पा०प० ६९-६)।

वाल्हा—दे० 'वालम'। स्वामी। उ० वाल्हा आव हमारे गेहरे, तुम विन दुखिअ देह रे (प० ३०७-१)।

वाव—सं० पु० (सं० वायु)—पवन, हवा। उ० त्रिस्नो वाव चहूं दिसि डोला। (प० ९०-४)।

वावड़ी—सं० स्त्री० (सं० वाय+ड़ी प्रत्य०)—वावली। उ० मैड़ी महल वावड़ी छाजा, छाड़ि गये सव भूपति राजा। (प० १००-४)।

वावन—सं० पु० (सं० द्विपंचाशत, या द्विपण्णासा, प्रा० विवण्णा)—पचास और दो। उ० वावन कोटि जाकै कुटवाल, नगरी नगरी खेत्रपाल। (पा० ३४०-१४)।

वावनां—दे० 'वाधना'। (पा० सा० ४-१९-२)।

वावल—दे० 'वावला'। (पा० सा० १-१२-१)।

वावरिआ—दे० 'वावलिया'। (पा० प० ८४-१०)।

वावरे—दे० 'वावला'। पागल, वावले। (पा० प० ८८-१)।

वावरे—दे० 'वावला'। वावले, पागल। (पा० प० ९६-१)।

वावला (१)—वि० (सं० वातुल, प्रा० वाउल)—पागल (उ० गूंगा हूवा वावला, वहरा हुआ कान। (सा० १-१०-१)। अथवा

(२)—सं० पु० (सं० वाक् से)—वोलने वाला। (सा० १-१०-१)।

वावलिया—वि० (सं० वातुल, प्रा०वाउल, हि० वावला+इया प्रत्य)—पागल। उ० कहै कवीर एक ही ध्यावो, वावलिया संसारा। (प० ३४५-९)।

वावैं—दे० 'वांवैं'। वाया। (पा० प० १९७-७)।

वावै—क्रि०स० (हि० वजाना से)-वजाता है। उ० जंत्री जंत्र तजै नहीं वाजै तव वाजै जव वावै। (प० १९५-६)।

वापर—सं०पु० (देश०—वखरा, वाखर)—पलान के नीचे का तहरुआ, यहां पर

लादने का जरिया। (प० ५-नो०-६)।

वास (१)—सं० पु० (सं० वास)—निवास। उ० कबीर मन मधुकर भया, रह्या निरन्तर वास। (सा० ५-६-१)।

वास (२)—सं० पु० (सं० वास)—गंध, बू। उ० पांडल पंजर मन भवर, आवा अनूपम वास। (सा० ३५-१६-१)।

वासन—सं० पु० (सं० वासन)—बरतन। उ० वरतन वासन सूं खिसै, चोर न सकई लागि। (सा० ३४-१०-२)।

वासनां (१)—सं०स्त्री० (सं०वास)—गंध, महक। उ० एकनि गंध वासनां प्रकट, जग थैं रहैं अकेला। (पा० १५७-१४)। (२)—सं०स्त्री०(सं० वासना)—इच्छा। (प० १५७-१४)।

वासाह—दे० 'वास (१)'। निवास स्थान। उ० जाका वासा गोर में, सो क्यूं सोवै सुक्ख। (सा० २-१३-२)।

वासिग—सं०पु० (सं० वासुकि)—सर्पराज वासुकी। उ० वासिग कोटि सेज विस तरैं, पवन कोटि चौवारैं फिरैं। (प० ३४०-१०)।

वासी—क्रि० (सं० वासर)—देर का रखा हुआ, पुराना। उ० वासी पावस पड़ि मुए विषै विलंवे जीव। (सा० ५०-५-२)

वासुर—दे० 'वासुरि'। दिन। (पा० प० ३५-६)।

वासुरि—सं० पु० (सं० वासर)—दिन में। उ० वासुरि सुख नां रैंणि सुख, नां सुख सुपिनै माहि। (सा० ३-४-१)।

वासै—दे० '(१)'। निवास-स्थान में। उ० विच कै वासै रमि रह्या, काल रह्या सर पूरि। (सा० ४६-२३-२)।

वाहज—क्रि०वि०(सं० वाह्य, हि० वाहर)—दूर, अलग। (पा०प० १६७-२)।

वाहन—दे०'वांहण' (पा०सा० १-२१-१)।

वांहनहारा—दे० 'वांहणहारा'। (पा० सा० १४-२८-२)।

वाहनौं—दे० 'वांहणी'। सेना या सवारी। (पा० प० ८६-३)।

वाहर—क्रि० वि० (वाह्य)—भीतर या अन्दर का उलटा। (पा० प० ८६-६)।

वाहर हुई—क्रि० वि० (सं० वाह्य)—प्रकट हुई, सामने आई। उ० धंधा ही में मरि गया, वाहर हुई न वंब। (सा० १२-३३-२)।

वाहरि—क्रि० वि० (सं० वाह्य)—(१) प्रगट। उ० तन भीतरि मन मानियां, वाहरि कहा न जाइ। (सा० ५-३१-१) (२) अलग हटकर। उ० वाहरि रहेतेऊ वेर भीगे मंदिर मांहि। (सा० १६-२३-२)।

वाहा—दे० 'वाह्या'। (पा०सा० १-६-१)

वाहि—क्रि० स० (सं० वहन, हि० वहना)—फेंक, लगा, डाल। उ० आगि आगि सवरो कहै, तामैं हाथ न वाहि। (सा० २०-२४-२)।

वाहिया—क्रि० स० (सं० वहन, हि० वाहना)—धारण किया, लिया। उ० अपना वाना वाहिया, कहि कहि थाके माइ। (सा० ३८-६-२)।

वाहिरा (१)—क्रि० वि० (हि० वाहर)—प्रभाव से अलग होने पर। उ० विन रखवाले वाहिरा, चिड़ियैं खाया खेत। (सा० १२-१५-१)।

वाहिरा (२)—क्रि०वि० (सं० वाह्य)—विना, वगैर। उ० दोइ अंधिर गुरु वाहिरा, वांध्या जमपुरि जाइ। (सा० १७-११-२)।

वाही—क्रि० स० (सं० वहन, हि० वाहना)—जोत या गोड़ दिया। उ० मन कुंजर जाइ वाड़ी विलंव्या, सतगुर वाही वेली। (प० १६३-५)।

वाहुड़ै—क्रि० अ० (सं० प्रघूर्णन, प्रा० पहोलन, हि० वहुरना)—लौटता है। उ० विगड़ी वातन वाहुड़ै, कर छिटक्यां कत ठौर। (सा० ४६-२५-२)।

वाहुड़ौं—लौटाता हूँ। उ० तो तो करै त वाहुड़ौं। दुरि दुरि करै तौ जाउँ। (सा० ११-१५-१)।

वाहुरै—दे० 'वाहुड़ै'। (पा० सा० १५-३६s२)।

वाहुला—सं० पु० (हि० मल्लाह)—मांझी, मल्लाह। उ० कबीर मन का वाहुला, अंडा वहे असोस। (सा० ५७-३-१)।

बाहै—क्रि० स० (सं० वहन)—जोतता है। (पा० सा० १५-४१-१)।

वाहौं—चलाऊँ। (पा०प० १२-४)।

वाह्या—चलाया, मारा। सतगुर सांचा सूरिमां सबदजु वाह्या एक। (सा० १-७-१)।

विंजना—सं० पु० (हि० व्यंजन)। (पा० प० ३४-११)।

विंद—सं० पु० (सं० विन्दु)-(१) वीर्य। उ० सुधनैं विंद न देई झरनां, ता काजी कूं जुरा न मरणां। (प० ३३०-५)। (२) बूँद। (पा० प० १५८-४)।

विंदत—क्रि० अ० (सं० वेधन)-वींधा जाते हुए। (पा० प० ११५-३)।

विंदहि—दे०'व्यंदहि'।(पा०प० १२३-६)।

विंदु—दे० 'व्यंद'। (पा० प०३६-३)।

विंदू—दे०। 'विंद' (१) वीर्य। (पा० र० ५-२)।

विंव—सं० पु० (सं०) प्रतिविंव, छाया। (पा० प० १२२-४)।

विंवहि—छाया। उ० ज्यू विंवहि प्रतिविंव समांनां, उदिक कुंभ विगरांनां। (प० १७६-६)।

विआपी—दे० 'वियापी' (पा०प० ३६-६)।

विआपै—व्याप्त होता है। (पा०प० ३६-२)।

विआस—दे० 'व्यास'। व्यास नाम के व्यक्ति। (पा० प० १६१-६)।

विकंता—क्रि० अ० (सं० विक्रय)—विकती हुई। (सा० ४६-१६-नो०३३)।

विकट—वि० (सं० विकट)—भयंकर, भीषण। उ० लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ वहु भार। (सा० २-२७-१)।

विकरारा—दे० 'विकराल'। (पा० प० ३६-६)।

विकराल—वि० (सं० विकराल)-कठिन, भयंकर। उ० सो गारडू मिल्यौ नहीं कवहूं पसर्‌यो विप विकराल। (प० ३०८-६)।

विकरै पड्या—क्रि० अ० (सं० विक्रय+हि० पड़ना)-विक गया, चला गया उ० कवीर मन विकरै पड्या, गया स्वाद कै साथि। (सा० १३-१६-१)।
(सं० विकार+हि० पड़ना)—विकारों में पड़ गया। (सा० १३-१६-१)।

विकल—वि० (सं० विकल)-व्याकुल, बेचैन। उ० राम वियोगी तन विकल, ताहि न चीन्हैं कोइ। (सा० २६-६-१)।

विकाइ—क्रि०अ० (हि० विकाना)-विकता है। प्रेम न खेतौं नींपजै, प्रेम न हाटि विकाइ। (सा० ४५-२१-१)।

विकाई—विकती है। उ० कंकर कूई पतालि पनियां, सूनैं बूंद विकाई रे। (प० ७६-५)।

विकाया—विक गया। (पा०प० १५८-१०)।

विकार—सं० पु० (सं० विकार)-अवगुण, कुवासना। उ० मन कौं काहे न मूंडिए, जामैं विषै विकार। (सा० २४-१२-२)।

विकारा—दे० 'विकार'। अवगुण। उ० वोलत-वोलत वढ़ैं विकारा। (प० ६७-२)।

विक्रम—सं० पु० (सं० विक्रम)—विक्रम नामक राजा। उ० कोई ले जात न देख्या, वलि विक्रम भोज ग्रस्या। (प० २६६-१३)।

विख—दे० 'विप'। (पा० प० ३४-१०)।

विखई—दे० 'विपई'। (पा० सा० ४-३६-२)।

बिखम—दे० 'बिषम'। (पा०र० ११-१)

बिखया—दे० 'बिषिया' (पा०प० ३१-४)

बिखरे—क्रि० अ० (सं० विकीर्ण)—तितर-बितर हो गए। (पा० सा० १८-५-१)।

बिखिया—दे०'बिषिया' (पा०प० ३९-५)

बिखु—दे० 'विष'। (पा० प० २०-८)।

बिखै—दे० 'बिषै'। (पा० प० ६६-७)।

बिगंध—सं० स्त्री० (हिं० वि+गंध)—विशेष गंध। (पा० सा० २७-३-२)।

बिगता—दे० 'बिरकत'। (पा० सा० २०-८-२)।

बिगरांनां—वि० (सं० विगलित)—गिरा हुआ। उ० ज्यूं बिंवहि प्रतिबिंब समांनां, उदिक कुंभ बिगरांनां। (प० १७९-६)।

बिगरि—क्रि० अ० (सं० विकृत, हिं० बिगड़ना)—बिगड़कर। (पा० प० १६६-३)।

बिगरी—बिगड़ गई। (पा० प० ४४-१)।

बिगरे—अच्छी न रह जाने से। उ० हंम बिगरे बिगरी जिनि औरा। (प० १४७-२)।

बिगरै—बिगड़ने से। (पा०प० १६०-२)

बिगरौ—बिगड़ो। (प० १४७-२)।

बिगरचौं—बिगड़ गया। (पा० प० १९०-२)।

बिगरचौ—बिगड़ा। (पा०प० १६६-१)।

बिगसै—क्रि० अ० (सं० विकसन)—खिलना, फैलना। (पा० प० १६२-५)।

बिगाड़ियां—क्रि० स० (सं० विकार, हिं० बिगाड़ना)—बिगाड़ दिया। उ० कबीर मूलि बिगाड़ियां, तूं नां करि मैला चित्त। (सा० ५६-२-१)।

बिगाड़िया—हानि पहुँचायी। उ० केसौ कहा बिगाड़िया, जे मूंडै सौ बार। (सा० २४-१२-१)।

बिगाड़ी—नष्ट कर दी। उ० भगति बिगांड़ी कांमियां, इंद्री केरै स्वादि। (सा० २०-१८-१)।

बिगाड़ैं—बिगाड़ता है। उ० साहिब गरवा लोड़िये, नफा बिगाड़ैं नित। (सा० ५६-२-२)।

बिगाड़ैं—बिगाड़ता है। (पा० सा० ६-१०-२)।

बिगारिया—दे० 'बिगाड़िया'। (पा० सा० २५-४-१)।

बिगास—सं० पु० (स० विकास)—उदय होने पर। (र० १-टि० ६)।

बिगासा—क्रि० अ० (सं० विकास)—उदित हुआ। उ० गुर कृपाल कृपा जब कीन्हीं, हिरदै कंवल बिगासा। (प० ६-३)।

बिगुरचनि—दे० 'बिगुचनि'। (पा० सा० २१-२२-२)।

बिगूचनि—सं० स्त्री० (सं० विकुंचन)—असमंजस, अड़चन, छीछालेदर। उ० खरी बिगूचनि होइगी, लेखा देती वार। (सा० २२-१-२)।

बिगूचे—क्रि० अ० (सं० विकुंचन)—असमंजस में पड़ गए। उ० मैं अनाथ प्रभु कहूं काहि, अनेक बिगूचे मैं को आहि। (प० ३८४-४)।

बिगूचैं—असमंजस में पड़ते हो। उ० अजहूँ बेरा समंद मैं, बोलि बिगूचैं कांइ। (सा० ८-५-२)।

बिगूता—क्रि० अ० (हिं० बिगूणना)—दबोचे जाते हैं, पकड़े जाते हैं। (पा० प० ९-७)।

बिगूते—दबोचे जाते हैं। उ० हरि बिन भरमि बिगूचे गंदा। (प० १३३-१)।

बिग्यांन—सं० पु० (सं० विज्ञान)—ज्ञान। (पा० प० १५७-८)।

बिघन—सं० पु० (सं० विघ्न)—बाधा में। उ० रांम कै नांव परंम पद पाया, छूटै बिघन बिकारा। (प० २६७-१०)।

बिघार—दे० 'बाघ'। उ० बकरी बिघार

खायौ, हरनि खायौ चीता। (प० १६०-५)।

विच—क्रि० वि० (सं० विच्)—में, दरमियान। (पा० प० ८०-३)।

विचषन—वि० (सं० विचक्षण)—चतुर, बुद्धिमती। उ० कै सैं नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिप विचषन नारी। (प० ८०-१)।

विचारं—दे० 'विचार'। (पा०प० ११५-१०)।

विचार—सं० पु० (सं० विचार)—भावना। उ० राम नाम सवको कहै, कहिवे बहुत विचार। (सा० ३३-१-१)।

विचारा (१)—दे० 'विचार'। ख्याल। (प० ४०-नो० ४२)।

विचारा (२)—वि० (फा० वेचारा)—गरीव, दीन। उ० कवीर विचारा क्या करैं, जाकी सुखदेव वोलैं साषि। (सा० २९-११-२)।

बिचारी—वेचारी। उ० पासि विनंठा कपड़ा, क्या करै विचारी चोल। (सा० १-२४-२)।

बिचारि—क्रि० स० (हि० विचारना)—विचारकर। उ० ताका पांणि को हंसा पीवै, विरला आदि विचारि। (सा० ५-४५-२)।

विचारिए—विचार कीजिए। (पा० प० १०-८)।

विचारि बिचारि—समझ-बूझ कर। उ० उतर दषिण के पंडिता, रहे बिचारि विचारि। (सा० ४-५-२)।

बिचारिया—विचार किया। (पा० सा० २८-३-१)।

बिचारिये—विचार कीजिए। उ० रसनां रसहि बिचारिये, सारंग श्री रंग धार रे। (प० ५-८)।

विचारु—विचारकर। (पा० प० ७१-१)।

विचारै—विचार करता है। उ० कहै कवीर सो पंडित ग्याता, जो या पदहि विचारै। (प० १३-११)।

बिचि—सं० पु० (सं० विच)—मध्य में, अन्दर। उ० हरि विचि घालै अंतरा, माया वड़ी विसास। (सा० १६-५-२)।

विचित्र—वि० (सं० विचित्र)—अद्भुत, विलक्षण। (पा० चौ० र० ११-२)।

विछरें—दे० 'विछुरे'। (पा० प० १९४-४)।

विछाइ—क्रि० स० (सं० विस्तृण, हि० विछाना)—विछा दो, फैलाओ। उ० साषित काली कांवली, भावै तहाँ विछाइ। (सा० २८-१३-२)।

विछिटे—क्रि० अ० (सं० विच्छेद, हि० विछुड़ना)—दूर पड़े हुए। (सा० ५२-३-नो० ७)।

विछुटी—विछुड़ी, अलग हुई। उ० चकवी बिछुटी रैणि की, आइ मिली परभाति। (सा० ३-३-१)।

बिछुटे—विछुडे, वियुक्त हो गये। उ० जे जन बिछुटे राम सूं, ते दिन मिले न राति। (सा० ३-३-२)।

बिछुट्या—अलग हो गया। उ० कवीर बिछुट्या राम सूं, नां सुख धूप न छांह। (सा० ३-४-२)।

बिछुड़े—दे० 'विछुटे'। विछुड़ गए। (पा० सा० २-१५-२)।

बिछुरन—क्रि० अ० (सं० विच्छेद, हि० विछुड़ना)—विछुड़ने। (पा० चौ० र० २८-१)।

बिछुरा—विछुड़ा। (पा०चौ०र० ४०-२)

बिछुरी—अलग हुई। (पा०सा० २-४-१)

बिछुरें—वियुक्त हो गए। (पा० प० १०-२)।

बिछुरे—विछुड़ने पर। उ० बिछुरे तत फिरि सहजि समांनां, रेख रही नहीं आसा। (प० ४४-३)।

बिछुरै—विछुड़ती है। (पा०प० ५७-२)।

बिछुवा—सं० पु० (हि० विच्छू से)—पैर में पहनने का एक गहना। उ० कहा भयो बिछुवा ठमकायें। (प० १३९-४)।

बिछोह—सं० पु० (हि० बिछुड़ना से)—वियोग, विरह, जुदाई। उ० इक दिन ऐसा होइगा, सब सूँ पड़ै बिछोह। (सा० १२-६-१)।

बिछोहा—वि० (हि० विछोह से)—वियुक्त, बिछुड़ा हुआ। उ० सांध नांव तव पाइये, जे बेलि बिछोहा होइ। (सा० ५८-५-२)।

बिछोहिया—वि० (हि० विछोह से)—वियुक्त। उ० रैंणा दूर बिछोहिया, रहुरे संषय झूरि। (सा० ३-४४-१)।

बिजुरी—सं० स्त्री० (सं० विद्युत, हि० विजली)—विद्युतशक्ति। उ० बिजुरी चमकि घन वरषिहै, तरां भीजत हैं सव संत रे। (प० ४-१४)।

बिजुली—दे० 'बिजुरी'। (पा०प० १३०-४)।

बिजोग—सं० पु० (सं० वियोग)—विरह, जुदाई। उ० पूरी किनहूँ न भोगई, इनका इहै बिजोग। (सा० १६-३-२)।

बिजोगै—वियोग में। (पा० र० ५-५)।

बिजौगैं—वियोग में। उ० संजोगैं करि गुंण धर्‍या, बिजोगैं गुंण जाइ। (र० ५-१८)।

बिजौरा—सं० पु० (सं० बीजपूरक)—एक प्रकार का नींबू। उ० सदा सदाफल दाख बिजौरा कौतिकहारी मूली। (प० २१४-२)।

बिझुका—सं० पु० (देश०)—पक्षियों आदि को डराने के लिए खेतों में लकड़ी के ऊपर रखी हुई उलटी हाँड़ी। उ० बुधि मेरी किरषी, गर मेरो बिझुका, अखिर दोइ रखवारे। (प० ३९६-५)।

बिटारिया—दे० 'बिटालिया'। (पा०सा० ३१-२५-१)।

बिटालिया—क्रि० स० (सं० विलोड़न, हि० बिटारना)—घँघोलकर गंदा कर दिया। उ० बुगली नीर बिटालिया, सायर चढ्या कलंक। (सा० १६-३०-१)

बिटिया—सं० स्त्री० (सं० बटु)—बेटी। उ० एक अचम्भा देखिया, बिटिया जायौ बाप। (प० १३-४)।

बिड़—वि० (फा० बेगान, हि० बिराना)—पराया। उ० मांइ बिड़ाणी बाप बिड़, हम भी मंझि बिडांह। (सा० १२-५६-१)।

बिडरत—क्रि० अ० (सं० विट्)—तितर बितर होते हैं। उ० टारे टरत नहीं निस बासुरि, बिडरत नहीं बिडारे। (प० ३९६-२)।

बिडारे—तितर-बितर करने से। (प० ३९६-२)।

बिड़राता—क्रि० स० (सं० विट्)—इधर-उधर तितर-बितर कर दिया। उ० जो रस गा सों परहर्‍या, बिड़राता प्यारे। (प० १९०-३)।

बिड़ांह—वि० (फा० बेगाना, हि० बिराना)—पराये, विजातीय। उ० मांइ बिड़ाणीं बाप बिड़, हम भी मंझि बिड़ांह। (सा० १२-५६-१)।

बिड़ांहि—पराये का। उ० सोई आंसू सजणां, सोई लोक बिड़ांहि। (सा० ३-२६-१)।

बिड़ा—सं०पु० (सं० विरुद, हि० बिरवा)—वृक्ष, पौधा। उ० कबीर चंदन का बिड़ा, बैठ्या आक पलास। (सा० २८-७-१)।

बिड़ै—दे० 'बिड़ा'। वृक्ष। (पा० सा० ४-१-१)।

बिढ़ता—सं० पु० (हि० बिढ़ तो)—कमाई, वृद्धि। उ० परनारी राता फिरैं, चोरी बिढ़ता खांहि। (सा० २०-३-१)।

बिरायांणीं—वि० (फा० बेगाना)—दूसरे की, परायी। (पा० प० ९३-२)।

बित—सं० पु० (सं० वित्त)—धन। उ०

सहजैं-सहजैं सब गए, सुत वित कांमणि कांम। (सा० २१-३-१)।

वितड़ि—क्रि० स० (सं० वितरण, हि० वितरना)—बाँटकर। उ० पूंजी वितड़ि बंदि लै दैहै, तब कहै कौन कै छूटै। (प० १०८-६)।

बिथरनीं—सं० स्त्री० (हि०)—सूतों को पृथक्-पृथक् करने वाला औजार यहाँ पर विवेक। उ० मन सूधा कौ कूच किया है, ग्यांन बिथरनीं पाई। (प० २८८-८)।

बिथुराई—क्रि० स० (हि० बिथरना से)—फैला दिया। उ० ऐसैं पाई बिथुराई, त्यूं रस बांनि बनायौ री, भाई को बीनैं। (प० १९-५)।

बिदारि—क्रि० स० (सं० विदारण)—फाड़कर, चीरकर। उ० खंभा में प्रगट्यौ गिलारि, हरनाकस मार्यौ नख बिदारि। (प० ३७९-१०)।

बिदेस—दे० 'बदेस'। विदेश। (पा० सा० १८-८-१)।

बिदेही—सं० पु० (सं० विदेहिन्)—ब्रह्मा। (पा० र० ७-८)।

बिद्या—सं० स्त्री० (सं० विद्या)—ज्ञान, इलम। उ० जौ तुम्ह पंडित आगम जांणौं, बिद्या व्याकरणां। (प० २४८-३)।

बिधनां—सं० पु० (सं० विधि+ना (प्रत्य०)—विधाता, कर्त्ता, ब्रह्मा। उ० बिधनां बचन पिछाणत नाहीं, कहु क्या काढ़ि दिखाऊं। (प० १६९-८)।

बिधवा—वि० (सं०)—रांड। उ० वाकी बिधवा काहे न भई महतारी। (प० १२५-६)।

बिधाता—सं० पु० (सं० विधातृ)—सृष्टिकर्त्ता, भगवान। उ० चली कबीर तिहि दिसड़ै जहाँ बैद बिधाता होइ। (सा० ४७-१-२)।

बिधि—सं० स्त्री० (सं० विधि)—ढंग, युक्ति, रीति। उ० कहु धौं किहि बिधि राखिये, रुई पलेटी आगि। (सा० १६-३२-२)।

बिधिनां—दे० 'बिधनां'। (पा० र० १०-२)।

बिधि-बिधि—वि० (सं० विविध)—अनेक प्रकार की। उ० बिधि बिधि बांणीं बोलता, सो कत गया बिलाइ। (सा० ३४-३-२)।

बिनंठा—क्रि० अ० (सं० विनष्ट)—नष्ट हो गया। उ० मूल बिनंठा मांनती, बिन संगति मठछार। (सा० २५-१-२)।

बिनंठी—क्रि० अ० (सं० विनष्ट)—नष्ट हो गई, जाती रही। उ० राम नाम जाण्यां नहीं, बात बिनंठी मूल। (सा० १२-३२-१)।

बिनठे—नष्ट हो गए। उ० ते नर बिनठे मूलि, जिनि धंधै मैं ध्याया नहीं। (सा० १२-२१-२)।

बिन—अव्य० (सं० विना)—छोड़कर, बगैर। उ० जे० कुछ चितवैं राम बिन, सोइ कालकी पास। (सा० २-६-२)।

बिनऊं—क्रि० अ० (सं० विनय)-प्रार्थना करता हूँ। उ० सतगुर चरन लागि यौं बिनऊं, जीवन कहां थैं पाई। (प० १७९-३)।

बिनठाहर—क्रि० वि० (हि० बिना+ठहर)—बे जगह। उ० बसुधा व्योम बिरकत रहै, बिन ठाहर बिसवास। (स०. ३१-३-२)।

बिनती—सं० स्त्री (सं० विनय)—प्रार्थना। (पा० प० १९-३)।

बिनवौं—दे० 'बिनऊं'। बिनती करता हूँ। (पा० प० १३२-३)।

बिननांवें—क्रि० स० (हि० बुनवाना से)-तैयार कराऊँ, बुनवाऊँ। उ० जोगी फेरी फिल करो, यौं बिननांवैं सूति। (सा० १३-३-२)।

बिनर—दे० 'बिनां'। बगैर। उ० बिनर जांनि पर णऊं परसोतम, कहि कबीर रंगि

राता। (प० १५३-८)।

बिनसजाइगा—क्रि० अ० (सं० विनाश से, हि० बिनसना)–नष्ट हो जायगा। उ० दिवस चारि का पेषणां, बिनस जाइगा काल्हि। (सा० १२-१६-२)।

बिनसत—नष्ट होते। उ० तौ उपजत बिनसत भरम रहिबौ। (प० १३१-२)।

बिनसि—नष्ट हो गया। उ० संतौ धागा टूटा गगन बिनसि गया, सबद जु कहां समाई। (प० ३२-१)।

बिनसिहै—नष्ट हो जाएगा। उ० तन बिनसें कुलबिनसिहै, गह्यौ न रांम जिहाज। (सा० २४-२०-२)।

बिनसें—नष्ट हो जाएगा। (सा० २४-२० -२)।

बिनसे—नष्ट हो जाएगा। (पा०प० १०७ -४)।

बिनसै—नष्ट होता है। कहै कबीर यहु गगन न बिनसै जौ धागा उनमांनां। (प० ३२-६)।

बिनसैगौ—नष्ट होगा। (पा०प० ७६-६)।

बिनहीं—दे० 'बिनां'। बिनाही। (पा० चौ० र० २२-२)।

बिनां—अव्य० (सं० विना)—छोड़कर, वगैर। उ० सबै पिछोड़े थोथरे, एक बिनां बेसास। (सा० ३५-१६-२)।

बिनांणीं—सं० पु० (सं० वैज्ञानिक)–विज्ञान का ज्ञाता। उ० प्रथमे चंद कि सूर प्रथमो प्रभू, प्रथमे कौंन बिनांणीं। (प० १६४-४)।

बिनांन—सं० पु० (सं० विज्ञान)–विज्ञान, तर्क-वितर्क। काजल देइ सबै कोई, चषि चाहन मांहि बिनांन। (प० २८-२)।

बिनाण—दे० 'बिनांन'। विज्ञान। उ० जिहि घटि जांण बिनाण है, तिहि घटि आवटणा घणा। (सा० २६-८-१)।

बिनांवन—दे० 'बुनांवन'। (पा० प० १११-१)।

बिना—दे० 'विना'। वगैर। (पा० प० ७५-१०)।

बिनास—सं० पु० (सं० विनाश)—नाश, क्षय, संहार। उ० मैं मैं मेरी जिनि करै, मेरी मूल बिनास। (सा० १२-६१-१)।

बिनासा—विनाश। उ० तूटै बँधै बँधै पुंनि तूटे, जब तब होइ बिनासा (प० ३२-७)

बिनासै—क्रि० अ० (सं० विनाशन)–नष्ट होती है। उ० सरजी आंनैं देह बिनासै, माटी बिसमल कीता। (प० ६२-३)।

बिनि—दे० 'बिन'। विना, वगैर। उ० कबीर सबद सरीर मैं, बिनि गुण बाजै तंति। (सा० ४०-१-१)।

बिनु—दे० 'बिना'। विना। (पा० प० ६-१)।

बिनै—दे० 'बुनी'। बुनता है। (पा० प० ५३-६)।

बिनोद—सं० पु० (सं० विनोद)–मनोरंजन, खिलवाड़ी। उ० बाल बिनोद छहूं रस मीना, छिनछिन मोह बियापै। (प० ४०१-५)।

बिप—सं० पु० (सं० विप्र)–ब्राह्मण। (पा० प० ४५-५)।

बिपति—दे० 'विपति'। दुख, कष्ट। उ० बिपति पड्या यूं छाड़सी ज्यूं कंचुली भवंग। (सा० २६-२-२)।

बिपरीती—सं० स्त्री० (सं० विपरीत+ई प्रत्य०)—विपरीत होने का भाव। (पा० प० ६०-६)।

बिबरजित—वि० (सं० विर्वजित)—मना किया हुआ। (पा०प० ३२-२)।

बिबिध—वि० (सं० विविध)—भिन्न-भिन्न, अनेक प्रकार। उ० बनिता बिबिध न राचिये, देषत लागै षोड़ि। (सा० २६-६-२)।

बिबेक—सं० पु० (सं० विवेक)—ज्ञान। उ० सुध बुध कै हिरदै भिदं, उपजि बिवेक बिकार। (सा० ५५-७-२)।

बिबेका—ज्ञान। (पा०प० ६०-२)।

विवेकी—वि० (सं० विवेक से)—चतुर, ज्ञानी। (पा० प० १३४-७)।

विभचार—सं०पु० (सं० व्यभिचार)—बदचलनी। उ०मोलै मूली खसम कै बहुत किया विभचार। (सा० ३६-२-१)।

विभिचार—दे० 'विभचार'। व्यभिचार। (पा०सा० ७-५-१)।

विभीखन—सं०पु०(सं० विभीषण)–रावण का तीसरा भाई। (पा० प० ४८-५)।

विभूति—सं० स्त्री०(सं० विभूति)–भस्म। उ० आसा का ईंधण करूं, मनसा करूं विभूति। (सा० १३-३-१)।

विमल—वि० (सं० विमल)—स्वच्छ। उ० पुनिम विमल ससिमास वसंता, दरसन जोति मिले भगवंता। (र० ४-१०२)।

वियाइ—क्रि० स० (सं० विजनन, हि० वियाना)—जनता है। वैल वियाइ गाइ भई वांझ, वछरा दूहै तीन्यूं सांझ। (प० ८०-२)।

वियाधि—सं० स्त्री० (सं० व्याधि)—भवरोग, कष्ट। उ० कांची कारी जिनि करै,दिन दिन वधै वियाधि। (सा० १२-४०-१)।

वियाप—सं० पु० (हि० व्यापना)—प्रभाव, विस्तार। उ० जहां जांऊं तहां सोग संताप, जुरा मरण कौ अधिक वियाप। (प० ७६-३)।

वियापिया—क्रि० अ० (सं० व्यापन, हि० व्यापना)—फैल गया। उ० झूठै झूठ वियापिया कवीर, अलख न लखई कोइ। (र० ३-१२)।

वियापी—व्याप्त हुई। उ० कहै कवीर सुनि के सवा, तूं सकल वियापी। (प० १७८-६)।

वियापै—व्याप्त होता है। (पा०र० १-२)।

वियोग—सं० पु० (सं० वियोग) विरह, विछोह। उ० गुण गायें, गुणनाम कटै, रटै न राम वियोग। (सा० २-२८-१)।

वियोगी—वि० (हि० वियोग से)–वियुक्त, वियोगी। उ० राम वियोगी ना जीवै, जीवै तो वौरा होइ। (सा० ३-१८-२)।

विरंचि—सं० पु० (सं० विरंचि)—ब्रह्मा, विधाता। उ० जा सुख थैं सिव विरंचि डरांनां सो सुख हमहु साच करि जाना। (प० ८२-४)।

विरकत—वि० (सं० विरक्त)—विरक्त। उ० वसुधा व्यौम विरकत हैं, विनठाहर विसवास। (सा० ३१-३-२)।

विरख—सं० पु० (सं० वृक्ष)—पेड़। उ० सूक विरख यहु जगत उपाया, समझि न विषम तेरी माया। (र० २-७)।

विरखि—दे० 'विरख'। वृक्ष। (पा० प० ५५-४)।

विरथा—क्रि० वि० (सं० व्यर्थ)—यों ही, व्यर्थ ही। (पा०प० ८८-२)।

विरदंग—सं० पु० (सं० मृदंग)—एक प्रकार का वाजा। उ० केस गहें काल विरदंग वजावै। (प० २२३-६)।

विरद—सं० पु० (सं० विरुद)—यश, प्रशंसा। उ० चरन विरद कासी कौंन दैंहूं। कहैं कवीर भल नरकहि जैंहूं। (प० २६०-५)।

विरध—सं० पु० (सं० वृद्ध)—बूढ़ा। उ० नहीं सो ज्वांन न विरध नहीं वारा, आपैं आप आपनपौ तारा। (र० वी० ३७)।

विरधकरैं—क्रि० अ० (सं० वृद्धि+ करना)—वढ़ाती है। उ० नाति सरूप न छाया जाकै, विरध करैं विन पांणीं। (प० १६३-२)।

विरला—वि० (सं० विरल)—कोई-कोई, एकाध। उ० ताका पांणि को हंसा पीवै, विरला आदि विचारि। (सा० ५-४५-२)।

विरले—एकाध। उ० भाई रे विरले दो सत कवीर के, यहु तत वार वार कासों कहिये। (प० ३४-१)।

बिरलैं—एकाध । उ० कहै कबीर गुर दिया पलीता, सो फल बिरलैं देखी(प० ८-८) ।

बिरवा—सं० पु० (सं० वीरुध्)—वृक्ष । उ० आसि पासि तुरसी को बिरवा, मांहि द्वारिका गांऊं रे । (प० ७६-११) ।

बिरषा—सं०पु०(सं० वृक्ष)–पेड़ । उ० पंषी चले दिसावरां, बिरषा सुफल फलंत । (सा० ४७-७-२) ।

बिरषि—वृक्ष पर, पेड़ पर । उ० बिरषि बसेरा पंषिका, ऐसा माया जाल । (प० ७५-३) ।

बिरह—सं० पु० (सं० विरह)—वियोग की पीड़ा । उ० चोट सतांणीं बिरह की, सब तन जरजर होइ । (सा० ३-१४-१) ।

बिरहनि—सं० स्त्री० (सं० विरहिनी)—विरहपीड़िता स्त्री उत्कट जिज्ञासा वाला साधक । उ० बिरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ । (सा० ३-५-१) ।

बिरहनीं—दे० 'बिरहनि' । विरहपीड़िता स्त्री । उ० रात्यूं रूंनी बिरहनीं, ज्यूं वंचौ कूं कुंज । (सा० ३-१-१) ।

बिरहा—सं० पु० (सं० विरह)—वियोग का । उ० कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज । (सा० ३-१-२) ।

बिरहि—दे० 'बिरह' । विरह में । (पा० प० १३५-४) ।

बिरहिन—दे० 'बिरहनि' । बिरहनीं । उ० बिरहिन ऊठै भी पड़ै, दरसन कारनि । राम । (सा० ३-७-१) ।

बिरहिनि—दे० 'बिरहन' (पा०प० १५-३)

बिरही (सातौं)—सं०पु०(सं० सप्तव्रीहि)–सप्त धान । उ० सातौं बिरही मेरे नीपजैं, पंचूं मोर किसानां । (प० १४-४) ।

बिरांनीं—वि० (फा० बेगाना)—परायी । उ० पाड़ोसनि पनि भई बिरांनीं, मांहि हुई घर घालै । (प० ८१-५) ।

बिराइ—दे० 'बिराइ' । (पा० सा० ३२-७-१) ।

बिरिख—दे० 'बिरख' । वृक्ष । (पा० प० ११२-७) ।

बिरिध—दे० 'बिरख' । वृक्ष । (पा० प० १५२-३) ।

बिरिध—दे० 'बिरध' । वृद्ध । (पा० प० ३०-५) ।

बिरोध्या—क्रि० अ० (सं० विरोध)—विरोध किया, द्वेष किया । उ० कहै कबीर यहु चित्र बिरोध्या, बूझी अमृत वांणी । (प० १६७-६) ।

बिरोलै—दे० 'बिलोवसि' । बिलोता है । (प० २७७-२) ।

बिलंगा—दे० 'बिलगा' । अलग हो गया । (पा० सा० ६-४०-२) ।

बिलंगि—दे० 'पृलगि' । अलग, पृथक् । (पा० सा० ६-४०-२) ।

बिलंबा—क्रि० अ० (सं० विलंबन)—मन लगने के कारण बस गया । (पा० सा० २-३७-१) ।

बिलंबिए—लगिए । (पा०सा० १७-३-१)

बिलंबिया—ठहरकर । उ० कबीर तहाँ बिलंबिया, करे अलष की सेवा । (सा० ५-४१-२) ।

बिलंबी—ठहरी हुई । उ० विषै बिलंबी आत्मां, ताका मजकपा खाया सोधि । (सा० २०-२०-१) ।

बिलंबे—ठहरे हुए (पा०सा० २२-१६-१)

बिलंब्या—ठहरा, लगा । उ० मन कुंजर जाइ बाड़ी बिलंब्या, सतगुर वाही वेली । (प० १६३-५) ।

बिलइया—सं० स्त्री० (हिं० बिल्ली+इया)–(प्रत्य०)–बिल्ली । उ० मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवैं साप पहरइया । (प० ८०-४) ।

बिलखि करि—क्रि०अ० (सं० विकल)—विलाप करके, दुःखी होकर । उ० वन वन ढूंढौं नैंन भरि जोऊं, पीव मिलै तौ बिलखि करि रोऊं । (प० ३७१-५) ।

विलग—क्रि० स० (हि० विलग+ना (प्रत्य०)—अलग कर दिया। उ० मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहि विलग। (सा० ५-१६-१)।

विलगा—क्रि० अ० (हि० विलग से)—अलग हो गया। उ० लूंण विलगा पांणियां, पांणीं लूंण विलग। (सा० ५-१६-२)।

विलगाई—सं० स्त्री० (हि० विलगना)—पार्थक्य, अलगपन। उ० मेरी विलगि विलगि विलगाई हो। (प० ५०-२)।

विलगि विलगि—वि० (हि० विलगना)—अलग-अलग। (प० ५०-२)।

विलनी—सं० स्त्री० (हि० विल)—काली भौंरी जो दीवारों पर मिट्टी की वांवी वनाती है। उ० चंदन विलनी विरहनि धारा, यूं पूजिये प्रांनपति रांम पियारा। (र० ४-१०३)।

विलम—सं० पु० (सं० विलंव)—देर। उ० चलु सखी विलम न कीजिये, जव लग सास सरीर। (प० ३०२-६)।

विलमाई—क्रि० स० (हि० विलमना से)—प्रेम के कारण रोक या ठहरा रखा। (पा० चौ० र० ३१-२)।

विललाइ—क्रि० अ० (सं० विलाप)—विलख कर रोना। उ० एक खड़े ही लहैं, और खड़ा बिललाइ। (सा० ३८-४-१)।

विलवा—दे० 'विलाव'। विडाल। उ० तव लग जम विलवा ह्वै धावा। (प० १०१-२)।

विलसी—क्रि० स० (हि० विलसना)—भोगा है। उ० विलसी अरु न्हातों छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस। (सा० १६-१०-२)।

विलांनां—क्रि० अ० (सं० विलपन, हि० विलाना)—विलीन हो गए, चले गए। उ० जहां का उपज्या तहां विलांनां, हरि पद विसरया जवहीं। (प० १३३-५)।

विलाइ—विलीन होकर, नष्ट हो गया। उ० पांणीं ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया विलाइ। (सा० ५-१७-१)।

विलाई (१)—नष्ट हो जाता है। उ० जिहि हित जीव राखिहै भाई, सो अनहित ह्वै जाइ विलाई। (र० ३-११३)।

विलात—नष्ट हो गई। (पा०प० ७३-६)।

विलाई (२)—सं० स्त्री० (हि० विल्ली)—विल्ली। उ० वैलहि डारि गूंनि घरि आई, कुत्ता कूं लै गई विलाई। (प० ११-४)।

विलानीं—दे० 'विलांनां' (पा०प० ६६-६)

विलाव—सं० पु० (सं० विडाल, हि० विलार)—मार्जार। उ० हिरदा की विलाव नैंन वग ध्यांनी (प० २३३-३)।

विलास—सं० पु० (सं० विलास)—मनोरंजन, मनोविनोद। (पा० प० १६२-४)।

विलूंटा—क्रि० वि० (सं० विलुंठित)—वलात्। उ० माई रे चूंन विलूंटा खाई। (प० ८१-१)।

विलोइ—क्रि० स० (सं० विलोड़न, हि० विलोना)—मथो। उ० तन करि मटकी मनहि विलोइ, ता मटकी मैं पवन समोइ। (प० ३५४-३)।

विलोवनां—दे० 'विलोवनौं'। (पा० प० १२७-१)।

विलोवनौं—सं० पु० (सं० विलोड़ना)—जिसे विलोया जाए वह पदार्थ। उ० हरि कौ विलोवनौं विलोइ मेरी माई। (प० ३५४-१)।

विलोवसि—क्रि० स० (सं० विलोड़न)—विलोता है। (पा० प० १७१-३)।

विल्लाइत—दे० 'विलाइति'। दूर का देश। (पा० सा० ३२-२-२)।

विवरजत—वि० (सं० विवर्जित)—रहित। उ० वरन विवरजत ह्वै रह्या, नां सो स्यांम न सेत। (र० वा० ४४)।

विवर्जित—दे० 'बिवरजत'। रहित। उ० काम क्रोध अरु लोभ विवर्जित, हरि पद चीन्हैं सोई। (प० १८४-२)।

बिवांन—सं०पु०(सं० विमान)—वायुयान पर। उ० अधम भील अजाति गनिका, चढ़े जात बिवांन। (प० ३०१-४)।

बिष—दे० 'विष'। जहर। उ० बिष की क्यारी बोइ करि, लुणत कहा पछिताई। (सा० १३-५-२)।

बिषई—सं० पु० (सं० विषयिन्)—कामी, विषयी। उ० निस बासुरि बिषैतनां उपगार, बिषई नरकि न जातां बार। (प० ८२-६)।

बिषिया—दे० 'विषया'। विषयादि। उ० तजि बिषिया भजि चरन मुरारि। (प० ८७-१०)।

बिषै—दे० 'विषै'। विषय में, सांसारिक ऐश्वर्यादि में। उ० काया देवल मन धजा बिषै लहरि फहराइ। (सा० १३-२८-१)।

बिषैतनां—दे० 'विषै'। विपयादि का ही। उ० निस बासुरि बिषैतनां उपगार, बिषई नरकि न जातां बार। (प० ८२-६)।

बिष्णु—सं० पु० (सं० विष्णु)—भगवान। (प० १९८-९)।

बिसंभर—सं० पु० (सं० विश्वम्भर)—भगवान। उ० बिसमिल भेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई। (प० ५८-२)।

बिसतरहिं—दे० 'बिसतरैं'। (पा० प० १५५-७)।

बिसतरैं—क्रि० अ० (सं० विस्तरण, हि० बिस्तारना)—फैलाते हैं। उ० बासिग कोटि सेज बिसतरैं, पवन कोटि चौवारै फेरैं। (प० ३४०-१०)।

बिसतार—सं० पु० (सं० विस्तार)—फैलाव। उ० देवल मांहैं देहुरी, तिल है बिसतार। (सा० ५-४२-१)।

बिसनूं—दे० 'विष्णु'। भगवान। (पा० प० १८७-९)।

बिसमा—सं० पु० (सं० विष से)—विषमय। उ० हरखि आहि जौ रमियैं रामां, और सबै बिसमा के कांमां। (प० ३-९८)।

बिसमल—सं० पु० (फा० बिस्मिल)—घायल। उ० इस मन कौं बिसमल करौं, दीठा करौं अदीठ। (सा० १३-६-१)।

बिसमला—सं० पु० (अ० बिसमिल्लाह)—श्री गणेश, आरम्भ। उ० जब नहीं होते गाई कसाई, बिसमला किनि फुरमाई। (र० ५-१६)।

बिसमिल्ला—दे० 'बिसमला'। प्रारम्भ। (पा० र० ५-३)।

बिसरस—क्रि० स० (सं० विस्मरण, प्रा० विरम्हण, हि० बिसरना)—याद न रहने पर। उ० धूलै बिसरस गहर जौ होई, कहै कबीर क्या करिही मोही। (प० १०७-४)।

बिसरा—भूला। (पा० प० १९९-६)।

बिसरि—भूल गए। उ० रांम रस पाईया रे, ताकैं बिसरि गये रस और। (प० ७५-१)।

बिसरु—भूलना। (पा० प० १९६-३)।

बिसरै—भूल जाए। उ० मनसा देही पाइ करि हरि बिसरै तौ फिरि पीछैं पछिताइ। (र० २-२७)।

बिसरौं—भुला दूं। (पा०सा० १४-३६-२)

बिसारि—भुला कर। (पा० प० ४४-४)।

बिसारिया—भुला दिया। उ० दिल थैं दीन बिसारिया, कर दलई जव हाथि। (सा० २२-७-२)।

बिसारो—भूलो। (पा०सा० २५-१६-२)।

बिसार्‌यौं—भुला दिया। (पा०प० १३५-१)।

बिसार्‌यौ—भुला दिया। उ० मेरी मति बौरी रांम बिसार्‌यौ। (प० २३०-१)।

बिसरांम—दे० 'विश्राम'। (पा० प०

१०७-४)।

विसरावन—वि० (हिं० विसरना से)—दूर करने वाले। उ० मन मैले मैं फिरि फिरि आहौं, तुम सुनहु न दुख विसरावन हो। (प० ७७-२)।

विसवास—सं० पु० (सं० विश्वास)—विश्वास। उ० जिनि गाया विसवास सूँ, तिन रांम रह्या भरि पूरि। (सा० ३५-२१-२)।

विसवासा—दे० 'विसवास'। विश्वास। उ० तव को ठाकुर अव को सेवग, को काकै विसवासा। (प० ३२-८)।

विसहर—सं० पु० (सं० विषधर)—सर्प। उ० का कऊवा कौं कपूर खवांयें, का विसहर कौं दूध पिलांये (प० २२१-३)।

विसास (१)—सं० स्त्री० (सं० अविश्वासिनी)—विश्वासघातिनी। उ० हरि विचि घालै अंतरा, माया वड़ी विसास। (सा० १६-५-२)।

विसास (२)—सं० पु० (सं० विश्वास)—श्रद्धा, विश्वास। उ० मेट मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म विसास। (सा० ३५-१७-१)।

विसाहन—दे० 'विसाहुणां'। क्रय करने। (पा० सा० २१-१०-२)।

विसाहुणां—क्रि० स० (हिं० विसाह से ना० धा०)—खरीद, क्रय। उ० पूरा किया विसाहुणां, वहुरि न आँवौं हट्ट। (सा० १-१२-२)।

विसाहुनां—दे० 'विसाहुणां'। (पा० सा० १-१५-२)।

विसिमिल—दे० 'विसमल'। (पा० प० १२९-४)।

विसियार—वि० (फा० विस्यार)—वहुत, महान। उ० हम रफत रहवरहु समां, मैं खुर्दा सुमां विसियार। (प० २५८-५)

विसूधा—वि० (सं० विशुद्ध)—पवित्र। उ० मेप कहा जे वुधि विसूधा, विन परचै जग वूड़नि वूड़ा। (र० ४-४४)।

विसूरणां—क्रि० अ० (सं० विसूरण)—सोच करना, चिंतित होना। उ० मनही मांहि विसूरणां, ज्यूं घुणं काठहि खाइ। (सा० ३-२८-२)।

विसै—सं० पु० (सं० विषय)—सांसारिक वंधन। उ० सोई उपाव करि यहु दुख जाई, ए सव परहरि विसै सगाई। (र० २-३४)।

विस्तरी—क्रि० अ० (सं० विस्तरण, हिं० विस्तरना)—फैल गई है। उ० झूठो अनभै विस्तरी, सव थोथी वाई। (प० १५६-६)।

विस्तार—वि० (सं० विस्तृत)—अनेक, वड़ी। (पा० र० २०-७)।

विस्तारा—दे० 'विस्तार'। अनेक। उ० कहै कवीर करुणांमय किया, देरी गलियां वहु विस्तारा। (प० २६७-९)।

विस्न—सं० पु० (सं० विष्णु)—भगवान। उ० मेरी जिभ्या विस्न नैन नारांइन, हिरदै जपौं गोविंदा। (प० २५०-१)।

विस्नु—दे० 'विस्न'। विष्णु। (पा० प० ९०-८)।

विस्राम—दे० 'विश्राम'। (पा० र० १५-३)।

विहंगम—सं० पु० (सं० विहग)—आत्मा, उड़ने वाला चंचल मन, चिड़िया। उ० उड्या विहंगम खोज न पाया, ज्यूं जल जलहि समांनां। (प० ६-१२)।

विहंडूं—क्रि० स० (सं० विघटन, प्रा० विहंडन, हिं० विहाना)—नष्ट कर दूं। उ० कालहि पंडूं मीच विहंडूं, वहुरि न करिहूं फेरा। (प० १९६-८)।

विहड़ै—नष्ट किया जाए, विलगाया जाए। उ० गुण औगुण विहड़ै नहीं, स्वारथ वंधी लोइ। (सा० ५९-२-२)।

विहकौ—सर्व० (हिं० उस)—उसको। उ० विहकौ देव तवि ढूंढत फिरते, मंडप

--बगुला पक्षी की मादा। उ० बुगली नीर बिटालिया, सायर चढ्या कलंक। (सा० १६-३०-१)।

बुझांनीं—क्रि० अ० (हि० बुझना)--बुझ गई, शांत हो गई। (पा० प० १७-७)।

बुझाइ--वार-वार शांत होने पर भी। उ० गोविंद मिलै न फल बुझै, रही बुझाइ बुझाइ। (सा० १७-१-२)।

बुझाई--शांत हो गई। उ० पावक कह्यां पाव जे दाझै, जल कहि त्रिपा बुझाई। (प० ४०-३)।

बुझी--शांत हो गई। उ० तेल घटया बाती बुझी (व) सोवैंगा दिन राति। (सा० २-१०-२)।

बुझै—शांत हो। उ० गोबिंद मिलै न फल बुझै, रही बुझाइ बुझाइ। (सा० १७-१-२)।

बुझाइ लेहु--क्रि० स० (हि० बुझना से) --शांत कर दो। उ० हरि सुमिरण हांथूं घड़ा, वेगे लेहु बुझाइ। (सा० २-३२-२)।

बुझाऊँ—शांत करना। (सा० ३-३६-२)।

बुझावहु—बुझा दो। (पा०प० १६१-७)।

बुझावै—बुझाता है। (पा० र० १७-६)।

बुड़तां—क्रि० स० (हि० बुनना से)-- बुनने पर। (सा० १२-५६-नो० ७६)।

बुड़भुज—सं० पु० (?)--सूकर। (पा० प० ६४-४)।

बुड़ाई—दे० 'डुबाना'। (पा० सा० १५-७८-२)।

बुढ़ापा—सं० पु० (हि० बूढ़ा+पा)-- वृद्धावस्था। उ० पलटे केस नैंन जल छाया, मूरिख चेति बुढ़ापा आया। (प० २४२-३)।

बुणैं--बुनता है। (सा० १२-५६-नो० ७६)।

बुत--सं० पु० (फा०)--मूर्ति, पुतला। (पा० प० ८५-३)।

बुताइ—दे० 'बुझाइ'। बुझाकर। (पा० प० ११०-८)।

बुदबुदा--सं० पु० (सं० बुदबुद)—पानी का बुलबुला। उ० यहु तन जल का बुदबुदा, बिनसत नाहीं वार। (सा० ४६-१३-२)।

बुद्धि--दे० 'बुधि'। (पा० प० ३७-५)।

बुध—सं० पु० (सं० बोध)—ज्ञान, चेतनता। उ० सुध बुध कै हिरदै मिदै उपजि विवेक बिचार। (सा० ५५-७-२)

बुधबार--सं० पु० (सं० बुधवार)—बुध के दिन। उ० बुध बार करै बुधि प्रकास, हिरदा कवल मैं हरि का बास। (प० ३६२-८)।

बुधि—सं० स्त्री० (सं० बुद्धि)—समझ, ज्ञान। उ० कहै कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी। (प० १११-५)।

बुधिवंत—वि० (सं० बुद्धि+वंत)— अक्लमंद। उ० रे रे मन बुधिवंत भंडारा, आप आप ही करहु विचारा। (र० ३-५)।

बुननां—क्रि० स० (सं० वयन)—बुना जाना। (पा० प० १२-१)।

बुनि—बुनकर। उ० जुलहै तनि बुनि मांन न पावल, फारि बुनी दस ठांई हो। (प० ५०-७)।

बुनी--बुन दी। (प० ५०-७)।

बुनै--बुनता है। (पा०सा० १५-६६-१)।

बुरहा—दे० 'बुरा'। बुरा, खराब। उ० बिरहा बुरहा जिन कहौ, बिरहा है सुलितान। (सा० ३-२१-१)।

बुरा—वि० (सं० विरूप)—बुरा, खराब, पापादि। उ० पहली बुरा कमाइ करि, बाँधी विष की पोट। (सा० २-१६-१)।

बुरी—खराब। (पा० सा० २१-१०-१)।

बुरे--खराब। उ० जोरू जूठणि जगत की, भले बुरे का बीच। (सा० २०-१४-१)।

बुरै—खराब । उ० मन फाटा बाइक बुरै, मिटी सगाई साक । (सा० ३७-२-१) ।

बुरौ—बुरा । (पा०सा० १५-३५-२) ।

बुलाइ सकूं—क्रि० स० (हि० बुलाना से) —बुला सकता हूँ । उ० आइ न सकौं तुझपैं, सकूँ न तुझ बुलाइ । (सा० ३-१०-१) ।

बुलाए—बुला लिया । (पा०प० २६-५) ।

बुलावौ—बुला लो । उ० हमहि बुलावौ कै तुम्ह चलि आवौ । (प० ३५८-६) ।

बुहारा—दे० 'बुहारचा' । (पा० सा० १४-२६-२) ।

बुहारचा—क्रि० स० (सं० बहुकरण)—बुहार दिया, गर्ज उठा । उ० खेत बुहारचा सूरिवैं, मुझ मरणे का चाव । (सा० ४५-६-२) ।

बंधी (१)—बाँध लिया,लगा लिया । उ० जिन दिल बंधी एक सूं, ते सुख सोवै नचींत । (सा० ११-१३-२) ।

बंधे (१)—बँध गए । (पा०प० ७७-५) ।

बँधै—बँध जाता है । उ० तूटै बँधै-बँधै पुनि तूटै, जब तब होइ बिनासा । (प० ३२-७) ।

बंधै—बँध जाता है । (पा०प० ११३-७) ।

बंधानं—सं०पु० (हि० बँधना) —नियम, परिपाटी । उ० पंच तत ले कान्हि बंधानं, पाप पुंनि मांन अभिमानं। (र० ३-३) ।

बंधावणा—सं० पु० (हि० बँधना)—बधाई, आनंद । उ० जिहि घरि जिता बंधावणा, तिहि घरि तिता अँदोह । (सा० १६-२८-२) ।

बंधिय—दे० बंधव । नातेदार । (पा० प० २२-५) ।

बँधी (२)—वि० (हि० बँधना से)—बद्ध, बंधे हुए । उ० तेरा संगी को नहीं, सब स्वारथ बँधी लोइ । (सा० १२-५५-१) ।

बंधे (२)—बद्ध । (र० ३-७) ।

बंधू—स०पु०(हि० बँधुआ)—कैदी, बंदी । उ० पंच स्वाद ले कीन्हां बंधू, बंधे करम जो आहि अबंधू । (र० ३-७) ।

बंनि—दे० 'बन' । जंगल में । उ० इहि बनि बाजैं मदन भेरि रे, उहि बनि बाजैं तूरा रे । (प० ७६-६) ।

बंब—सं० स्त्री० (अनु०)—रणनाद, डंका । उ० धंधा ही में मरि गया, बाहर हुई न बंब । (सा० १२-३३-२) ।

बंबई—सं० स्त्री० (सं० वल्मीक, हि० बाँबी)—साँप का बिल । उ० बंबई उलटि शरण कौं लागी, धरणि महा रस खावा । (पा० १६२-६) ।

बँबूर—दे० 'बबूर' । उ० चंदन की कुटकी भली, नां बँबूर की अवरांउं । (सा० ३०-१-१) ।

बंस (१)—सं० पु० (सं० वंश)—कुल । ऊंचा कुल कै कारणैं, बंस बँध्या अधिकार । (सा० ५५-११-१) ।

बंस (२)—दे०'बंसा' । बाँस । (प० ३-१०-७) ।

बंसरिया—सं०स्त्री०(सं० वंशी)—बांसुरी, मुरली । उ० कालिह जु तेरी बंसरिया छीनीं, कहा चरावै गाइ । (पा० १७७-२)

बंसा (१)—सं० पु० (सं० वंश)—बांस । उ० बंसा अगनि बंस कुल निकसै, आपहि आप दहै रे । (प० ३१०-७) ।

बंसा (२)—दे० 'बंस' । वंश । उ० ढरि गये मंदिर टूटे बंसा, सूके सरवर उड़ि गये हंसा । (प० ३६७-६) ।

बंसि—दे० 'बंसा' (१) बाँस । उ० भावै त्यूं प्रमोधि ले, ज्यूं बंसि बजाई फूक । (सा० १-२१-२) ।

बंसी—सं० स्त्री० (सं० वंशी)—मुरली । (पा० प० १५२-८) ।

बउरांनौं—क्रि० अ० (हि० बौरा+ना (प्रत्य०) —पागल हो जाता है । (पा० प० १६०-३) ।

बउरा—दे० 'बौरा' । पागल । (पा० प०

६६-१)।

बउरी—स्त्री०–पगली। (पा०प० १३५-१)

बउरे—पागल। (पा० प० ७३-१०)।

बकतैं—क्रि० स० (सं० वचन)—व्यर्थ बोलकर। (पा० प० ११५-६)।

बकरी—सं० स्त्री० (सं० बर्कर)—एक प्रसिद्ध पशु, छेरी। कुकड़ी मारै वकरी मारै, हक हक करि बोलै। (प० ६२ -७)।

बकला—दे० 'वकुला'। छिलका। (पा० प० १२३-१०)।

बकससी—क्रि० स० (फा० वखश+हि० ना (प्रत्य०)—क्षमा करेगा। उ० और गुनह हरि बकससी, कांमीं डाल न मूल। (सा० २०-१७-२)।

बकसहु—क्षमा कर देते हो। उ० काहे न अवगुण बकसहु मेरा। (प० १११-२)।

बकसिहै—क्षमा करेंगे। (पा० सा० ३० -१३-२)।

बकहि—क्रि० स० (सं० वचन)—व्यर्थ कहते हैं, बोलते हैं। उ० दरोगां वकि वकि हूंहि खुसियां, वे-अकलि बकहि पुमांहि। (प० २५७-७)।

बकांहि—दे० 'बकहिं'। व्यर्थ बोलते हैं। (पा० प० ८७-५)।

बकि—वक कर, व्यर्थ बोलकर। (प० २५७-७)।

बकिबौ—वकता था। (पा०प० २३-२)।

बकिवा—प्रलाप किया, बड़बड़ाया। उ० अहो मेरे गोब्यंद तुम्हारा जोर, काजी वकिवा हस्ती तोर। (प० ३६५-१)।

बकै—प्रलाप करता है। (पा० सा० २३-५-२)।

बकुला—सं०पु० (सं० वल्कल)–छिलका। उ० परहरि वकुला ग्रहि गुन डार, निरखि देखि निधि वार न पार। (प० ३२६-६)।

बखसि—दे० 'बकससी'। क्षमा कर दे। (पा० प० ४१-८)।

बखांन—सं० पु० (सं० व्याख्यान, प्रा० बक्खान) वर्णन, प्रशंसा। (पा० सा० १४-४१-२)।

बखांनौं—क्रि० स० (हि० बखानना)—वर्णन करता है। (पा० प० १७८-१)।

बखांनै—वर्णन करता है। (पा० प० २६-३)।

बग—सं० पु० (सं० वक)—बगुला। उ० उज्जल देखि न धीजिये, वग ज्यूं मांडै ध्यान। (सा० २७-२-१)।

बगाँ—बगुला। उ० जोड़ी विछुटी हंस की, पड़्या बगाँ कै साथि। (सा० ४८ -१-२)।

बगुचा— दे० 'बुगचा'। गठरी। (पा० सा० १६-३०-१)।

बगुला—सं० पु० (सं० वक)—बगुला नामक एक पक्षी। उ० बगुला भंभ न जांणई, हंस चुणे चुणि खाइ। (सा० ४६-२-२)।

बगुलौ—बगुला। (सा० ४८-१-नो-२)।

बघिनियां—सं० स्त्री० (हि० वाघ+इया (प्रत्य०)—शेरनी। (पा०प० १६५-६)।

बचन—सं० पु० (सं० वचन)—वचन शब्द। उ० जिभ्या वचन सूध नहीं निकसै, तब सुकरित की बात कहै। (प० २४३-८)।

बच्चाकूं—सं०पु०—बच्चे के लिए। उ० ज्यूं वच्चांकूं कूंज। (सा० ३-१-१)।

बचनु—शब्द।-(पा० प०१६१-६)।

बच्छ—दे० 'बछ'। वत्स, बछड़ा। (पा० सा० १६-१५-२)।

बछल—सं०पु० (सं० वत्स, प्रा० वच्च)—वछड़ा। उ० हरि आदर आगैं लिया, ज्यूं गउ बछ की लार। (सा० ४१-३ -२)।

बछतलि—यौ०(सं० वत्स+तल)—बछड़े के नीचे। उ० सुरहीं चूंषै बछतलि बछा

दूध उतारै। (प० १६१-७)।

वछर्राहि—दे० 'वछरा'। (पा० प० १२० -३)।

वछरा—सं० पु० (हि० वच्छ+ड़ा (प्रत्य०)—गाय का वच्चा, संकल्प-विकल्प। उ० वैल वियाइ गाइ भई वांझ, वछरा दूहै तीन्यूं सांझ। (प० ८०-२)।

वछल—वि० (सं० वत्सल)—प्रेम से भरा हुआ। उ० तुम कृपाल दयाल दमोदर, भगत-वछल भौ हारी। (प० १६१-८)।

वजंता—क्रि० अ० (हि० वजना से) वजता हुआ। (पा० सा० ५-४-२)।

वजगार—सं० पु० (फा० वदकार से)—वुरे कर्म। उ० तुरकि धरम वहुत हम खोजा, वहु वजगार करैं ए वोधा। (र० ५-२७)।

वजगारी—सं० स्त्री० (फा० वदकारी)—वुराई। उ० तुम्ह साहिव हम कहा भिखारी, देत जवाव होत वजगारी। (प० ३३६-७)।

वजर—सं० पु० (सं० वज्र)—विजली। उ० सव्द सुनत संसा छूटा, श्रवन कपाट वजर था तूटा। (प० ३९५-४)।

वजहाई—सं० स्त्री० (सं० वज्र+आघात से)—वज्राघात। उ० अढ़ाई मैं जे पाव घटै तौ करकस करै वजहाई। (प० १९३-५)।

वजाइ—क्रि० स० (हि० वजाना से)—वजाकर, खुल्लम-खुल्ला पीटकर। उ० औसर चल्या वजाइ करि, है कोइ राखै फेरि। (सा० १२-३-२)।

वजाइए—वजाया जाता है। (पा० सा० १-५-२)।

वजाइले—वजाया। (पा०प० ११७-५)।

वजाई—वजाया। उ० भावैं त्यू प्रमोधि ले, ज्यूं वंसि वजाई फूक। (सा० १-२१ २)।

वजावले—वजाया गया। उ० कंसा नाद वजावले, धुंनि निमसिले कंसा। (प० १५४-५)।

वजावैं—वजाया करता है। उ० गरैं सव तंतर वाव तन, विरह वजावैं नित्त। (सा० ३-२०-१)।

वजावणहार—वि० (हि० वजानां)—वजाने वाला। उ० जंत्र विचारा क्या करै, चले वजावणहार। (सा० ४६-२०-२)।

वजावनहार—वजाने वाला। (पा० सा० १६-१-२)।

वजै—क्रि० अ० (हि० वजना)—वजता है। (पा० प० ५९-३)।

वज्र—सं० पु० (सं० वज्र)—वज्र। (पा० र० १८-१)।

वज्रहुं—वज्र से। (पा०र० १८-१)।

वटक—सं० पु० (सं० वट)—वरगद। (र० १-टि०-६६)।

वटपारा—सं० पु० (हि० वाट+पड़ता)—डाकू, लुटेरा। उ० सुत दारा का किया पसारा, अंत की वेर भये वटपारा।(प० १२८-३)।

वटवा—सं० पु० (सं० वर्तुल)—थैली, वटुआ। उ० झोली पत्र विभूति न वटवा, अनहद वेन वजावै। (प० २०७-२)।

वटाऊ—सं० पु० (हि० वाट+आऊ (प्रत्य०)—वटोही, राही। उ० लोग वटाऊ चलि गये, हंम तुझ रहे निदांन। (सा० ४५-३३-२)।

वटाऊवा—वटोही, पथिक। उ० जन कवीर वटाऊवा, जिनि मारग लियौ चाइ। (प० २८०-१०)।

वटेरै—सं०स्त्री० (सं० वर्त्तक, प्रा०वट्टा) वटेर नामक चिड़िया ने। उ० कागि लगर फांदिया, वटेरैं वाज जीता। (प० १६०-६)।

वड़—वि०(हि० वड़ा)—वड़ा। उ० वैश्नों की छपरी भली, नां सापत का वड़ गाउँ। (सा० ३०-१-२)।

बड़पणां—सं० पु० (हि० बड़ा+पन)—बड़ाई से। उ० जालौं इहै बड़पणां, सरलै पेड़ि खजूरि। (सा० ५५-१०-१)

बड़हूली—वि० (हि० वड़ा से)—बड़े आकार का। उ० पारब्रह्म देख्या हो तब बाड़ीं फूली, फल लागा बड़हूली। (प० २१४-१)।

वड़ा—वि० (सं० वर्द्धन, प्रा० बड्ढ़न, हि० बड़ा)—महान, भारी, वड़ा। उ० कहै कबीरा संत हौ, बड़ा अचंभा मोहि। (सा० ६-२-२)।

बड़ाइतां—सं० स्त्री० (हि० बड़ा+ई)—वड़ेपन, बड़प्पन से ही। उ० बूढा बंस बड़ाइतां, यौं जिनि डूबै कोइ। (सा० ५५-१२-२)।

बड़ाइयाँ—दे० 'वड़ाइतां'। बड़प्पन। (पा० सा० २२-८-२)।

बड़ाई—सं० स्त्री० (हि० वड़ा+ई)—मान, बड़प्पन, प्रतिष्ठा। उ० लोभ वड़ाई करणी, अछता भूल न खोइ। (सा० १२-४१-२)।

बड़ापनां—दे० 'बड़ाइतां'। बड़प्पन। (पा० सा० २२-१-१)।

बड़ी—भारी, ज्यादा। उ० मैं मैं बड़ी बलाइ है, सकै तौ निकसी भाजि। (सा० १२-६०-१)।

बड़ें—महान। (पा० प० १४८-१)।

बड़े—महान। उ० भाग बड़े धरि बैठें आये। (प० २-२)।

बड़ैं—भारी। उ० बड़ैं बौहरै सांठो दोन्हौं, कलतर काढ्यौ खोटैं। (प० १०८-३)।

बड़ै—क्रि० अ० (हि० बड़ना)—रक्खे, बंद किया जाए। (सा० १२-५०-नो० ६५)।

बड़ों—भारी, महान। (पा० सा० १५-६८-२)।

बड़ो—महान। (पा० प० १५४-४)।

बढंता—क्रि० अ० (सं० वर्द्धन)—बढ़ता हुआ। (पा०सा० १६-१५-१)।

बढ़इया—सं० पु० (सं० वर्द्धन, प्रा० बड्ढइ, हि० बढ़ई)—कारीगर, ईश्वर। उ० सब जगही मर जाइयौ, एक बढ़इया जिनि मरै। (पा० १३-६)।

बढ़ती—बढ़ना। (पा०सा० ३१-१३-१)।

बढ़ै—बढ़ता है। उ० बोलत बोलत बढ़ै बिकारा, बिन बोल्यां क्यूं होइ बिचारा। (प० ६७-२)।

बढ्यौ—बढ़ गया है। उ० त अनेक पुहप कौ लियौ भोग, सुख न भयौ तब बढ्यौ है रोग। (प० ३८८-२)।

बणज—दे० 'बणजा'। व्यापार। (प० २३४-४)।

बणजण—क्रि० स० (सं० वाणिज्य, हि० बनिजना)—व्यापार करना। उ० इत घर उत घर, बणजण आये हाट। (सा० १२-५७-१)।

बणजिया—व्यापार किया। उ० कबीर हीरा-वणजिया, मानसरोवर तीर। (सा० १-२९-२)।

बणजा—सं० पु० (सं० वाणिज्य)—व्यवसाय, रोजगार। (प० ५-नो० ६)।

बणराइ—सं० पु० (सं० वनराज)—वन का राजा। (सा० ४६-६-नो० १४)।

बणिजारा—सं० पु० (हि० बनिज+हारा)—बंजारा, व्यापारी। उ० कहि समझावै रे कबीर वणिजारा। (प० २३४-१४)।

बणियों—सं० पु० (सं० वणिन्)—वनिया। उ० उठि मन बणियों रे करि ले वणज सवारा। (प० २३४-४)।

बणीं—क्रि० अ० (सं० वर्णन, हि० बनना से)—बन गई। उ० जतन कियां जीवै नहीं, बणीं मरम की चोट। (सा० ४५-१६-२)।

बणैं—ठीक दशा में आ सकता है, वन

सकता है। उ० अब तौ भूक्यां हीं वणैं, मुड़ि चाल्यां घर दूरि। (सा० ४५-११-१)।

वताइ—क्रि० स० (हि० वात+ना (प्रत्य०)—वताकर। उ० चूल्है अगनि वताइ करि, फल सौ दीयौ ठठाइ। (प० १३-८)।

वताइ देसी—वतला देगी। उ० दुरमति दूरि गँवाइसी, देसी सुमति वताइ। (सा० २८-२-२)।

वताइया—समझा दिया, वतला दिया। उ० सतगुर गुरू वताइया, पूरि वला भरतार। (सा० ३६-३-२)।

वताओ—वता दो। उ० जे मेरे जीव दोइ जांनत हौ, तौ मोहि मुकति वताओ। (प० ५२-३)।

वतावहु—वता दो। (पा० प० ५४-३)।

वतावा—वतलाया। (पा०प० ११५-३)।

वतावै—वतलाता है। (पा०प० १४७-१)

वदंते—क्रि० स० (स० वद+हि० ना (प्रत्य०)—कहते हैं। उ० पंडित वाद वदंते झूठा। (प० ४०-१)।

वदऊंगा—कहूंगा। (पा०प० १७८-१)।

वदत— कहता है। उ० अति अभिमांन वदत नहीं काहू, वहुत लोग पचि हारे। (प० ३९६-४)।

वदै—कहता है। (पा० प० १७९-१)।

वदौं—कहूँ। (पा० प० १४-६)।

वदलै—सं० पु० (अ० वदल)—वदले में। उ० परिषणहारे वाहिरा, कौड़ी वदलै जाइ। (सा० ४८-२-२)।

वदेस—सं० पु० (सं० विदेश)—पराये देश में। (सा० ४१-१-नो० १)।

वदेसा—वि० (हि० भद्दा)—वुरा, भद्दा। उ० इन पंचनि मिलि लूटी हूँ, कुसंग आहि वदेसा। (प० १४-२)।

वद्ध—वि० (सं०)—वँधा हुआ। (पा० प० १५६-६)।

वद्री—सं० स्त्री० (सं० वदरी)—वदरिकाश्रम नामक तीर्थ स्थान में। उ० वद्री वैस्य ध्यांन नहीं लावा, परसरांम ह्वै खत्री न सतावा। (र० वा०-५६)।

वधत—क्रि० स० (सं० वध+ना)—मारते हो। उ० जीव वधत अरु धरम कहत हौ, अधरम कहां है भाई। (प० ३९-७)।

वधती जाइ—मिटि जाए। उ० त्रिष्णां सींची नां वुझै, दिन दिन वधती जाइ। (सा० १६-१५-१)।

वधहु—मारते हो। (पा० प० १९१-५)।

वधाइ—सं० स्त्री० (सं० वर्द्धन, हि० वढ़ना)—वृद्धि। उ० कलि का स्वांमी लोभिया, मनसा धरी वधाइ। (सा० १७-७-१)।

वधाई—वृद्धि, आनंद-मंगल। उ० जा मिलियां तैं कीजै वधाई, परमानंद रैंनि दिन गाई। (र० ४-९०)।

वधावा—आनन्द-मंगल। उ० नांतिहि वधावा वाजैं, नां तिहि गीत नाद नहीं साजैं। (र० वा०-६३)।

वधाया—क्रि० अ० (सं० वंधन, हि० वंधना)—फँस गया, वंधन में आ गया। (र० १-टि० २२)।

वधि—सं० स्त्री० (सं० वृद्धि)—वढ़ती। उ० घटि वधि कहीं न देखिये, ब्रह्म रह्या भरपूरि। (सा० ५३-५-१)।

वधिक—सं० पु० (सं० वधक)—वहेलिया, व्याध। उ० तन मन सौंपे मृग ज्यूं, सुनैं वधिक का गीत। (सा० ४३-३-२)।

वधीर—सं० पु० (सं० वधिर)—वहरापन। उ० सुनहु हमारी दादि गुसांई, अव जिन करहु वधीर। (प० ३०५-५)।

वधै (१)—मारे डाल रही है। उ० कांची कारी जिनि करै, दिन दिन वधै वियाधि। (सा० १२-४०-१)।

वधै (२)—क्रि० अ० (सं० वर्द्धन)—

वढ़ता है। उ० झूठे कौं झूठा मिलै, दूणां वधै सनेह। (सा० २२-१७-१)।

बध्या—वढ़ा, फैला। उ० ऊँचा कुल कै कारणैं, वंस वध्या अधिकार। (सा० ५५-११-१)।

वन—सं० पु० (सं० वन)—जंगल। उ० जा वन में क्रीला करी, दाझत है वन सोइ (सा० ४-८-२)।

बनखंड—दे० 'वन खडि'। (पा० प० ८६-५)।

बनखंडि—सं० पु० (सं० वनखड)—जंगली प्रदेश में। उ० बाकुल बसतर किता पहिरबा, का तप वन खंडि बासा (प० ८८-३)।

बनजिया—क्रि० स० (हि० वनजना)—व्यापार किया। (पा०सा० १४-२०-१)।

बनजी—व्यापार किया। उ० जब हम वनजी लौंग सुपारी, तब तुम्ह काहे वनजी खारी। (प० २९१-२)।

बनज्या—व्यापार किया। उ० कहै कबीर हंम वनज्या सोइ, जाथैं आवागवन न होई। (प० २९१-५)।

वनजारे—दे० 'वणिजारा'। उ० तब काहे भूली बनजारे, अब आयौ चाहै सगि हमारे। (प० २९१-१)।

बनवन—क्रि०वि० (सं० वन से)—जंगल-जंगल, जहाँ-तहाँ। उ० कवीर वन वन मैं फिरा, कारणि आपणैं रांम। (सा० २८-५-१)।

वनराइ—सं० पु० (सं० वनराज)—बहुत बड़ा पेड़, पेड़-समूह। सात समंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ। (सा० ३८-५-१)।

वनवारि—सं० पु० (सं० वनमाली)—श्री कृष्ण का एक नाम। उ० पोडस कंवल जब चेतिया, तब मिलि गए श्री वनवारि रे। (प० ४-१५)।

बनवारी—दे० 'वनवारि'। (पा० प० ३८-५)।

बनसपती—दे० 'बनासपती'। पेड़, पौधे आदि। (पा० प० ७५-६)।

बनह—सं० पु० (सं० वन)—वन में। उ० वनह वसे का कीजिये, जे मन नहीं तजै विकार। (प० ३००-२)।

बनहिं—वन में। (पा० प० १७३-३)।

बनहि—क्रि० अ० (सं० वर्णन)—निभेगी। (पा०प० १९६-७)।

बनाइ—क्रि० स० (हि० बनना से बनाना)—रचकर, बनाकर। उ० छापा तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक। (सा० २४-१६-२)।

बनाइया—बनाया। (पा० र० १०-२)।

बनाई—निर्मित की, रची। (पा० प० १५०-३)।

बनाऊं—निर्मित करूँ। (पा०र० १०-२)।

बनारस—सं० पु० (सं० वाराणसी)—काशी नगरी। (पा०प० १३१-११)।

बनारसी—बनारस में ही। उ० कबीर गुर बसै बनारसी, सिष समंदां तीर। (सा० ४४-२-१)।

बनासपती—सं०स्त्री० (सं० वनस्पति)—पेड, पौधे अदि। उ० या वनासपती मैं लागैगी आगि, तब तूं जैहो कहां भागि। (प० ३८८-५)।

बनि—स० पु० (सं० वन)—जंगल में। उ० इहि वनि बाजै मदन भेरि रे, उहि वनि बाजै तूरा रे। (प० ७६-९)।

बनिज—दे० 'बणज'। व्यापारी। (पा० प० १२६-१)।

बनिजारा—दे० 'वणिजारा'। वंजारा। (पा० प० १२६-६)।

बनिजारै—वंजारे। (पा०प० १२६-३)।

बनिजिया—दे० 'वणजिया'। व्यापार किया। (पा० सा० १-११-२)।

बनित—दे० 'वनिता'। भार्या, स्त्री। उ नहीं जैसैं कुडिल वनित मुख, मुखसोभित विन राज। (र० २-४०)।

वनिता—सं० स्त्री० (सं० वनिता)—स्त्री, भार्या। उ० वनिता विविध न राचिये, देषत लागै पोड़ि। (सा० २६-६-२)।

वनियां—दे० 'वणियों' (पा०प० ९३-३)।

वनीं—वन गई। (पा० प० ३-५)।

वनी—वन गई है। (पा० प० १३३-७)।

वने—वने हुए। (पा०र० १०-२)।

वनैं—हो, वने। (पा०सा० ११-६-२)।

वन्यूं—वना है। उ० सोचि विचारि देखौ मन मांहीं, औसर आइ वन्यूं रे। (प० २३०-६)।

वन्यौं—वना है। (पा० प० १३५-७)।

वप—सं० पु० (हि० वाप)—पिता, पुरखों को। उ० कहि कवीर भौ सागर तिरहूं आप तिरूं वप तारूं। (प० ३८९-१२)।

वपरी—स्त्री० दे० 'वपुरा'। वेचारी। उ० कहै कवीर भाग वपरी कौ, किलकिल सवै चुकांई। (प० २२-८)।

वपुरा—वि० (सं० वराक)—वेचारा, तुच्छ। उ० सतगुरु वपुरा क्या करै, जे सिपही मांहै चूक। (सा० १-२१-१)

वपुरी—वेचारी। (पा० प० ११४-६)।

ववकी—क्रि० अ० (अनु०)—उत्तेजित होकर। (सा० २८-११-नो-१२)।

ववूर—सं० पु० (सं० वव्वूर)—ववूल। उ० आंव चढ़ी अंवली रे अंवली, ववूर चढ़ी नगवेली रे। (प० ७६-३)।

ववेक—सं० पु० (सं० विवेक)—ज्ञान। उ० नारी सेती नेह, वुधि ववेक सवहीं हरै। (सा० २०-८-१)।

ववेकी—सं० पु० (सं० विवेकिन)—विवेकी, बुद्धिमान। उ० अनभै कथा कवन सौं कहिये, है कोई चतुर ववेकी। (प० ८-७)।

वभनीं—सं० स्त्री० (सं० ब्राह्मण से)—ब्राह्मणी। उ० जे तूं वांभन वभनीं जाया। (प० ४१-७)।

वभीषन—दे० 'विभीखन'। उ० ध्रू प्रहिलाद वभीषन सेषा, तन भीतरि मन उनहुं न देषा। (प० ३३-४)।

वभेक—दे० 'ववेक'। विवेक। उ० सुयं प्रकास आनंद वभेक मैं, धन कवीर ह्वै पैठे। (प० १५१-६)।

वम्हनेटी—दे० 'वभनी'। ब्राह्मणी। उ० ब्राह्मन कै वम्हनेटी कहियौं, जोगी कै घरि चेली। (प० २३१-४)।

वयतै—क्रि० अ० (सं० वर्तन, हि० वरतना)—व्यवहार या वरताव करता है। उ० सकल आतमां वयतै जे, छलवल कौं सव चीन्हि वसे। (प० १६७-६)।

वर—सं० पु० (सं० वर)—दूल्हा। उ० वावल मेरा व्याह करि, वर उत्यम ले जाहि। (प० १३-५)।

वरकस—क्रि० वि० (सं० वल+वश, हि० वरवस)—हठात्, वलपूर्वक। (पा०प० १११-७)।

वरखन—क्रि० अ० (सं० वर्षण, हि० वरसना)—वरसने लगा। (पा० सा० २-५३-१)।

वरखिया—वरसा। (पा०सा० २२-९-१)

वरजता—क्रि० स० (सं० वर्जन, हि० वरजना)—रोकने पर भी, मना करने पर भी। उ० गलका खाया वरजता, अव क्यूं आवै हाथि। (सा० १३-१६-२)।

वरजि—मनाकर दो, रोक दो। उ० वंदे ऊपरि जोर होत है, जंम कूं वरजि गुसांई। (सा० ५६-५-२)।

वरजेउं—मना किया। (पा०प० ७५-३)।

वरण—(१) सं० पु० (सं० वर्ण)—जाति। उ० सकल वरण इकत्र ह्वै, सकति पूजि मिलि खांहि। (सा० २०-१४-१)।
(२) रंग। उ० नाति स्वरूप वरण नहीं जाकै, घटि घटि रह्यौ समाई। (प० १८०-५)।

वरत—सं० स्त्री० (हि० वरना, बटना)—नट की रस्सी, जिस पर चढ़कर वह खेल करता है। उ० टूटी वरत अकाश थैं, कोइ न सकै झड़ झेल। (सा० ४५-३२-१)।

वरतन—सं० स्त्री० (सं० वर्तन)—पात्र, भाँड़े। उ० वरतन वासन सूँ खिसै, चोर न सकई लागि। (सा० ३४-१०-२)।

वरतिया—वि० (सं० व्रतिन, हि० व्रती)—व्रत रखने वाले। उ० केस लूंचि लूंचि मूये वरतिया, इन्मैं किनहूं न पाई। (प० ३१७-६)।

वरध—सं० पु० (सं० वलीवर्द)—वैल। (पा० प० १२६-३)।

वरन—दे० 'वरण'। वर्ण, रंग। उ० रांम सनेही यूँ मिले, दून्यूँ वरन गँवाइ। (सा० ३१-६-२)।

वरनि—क्रि० स० (सं० वर्णन)—वर्णन करना। (पा० सा० ८-५-१)।

वरनिए—वर्णन कीजिए। (पा० सा० ८-५-१)।

वरनिये—वर्णन कीजिए। उ० अवरन को का वरनिये, मोपैं लख्या न जाइ। (सा० ३८-६-१)।

वरनूं—वर्णन करूं। उ० कोटिक भये कहां लूं वरनूं, सवनि पयानां दीन्हां रे। (प० ३६६-६)।

वरने—वर्णन किया। (पा०सा० ८-५-२)।

वरनौं—वर्णन करूँ। (पा०प० १०२-४)।

वरराइ—क्रि० अ० (अनु० वरवर, हि० वर्राना)—व्यर्थ वोलकर। (पा० सा० ४-१२-१)।

वरस—सं०पु० (सं० वर्ष) वर्ष, साल। उ० वारह वरस वालापन खोयौ, वीस वरस कछू तप न कियौ। (प० २४३-३)।

वरषिया—क्रि० अ० (सं० वर्णन, हि० वरसना)—वरसा। कवीर हरि रस वरषिया, गिर डूंगर सिखरांइ। (सा० ५५-४-१)।

वरष्या—वरसा, पड़ा। उ० कवीर वादल प्रेम का, हम परि वरष्या आइ। (सा० १-३४-१)।

वरसा—क्रि० अ० (सं० वर्षण, हि० वरसना)—वरस गया। (पा० सा० १-३४-२)।

वरसि—वरस कर। (पा०सा० २-२०-२)।

वरसै—वरसता है। (पा० प० ५२-५)।

वरस्या—वरसा, पड़ा। उ० वरस्या वादल प्रेम का, भीजि गया सव अंग। (सा० १-३३-२)।

वरात—दे० 'व्रात'। व्रात्य, संस्कारहीन नीच प्राणी। (पा० प० ७३-३)।

वराती—सं०पु० (हि० वरात+ई (प्रत्य०)—वरात में सम्मिलित होने वाले। उ० तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंच तत वराती। (प० १-३)।

वरावरि—वि० (फा०वर)—तुल्य, समान। (पा०प० १६-४)।

वरावरी—सं० स्त्री० (हि० वरावर+ई)—तुल्यता, समानता। (पा० प० ११६-६-७)।

वरि—अव्य० (सं० वर्त्त)—समान, पलटे में। उ० समंदहि तिणका वरि गिणै, स्वाँति वूंद की आस। (सा० ११-५-२)।

वरिआई—क्रि० वि० (सं० वलात्, हि० वरियाई)—जवरदस्ती से। उ० चरननि लागि करौं वरिआई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई। (प० ३-४)।

वरियाँ—सं० स्त्री० (हि० वेला से)—समय। उ० वरियाँ वीती वल गया, अरु वुरा कमाया। (सा० ४६-२६-१)।

वरियां—दे० 'वरियाँ'। समय। उ० जिहि वरियां सांईं मिलै, ता.सन जांण और। (सा० ५७-२-१)।

वरिषै—दे० 'वरिसै'। वरसता है। उ० तरि पै वरिषै अखंड धारा, रैं निभांमनी

भया अँधियारा। (र० ३-२३)।

वरिस—दे० 'वरस'। वर्ष। (पा० प० ४६-५)।

वरिसै—दे० 'वरस'। वरसता है। उ० अंमृत वरिसै हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल। (सा० ५-४७-१)।

वरी—क्रि० अ० (सं० वर्हण)—जली, दहकी। (पा० प० ६८-७)।

वरे—जले। (पा० प० ११४-१)।

वरै—जलती है। (पा० प० १४८-७)।

वरेडै—दे० 'वलींड़ै'। (पा०प० १३४-६)

वरोवरि—दे० 'वरावरि'। समान, तुल्य। (पा० सा० १५-१६-१)।

वर्सण लगे—क्रि० स० (सं० वर्षण, हि० वरसना)—फैलने लगे, गिरने लगे। उ० ऊँनमि विआई वादली, वर्सण लगे अँगार। (सा० ५१-२-१)।

वलंती—क्रि० अ० (सं० वर्हण, हि० वलना)—वलती हुई, जलती हुई। उ० ज्वाला तैं फिरि जल भया, वुझी वलंती लाइ। (सा० ५-३१-२)।

वल—सं० पु० (सं०)—सामर्थ्य, शक्ति, जोर। उ० जो रोऊं तो वल घटै, हंसौं तो राम रिसाइ। (सा० ३-२८-१)।

वलइया—सं० स्त्री० (अ० वला, हि० वलाय)—वलाय। (पा०प० १४०-१)।

वलकल-सं० पु० (सं०वल्कल)-वृक्ष की छाल। (पा० प० १८६-३)।

वलधिया—सं०पु० (हि० वलद)—वैल, गाय, भैंस आदि के चरवाहे। (सा० २८-११-नो०-१२)।

वलाइ—सं० स्त्री० (अ० वला)—दुःख, वला, आपत्ति। उ० मैं मैं वड़ी वलाइ है, सकै तो निकसी भाजि। (सा० १२-६०-१)।

वलाही—सं० पु० (सं० वलाधिकृत)—वलाधिकृत। उ० खोटी महती विकट वलाही, सिर कसदम का पारै। (प० २२२-७)।

वलि (१)—सं०पु० (सं०)—राजा वलि। उ० कोई ले जात न देख्या, वलि विक्रम भोज ग्रस्टा। (प० २६६-१३)।

वलि (२)—सं०पु० (सं०)—किसी देवता के उद्देश्य से मारे जाने के लिए वंधा जीव। उ० मोर तोर की जेवडी, वलि वंध्या संसार। (सा० १७-२२-१)।

वलिगई—क्रि० अ० (हि० वलि + जाना) —निछावर हो गई। उ० वारी फेरी वलि गई, जित देखौं तित तूं। (सा० २-६-२)।

वलियां—दे० 'वलइया'। वलैया लेना। उ० हो वलियां कव देखोंगा तोहि। (प० ३०५-१)।

वलिवंती—वि० (सं० वलवती)—शक्तिशाली। उ० जंगल महि के जंगम मारे तूंट फिरै वलिवंती। (प० १८७-४)।

वलिहारी—सं० स्त्री० (हि० वलि + हारना)—कुर्वान, निछावर। उ० वलिहारी गुरु आपणैं द्यौं हाड़ी कै वार। (सा० १-२-१)।

वलिहारै—कुर्वान। (पा० प० ३०-३)।

वलींडै—सं० पु० (सं० वडमि, हि० वड़ेग —छाजन में वीच की लकड़ी। उ० औलौं ठीका चढचा वलींडै, जिनि पीया तिनि मांना। (प० ८-४)।

वलींडौ—छाजन में वीच की लकड़ी। उ० घर जाजरो वलींडौ टेढौ, औ लोती डरराइ। (प० २२-२)।

वलेंडा— (पा० प० ५२-३)।

वली—क्रि० अ० (सं० वर्हण, हि० वलना)—जली। उ० दाघ वली ता सव दुःखी सुखी न देखौं कोइ। (सा० ५१-३-१)।

वलै—जलती है। उ० हिरदा भीतर दौं वलै, धूवां न प्रगट होइ। (सा० ४-३-१)

वलीता—सं० पु० (फा० फतीलः, हि०

पलीता)—आग लगाने के लिए बनाई गई बत्ती अथवा ईंधन। उ० काम क्रोध दोइ किया बलीता, छूटि गई संसारी। (प० ७२-६)।

बलू—वि० (सं० वलित)—झुकाया हुआ, मोड़ा हुआ। उ० और हमारा हम बलू, गया कबीरा रूठि। (सा० १६-२६-२)।

बषांण—दे० 'बखांन'। उ० दिया महौला पीव कूँ, तब भड़हर करै बषांण। (सा० ४५-३५-२)।

बषानैं—दे० बखांनैं। उ० जोजन एक प्रमिति नहीं जांनैं, बातनि हीं बैकुंठ बषानैं। (प० २४-२)।

बसंत—सं० पु० (सं० वसन्त)—वसंत ऋतु का समय। उ० फूल जु फूले रुति बसंत, जामैं मोहि रहे सब जीव जंत। (प० ३८२-२)।

बसंता—क्रि० (हि० बसना)–बसा हुआ। (पा० सा० १५-६६-२)।

बसंती—बसने वाले। (सा० १२-१३-नो -१९)।

बस—सं० पु० (सं० वश)—शक्ति की पहुंच, काबू। उ० बस नांहि गोपाल सौं, बिनसै रतन अमोल। (सा० ५१-१-२)।

बसउं—क्रि० अ० (सं० वसन)—रहूँ। (पा० प० ४१-१)।

बसत—रहता है। उ० जोर खुदाइ मसीति बसत हैं, औ मुलिक किस केरा। (प० २५९-९)।

बसतु—रहता है। (पा० प० १७७-९)।

बसहिं—रहते हैं। (पा० प० ४१-३)।

बसहि—रहता है। (पा० प० १८८-१)।

बसा—रहा। (पा० सा० २-५५-१)।

बसूं—रहूं। उ० अब न बसूं इहिं गांइ गुसाईं। (प० २२२-१)।

बसें—रहने, बसने। (पा०प० १७३-३)

बसे—रहने। उ० बनह बसे का कीजिये, जे मन नहीं तजै बिकार। (प० ३००-२)

बसै—रहता है, टिकता है। उ० बिरह भुवंगम तन बसै, मंजन लागै कोइ। (सा० ३-१८-१)।

बसौ—रहो। (पा० प० ७-५)।

बस्या—ठहर गया, टिका। उ० जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या। (३-१७-१)।

बसतर—सं० पु० (सं० वस्त्र)—वस्त्र। उ० बाकुल बसतर किता पहिरबा, का तप बनखंडि बासा। (प० ८८-३)।

बसतैं—सं० स्त्री० (सं० वस्तु)—पदार्थ, चीज। उ० पंच पहरवा सोइ गये हैं, बसतैं जागण लागी। (प० २३-५)।

बसाइ—क्रि० अ० (हि० वश)—वश चलता है। उ० मेरी चपल बुधि तातैं कहा बसाइ। (प० ३८४-२)।

बसइया—वश चलेगा। (पा०प० ७४-५)

बसाई—वश चलेगा। उ० छिटकै पवन तार जब छूटै, तब मेरी कहा बसाई। (प० १०९-४)।

बसाया—क्रि० स० (हि० बसना से)—आबाद किया। उ० तिहि पूत बाप इक जाया, बिन ठाहर नगर बसाया। (प० २८२-७)।

बसांहिगे—आबाद करेंगे। (सा० १२-१३ -नो०-१९)।

बसि—सं० पु० (सं० वश)—वश में, अधिकार में। उ० इंद्री केरे बसि पड़्या मूंचै बिषै निसंक। (सा० २०-२६-२)।

बसियार—सं० पु० (हि० बसेरा)—टिकाव। उ० सुत सरीर धन प्रग्रह कबीर, जीये रे तर्वर पंख बसियार। (र० ३-१०६)।

बसुधा—सं० स्त्री० (सं० वसुधा)—पृथ्वी। उ० बसुधा व्योम बिरकत रहै, बिनहा हर बिसवास। (सा० ३१-३-२)।

बसेरा—सं० पु० (हि० बसना)—पक्षिय.. के रात बिताने का स्थान। उ० बिरषि

वसेरा पंषि का, ऐसा माया जाल। (प० ७५-३)।

वसेरौ—वसेरा। (पा० प० ५५-४)।

वसेष—सं० पु० (सं० विशेष)—विशेष होने का भाव, वैशिष्ट्य। उ० जैसैं पावक भंजन का वसेष, घट उनमान कीया प्रवेस। (प० १६७-४)।

वसोधरा—सं० पु० (सं० वसुंधर)—श्री कृष्ण। उ० भ्रम्य भूलि परचौ भव सागर, कछू न वसाइ वसोधरा। (प० ११६-४)।

वस्क—सं० स्त्री० (सं० वस्तु)—पदार्थ, चीज। उ० पटचक्र की कनक कोठड़ी, वस्त्र भावहै सोई। (प० २३-३)।

वस्तर—दे० 'वसतर'। वस्त्र। (पा० प० १८६-३)।

वस्ती—सं० स्त्री० (सं० वसति)—आवादी, निवास। उ० वस्ती मैं थैं मारि चलाया, जंगलि किया वसेरा। (प० (२३८-५)।

वस्तु—सं० स्त्री० (सं० वस्तु)—पदार्थ। (पा० प० ७२-५)।

वहकि—क्रि० अ० (हि० वहाना से)—आपे से वाहर होकर। उ० कायर वहुत पमाँवहीं, वहकि न वोलैं सूर। (सा० ४५-१४-१)।

वहतरि—वि० (प्रा० वहत्तर)—सत्तर और दो। उ० सात सूत दे गंड वहतरि, पाट लगी अधिकाई। (प० १९३-३)।

वहती—क्रि० अ० (सं० वहन)—प्रवाहित होती हुई। उ० वहती सलिता रहि गई, मंछ रहे जल त्यागि। (सा० ४-९-२)।

वहते—प्रवाहित होते हुए। (पा० सा० १५-८९-१)।

वहि वहि जांहि—प्रवाह में वह जाते हैं। उ० पार समंद मैं मंछला, केता वहि वहि जांहि। (सा० २०-५-२)।

वहिहै—प्रवाहित हो जाएंगे। उ० इंद्री स्वादि विषै रसि वहिहै, नरकि पड़ैं पुंनि रांम न कहिहै। (प० १४३-५)।

वहै—प्रवाहित होता है। उ० नैंना नीझर लाइया, रहट वहै दिन जाम। (सा० ३-२४-१)।

वहत्तरि—दे० 'वहतरि'। सत्तर और दो। (पा० प० १११-४)।

वहनां—सं० स्त्री० (सं० भगिनी, प्रा० वहिणी)—वहिन। उ० तुम्ह घरि जाहु हमारी वहनां, विष लागैं तुम्हरे नैंनां। (प० २७०-१)।

वहनोई—सं० पु० (हि० वहन)—वहन का पति। (पा० प० १४०-४)।

वहरा—वि० (सं० वधिर, प्रा० वहिर)—सुनने के अयोग्य। उ० गूँगा हूवा वावला, वहरा हूआ कान। (सा० १-१०-१)।

वहाइ—क्रि० स० (सं० वहन, हि० वहना से वहाना)—वहा दो। उ० कवीर पढ़िवा दूरि करि, पुसतक देइ वहाइ। (सा० १९-२-१)।

वूंटी—सं० स्त्री० (हि० वूटा)—वनौषधी। उ० होइ अरोकि वूंटी घसि लावैं, गुर विन जैसे भ्रमत फिरै। (प० १८३-३)।

वूंद—सं० स्त्री० (सं० विन्दु)—जल की वूंद। उ० सागर नाहीं सीप विन, स्वांति वूंद भी नांहि। (सा० ५-८-१)।

वूझत—क्रि० स० (हि० वूझ से वूझना)—पूछता हुआ। उ० सवकूं वूझत मैं फिरौं, रहण कहै नहीं कोइ। (सा० १४-३-१)।

वूझहु—पूछो। (पा० प० १३८-१)।

वूझा—पूछ लिया। (पा० र० १२-७)।

वूझि—पूछ कर। (पा० र० १६-२)।

वूझिया—समझा, पूछा। उ० मैंर अवूझी वूझिया, पूरी पड़ी वलाई। (सा० २९-६-२)।

वूझे—समझे। (पा० प० ३-६)।

वूझै—पूछती है। उ० विरहनि ऊभी पंथ

सिरि पंथी बूझै धार। (सा० ३-५-१)।

बूझौं—पूछता हूँ, प्रश्न करता हूँ। उ० उतीथैं कोइ न आवई, जाकूं बूझौं धाइ। (सा० १४-२-१)।

बूटा—सं० पु० (हि० वुड्ढा)—पुरखे। (सा० १२-३२-नो-४४)।

बूटी—दे० 'बूंटी'। औषधि, जड़ी। उ० सो बूटी पाँऊँ नहीं, जातैं जीवनि होइ। (सा० ३-४०-२)।

बूठा—वि० (?)—बरसा हुआ। उ० डूंगरि बूठा मेंह ज्यूँ, गया निवाणां चालि। (सा० १३-२२-२)।

बूड़त—क्रि०अ० (सं० बुड)—डूबता है। उ० रांम नांम सुमिरन विनां, बूड़त है अधिकाई। (प० ३२०-२)।

बूड़ते—डूबते हुए। (पा०सा० ५-३-२)।

बूड़तैं—डूबते (सा० २०-२२-नो०-२५)।

बूड़सी—डूब जाएगा। उ० कूड़ बड़ाई बूड़सी, भारी पड़सी काल्हि। (सा० १२-५२-२)।

बूड़हुगे—डूबोगे। (पा० प० १९१-२)।

बूड़ा—डूबा। उ० देवल बूडा कलससूं, पंषि तिसाई जाइ। (सा० ६-७-२)।

बूड़ि—डूबकर। (प० ३११-६)।

बूड़िहै—डूब जाएगा। उ० रांम नांम विन बूड़िहै, कनक कांमणी कूप। (सा० १६-२९-२)।

बूड़िहौं—डूब जाऊँगा। (पा० सा० २-११-२)।

बूड़े—डूब गए। उ० दून्यूं बड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव। (सा० १-१६-२)

बूड़ै—डूबता है। (पा० सा० २२-८-२)।

बूड़ैगा—डूबेगा। (पा० प० ९२-२)।

बूढ़—वि० (सं० वृद्ध)—बुड्ढा। उ० नां हम वार वूढ़ नाहीं हम, नांह भरै चिलकाई हो। (प० ५०-४)।

बूता—सं० पु० (हि० वित्त)—बल, शक्ति। (पा० प० १४०-५)।

बूद—सं०स्त्री०(फा०)—अस्तित्व, हस्ती। उ० असमांन म्यांनैं लहंग दरिया, तहां गुसल करदा बूद। (प० २५८-७)।

वेंचि—क्रि० स० (सं० √विच् ?)—विक्रय करना। (पा० प० २२-२)।

वेचहु—विक्रय करते हो। (पा० प० १९१-१)।

वेकांम—दे०'वेकाम'। (पा०सा० ३-९-२)

वेकाम—अव्य० (हि० वे + काम)—व्यर्थ। उ० ते नर इस संसार में, उपजि पये वेकाम। (सा० २-१७-२)।

वेखवरू—वि० (फा० वेखवर)—अनजान ही। (पा० प० ८७-५)।

वेगर—अव्य० (अ० वगैर)—विना। उ० सुख समाधि सुख भया हमारा मिल्या न वेगर होइ। (र० ४-१०७)।

वेगांनां—वि० (फा० वेगाना)—पराया, गैर। उ० गुर प्रसादि अकलि भई तो कौं नहीं तर था वेगांनां। (प० ८-२)।

वेगारि—सं० स्त्री० (फा० वेगार)—विना मजदूरी का। उ० जनम अनेक गवा अरू आया, की वेगारि न भाड़ा पाया। (प० ११०-२)।

वेगि—क्रि० वि० (सं० वेग)—शीघ्रता से, फौरन। उ० वेगि छाड़ि पछिताइगा, ह्वैहै मूरति भंग। (सा० २०-९-२)।

वेगे—जल्दी से, चटपट। उ० हरि समिरण हाथूं घड़ा, वेगे लेहु बुझाइ। (सा० २-३२-२)।

वेचि—दे० 'वेंचि'। गँवा दिया, वेंच दिया। उ० पाई को तुरियां वेचि खाई री, भाई को बीनैं। (प० १९-४)।

वेझा—सं० पु० (सं० वेध)—निशाना। (पा० सा० २२-४-१)।

वेटा—सं० पु० (सं० वटु, प्रा० विट्ट)—पुत्र, लड़का। (पा० सा० १६-४०-१)।

वेठ—दे० 'वेठि'। जीविका। (पा० प० १११-७)।

वेठि—सं०स्त्री० (सं० विष्टि)—काम-काज, जीविका। उ० दिन की वेठि खसम सूं कीजै, अरज लगीं तहां ही। (प० १६३-६)।

वेठिया—क्रि० अ० (सं० वेष्ठन)—लपेट लिया। उ० चँदन भुँवंगा वेठिया, तउ सीतलता न तजंत। (सा० २९-२-२)।

वेड़ा—सं० पु० (सं० वेडा)—वड़े-वड़े तख्तों का वनाया हुआ ढाँचा जो नदी पार करने के काम में आता है। (पा० सा० १५-२७-१)।

वेढ़िऔ—दे० 'वेठिया'। लपेट लिया। (पा० सा० ४-२-२)।

वेढ़े—दे० 'वैढौ'। (पा० प० ६९-२)।

वेद—सं० पु० (सं० वेद)—धर्म ग्रन्थ। उ० पीछैं लागा जाइ था, लोक वेद के साथि। (सा० १-११-१)।

वेदन—सं० स्त्री० (सं० वेदना)—पीड़ा, दर्द। उ० नाँ तूँ मिलै न मैं खुसी, ऐसी वेदन मुझ। (सा० ३-४२-२)।

वेदनि—पीड़ा। (पा० र० १२-५)।

वेदा—दे० 'वेद'। वेद धर्मग्रन्थ। (पा० र० ४-४)।

वेदी—सं० स्त्री० (सं० वेदी)—शुभ कार्य के लिए तैयार की हुई ऊँची भूमि। उ० सरीर सरोवर वेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार। (प० १-५)।

वेदु—दे० 'वेद'। वेद। (पा०प० ८४-९)

वेधा—क्रि० स० (सं० वेधन, हि० वेधना) —पार किया। उ० उलटे पवन चक्र पट वेधा, सुंनि सुरति लै लागी। (प० ८-५)।

वेधि—वेध कर। (पा० सा० ३-२१-२)।

वेधीले—वेध ले। (पा० प० ११५-६)।

वेधे—वेधा। उ० जे वेधे गुर अष्पिरां, तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध। (सा० १-२२-२)।

वेधै—वेधा। (पा० १-७-२)।

वेधिया—क्रि० अ० (सं० वेधन)—भिद गए। उ० हरि रस जे जन वेधिया, सतगुण सींगणि नांहि। (सा० ४०-५-१)।

वेध्या—वि० (सं० वेधन से)—भिदा हुआ। उ० कोई घाइल वेध्या नां मिलै, सांई हंदा सैण। (सा० ४३-१०-२)।

वेन—सं० पु० (सं० वेणु)—वंशी, मुरली। उ० अनहद वेन वजाइ करि, रह्या गगन भर छाइ। (१२१-३)।

वेनां—दे० 'वेन'। वंशी। उ० वाजैं संख सवद धुनि वेनां, तन मन चितहरि गोविंद लीनां। (र० ४-६६)।

वेपरवांही—वि० (फा० वेपरवाह)—निश्चित। उ० साहिव सेवा मांहि है, वेपरवांहीं दास। (सा० ५-२-२)।

वेर—सं० स्त्री० (सं० वार)—समय, अवसर पर। उ० अंत की वेर वहुत दुख होई। (प० २३३-६)।

वेरा—सं०पु० (हि० वेड़ा)—नौ-समूह, नाव। उ० अजहूँ वेरा समंद मैं, वोलि विगूचैं कांह। (सा० ८-५-२)।

वेरि—सं० पु० (सं० वदरी)—वेर का वृक्ष। उ० मारी मरूं कुसंग की, केला कांठै वेरि। (सा० २५-४-१)।

वेरियां—दे० 'विरियां'। समय। (पा० प० २२-५)।

वेरी—सं० स्त्री० (हि० वार)—विलम्व, देर। उ० अंत काल जव आइ पहूंचा, छिन मैं, कीन्ह न वेरी। (प० १०५-७)।

वेलंत—क्रि०अ० (सं० वलन, हि० वेलन) —छटपटाकर। उ० ज्यूं जल छुटै मंछली, यूं वेलंत विहाइ। (सा० २९-५-२)।

वेलड़ी—सं० स्त्री० (हि० वेल+ड़ी (प्रत्य०)—लता या वेल। उ० कवीर कड़ई वेलड़ी, कड़वा ही फल होइ। (सा० ५८-५-१)।

वेलरी—दे० 'वेलड़ी'। लता। (पा०सा०

३१-१०-१)।

वेलां—सं० स्त्री० (सं० वेला)—समय पर, अवसर पर। उ० द्वादसी दांन पुनि की वेलां, सर्व पाप छ्यो करणां। (प० २५०-८)।

वेला—दे० 'वेलां'। समय। (पा० प० ६-५)।

वेलि—सं० स्त्री० (सं० वल्लरि)—लता, वेल। उ० वाडि चढ़ंती वेलि ज्यूं, उलझी आसा फंध।(सा० १६-२६-१)।

वेली—दे० 'वेलां'। समय। (पा० प० १२४-८)।

वेवहारा—दे० 'वौहार'। व्यवहार। (पा० र० १४-७)।

वेसां—सं० स्त्री० (सं० वेश्या)—रंडी, वेश्या। उ० जग हटवाड़ा स्वाद ठग, माया वेसां लाइ। (सा० १६-१-१)।

वेसास—सं० पु० (सं० विश्वास)—श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, यकीन। उ० मनि परतीति न ऊपजै, जीव वेसास न होइ। (सा० १२-५५-२)।

वेस्वां—सं० स्त्री० (सं० वेश्या)—रंडी, व्यभिचारिणी। उ० वेस्वां केरा पूत ज्यूं, कहै कौन सूं बाप। (सा० २-२२-२)।

वेस्वा—दे० 'वेस्वां'। वेश्या। (पा० सा० ३-२०-२)।

वेह—सं०पु० (सं० वेध)—छिद्र, सुराख। उ० पांहण टांकि न तौलिए, हांडि न कीजै वेह। (सा० २६-५-१)।

वेहद—वि० (फा०)—असीम। (पा०सा० ६-२१-१)।

वेहदि—दे० 'वेहद'। असीम। उ० हदे छाड़ि, वेहदि गया, हुवा निरंतर वास। (सा० ५-५-१)।

वेहाल—वि० (फा० वे + अ० हाल)—व्याकुल, विकल। (पा० प० १३-८)।

वेहो—सं०पु० (देश०)—धुनिया, जुलाहों की एक जाति। (पा० प० १२-४)।

वैंड—वि० (हि० वेंड़ा)—आड़ा, तिरछा। उ० सतगुर मिल्या न मुक्ति फल, तावैं खाई वैंड। (र० चौ०-६)।

वैसों—क्रि० अ० (हि० वैठना)—वैठूं। (सा० ३-४३-नो०-४६)।

वैकुंठ—सं० पु० (सं०)—हिन्दुओं का स्वर्ग स्थान। उ० जब लग है वैकुंठ की आसा, तब लग नहीं हरि चरन निवासा। (प० २४-३)।

वैकुंठहि—वैकुंठ ही। (प० २४-५)।

वैकुंठवासी—सं० पु० (सं० वैकुंठ वासिन्)—विष्णु भगवान। उ० काया मधे कवलापति, काया मधे वैकुंठवासी। (प० १७१-४)।

वैठा—क्रि० अ० (सं० वेशन, विष्ठ, प्रा० विट्ठ + ना)—वैठा हुआ। उ० स्यंध वैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा लावै। (प० १२-५)।

वैठि—वैठकर। उ० धोरै वैठि चपेटसी, यूं ले वूड़ै स्यांन। (सा० २७-२-२)।

वैठी—वैठकर। (पा० प० १००-३)।

वैठें—वैठे हुए ही। उ० भाग बड़े घरि वैठें आये। (प० २-२)।

वैठेंगे—वैठ जाएँगे (पा०सा० १०-५-२)।

वैठे—वैठ गए। (पा० प० २४-४)।

वैठैं—वैठे हुए ही। उ० वहुत दिनन के विछुरे हरि पाये, भाग वड़े घरि वैठैं आये। (प० ३-३)।

वैठै—वैठता है। (पा० प० १२२-४)।

वैठ्या—वैठ गया। उ० कवीर चंदन का विड़ा, वैठ्या आक पलास। (सा० २८-७-१)।

वैढो—सं० पु० (हि० वेढना)—घर के आसपास का घेरा हुआ स्थान। उ० नऊं दुवार नरक धरि मूंदे, तू दुरगंधि को वैढो रे। (प० ३११-२)।

वैद—सं० पु० (सं० वैद्य)—चिकित्सक। उ० वैद मुवा रोगी मुवा, मुवा सकल

संसार। (सा० ४१-६-१)।

बैन—सं० पु० (सं० वचन, प्रा० वयन)—वचन, बात। उ० माया मिलै महोबंती, कूड़े आखैं बैन। (सा० ४३-१०-१)।

बैयन—दे० 'बैन'। वचन। उ० सोई अषिर सोई बैयन, जन जू जू वाचवंत। (सा० ३३-७-१)।

बैराग—सं० पु० (सं० वैराग्य)—विरक्ति। उ० इक बैरागी ग्रिह मैं, इक गृहीं मैं बैराग। (सा० ३५-२०-२)।

बैरागी—सं० पु० (सं० विरागी)—जिज्ञासु, साधक, विरक्त। उ० अमर न मरै मरै नहीं जीवै, ताहि खोजि बैरागी। (प० ८-६)।

बैरिनि—वि० स्त्री० (सं० वैरी)—शत्रु, विरोधी। (पा० प० १५-७)।

बैरी—वि० (सं० वैरी)—शत्रु। उ० जे ते तारे रैंणि के, ते तै बैरी मुझ। (सा० ४५-२९-१)।

बैल—सं० पु० (सं० वलद)—बैल, अज्ञानियों का अज्ञान। उ० बैल वियाइ गाइ भई बांझ, बछरा दूहै तीन्यूं सांझ। (प० ८०-२)।

बैलहिं—बैल को। (पा० प० ११६-५)।

बैलहि—बैल। उ० बैलहि डारि गूंनि घरि आई, कुत्ता कूं लै गई बिलाई। (प० ११-४)।

बैष्णों—दे० 'बैशनों'। (सा० २८-४-१)।

बैशनों—सं० पु० (सं० वैष्णव)—वैष्णव सम्प्रदाय के व्यक्ति। उ० कबीर साषत को नहीं, सबै बैशनों जांणि। (सा० ३२-२-१)।

बैश्नौं—दे० 'बैशनों'। उ० दुराचारी बैश्नौं बुरा, हरिजन तहाँ न जाइ। (सा० ४२-२-२)।

बैसंदर—सं० पु० (सं० वैश्वानर)—अग्नि। उ० जिहि बैसंदर जग जल्या, सो मेरे उदिक समान। (सा० ३९-४-२)

बैसनौं—दे० 'बैशनों'। बैष्णव। उ० बैसनौं भया तौ का भया, बूझा नहीं बबेक। (सा० २४-१६-१)।

बैसि—क्रि०स० (सं० वेशन, हि० बैसना)—बैठकर। उ० षूणैं बैसि खाइए, परगट होइ दिवानि। (सा० २०-६-२)।

बैसि करि—बैठकर। उ० चेतनि चौकी बैसि करि, सतगुरु दीन्हाँ धीर। (सा० १-२३-१)।

बैसे—बैठे। (पा० प० ६९-९)।

बैस्य—बैठकर। (र० बा० ५६)।

बैस्नौं—दे० 'बैशनों'। बैष्णव। (सा० ४-५-१)।

बोंहड़ा—सं० स्त्री० (हि० बोर, बोह)—डुबकी, गोता। उ० रांम नांम करि बोंहड़ा, बांही बीज अघाइ। (सा० ३५-४-१)।

बोइ करि—क्रि० स० (सं० वपन, हि० बोना)—बोकर। उ० बिष की क्यारी बोइ करि, लुणत कहा पछिताइ। (सा० १३-५-२)।

बोई (१)—बो दिया। उ० पांहनि बोई पृथमीं, पंडित पाड़ी बाट। (सा० २३-२-२)।

बोई (२)—सं० स्त्री० (फा० बू से)—गंध। उ० ताली पीटै सिर धुनैं, मीठै बोई भाइ। (सा० २५-६-२)।

बोछै—वि० (हि० ओछे)—छिछले। उ० बोछै जलि जैसैं मछिका, उदर न भरई नीर। (प० ११९-६)।

बोझ—सं० पु० (?)—भार। उ० सत गुर की कृपा भई, डारया सिर थैं बोझ। (सा० २३-४-२)।

बोड़ि—सं० स्त्री० (?)—दमड़ी, कौड़ी। (सा० १२-५९-नो० ७६)।

बोड़ैं—क्रि० स० (हि० बूड़ता से बोड़ना)—डुबाते हैं। उ० आपण बूणें और कौं बोड़ैं, अगनि लगाइ मंदिर मैं सोवैं। (प० १४४-४)।

बोध—दे० 'बोधक'। ज्ञानी, ज्ञान कराने वाला। (पा० प० १८०-४)।

बोधक—सं० पु० (सं०)—ज्ञान कराने वाला। उ० विष अमृत फल फले अनेक बेदरु बोधक हैं तरु एक। (प० ३८-४)।

बोधा—सं० पु० (सं० बोध)—ज्ञान, संतोष। उ० तुरकी धरम बहुत हम खोजा, वहु बजगार करै ए वोधा। (र० ५-२७)।

बोयौ—क्रि० स० (सं० वपन, हि० बोना) —वो दिया। (पा० प० ६०-२)।

बोरी—क्रि० स० (हि० बूड़ना)—डुवा दी। (पा० सा० २६-२-२)।

बोरै—डुबाए। (पा० सा० ३१-२५-२)।

बोल—सं० पु० (हि० बोलना)—वचन। (पा० चौ० र० ३-२)।

बोलणां—क्रि० अ० (सं० ब्रूयते, प्रा० बुल्लइ)—बातें करना। उ० जेता मीठा वोलणां, तेता साधन जाँणि। (सा० २७-३-१)।

बोलत—वोलते। उ० बोलत वोलत बढ़ै बिकारा, विन बोल्यां क्यूँ होइ विचारा। (प० ६७-२)।

बोलनां—बातें करना। उ० वोलनां का कहिये रे भाई, बोलत बोलत तत नसाई। (प० ६७-१)।

बोलहि—बोलता है। (पा०प० १६६-२)

बोला—बोल पाया। (पा० प० १६-३)।

बोलि—बोलकर। उ० अजहूँ बेरा समंद मैं, वोलि विगूचै कांइ। (सा० ८-५-२)।

बोलिए—बोली जाए। (पा० सा० १५-७५-१)।

बोलिया—वोला। (पा० सा० २८-४-२)।

बोलूं—वोल पड़ूँ। (पा० सा० ११-७-२)।

बोलें—बोलते हैं। (पा० प० ६१-३)।

बोलैं—वोलते हैं। (पा० प० ५३-५)।

बोलै—वोलता है। उ० हँसै न वोलै उनमनीं, चंचल मेल्ह्या मारि। (सा० १-६-१)।

बोलौं—वोलूँ। उ० जे हंसि वोलौं और सौं, तौं नील रँगाऊं दंत। (सा० ११-१-२)।

बोल्यां—वोले। उ० बिन बोल्यां क्यूं होइ विचारा। (प० ६७-२)।

बोलनहार—वि० (हि० बोलना + हार)-बोलने वाला। उ० मन करि मका कबिला करि देही, वोलनहार जगत गुर येही। (प० ६१-३)।

बोली—सं० स्त्री० (हि० बोलना)—वाणी। (पा० सा० १८-११-१)।

बोवै (१)—क्रि० स० (सं० वपन, हि० वोना)—रोपै। उ० वोवै पेड़ बबूल का, अंब कहां तैं खाय। (सा० १३-२७-२)।

बोवै (२)—क्रि० स० (हि० बोरना)—डालता है, डुबोता है। उ० और पंखेरू पी गए, हंस न वोवै चंच। (सा० १६-३०-२)।

बोहिथ—सं० पु० (सं० वोहित्थ)—नाव, जहाज। उ० यहु मन बोहिथ के कऊवा ज्यूँ, रह्यौ ठग्यौ सौ वैसैं। (प० १३३-८)।

बौहड़ा—दे० 'बोंहड़ा'। (पा० सा० १५-४१-१)।

बौरानां—क्रि० अ० (हि० बौरा से)—पागल हो जाना। (पा० प० ६६-५)।

बौरांनीं—पागल हो गई। (पा० प० १२७-५)।

बौरांनूं—पागल हो जाता हूँ। उ० हरि गुन कथत सुनत बौरांनूं (प० १४७-६)।

बौरा—वि०(सं० वातुल, प्रा०बाउड, हि० वाउर)—पागल, वावला। उ० सव दुनीं संयानीं मैं वौरा। (प० १४७-१)।

बौराई—क्रि० अ० (सं० वातुल, हि० बाउर)—पागल हो गई। उ० कवन सयांत कौन बौराई, किहि दुख पइये

किहि दुख जाई। (र० ३-८६)।

बौरी—पगली। (पा० प० १०४-१)।

बौरे—पागल। (पा० प० ६४-४)।

बौरानां—पागल हो गया है। उ० अभि-अंतरि मनरंग समानां, लोग कहैं कवीर बौरानां। (प० २६-३)।

बौरै—सं० पु० (स० मुकुल)—मौर, आम की मंजरी। उ० आंव कै बौरै चरहल करहल, निविया छोलि छोलि खाई। (प० १७७-७)।

बौहर—सं० पु० (सं० व्यवहार)—आचरण में। उ० बड़ैं बौहरै सांठो दीन्हौं कलतर काढची खोटैं। (प० १०८-४)।

बौहार—सं० पु० (सं० व्यवहार)—आचरण। (र० १-टि०-८३)।

व्यंद (१)—दे० 'व्यंद'। विदु। उ० नादहिं व्यंद कि व्यंदहि नाद, नादहि व्यंद मिलै गोव्यंद। (प० ३२६-५)।

व्यंदहि—विंदु। (प० ३२६-५)।

व्यंद (२)—सं० पु० (फा० वंद)—रोक, कैंम। उ० गहन व्यंद कछू नहीं सूझै, आपन गोप भयौ आगम बूझै। (र० ३-२०)।

व्यवहार—दे० 'वौहार'। (पा० सा० १५ ४६-२)।

ब्याई—दे० 'वियाइ'। उ० जल की मछली तरवर व्याई, पकड़ि विलाई मुरगै खाई। (प० ११-३)।

व्याकरनां—सं० पु० (सं० व्याकरण)—वह विद्या जिसमें भाषा के शब्दों के नियमों आदि का निरूपण होता है। उ० चारि वेद जाकै सुमृत पुरांनां, नौ व्याकरनां मरम न जांनां। (प० ४९-३)

व्याज कौं—सं० पु० (सं० व्याज)—सूद के लिए। उ० दैंहि पाईसा व्याज कौं, लेखां करतां जाइ। (सा० १७-७-२)।

व्याजु—सूद। (पा० प० १२६-२)।

व्याधि—दे० 'वियाधि'। कष्ट। (पा० प० ६५-४)।

व्यापक—दे० 'व्यापक'। (पा०प० १७-२)

व्यापि—क्रि० अ० (सं० व्यापन)–फैल कर। (पा० र० १७-१)।

व्यापै—दे० 'व्यापै'। व्याप्त होता है। (पा० प० ३४-१०)।

व्यास—सं० पु० (सं० व्यास)–प्रसिद्ध व्यक्ति व्यास जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। उ० नारद कहैं व्यास यौं भाषै, सुखदेव पूछौ जाई। (प० ३९-९)।

ब्याह—सं० पु० (सं० विवाह)—शादी, पाणिग्रहण। उ० बावल मेरा व्याह करि, वर उत्यम ले जाहि। (प० १३-५)

व्याहि–क्रि० स० (हि० विवाह से)–विवाह करके। उ० कहैं कवीर हम व्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी। (प० १-८)।

व्याही—विवाह किया। (पा०प० ११०-४)

व्यौपार—सं० पु० (सं० व्यापार)—व्यव-साय। (पा० सा० ८-१०-१)।

व्यौरि—क्रि० स० (सं० विवरण, हि० व्यौरना)—विवरण के साथ रचा। उ० दे दे मन मोहि व्यौरि कहिं, हौं तत पूछौं तोहि। (र० ३-६१)।

व्यौरी—रची। उ० सोई पैं जांनै पीर हमारी जिहि सरीर यहु व्यौरी। (प० ३०३-५)।

व्यौसाई—सं० पु० (सं० व्यवसायिन्) —व्यवसाय करने वाला। (पा० प० १६४-३)।

व्यौहरैं—क्रि० स० (हि० व्यवहार)—व्यवहार करते हैं। उ० कोटि पाप पुनि व्यौहरै, इंद्र कोटि जाकी सेवा करैं। (प० ३४०-७)।

व्यौहार—दे० 'व्यौहार'। (पा० प० ९७ -८)।

व्यौहारा—व्यवहार। उ० अब क्या कीजै ग्यांन विचारां, निज निरखत गत व्यौहारा। (प० २८२-१)।

भगवां—वि० (?)—भगवा वस्त्र जो साधु धारण करते हैं। उ० का नट भेष भगवां वस्तर, भसम लगावै लोई। (प० ३४६-४)।

भगवांन—दे० 'भगवान'। (पा०प० २३-६)।

भगवांनां—दे० 'भगवान'। (पा० प० ३२-४)।

भगवान—सं० पु० (सं०)—परमेश्वर। उ० ताहि मिलै भगवान। (सा० ३-३०-२)।

भजन—सं० पु० (सं०)—स्मरण, गुण-कीर्त्तन। उ० भगति भजन हरि नांव है। (सा० २-४-१)।

भजसि—क्रि० स० (सं० भजन, हि० भजना)—भजेगा। (पा० प० ६३-७)।

भजहिं—भजता है। (पा० प० ८८-७)।

भजहु—भजो। उ० कहै कबीर एक रांम भजहु रे। (प० २६८-१२)।

भजा—भजन किया। (पा० प० ६४-१)।

भजि—भजो। उ० निरभं होइ निसंक भजि। (सा० १-२३-२)।

भजिए—भजो। (पा० सा० २८-८-२)।

भजु—भजन करो। (पा० प० ७३-१०)।

भजे—भजन किए। (पा० प० ६९-१०)।

भजै—(१) भजता है। उ० हरि कूं भजै न कोइ। (सा० ४५-४०-१)।
(२) क्रि० अ० (सं० व्रजन, प्रा० वजण, हि० भजना)—प्राप्त होता है, पहुँचा करता है। उ० कबीर हरि सबकूं भजै। (सा० ४५-४०-१)।

भजौं—भजन करूँ। उ० जाणैं जे हरि कौं भजौं, मो मनि मोटी आस। (सा० १६-५-१)।

भजौंगा—भजूंगा, भजन करूँगा। उ० आज कहै हरि भजौंगा, काल्हि कहै फिरि काल्हि। (सा० ४६-५-१)।

भज्यौ—भजा। उ० ताथैं भज्यौ न जगपति राजा। (प० २६४-२)।

भटका—क्रि० अ० (सं० भ्रम ?)—इधर-उधर व्यर्थ घूमना-फिरना। (पा० प० १४७-६)।

भटकि—भटककर। (पा०प० १०५-१०)

भठछार—स०पु० (सं० भ्रष्ट, प्रा० भट्ठ, हि० भट्ठा+सं० क्षार, हि० छार)—राख में। उ० मूल बिनंठा मांनवी, बिन संगति भठछार। (सा० २५-१-२)।

भणि—क्रि० स० (सं० भण, हि० भणना)—कहो, भजो। उ० रांम मणि रांम भणि रांम चितामणि। (प० १२३-१)।

भभूत—सं० स्त्री० (सं० विभूति)—भस्म, राख। (पा० सा० ३१-२८-१)।

भयानक—वि० (सं० भीषण)—डरावना। उ० इहि भांति भयानक उद्र में, उद्र न कबहू छंछरै। (सा० ३५-१-५)।

भयावनि—वि० (हि० भय)—डरावनी। (पा० र० १३-६)।

भरंति—सं० स्त्री० (सं० भ्रांति)—भ्रम, संशय, संदेह। उ० बाहरि भीतरि भरि रह्या, ताथैं छूटि भरंति। (सा० ४०-१-२)।

भरंम—सं० पु० (सं० भ्रम)—भ्रांति, धोखा। उ० जांमण मरण भरंम। (सा० ३४-४-१)।

भरण—सं० पु० (सं०)—भरना, पूरा करना। उ० सर अपसर समझै नहीं, पेट भरण सूं काज। (सा० २९-७-२)।

भरणां—क्रि० स० (सं० भरण, हि० भरणा)—देना, चुकाना। उ० कहै कबीर सुनहु रे संतो, ज्वाब खसम कूं भरणां। (प० १०२-१२)।

भरतार—सं० पु० (सं० भर्त्ता)—स्वामी, मालिक, पति। उ० सतगुरु गुरू बताइया, पूरिबला भरतार। (सा० ३६-३-२)।

भरतारा—(पा० प० ३-२)।

भरथरी—सं० पु० (सं० भर्तृहरि)—

उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के भाई कवि, जो गंधर्व सेन के दासी-पुत्र थे और अंत में योगी हो गये। उ० गोरप भरथरी गोपीचंदा। (प० ३३-६)।

भरन—दे० 'भरण'। (पा० प० १७६-१२)।

भरना—दे० 'भरणां'। (पा० सा० १६-३०-२)।

भरपूर—वि० (हि० भरना + पूरा)—परिपूर्ण, व्याप्त। उ० त्रिभुवननाथ रह्या भरपूर। (प० ५३-४)।

भरपूरा—(पा० प० १०२-६)।

भरपूरि—(पा० प० ३०-४)।

भरपूरी—(पा० र० १३-५)।

भरिपुरि—परिपूर्ण व्याप्त। (पा० प० ११५-८)।

भरिपूरि—पूर्ण रूप से, भली भाँति। उ० तिन रांम रह्या भरिपूरि। (सा० ३५-२१-२)।

भरम—दे० 'भरंम'। उ० भरंम करम सब दूरि करि, सबहीं मांहि अलेप। (सा० २४-१८-२)।

भरमणां—क्रि० अ० (सं० भ्रमण)—आना-जाना। उ० वहु तीरथ भरमणां। (प० २४८-७)।

भरमत—क्रि० अ० (सं० भ्रमण)—घूमते हुए। उ० तौ उपजत विनसत भरमत रहिवौ। (प० १३१-२)।

भरमावहु—दे० 'भरमावौ'। (पा० प० ५४-४

भरमावौ—क्रि० स० (हि० भरमना का रूप)—भ्रम में डालते हो, भटकाते हो। उ० एकमेक रमि रह्या सवनि मैं, तो काहे भरमावौ। (प० ५२-४)।

भरमि—दे० 'भरंम'। (पा० प० ७३-३)।

भरमु—दे० 'भरंम'। (पा० प० १२६-४)।

भरमैं—दे० 'भरमत'। घूमते हैं। (पा० प० १४२-२)।

भरहिं—क्रि० स० (सं० भरण)—पूर्ण करना, भरना। (पा० प० १५५-६)।

भरहि—(पा० प० १६६-२)।

भरांति—दे० 'भरंति'। (पा० सा० ६-३७-२)।

भरावैं—क्रि० स० (सं० भरण, हि० भरना का प्रेरणा का रूप)—ऋण परिशोध करते हैं। उ० मूवां पाछैं प्यंड भरावैं। (प० ३५६-४)।

भरा—वि० (हि० भरना)—कुल, पूरा। (पा० प० ६१-६)।

भरि—क्रि० स० (हि० भरना से)—पूर्ण करके, डाल करके। उ० अंक भरे भरि भेटिया। (सा० ५-२५-१)।

(२) वि० (हि० भरना से)—कुल, तमाम। उ० तन मन जोवन भरि पिया, प्यास न मिटी सरीर। (सा० ७-१-२)।

भरिभरि—भर-भर कर, ताक-ताक कर। उ० भरि भरि मारै वांण। (सा० १६-६-२)।

भरिया—क्रि० स० (हि० भरना से)—पूर्ण किया, भर लिया। उ० ऊभर था जो सूभर भरिया (प० २८१-२)।

भरि लिया—पूर्ण कर लिया। उ० कया कमंडल भरि लिया, उज्जल निर्मल नीर। (सा० ७-१-१)।

भरिहै—क्रि० स० (सं० भरण, हि० भरना)—सहन कर लेंगे, भरेंगे। उ० आप करै आपै दुख भरिहै। (प० १४३-२)।

भरी—क्रि० अ० (हि० भरना से)—भरी हुई है। उ० भीतरि भरी भँगारि। (सा० २४-७-२)।

भरे—वि० (हि० भरा)—भरे, पूरे। उ० अंक भरे भरि भेटिया, मन मैं नाहीं धीर। (सा० ५-२५-१)।

भरेभरि—वि० (हि० भरा)—पूर्ण रूप से, भली प्रकार। उ० अंक भरे भरि

भेटिया, पाप सरीरों जांहि। (सा० २८-६-२)।

भरैं—क्रि० स० (हि० भरना से)—भरती हैं। (पा० प० ६५-४)।

भरै—भरते हैं। उ० कोटि कुवेर जाकै भरै भंडार। (प० ३४०-६)।

भरोसा—स० पु० (सं० वर+आशा)—आसरा, आश्रय, अवलंब। उ० एक भरोसा तेरा। (प० १०२-६)।

भरोसैं—भरोसे पर। (पा०प० १९६-८)।

भरोसौ—यकीन, दृढ़ विश्वास, आसरे। उ० नारद से मुनिवर मिले, किसौ भरोसौ त्यांह। (सा० १६-३१-२)।

भरौं—क्रि०स० (हि० भरना से)—भरती हूँ। (पा० प० ४-४)।

भर्म—दे० 'भरंम'। (पा० प० १९७-२)।

भर्‌या—क्रि० स० (हि० भरना से)—पूर्ण किया, भरा। उ० सावन कलस सुरैं भरया, साधूं निंधा सोइ। (सा० २५-७-२)।

भल—वि० (सं० भद्र, प्रा० भल्ल)—भला, अच्छा, श्रेष्ठ। उ० सुठि सेवग भल सोइ। (सा० २६-४-१)।

भला—(१) अच्छा, भला। उ० वो जीवन भला कहाई, विन मूंवां जीवन नांहीं। (प० २८२-५)।

(२) सं० पु०—भलाई, कल्याण। उ० नहितर भला न होइ। (सा० २-१-२)।

भली—वि०—अच्छी बात। उ० भली भई जु गुर मिल्या। (सा० १-१९-१)।

भले—(१) अच्छे। (पा० सा० २१-२६-१)।

(२) क्रि०वि०(हि० भला)—भलीभाँति। उ० देखन के सवको भले, जिसे सीत के कोट। (सा० १७-१७-१)।

भलो—सं० पु०—भलाई, कल्याण। (पा० सा० १५-३५-२)।

भलौ—वि० उत्तम, श्रेष्ठ। (पा० सा० १९-१३-१)।

भलका—सं० पु० (देश०)—गांसी, वर्छी आदि का फल। उ० साँठी साँठी झड़ि के पड़ी, भलका रह्या सरीर। (सा० ४०-६-२)।

उ० भरम भलका दूरि करि सुमिरण सेल संवाहि। (सा० ४५-१-२)।

भलभल—क्रि०वि० (?)—भले ही। उ० रांम नांम सूं प्रीति करि, भल भल नींदौ लोग। (सा० १९-१-२)।

भलाई—सं० स्त्री० (हि० भला+ई (प्रत्य०)—उपकार, भलापन। उ० तामैं कहा भलाई। (प० ३११-४)।

भलाका—दे० 'भलका' (२)। (पा०सा० १४-७-२)।

भवंगमुषी—सं० पु० (सं० भुजंग+मुख)—साँप का मुख, सर्प मुँह। उ० कदली सीप भवंगमुषी, एक वूंद तिहुं भाइ। (सा० २५-२-२)।

भव—सं० पु० (सं०)—जन्म, उत्पत्ति। उ० गुड़ करि ग्यांन ध्यांन कर भडुवा, भव भाटी करि मारा। (प० ७२-३)।

भव चक्र—संसार चक्र। (पा० सा० १५-६-२)।

भव निधि—संसार की सम्पत्ति। (पा० प० ४०-४)।

भव बंधन—सांसारिक दुःख और कष्ट। उ० कहै कबीर भववंधन छूटै। (प० ७२-१०)।

भवसागर—संसार सागर। (पा०प० १४-६)।

भवन—सं० पु० (सं०)—महल, मकान। (पा० प० ५१-५)।

भवनपति राइ सं० पु० (सं० भवन पति+हि० राय)—जैनियों के प्रसिद्ध दस देवताओं के स्वामी, गृहस्वामी। उ० कबीर पूछै रांम कूं, सकल भवन पति राइ। (सा० ५७-१-१)।

भवनां—सं० पु० (सं० भवन)—मकान की ओर। उ० निराकार प्रभु आदि निरंजन कत रवंते भवनां। (प० १७४-४)।

भवर—दे० 'भंवर'। उ० कबीर भया है केतकी, भवर भये सब। (सा० ३०-११-१)।

भवरा, भ्रमरा—दे० 'भंवर'। उ० मन भ्रमरा तहां लुबधिया, जांणैंगा जन कोइ। (सा० ५-७-२)।

भवांनीं—सं० स्त्री० (सं० भवानी)—दुर्गा, पार्वती। (पा० प० १६३-३)।

भषत हैं—क्रि० स० (सं० भक्षण, प्रा० भक्खन, हि० भखना)—निगलते हैं। उ० फुंनिगा कैसैं गरड़ भषत हैं। (प० १४५-२)।

भषैं-भोजन करते हैं, भक्षण करते हैं। उ० पापी पूजा बैसि करि, भषैं मांस मद दोइ। (सा० २२-१३-१)।

भसम—सं० पु० (सं० भस्म्)—राख। उ० जरि भये भसम की कूरी रे। (प० ८५-४)।

भसमी—राख। (सा० २०-४-नो० ५)।

भांइ—सं० पु० (सं० भाव)—भाव, भावना के अनुसार। उ० तिणकैं ओल्है राम है, परवत मेरैं भांइ। (सा० ५३-७-१)।

भाँड़—सं० पु० (सं० भंड)—सत्यानाश, बरबादी। उ० सतगुर की कृपा भई, नहीं तौं करती भाँड़। (सा० १६-७-२)।

भांडा—सं० पु० (सं० भांड)—बरतन, पात्र। उ० दुनियां भाँडा दुख का, भरी मुहां मुह भूष। (सा० १२-४७-१)।

भांडै—बरतन। (पा० प० ७६-४)।

भांडौ संचै—(मुहा०)-पछताती है। उ० सती न संचै भांडौ। (प० १२६-४)।

भाँति—सं० स्त्री० (सं० भेद)—तरह, प्रकार। उ० बहुत भाँति लागे जड़ फूल। (प० ११-५)।

भांति भांति कौ—(मुहा०)-तरह-तरह के, अनेक प्रकार के। उ० मीठा खांण मधूकरी, भांति भांति कौ नाज। (सा० ३५-१२-१)।

भांन—सं० पु० (सं० भानु)—सूर्य, परमात्मा। उ० कहै कबीर भांन के प्रगटैं, उदित भया तम षींनां। (प० १६-८)।

भांनि—(पा० चौ० र० २६-१)।

भांनण—क्रि० स० (सं० भंजन, पं० मन्नना)—नष्ट करने में। उ० भांनण घड़ण संवारण संम्रथ, ज्यूं राषै त्यूं रहिये। (प० ३४-२)।

भांनन—(पा० प० ६६-२)।

भांनौं—नष्ट कर दूं, दूर कर दूं। उ० कलंक उतारी केसवा, भांनौं भरंम अंदेस। (सा० ५६-४-२)।

भांमिनीं—सं० स्त्री० (सं० भामिनी)—औरत, स्त्री। (पा० प० ३६-५)।

भांवता—सं० पु० (हि० भावना+ता (प्रत्य०)—प्रेमपात्र, प्रिय। उ० कबीर हरि का भांवता, झीणां पंजर तास। (सा० २६-४-१)।

भांवरि—सं० स्त्री० (सं० भ्रमण)—विवाह के समय परिक्रमा करना। उ० रांमदेव संगि भांवरि लैहूँ। (प० १-६)।

भाइ (१)—सं० पु० (सं० भाव, हि० भाव)—ढंग, रीति, भाँति। उ० एक बूंद तिहुं भाइ। (सा० २५-२-२)।
(२) सं०पु० (स० भ्राता, हि० भाई)—भाई। उ० रांम सनेही बाहिरा, ऊजड़ मेरे भाइ। (सा० ३०-२-२)।

भाई—दे०'भाइ' (२)। (पा०प० २०-१)

भाउ—दे०'भाइ' (१)। (पा०प० ८२-५)।

भाए—क्रि० अ० (सं० भान)—अच्छा लगे। उ० रांम चरन मनि भाए रे। (प० ७६-१)।

भाखि—क्रि० स० (सं० भाषण)-कहना। (पा० प० २१-५)।

भाग—सं० पु० (सं० भाग्य)—प्रारब्ध, किस्मत। उ० मोटे भाग कबीर के, तहां

रहे घर छाइ। (सा० १४-१०-२)।

भागवत—सं०पु० (सं०)-श्रीमद्भागवत। (पा० प० ६४-३)।

भागां—क्रि०अ० (सं० भाग, हि० भागना) —(१) टूटने पर। उ० दोइ जन भागां नां मिलैं, मुकताहल अरु मंन। (सा० ३७-३-२)।

(२) भागने से, पलायन करने पर भी। उ० भागां ही छूटै नहीं, भरि भरि मारै बांण। (सा० १६-६-२)।

भागि—क्रि० अ० (हि० भाजना)—भाग कर। (पा० प० ४१-६)।

भागी—भाग गई। (पा० र० १८-८)।

भागे—भाग गए। (पा० प० १४४-६)।

भागै—भागता है, दूर होता है। (पा०प० १३०-२)।

भाग्यौ—भाग गया। (पा० प० २३-४)।

भागु—दे० 'भाग'। (पा० प० १५४-४)।

भाजई—क्रि०अ० (सं० व्रजण,प्रा० वजण, हि० भाजना)—भागती, दूर होती। उ० ओसों प्यास न भाजई, जब लग धसै न आय। (सा० २-२१-२)।

भाजण लागी—भागने लगी। उ० पग तौ पाला मैं मिल्या, भाजण लागी सूल। (सा० २४-१-२)।

भाजन—भागने। (पा० सा० २५-२४-२)

भाजही—भागती है, दूर होती है। (पा० सा० १२-३-२)।

भाजा—भागा। (पा० प० ५६-३)।

भाजि—भागकर। उ० पाँच किसानां भाजि गये हैं। (प० २२२-१०)।

भाजिए—भागिए। (पा०चौ०र० १०-२)।

भाजिसी—भागोगे, दूर होगा। उ० काल्हि जु काटां भाजिसी, पहिली क्यूं न खड़ाउं। (सा० ५०-१-२)।

भाजै—भागता। उ० मैं वासा भाजै नहीं, हूण मतै निज दास। (सा० २४-२५-२)।

भाजौ—भागो। (पा० चौ० र० ३२-२)।

भाठी—सं०स्त्री० (सं० भ्राष्ट्र, प्रा० भट्ठ) —भट्टी, मक्का भूनने की जगह। उ० भव भाठी करि भारा। (प० ७२-३)।

भाड़ा—सं० पु० (सं० भाटक)–किराया। उ० की बेगारि न भाड़ा पाया। (प० ११०-२)।

भानु—दे० 'भांन'। सूर्य। (पा०प० ५२-६)।

भामिनी—दे० 'भांमिनीं'। उ० तन मन डस्यौ भुजंग भामिनी। (प० ३०८-५)।

भार—सं० पु० (सं०)—बोझ। उ० इतथैं सबै पठाइये, भार लदाइ लदाइ। (सा० १४-२-२)।

भारा—सं० पु० (१) (सं० भार)—(क) बोझ। उ० खर चंदन जैसैं भारा। (प० ३९-३)।

(२) एक परिमाण जो बीस पंसेरी का होता है। उ० रोमावली अठारह भारा। (प० ३४०-११)।

(२) (सं० भाटक, हि० भाड़ा)—किराया, भाड़ा। उ० भव भाठी करि भारा। (प० ७२-३)।

भारि—सं० पु० (सं० भार से)—बोझ से। उ० सल्य मूवा इहि भारि। (सा० २४-७-१)।

भारी—वि० (हि० भार से)—बोझिल, वजनी। उ० भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहूँ तौ झूठ। (सा० ८-१-१)।

भारू—सं० पु० (सं० भार से)—बोझ। (पा० प० ५५-३)।

भालि—(१) सं० स्त्री० (हि० भाले से) —भाले की गांसी या नोक। उ० बिन सर थोथी भालि। (सा० ४-२-१)।

(२) क्रि० स० (हि० भालना)—तलाश करके। (सा० ४६-२१-नो० ३९)।

भालै—सं० पु० (सं० भल्ल)—सांग, नेज। उ० वेध्यौ जीव बिरह कै भालै,

राति दिवस मेरे उर सालै। (प० २८७-३)।

भाव—दे० 'भाउ'। (पा० प० ४०-२)।

भावई—क्रि० अ० (हि० भावना)—अच्छा लगता है, रुचता है। उ० कामीं अमीं न भावई, विषई कौं ले सोधि। (सा० २०-१९-१)।

भावता—अच्छा लगता है। (पा० सा० २-२६-२)।

भावतु—अच्छा लगे। (पा० सा० १४-१-१)।

भावा—अच्छा लगा। (पा०चौ०र० ३३-२)।

भावे—अच्छा लगे। उ० जाहि भावे सो आइल्यो। (सा० ४५-२२-२)।

भावै—चाहे, अच्छा लगे। उ० भावै स्यंभ रहौ प्रमोधि। (सा० २०-२९-२)।

भाव भगति—सं०स्त्री० (सं० भावभक्ति) —सहज भाव-प्रधान भक्ति। उ० भाव भगति सूं हरि न अराधा। (र०चौ०-९)

भांवनीं (-री ?)—दे० 'भांमिनीं'। (पा० प० १२६-५)।

भाष—दे० 'भागां (१)—उ० प्रलै काल कहूं कितेक भाष। (प० ३५-३)।

भिखारी—सं० पु० (हि० भीख+आरी (प्रत्य०)—भिक्षुक, भिखमंगा। उ० तुम्ह साहिब हम कहा भिखारी। (प० ३३९-७)।

भिख्या—सं० स्त्री० (सं० भिक्षा)—योजना, भीख। (पा० सा० ४-३-२)।

भिदा—क्रि० अ० (हि० भिदना)—भिद गया, घुस गया। (पा०सा० १-२१-२)।

भिदै—भिदता है। (पा० सा० २२-१५-२)।

भिद्या—भिद गया। उ० कहै कबीर भीतरि भिद्या, सतगुर कै हथियारि। (सा० १-९-२)।

भिन—वि० (सं० भिन्न)—अलग, दूसरा, पृथक्। उ० गोप भिन है एकै दूधा, कासूं कहिये वांम्हन सूधा। (र० ५-६६)।

भिन्न—अलग। (पा० प० १४९-३)।

भिरै—क्रि० अ० (प्रा० भिडण)—टकराना, भिड़ना। उ० अह निसि काल चक्र सूं भिरै। (प० ३३०-२)।

भिला—सं० पु० (हि० भेंट, भेला)—भिड़ंत, मुलाकात। (पा० प० २३-३)।

भिष्ट—वि० (सं० भ्रष्ट)—नापाक, अपवित्र। (प० २५०-नो० ५०)।

भिष्या—दे० 'भिख्या'। उ० ता सुख थैं भिष्या भली, हरि सुमिरत दिन जाइ। (सा० ३०-४-२)।

भिसती—दे० 'भिस्त'। (पा० प० १८३-१०)।

भिस्त—सं० स्त्री० (फा० बिहिश्त)—वैकुण्ठ, स्वर्ग। उ० भिस्त न मेरे चाहिये, बाझ पियारे तुझ। (सा० ११-७-२)।

भिस्ति—दे० 'भिस्त'। (पा०प० ४२-६)।

भीं—अव्य० (हि० ही)—तौ भी। उ० सब घटि एक एक करि जांनैं, भीं दूजा करि मारैं। (प० ६२-६)।

भींगां—वि० (सं० अभ्यंजन ?)—आर्द्र हुआ, तर। उ० साषित सल का जेवड़ा, भींगां सूं कठ ठाइ। (सा० १७-११-१)।

भींगी—तर। (पा० प० १११-८)

भींनां—क्रि० अ० (हि० भीगना)—भीग गये। उ० प्रेम हरी जन भींनां। (प० १६-७)।

भी—अव्य० (हि० ही)—दे० 'भीं'। जरूर, फिर, विशेष। उ० वाजै वाव विकार की, भी मूवा जीवैं। (सा० १३-२३-२)।

भीख—सं० स्त्री०। दे० 'भिख्या'। (पा० सा० १-२९-२)।

भीगी—क्रि० अ० (सं० अभ्यंजन, हि० भीगना)—तर हो गई। उ० अंतरि भीगी आत्मां, हरी भई बनराइ। (सा०

१-३४-२)।

भीजि गया—क्रि० अ० (सं० अभ्यंजन, हि० भीगना)—तर हो गया। उ० भीजि गया सब अंग। (सा० १-३३-२)।

भीजै—दे० 'भीजि गया'। भीगता है। (पा० सा० २२-१२-२)।

भीतर—क्रि० वि० (सं० अभ्यंतर, प्रा० भित्तर)—अन्दर। (पा० प० १५-५)।

भीतरां—अन्दर, में। उ० कदली कुसुम दल भीतरां, तहां दस आंगुल का बीच रे। (प० ४-७)।

भीतरि—अन्दर। उ० हिरदा भीतरि आरसी, मुख देपा णां न जाइ। (सा० १३-८-१)।

भीति—सं० स्त्री० (सं० भित्ति)—भीत, दीवार। (सा० ४६-१८-नो० २७)।

भीरि—सं० स्त्री० (हि० भीड़)—कष्ट, दुःख। (पा० प० ४०-१०)।

भीरि—(पा० प० २५-११)।

भील—सं० पु० (सं० भिल्ल)—भील जाति का। उ० भील लुक्या वन बीझ मैं, ससा सर मारै। (प० १६१-६)।

भीप—दे० 'भिष्या'। भिक्षा, भीख। उ० घरि घरि मांगै भीप। (सा० १-२७-२)

भुंइ—सं० स्त्री० (सं० भूमि)—पृथ्वी। उ० क्या ले माटी भुंइ सूं मारै, क्या जल देह न्हवायें। (प० २५६-३)।

भुअंगा—दे०'भुवंगा'। (पा०प० ११५-६)

भुगंते—क्रि० स० (सं० भुक्ति, हि० भुगतना)—भोगते हैं। (पा० सा० ३०-११-१)।

भुगतन—भोगने के लिए। उ० भग भुगतन कूं कुरिष कहावा। (र०चौ०-७)

भुगत्या—भोगकर। उ० भुगत्या नरकहि जाइ। (सा० २०-२४-१)।

भुगुति—दे० 'भगति'। (पा० प० १०-१६)।

भुजंग—सं० पु० (सं०)—सांप। उ० तन मन डस्यौ भुजंग भामिनी, लहरी वार न पारा। (प० ३०८-५)।

भुजा—सं० स्त्री० (सं०)—बांह, हाथ। (सा० ३६-४-नो० ५)।

भुनगा—सं० पु० (अनु०)—पतिंगा, कीड़ा। (पा० प० १७६-६)।

भुयंग—दे० 'भुजंग'। (पा० सा० १५-२२-२)।

भुयंगम—भुजंग। (पा० सा० ४-२-२)।

भुलांन—क्रि० स० (हि० भूलना से)—गुम हो गया, भूल गया। (पा० र० ११-८)।

भुलांनां—भुला दिया। (पा० ६६-६)।

भुलांनीं—भुला दी। (पा० प० १३३-१०)।

भुलांनें—भूल गए। (पा०प० १८७-११)।

भुलाइ—गुम हो गया, खो गया। उ० आपण गया भुलाइ। (सा० ३-३३-२)।

भुलाइगा—भूल जाएगा। (पा० प० ७४-३)।

भुलानां—भूल गया, चूक गया, भरमा गया। उ० कागद लिखि लिखि जगत भुलानां। (प० ३४-६)।

भुलानि—भूला। (पा० र० ६-५)।

भुलांवां—सं० पु० (हि० भूलना से)—भुलावे में, धोखे में। उ० पड़्या भुलांवां गाफिलां, गये कुबुधी हारि। (सा० १२-२६-२)।

भुलावा—दे० 'भुलांवां'। (पा०सा० १५-५७-२)।

भुलावै—धोखा दे सकता है। उ० तिसहि भुलावै कौंण। (सा० ३८-६-२)।

भुवंग—दे०'भुजंग'। (पा०प० १७६-५)।

भुवंगम—उ० विरह भुवंगम तन वसै। (सा० ३-१८-१)।

भुवंगा—सांप। उ० चँदन भुवंगा वेठिया, तउ सीतलता न तजंत। (सा० २६-२-२)।

भुवन—सं० पु० (सं०)—जगत, लोक। (पा० प० १०५-६)।

भुसैं—क्रि० अ० (हि० भूँकना से भूसना) —भूँकें, बोलते रहें। उ० हस्ती चढि नहीं डोलिये, कूकर भुसैं जु लाय। (सा० ३५-१२-२)।

भूँका—क्रि० अ० (अनु०)—भूँ-भूँ या भौं-भौं शब्द किया। उ० दखिन कूँट जब सुनहां भूँका, तब हम सगुन विचारा। (प० २०-२)।

भूँचै—क्रि० स० (सं० भोग, हि० भूँजना) —भोग करता है। उ० इंद्री केरे बसि पड्या, भूँचै विषै निसंक। (सा० २०-२६-२)।

भूँजै—भोगता है। (पा० सा० ३०-२४-२)।

भू—सं० स्त्री० (सं०)—पृथ्वी। (पा० प० १७५-६)।

भूका—दे० 'भूँका'। ध्वनि करता है, शब्द करता है। उ० पंचपरजारि भसम करि भूका, कहै कबीर-सो लइसैं लंका। (प० २०६-५)।

भूख—सं० स्त्री० (सं० बुभुक्षा)—क्षुधा, खाने की इच्छा। उ० तब भवरहि लागी अधिक भूख। (प० ३८८-६)।

भूखन—दे० 'भूषन'। (पा० प० ५७-५)।

भूखा—वि० (हि० भूख+आ (प्रत्य०)— क्षुधित। उ० भूखा भूखा क्या करै। (सा० ३५-२-१)।

भूत—सं०पु० (सं०)-प्रेत, जिन्न, शैतान। उ० ते घर मड़हट सारषे, भूत बसै तिन मांहि। (सा० ३०-३-२)।

भूपति—सं० पु० (सं०)—राजा। उ० तैं सब मांगे भूपति राजा, मोरे रांम धियाना। (प० २५०-४)।

भूभर—सं०स्त्री० (सं० भू०+भुर्ज, हि० भूभल)—भूभुरि, गर्म धूल। उ० भूभर धांम उहार न छावा। (प० ६०-७)।

भूमि—सं०स्त्री० (सं०)-पृथ्वी, जमीन। (पा०प० ६०-२)।

भूल—क्रि० स० (हि० भूलना से)—भूल कर। (पा०प० ७५-५)।

भूलउ—भूलो, विस्मृत करो। (पा० प० १६०-५)।

भूलहु—भूलो। (पा० प० १८५-१)।

भूला—भूल गया। उ० एक न भूला दोइ न भूला, भूला सब संसार। (प० १६८-११)।

भूलि गया—विस्मृत कर गया। उ० भूलि गया यहु देस। (सा० ५-२०-२)।

भूलि गये—भूल गये, बिसार गये। उ० गये राम गुण भूलि। (सा० १२-२८-१)।

भूली—ध्यान न किया, भूल गई। उ० भोलैं भूली खसम कै बहुत किया बिभचार। (सा० ३६-३-१)।

भूले—भूल गए। (पा० प० ६८-२)।

भूलैं—भूलकर। (पा० र० १०-५)।

भूलौ—भूलते हो। (पा० प० ३-७)।

भूल्यौ—भूल गए। उ० जब दस मास उरध मुखि होते, सो दिन काहे भूल्यौ। (प० २४१-२)।

भूष—सं० स्त्री० (१) (हि० भूसा)— भूसी। उ० भरी मुहां मुह भूष। (सा० १२-४७-१)।

(२) (सं० बुभुक्षा)—भूख। उ० भूष न मांग स्वाद। (सा० २०-२३-२)।

भूषन—सं० पु०। (सं० भूषण)—आभूषण, अलंकार। उ० जैसैं बहुकंचन के भूषण, ये कहि गालि तवांवहिगे। (प० १५०-५)।

भूसी—दे० 'भूष' (१)। (पा० सा० २४-६-१)।

भेंटिए—क्रि०स० (सं० भिद् =भिड़ना)- भेंट कीजिए। (पा० प० १०-६)।

भेंटिया—गले लगाया, आलिंगन किया। उ० अंक भरे भरि भेंटिया, पाप सरीरौं

जांहि। (सा० २८-६-२)।

भेटत—भेंटते हुए। उ० प्रभु भेटत आप गंवाया। (प० २८२-८)।

भेटहौं—भेंट करेंगे। (पा०सा० १४-२-२)

भेटिए—भेंट कीजिए, गले लगाया। (पा० सा० ४-२०-२)।

भेटिया—आलिंगन किया, भेंटा, मिला। उ० अंक भरे भरि भेटिया, मन मैं नाहीं धीर। (सा० ५-२५-१)।

भेटिये—भेंट कीजिए, आलिंगन कीजिए। उ० अंक माल दे भेटिये, मांनो मिला गोपाल। (सा० ३०-६-२)।

भेटियैं—मिलना चाहिए। उ० सति परमानंद भेटियैं जाई। (र० ४-६१)।

भेटीले—भेंट कर ले। (पा०प० ११५-६)

भेट्यौ—भेंट किया। (पा० प० ४४-२)।

भेंड़—दे० 'भेड़'। (पा० प० १७४-४)।

भेउ—दे० 'भेऊ'। (पा०प० ४८-६)।

भेऊ—सं० पु० (सं० भेद)—रहस्य, मर्म। उ० कोई न लखई, वाका भेऊ। (र० ब० -१५)।

भेख—दे० 'भेष'। (पा० प० १७५-१)।

भेड़—सं० स्त्री० (सं० भेष)—गाडर। (प० १२७-नो०-१३०)।

भेद—सं० पु० (सं०)—भेद, रहस्य, प्रवेश। उ० पूंछ ज पकड़ै भेद की, उतरया चाहै पार। (सा० १७-२०-२)।

भेदहि—भेद से। (पा०चौ०र० २६-१)।

भेदा—भेद। (पा० प० ७-१)।

भेदी—भेदिया। (पा०सा० १५-८७-२)।

भेदिया—क्रि० स० (हि० भेदन)—बेधता है। बेध दिया। उ० जिहि सर मंदल भेदिया। (सा० ५-२१-२)।

भेदै—भेदता है। (पा० प० १३८-३)।

भेदैं—(१) भेदता है, घुसाता है। उ० चंदन बास भेदैं नहीं। (सा० ५५-११-२) (२) क्रि० अ० (हि० भिदना)—घुसती है, भिदती है। (सा० १७-१३-नो०)।

भेद्या—क्रि० स० (हि० भेदन)—बिधा गया। उ० भीतरि भेद्या नांहि। (सा० १७-१३-१)।

भेरा—सं०पु०(सं०वेष्ट,हि०वेड़ा)—नौका-समूह। उ० भेरा देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पड़े फरंकि। (सा० १-२५-२)।

भेरि—सं० स्त्री (सं० भेरी)—बड़ा ढोल, नगाड़ा, दुंदुभी। उ० इहि बनि बाजै मदन भेरि रे, उहि बनि बाजै तूरा रे। (प० ७६-६)।

भेरी—सं० पु० (हि० भेंट)—मुलाकात, सत्संग। उ० हरि भगतिन की भेरी रे। (प० ८५-५)।

भेला—सं० पु० (सं० वेष्ट, हि० वेड़ा, भेरा)—जहाज, नौका-समूह। उ० भेला पाया श्रम सौं, भौ सागर के मांहि। (सा० ३-४३-१)।

भेलिसी—क्रि० स० (हि० भेला, भिडंत से)—आक्रमण करेगा, भिड़ेगा। उ० जम राणौं गढ़ भेलिसी, सुमिरि लै करतार। (सा० १२-७-२)।

भेव—दे० 'भेऊ'। उ० ता मन का कोइ जानैं भेव। (प० ३३-५)।

भेष—सं० पु० (सं० वेष)—स्वांग, रूप, पहनावा। उ० कबीर माला मन की, और संसारी भेष। (सा० २४-६-१)।

भेषर—कृत्रिम पहनावा। उ० करि बहु भेषर जनम गंवायौ। (प० २७८-२)।

भेषां—रूप में, भेस में। उ० जिहि जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराउं। (सा० ३-४१-२)।

भैं—सं० पु० (सं० भेद से)—भेद, रहस्य। उ० सागत ही मैं मिल गया, पड़्या कलेजै छेक। (सा० १-७-२)।

भैंसा—सं०पु० (सं० महिष)—भैंसा। (पा० प० ११६-५)।

भैंसा—भैंसा। उ० पहरि चोल नांगा दह

नाचै, भैंसा निरति करावै। (प० १२-४)।

भैं—सं० पु० (सं० भय)—भय। उ० भैं भैं जनमि जनमि दुख दीन्हां। (प० ६६-३)

भैंभीत—वि० (सं० भयभीत)—डरा हुआ। उ० इत भैंभीत डरौं जम दूतनि, आये सरनि तुम्हारी। (प० २६६-७)।

भैंभूता—डरा हुआ। उ० मैं जाग्या विषहर भैंभूता। (र० ३-५६)।

भैरौं—सं० पु० (सं० भैरव)—भयानक शब्द। (पा० प० १४२-६)।

भैंला—क्रि० अ० (दे० 'भई'+ला)—हुआ। (पा० प० १६६-३)।

भोइन—सं०पु० (भोगी)—मालिक, निर्द्वन्द्व भोग करने वाला शासक या अधिकारी। उ० भागे भरम भोइन भए भारी। (प० १६८-४)।

भोग—सं० पु० (सं०)—सुख विलास। उ० किंवा जोग कि भोग। (प० ५-११)।

भोगई—क्रि० अ० (सं० भोग, हि० भोगना)—भुगताता है, भोगता है। उ० पूरी किनहूं न भोगई, इनका इहै विजोग। (सा० १६-३-२)।

भोगन—भोगने के लिए। (पा०र० १-५)

भोगिया—अनुभव किया, भोगा। (सा० १२-२३-नो०-३०)।

भोग लगाइ—क्रि० स० (हि० भोग+लगाना)—अर्पण करके। उ० ठाकुर ले पाटै पौढ़ावा, भोग लगाइ अरु आपै खावा। (र० चौ०-२६)।

भोगी—सं० पु० (सं० भोगिन्)—भोगने वाला। उ० संतौ सेवा करौ रांम की, औ न दूजा भोगी रे। (प० ७१-२)।

भोज—सं० पु० (सं०)—प्रसिद्ध राजा भोज। उ० वलि विक्रम भोज ग्रंस्टा। (प० २६६-१३)।

भोजन—सं० पु० (सं०)—खाने की सामग्री। उ० जिहि घरि भोजन वैठि खाऊँ। (प० २५१-२)।

भोजनु—(पा० प० १६२-२)।

भोमि—सं० स्त्री० (सं० भूमि)—पृथ्वी। उ० पड़ि गई भोमि विकार। (सा० २५-१-१)।

भोयन—दे० 'भोजन'। उ० भस्म भोयन गयौ छूटी। (प० २८१-३)।

भोरा—(१) सं० पु० (सं० विभावरी, हि० भोर)—प्रातः काल। उ० चारि पहर निस भोरा, जैसें तरवर पंखि वसेरा। (प० १०३-३)।

(२) वि० (हि० भोला)—सीधा, सरल। उ० लोका मति के भोरा रे। (प० ४०२-१)।

भोरै—वि० (हि० भोला)—सहज, सरल, सीधे। (पा० प० ७७-६)।

भोल—सं० पु० (सं० भ्रम, हि० भोर)—भ्रम, धोखा। उ० सतगुर मिल्या त का भया जे मन पाड़ी मोल। (सा० १-२४-१)।

भोलिभोलि—क्रि० स० (हि० भोर+अला (प्रत्य०)—भ्रम में डाल डाल कर। उ० अग्यांनीं पुरिष कौं भोलि भोलि खाई। (प० ३३२-२)।

भोलै—सं० पु० (सं० भ्रम)—भूल से, धोखे से। उ० भोलै भूली खसम कै वहुत किया विभचार। (प० ३६-३-१)।

भौंदू—वि०(हि०वुद्धू)—वेवकूफ,मूर्ख,भोला-भाला। उ० कहै कवीर चेतहु रे भौंदू, वोलनहारा तुरक न हिंदू। (प० ५६-५)

भौ—सं० पु० (सं० भव)—जगत, संसार। उ० भौ भ्रमत अनेक जन्म गया, तुम दरसन गोव्यंद छिन न भया। (प० ११६-३)।

भौकत जाई—क्रि०अ० (अनु०)—भौं भौं करता जाता है। उ० वो नींदै वौ भौकत जाई। (प० २०१-४)।

भौजलि—सं० पु० (सं० भव+जाल)—भौ सागर। उ० तो मैं वहुरि न भौजलि

आंऊंगा। (प० ३१-१)।

भौ सागर—सं० पु० (सं० भव-सागर)–समुद्र रूपी संसार, माया। उ० भैला पाया श्रम सौं, भौ सागर के मांहि। (सा० ३-४३-१)।

भौहारी—वि० (सं० भवहारिन्)–आवागमन छुड़ाने वाला। उ० तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर, भगत बछल भौ-हारी। (प० १६१-८)।

भ्यंन—वि० (सं० भिन्न)–अलग, अन्य। उ० भ्रिग्री कीट भ्यंन नहीं कीन्हा। (र० २-४३)।

भ्रंमत—क्रि०अ० (सं० भ्रम से)–घूम-घूम कर, भटक कर। (पा०प० १५४-३)।

भ्रमत–उ० भौ भ्रमत अनेक जन्म गया। (पा० ११६-३)।

भ्रंमि—सं० पु० (सं० भ्रम)–धोखे में, भ्रम में। उ० भ्रंमि भूले नर आवैं जाहीं। (र० २-२४)।

भ्रंमियां—क्रि० अ० (सं० भ्रम)–धोखा खाया, भूल गये। उ० थाली मुला भ्रंमियां, चल्या दुनीं कै साथि। (सा० २२-७-१)।

भ्रंम्यौ—दे० 'भ्रम्य'। घूमा फिरा।(सा० ५३-६-१)।

भ्रम—सं० पु० (सं०भ्रम)–धोखा। (पा० प० ५२-२)।

भ्रमजार—भ्रमजाल। (पा०र० १६-८)।

भ्रमनां—क्रि० अ० (सं० भ्रमण)–घूमना। (पा० प० १०१-७)।

भ्रमि भ्रमि—क्रि० अ० (सं० भ्रम से)—भटक-भटक कर। उ० माया दीपक नर पतँग, भ्रमि भ्रमि इवैं पड़ंत। (सा० १-२०-१)।

भ्रमु—दे० 'भ्रम'। (पा०प० १६०-४)।

भ्रमे—क्रि० अ० (सं० भ्रमण)—घूमे। (पा० प० २०-७)।

भ्रम्य—क्रि० अ० (सं० भ्रमण, हि० भ्रमना)—घूम-फिर कर। उ० भ्रम्य भूलि परचौ भव सागर, कछू न बसाइ बसोधरा। (प० ११६-४)।

भ्रांति—सं० स्त्री० (सं०)—भ्रम से, धोखे से, भूल से। उ० हरि दासनि की भ्रांति करि, केवल जमपुरि जांहि। (सा० २२-१४-२)।

भ्रिग—सं०पु० (सं० भृङ्ग)—भौंरा, एक कीड़ा। (पा० प० १-२)।

भ्रिगी—सं० स्त्री० (सं० भृंगी)–बिलनी नामक कीड़ा, जो और कीड़ों को भी अपने समान बना लेता है। उ० चोखा रांम नांम मनि लीन्हां, भ्रिगी कीट भ्यंन नहीं कीन्हां। (र० २-४३)।

भ्रिग—दे० 'भ्रिग'। कीड़ा-विशेष। उ० व्यंद भाव भ्रिग तत जंत्रक, सकल सुख सुखकारी। (प० १७२-३)।

भ्वैं—सं० स्त्री० (सं० भूमि, हि० भुई)–भूमि, पृथ्वी, जमीन पर। उ० काल्हि परचूं भ्वैं लेटणां, ऊपरि जामैं घास। (सा० १२-१०-२)।

म

मंगल—सं० पु० (सं०)—मंगलगान, उत्सवों पर गाए जाने वाले गाने। उ० उंदरी बपुरी मंगल गावैं, कछू न एक आनंद सुनावै। (पा० १२-६)।

मंगलाचार—सं० पु० (सं०)–मंगलाचरण, किसी शुभ कार्य के आरम्भ में उसकी निर्विघ्न समाप्ति के लिए की जाने वाली ईश्वर प्रार्थना। उ० दुलहिनी गावहु मंगलचार। (प० १-१)।

मंगलवार—सं० पु० (सं०)—मंगल के

दिन। उ० मंगलवार ल्यौ मांहींत, पंच-लोक की छाड़ौ रीत। (प० ३६२-६)।

मंगाऊं—क्रि० स० (हि० माँगना से)—मँगवाता हूँ। (पा० प० ४-६)।

मंगावै—मँगवाओ। उ० कहै कबीर रघुनाथ सू, मतिर मंगावै मोहि। (सा० ३५-१५-२)।

मंछ—सं० पु० (सं० मत्स्य)—मछली। उ० वहती सलिता रहि गई, मंछ रहे जल त्यागि। (सा० ४-६-२)।

मंछर—सं० पु० (सं० मत्सर)—डाह, जलन। उ० काम क्रोध मोह मद मंछर, काटि काटि कस दीन्हां। (प० १५५-४)

मंछला—सं० पु० (सं० मत्स्य)—मीन, मछली। उ० वार समंद में मंछला केता वहि वहि जाँहि। (सा० २०-५-२)।

मंछी—सं० स्त्री० (सं० मत्स्य, प्रा० मच्छ)—मछली, कुंडलिनी। उ० देखि कवीरा जागि, मंछी रूपां चढ़ि गई। (सा० ४-१०-२)।

मंजत—दे० 'मांजत'। (प० २६२-६)।

मंजन—सं० पु० (सं० मज्जन)—स्नान। उ० त्रिवेंणी विभूति करैं मन मंजन, जन कवीर प्रभू अलप निरंजन। (प० २०४-४)।

मंजन करै—क्रि० स० (सं० मज्जन+करना)—माँजते हो, साफ करते हो। उ० मंजन क्या करै, कपड़ धोइये धोइ। (सा० १२-५३-१)।

मंजन्य—सं० पु० (सं० मज्जन)—स्नान। उ० जल कै मंजन्य जो गति होई, मैंनां नित ही न्हावै। (प० ३४५-२)।

मंजसि—दे० 'मांजसि'। (पा० २७७-१)।

मंजार—सं० स्त्री० (सं० मार्जार)—बिल्ली। (पा० प० ६-४)।

मंजारी—दे० 'मंजार'। बिल्ली। उ० या मंजारी मुगध न मानैं, सब दुनियां डहकाई। (प० ६७-३)।

मंजूरी—सं० स्त्री० (फा० मजदूरी)—मजदूरी। उ० अनत नांव गिनि लई मंजूरी, हिरदा कवंल मैं राखी। (प० २८८-३)।

मंजूसा—सं० पु० (सं० मंजूषा)—मुद्रा, पत्थर। उ० मूंड़ मुड़ाइ फूलिका वैठे, काननि पहरि मंजूसा। (प० १३४-३)।

मंझ—वि० (सं० मंद)—मूर्ख, अज्ञानी। उ० वगुला मंझ न जांणई, हंस चुणे चुणि खाइ। (सा० ४६-२-२)।

मंझधारा—सं० स्त्री० (सं० मध्य+धारा)-वीच धार में। (पा०प० ३-६)।

मंझा—वि० (सं० मध्य, पा० मज्झ)—वीच, मध्य। उ० पंच चोर गढ़ मंझा, गढ लूटैं दिवसर संझा। (प० २६२-२)

मंझारं—दे० 'मंझारि'। मध्य। (पा० प० ११५-५)।

मंझारि—अव्य० (सं० मध्य, पा० मज्झ, हि० मांझ)—में, वीच, मध्य। उ० कांमणि काली नागणीं, तीन्यूं लोक मँझारि। (सा० २०-१-१)।

मंझि—वि० (सं० मध्य, प्रा० मज्झ)—मध्य के, वीच के। उ० मांइ विड़ाणी बाप विड़, हम भी मंझि विड़ांह। (सा० १२-५६-१)।

मंझैं—मध्य में। उ० सोलह मंझैं पवन झकोरैं, आकासे फल फलिया। (प० १६६-६)।

मंझै—मध्य में। (पा० प० ११२-६)।

मंड—दे० 'मंडन'। (पा० प० १३०-७)।

मंडन—सं० पु० (सं०)—सजाना, सँवारना, वनाना। (पा० प० १७६-३)।

मंडप—सं० पु० (सं०)—चंदोवा, शामियाना। उ० पंच जनां मिलि मंडप छायौ, तीनि जनां मिलि लगन लिखाई। (प० २२६-३)।

मंडल—सं० पु० (सं०)—सारा मंडल, नक्षत्र प्रदेश। उ० जिहि सर मंडल

भेदिया, सोसर लागा कान। (सा० ५-२१-२)।

मंडलि—दे० 'मंडल'। (प० ४११-४)।

मंडलिया—सं० स्त्री० (सं० मंडली)—समाज, गोष्ठी, जमाअत। उ० सवथैं नींकी संत मंडलिया, हरि भगतिन कौ मेरौ रे। (प० ८५-५)।

मँडाण—सं० पु० (हि० मढ़ी)—बड़ी कोठरी, कमरा। उ० कवीर थोड़ा जीवणां, माड़े वहुत मँडाण। (सा० १२-५-१)।

मंडान—दे० 'मँड़ाण'। (पा० सा० १५-४३-१)।

मंडित—वि० (सं०)—भरा हुआ, सजाया हुआ। (पा० प० १३०-७)।

मंत (१)—सं० स्त्री० (सं०)—परामर्श, सलाह। उ० कवीर राम भजइ लै, जिभ्या सौं करि मंत। (सा० २-३०-१)।

मंत (२)—दे० 'मंत्र'। गायत्री आदि वैदिक वाक्य, मंत्र। (पा०प० १०१-४)।

मंत्र—सं० पु० (सं०)—प्रभावोत्पादक वैदिक वाक्य। उ० विरह भुवंगम तन बसैं, मंत्र न लागै कोइ। (सा० ३-१८-१)।

मंत्रेला—वि० (सं० मंत्रिल)—जिसके निमित्त मंत्र पढ़ा जाए। उ० आपैं मंत्र आपैं मंत्रेला, आपैं पूजै आप पूजेला। (र० वा०-७३)।

मंद—वि० (सं०)—मूर्ख, शिथिल। उ० अति आतुर ऊदै किया तऊ दिष्टि नहीं मंद। (सा० १-१८-२)।

मंदर—दे० 'मंदिर'। मकान, मंदिर। उ० ऊँचा मंदर धौलहर, माँटी चित्री पौलि। (सा० ४६-१८-१)।

मंदरिया—दे० 'मंदला'। एक प्रकार का वाजा। (पा० प० ५०-२)।

मंदला—सं० पु० (सं० मंडल, हि० मंदरा)—एक प्रकार का वाजा। उ० सुंनि मंडल में मंदला वाजै, तहाँ मेरा मन नाचै। (प० ७२-७)।

मंदलिया—दे० 'मंदला'। मंदला बजाने वाला। उ० धौल मंदलिया वैल रबावी, कऊवा ताल बजावै। (प० १२-३)।

मंदांनीं—क्रि० अ० (सं० मंद+आना (प्रत्य०)—कम पड़ गई। उ० गया क्रोध मन भया जु पावस, कांम पियास मंदांनीं। (प० ४०१-९)।

मंदा—दे० 'मंद'। खराब। उ० कौन भला कौन मंदा। (प० ५१-४)।

मंदिर—सं० पु० (सं०)—घर, मकान, मंदिर। उ० बाहरि रहे ते ऊबरे, भीगे मंदिर माँहि। (सा० १६-२३-२)।

मंदिल—दे० 'मंदिर'। कबीर सब जग हँढ़िया, मंदिल कंधि चढ़ाइ। (सा० ३७-१०-१)।

मंदे—दे० 'मंद'। निकृष्ट, खराब। (पा० प० १८५-४)।

मंन—दे० 'मन'। चित्त। उ० पंच सँगी पिव पिव करैं, छठा जु सुमिरे मंन। (सा० २-७-१)।

मँहगा—दे० 'महंगा'। (प० ७१-८)।

मकड़ी—सं० स्त्री० (सं० मर्कटक)—मकड़ी। उ० मकड़ी धरि माषी छछि हारी, मास पसारि चील्ह रखवारी। (प० ८०-३)।

मका—सं० पु० (अ० मक्का)—अरब का एक प्रसिद्ध नगर जो मुसलमानों का सबसे बड़ा तीर्थ स्थान है। उ० मन करि मका कविला करि देही, बोलनहार जगत गुर येही। (प० ६१-३)।

मक्के—दे० 'मका'। मक्का, मुसलमानों का तीर्थ स्थान। (पा० प० १९३-४)।

मग—सं०पु० (सं० मार्ग)-रास्ता, राह। (पा० प० १५-३)।

मगन—वि० (सं० मग्न)—लीन, डूबा हुआ। उ० उन्मनि चढया मगन रस

पीवै, त्रिभवन भया उजियारा। (प० ७२-२)।

मगरमच्छ—सं० पु० (हि० मगर+मच्छ) —मगर नाम का जल-जंतु। उ० दिन इक मगरमच्छ लै खैहै, तव को रखिहै वंधन भाई हो। (प० ७७-६)।

मगरी—सं० स्त्री० (?)–लड़कियाँ, मकराकृत एक काष्ठ-खण्ड। उ० मगरी तर्जौ प्रीति पापें सूँ, डांडी देहु लगाइ। (प० २२-३)।

मगहर—दे०'मगहरि'। (पा०प० ४६-४)।

मगहरि—सं० पु० (सं० मगध, हि० मगहर)—एक स्थान-विशेष। उ० हरि कौ दास मरै मगहरि, सेन्यां सकल तिराई। (प० ३४५-७)।

मघ—सं० पु० (सं० मग)–रास्ता, मार्ग, मग। उ० तहां न फिरि मघ जोइये, सनकादिक मिलिहैं साथि रे। (प० ४-१२)।

मचाइ—क्रि० स० (हि० मचना का सक० रूप)—आरम्भ हुआ या किया। उ० दरिया पारि हिंडोलनां, मेल्या कंत मचाइ। (सा० ५२-५-१)।

मचाई—उ० ग्यांन पड़ग गहि काल सिरि, भली मचाई मार। (सा० ४५-२७-२)।

मची—क्रि० अ० (अनु०)—फैलना, मच गई। (पा० प० १४४-५)।

मच्छ—सं० स्त्री० (सं० मत्स्य)—मीन, मछली। (पा० प० १५७-४)।

मछ—सं०पु० (सं० मत्स्य)—मत्स्यावतार, विष्णु का एक अवतार। उ० गंडक सालिकरांम न कोला, मछ कछ ह्वै जलनित डोला। (र० वा०-५५)।

मछर—दे० 'मंछर'। जलन, डाह। उ० मेरी मेरी दुनियां करते, मोह मछर तन धरते। (प० १०२-१)।

मछरी—दे०'मछली'। (पा०प० ११६-४)

मछली—सं० स्त्री० (सं० मत्स्य, प्रा० मच्छ)—मछली, मीनु, कुंडलिनी। उ० जल मैं स्यंध जु घर करै, मछली चढ़ै खजूरि। (सा० ५-४६-२)।

मछा—सं० पु० (सं० मत्स्य)--मछली पुल्लिग। उ० महरू मछा मारि न जांनै, गहरै पैठा धाई हो। (प० ७७-५)।

मछिका—सं० स्त्री० (सं० मत्स्य)--मछली। उ० वोछै जलि जैसै मछिका, उदर न भरई नीर। (प० ११९-६)।

मजकण—सं० पु० (अ० मग्ज, हि० मगज)—गिरी, गूदा। उ० विषै विलंवी आत्मां, ताका मजकण खाया सोधि। (सा० २०-२०-१)।

मजलसि—सं० स्त्री० (अ० मजलिस)—सभा, दरवार, महफिल। उ० मजलसि दूरि महल को पावै। (प० ३३९-२)।

मजलिसि—दे० 'मजलसि'। (पा० प० ४२-२)।

मज्जनि—दे० 'मंजन'। स्नान। (पा० प० ८४-५)।

मज्जनु—स्नान। (पा० प० ११५-४)।

मझार—क्रि० वि० (हि० मज्झ+आर (प्रत्य०)—वीच में। (पा०प० १४४-४)

मझारी—मध्य में, वीच में। (पा० प० १५१-१)।

मटका—सं० पु० (हि० मिट्टी+क (प्रत्य०)—मिट्टी का वडा घड़ा। उ० ल्यौकी लेज पवन का ढीकू, मन मटका ज वनाया। (प० २१४-५)।

मटकी—उ० ता मटकी मैं पवन समोइ। (पा० प० ३५४-३)।

मटकावै—क्रि० स० (सं०√मठ् से मटकाना)—मटकाता है। (पा० प० १६५-३)।

मटिया—सं० स्त्री० (हि० मिट्टी से)—मिट्टी से निर्मित पदार्थ। (पा० प० १००-२)।

मट्की—दे०'मटकी'। (पा०प० १२७-३)

मठ—सं० पु० (सं०)—रहने का स्थान, निवास-स्थान। उ० अनहद बेन बजाइ करि, रह्या गगन मठ छाइ। (प० १२१-३)।

मठछार—सं० पु० (यौ०-मठ+छार)—मिट्टी, राख। (पा० सा० २४-१-२)।

मठिया—सं० स्त्री० (हि० मिट्टी)—मिट्टी। उ० मुठी एक मठिया मुठि एक कठिया, संगि काहू कै न जाइ। (प० ३१५-२)।

मड़हट—सं० पु० (हि० मरघट)—मसान। उ० घर मड़हट सारषे, भूत बसै तिन मांहि। (सा० ३०-३-२)।

मड़ा—वि० (हि० मरना से)—मरा हुआ, मृत। उ० एक अचंभा देखिया, मड़ा काल कौं खाइ। (सा० ४१-४-२)।

मडा—मृतक। (सा० १२-१६-नो०-२३)।

मड़िहर—दे० 'मड़हट'। मसान। (सा० १३-२४-नो०-४७)।

मण—सं० पु० (सं० मणि)—चालीस सेर की एक तौल, मन। उ० नौ मण सूत अलूफिया, कबीर घर घर बारि। (सा० ३३-५-१)।

मत—सं० पु० (सं०)—सम्मति, राय। उ० स्वामी सेवक एक मत, मनही मैं मिलि जाइ। (सा० ४४-४-१)।

मतवारी—दे० 'मतिवारी'। मदमस्त। (पा० सा० १३५-५)।

मतवाला—वि० (सं० मत्त+हि० वाला)—मदमस्त। उ० सुइ पीवै बांम्हण मतवाला, फल लागा बिन बाड़ी। (प० १०-४)।

मतसर—सं० पु० (सं० मत्सर)—डाह, जलन। (पा० प० ५१-४)।

मता—दे० 'मत'। (पा० सा० २०-६-२)।

मति (१)—सं० स्त्री० (सं०)—इच्छा यह कि। उ० मति वै राय दयां करै, बरसि बुझावै अग्गि। (सा० ३-११-२)।

मति (२)—क्रि० वि० (सं० मा)—निषेधवाचक, न, नहीं, मत। उ० माया हमसौं यों कहना, तू मति दे रे पूठि। (सा० १६-२६-१)।

मतिर—दे० 'मति'। मत, नहीं। उ० कहै कबीर रघुनाथसू मतिर मंगावै मोहि। (सा० ३५-१५-२)।

मतिवारा—दे० 'मतवाला'। (पा० प० ५६-१)।

मतिवारी—वि० (सं० मत्त+वाली (प्रत्य०)—मदमस्त। उ० ईश्वर गौरी पीवन लागे, रांम तनीं मतिवारीं रे। (प० ७१-४)।

मतिसुंदर—सं० पु० (यौ० मति+सुंदर)—बुद्धिमान। (पा० प० १३५-८)।

मतिहींण—वि० (सं० मतिहीन)—मूर्ख, निर्बुद्धि। उ० कबीर इस संसार में, घणैं मनिष मतिहींण। (सा० १२-२४-१)।

मतिहींनीं—दे० 'मतिहींण'। (पा० सा० १६-१०-१)।

मतै (१)—सं० पु० (सं० मत)—(१) राय से, सम्मति से। उ० मन क मतै न चालिये, छाडि जीव की वांणि। (सा० १३-१-१)।

(२) ज्ञान करके, निश्चित सिद्धान्त करके। उ० अवधू ब्रह्म मतै घरि जाइ। (प० १७७-१)।

मतै (२)—क्रि० अ० (सं० मत+ना (प्रत्य०)—निश्चय करता है। उ० मैं वासा भाजैं नहीं, हूण मतै निज दास। (सा० २४-२५-२)।

मथिआ—दे० 'मथिया'। (पा० प० १५५-१६)।

मथित—क्रि० स० (सं० मंथन व मथन, हि० मथना)—बिलोते-बिलोते, ढूँढ़ते-ढूँढ़ते। उ० संकट सकति सकल सुख खोये, उदिध मथित सब हारे। (प० १६८-७)।

मथिया जाई—क्रि० स० (सं० मंथन या मथन)—रगड़ कर निकाला जा सकता

है। उ० विना जुगति कैसैं मथिया जाई, काष्टैं पावक रह्या समाई। (र० ४-५६)।

मथुरा—सं० स्त्री० (सं० मधुपुर)—कृष्ण से सम्बन्धित प्रसिद्ध तीर्थ स्थान। उ०मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांणि। (सा० २३-१०-१)।

मद—सं० पु० (सं०)—मद्य। उ० पापीं पूजा बैसि करि, भषैं मांस मद दोइ। (सा० २२-१३-१)।

मदक—सं० स्त्री० (हि० मद)—अफीम के सत से बनने वाला एक पदार्थ। (पा० प० ५१-६)।

मदन—सं० पु० (सं०)—कामदेव। उ० इहि वंनि वाजैं मदन भेरि रे, उहि वनि वाजैं तूरा रे। (प० ७६-६)।

मदसूदन—सं० पु० (सं० मधुसूदन)—भगवान। उ० माधव मदसूदन वनवारी। (प० ३७४-२)।

मदि—दे० 'मद'। (पा० प० ५१-७)।

मदिमाते–दे० 'मदुमाते'। मदमस्त। (पा० प० १६८-१)।

मदिरावल—वि० (हि० मदिरा+वाला)—नशीला, मदीला। उ० नीभर भरैं अमीं रस निकसै, तिहि मदिरावल छाका। (प० १५५-७)।

मदु—दे० 'मद'। मद्य। (पा०प०५१-२)।

मदुमाते—वि०(सं० मदमस्त)—मस्त, नशे में चूर। उ० भूमि कहा तुम्ह राते, क्या मदुमाते माया। (प० १०६-५)।

मद्धि—सं० पु० (सं० मध्य)—मध्य में, वीच में। (पा० सा० २०-८-१)।

मद्धिम—वि० (सं०)—मध्यम, मंदा। (पा० प० १८२-५)।

मद्धे—दे० 'मद्धि'। वीच में। (पा० प० ४३-३)।

मधकर – दे० 'मधुकर'। उ० कवीर मन मधकर भया, रह्या निरंतर वास। (सा० ५-६-१)।

मधि—सं० पु० (सं० मध्य)—वीच का भाग। उ० कवीर मधि अंग जे को रहै, तौ तिरतन लागैं वार। (सा०३१-१-१)।

मधिम—दे० 'मद्धिम'। उ० कहै कवीर मधिम नहीं कोई। (प० ४?-११)।

मधु—सं० पु० (सं०)—शहद। उ० मधुवा मधु ले जाई रे। (प० १२७-३)।

मधुकर—सं० पु० (सं०)—भँवरा। (पा० सा० ६-१६-१)।

मधुप—सं० पु० (सं०)—भँवरा। उ० घट घट महु के मधुप ज्यूं, पर-आतम ले चीन्हि। (सा० ३२-२-२)।

मधुपराइ—दे० 'मधुप'। भँवरा। (प० ३८८-८)।

मधुवा—सं० पु० (सं०)—मधु निकालने वाला। उ० मधुमापी धन संग्रहे, मधुवा मधु ले जाई रे। (प० १२७-३)।

मधुमाषी—सं० स्त्री० (सं० मधुमक्षिका)-मधुमक्खी। (प० १२७-३)।

मधुरी—वि० (सं० मधुर)—मीठी, जो क्लेशप्रद न हो। (पा० प० १६३-२)।

मधूकरी—सं० स्त्री० (सं० मधुकरी)—पकेपकाये अनाज की भिक्षा। उ० मीठा खांण मधूकरी, भांति भांति कौ नाज। (सा० ३५-१३-१)।

मध्य—सं० पु० (सं०)—वीच। (पा० सा० ८-१६-१)।

मन—सं०पु० (सं०)—चित्त में, अन्तः-करण में। उ० सत गुर मिल्या त का भया, जे मन पाड़ी मोल। (सा० १-२४-१)।

मनसा—मन से। उ० मनसा वाचा हरि हरि भाखें, गंध्रप सुत वड़ भागी। (प० २६६-६)।

मनहं—(सं० मन से)—मन में (पा० प० १३१-४)।

मनह—चित्त, मन। उ० मनह मनोर्थ छाड़ि दे, तेरा किया न होइ। (सा०

१३-२६-१)।

मर्नाहि—मन में। (पा०प० ८२-३)।

मनहि—मन को,चित्त को। उ० मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहि विलग। (सा० ५-१६-१)।

मनहुं—मन से। (पा० प० ६८-७)।

मनां—मन, चित्त। (पा० प० ७१-१)।

मनाह—मन को। उ० त्रिवेणी मनाह नहवाइए, सुरति मिलै जौ हाथि रे। (प० ४-११)।

मनि—मन में। (पा० प० २९-४)।

मनु—मन। (पा० प० १०-१)।

मनका रुचित—सं० पु० मन को रुचने अथवा अच्छा लगने वाला काम। उ० अब तौ ऐसी है पड़ी, मनका रुचित कीन्ह। (सा० ४५-१२-१)।

मनबंछित—वि० (मनवांछित)—मन द्वारा इच्छित। (पा० प० ४७-४)।

मनमथ—सं० पु० (सं० मन्मथ)—कामदेव। उ० मनमथ करम करै असरारा, कल पत बिंद घसै तिहि द्वारा। (र० ५-५४)।

मनमुखी—वि० (हि० मन+मुख्य) - मनचाही सिद्धि देने वाला। (पा० सा० २५-२२-१)।

मनमुषी—दे० 'मनमुखी'। मनचाही सिद्धि देने वाला। उ० माला पहरैं मनमुषी, तायैं कछू न होइ। (सा० २४-३-१)।

मनवां—सं० पु० (हि० मन)—चित्त। उ० कबीर सेरी साकड़ी, चंचल मनवां चोर। (सा० १३-४-१)

मनावउं—क्रि० स० (हि० मानना से) —स्वीकार कराओ, मनाओ। (पा० प० १८९-५)।

मनिखा—दे०'मनिषा'। मनुष्य। (पा०प० ६३-२)।

मनिष - दे० 'मनिषा'। मनुष्य। उ० कबीर इस संसार में, घणें मनिष मति हींण। (सा० १२-२४-१)।

मनिषा—सं० पु० (सं० मानुष)-मनुष्य, आदमी। उ० मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारंबार। (सा० १२-२४-१)।

मनिसा—वि० (सं० मानुष)—मनुष्य का, मनुष्य सम्बन्धी। उ० मनिसा जनम कौ एही लाहु। (प० ३४८-२)।

मनीं (१)—क्रि० स० (हि० मानना)-माना, सोचा। उ० नहीं गोब्यंद की संक मनीं। (प० ६६-४)।

मनीं (२)—सं० स्त्री० (सं० मणि)—धन, मणि। उ० खसम पिछांनि तरस करि जिय मैं, माल मनीं करि फीकी। (प० २५५-७)।

मनोरथ—सं० पु० (सं०)—अभिलाषा, वांछा। (पा० सा० २९-५-१)।

मनोर्थ—दे० 'मनोरथ'।—अभिलाषा। उ० मनह मनोर्थ छाड़ि दे, तेरा किया न होइ। (सा० १३-२९-१)।

मनैबूलो—क्रि० स० (हि० मानना का प्रे० रूप)—मनुहार करोगे, मनाओगे। उ० कबीरा कौं स्वामी पाइ परिकैं मनैंबूलो। (प० ३७६-६)।

ममता—दे० 'ममिता'। ममता का भाव (पा० प० २४२-५)।

ममां—सं० स्त्री० (फा० मामा)—माता, मां। उ०किसकी ममां चचां पुंनि किसका, पंगुड़ा जोइ। (प० १०२-३)।

ममिता—सं० स्त्री० (सं० ममता)—ममत्व का भाव, मोह, गर्व। उ० मन मार्‌या ममिता मुई, अहं गई सब छूटि। (सा० ४१-७-१)।

ममैं—हिन्दी वर्णमाला का 'म' अक्षर। 'राम' शब्द का 'म'। उ० बावन आषिर सोधि करि, ररै ममैं चित लाइ। (सा० १९-२-२)।

मयंक— सं० पु० (सं०मृगांक)—चन्द्रमा।

उ० व्रह्मा विष्णु अरु सुर मयंक, किहि किहि नहीं लावा कलंक। (प० ३८५-६)।

मरकट—सं० पु० (सं० मर्कट)—वानर (पा०प० ६७-६)।

मरघट—सं० पु० (सं० मर+घट)—श्मशान। उ० मरघट घाट खैंचि करि राखे। (प० २४१-८)।

मरजादां—सं० स्त्री० (सं० मर्यादा)—मान, गौरव। उ० लोक वेद कुल की मरजादा, इहै गलै मैं पासी। (प० १२९-५)।

मरण—दे० 'मरन'। (पा०प० १९७-४)।

मरणां—सं० पु० (सं० मरण)—मृत्यु, मौत। उ० मरणाँ मुइ आगैं खड़ा, जीवण का सव झूठा। (सा० ४६-२२-२)।

मरतां मरतां—क्रि०अ० (सं० मरण, हि० मरना)—मरते मरते, मृत्यु को प्राप्त हो होकर। उ० मरतां मरतां जग मुवा, औसर मुवा न कोइ। (सा० ४१-५-१)।

मरतौ—मरते। (पा०प० ४६-४)।

मरद—सं० पु० (फा० मर्द)—मनुष्य, आदमी। (पा० प० १७७-१३)।

मरदन—क्रि०स० (सं० मर्दन)—मसलने, मलने। उ० जहां उपज्या तहां फिरि रच्या रे पीवत मरदन लाग। (प० ७५-६)।

मरदनु—मर्दन करना। (पा० प० १५५-४)।

मरदै—मर्दन करता है। उ० काल चक्र का मरदै मांन। (प० ३३०-३)।

मरदां—दे० 'मरद'। पुरुष। उ० जेती औरति मरदां कहिये, सवमैं रूप तुम्हार। (प० २५९-१३)।

मरन—सं० पु० (सं० मरण)—मृत्यु, मौत। उ० सूरौ कहा मरन थैं डरौं, सती न संचै मांडौ। (प० १२९-४)।

मरनां (१)—मृत्यु, मौत। उ० कवीर ऐसैं मरि मुवा, ज्यूं वहुरि न मरनां होइ। (सा० ४१-५-२)।

मरनां (२)—क्रि० अ० (सं० मरण, हि० मरना)—वहुत अधिक कष्ट उठाना। उ० धंधा वहुत निहाइति मरनां। (प० ६९-२)।

मरनु—मृत्यु। (पा० प० ४६-५)।

मरनैं—मरने से। उ० जिस मरनैं थैं जग डरै, सो मेरे आनंद। (सा० ४५-१३-१)।

मरहिं—मरते हैं। उ० आपहिं आप वंधाइया, द्वै लोचन मरहिं पियास रे। (प० ५-४)।

मरहि—मर जाता है। (पा० प० १९६-८)।

मरहु—मर जाते हो। (पा० प० ७९-१)।

मराइ—मरती हो। उ० हौं तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यूं न मराइ। (सा० ४५-३८-१)।

मरि—मरकर, मृत होकर। उ० कवीर मरि मड़हट रह्या, तव कोइ न वूझै सार। (सा० ४१-३-१)।

मरिवे—मरना। (पा०सा० १४-२६-२)।

मरिवौ—मर जाना। उ० जीवन थैं मरिवौ भलौं, जौ मरि जानैं कोइ। (सा० ४१-८-१)।

मरिहूं—मरूँगा। उ० कव मरिहूं कव देखिहूं, पूरन परमांनंद। (सा० ४५-१३-२)।

मरिहैं—मरेंगे। उ० हरि न मरैं हंम काहे कूं मरिहैं। (प० ४३-४)।

मरिहै—मरेगा। (पा० प० १०६-१)।

मरिहौं—मरूँगा। (पा० प० १०१-८)।

मरी—मर गई। (पा० प० २-४)।

मरूंगा—मरूँगा। उ० आऊँगा न जांऊंगा, मरूँगा न जीऊँगा। (प० ३३१-१)।

मरेगा—दे० 'मरेगा'।

मरेणां—मरना। (र० १-टि० ८)।

मरैं—मरते हैं। उ० पांणी मांहैं घर करैं, ते भी मरैं पियास। (सा० ११-११-२)।

मरैंगे—मरेंगे। (पा० सा० १५-६६-१)।

मरैं—मृत्यु को प्राप्त होता है, सांसारिक जीवन से विरत हो जाता है। उ० आपा मेट जीवन मरैं तौ पावैं करतार। (सा० १-२६-३)।

मरैंगा—मर जाएगा, नष्ट हो जाएगा। उ० मारचा है जे मरैंगा, बिन सर थोथी मालि। (सा० ४-२-१)।

मरौं—मरूँ। (पा० सा० १६-५-१)।

मरम—सं०पु० (सं० मर्मन्)—(१) संधि-स्थान, मर्म-स्थल। उ० जतन कियां जीवैं नहीं, वणीं मरम की चोट। (सा० ४५-१६-२)।
(२) मर्म, रहस्य। (पा०प० १५०-१)।

मरमी—वि० (सं० मर्मन् से)—रहस्य जानने वाला। (पा० चौ०र० ३१-१)।

मरम्मकी—सं० पु० (सं० मर्मन्)—रहस्य की, भेद की अथवा मर्म अर्थात भीतर पहुँचने वाले। उ० लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा छांणि। (सा० ३-१६-२)।

मरवा—सं० पु० (सं० मरुव, हि० मरुआ)—वनतुलसी या बर्वरी की जाति के एक मरुआ नामक पौधे की पत्तियाँ। उ० दोनों मरवा चंपक फूला, तामैं जीव वसैं कर तूला। (र० ५-५२)।

मरहट—दे० 'मरघट'। श्मशान। (पा० प० ६८-८)।

मरुआ—दे० 'मरवा'। (पा० र० ६-४)।

मरोर—क्रि०स० (हि० मोड़ना से)—ऐंठ दिया, मरोड़ी। (पा०प० १६५-३)।

मल—सं० पु० (सं०)—(१) मैल। उ० भगति हजारी कपड़ा, तामैं मल न समाइ। सा० (२८-१३-१)।
(२) विष्ठा। उ० एक बूंद एकैं मल मूतर, एक चांम एक गूदा। (प० ५७-३)।

मलणि—सं० स्त्री० (हि० मलना)—मलना। उ० भारी मलणि कुँमार की, घणीं सहै सिरि लात। (सा० १२-२६-१)।

मलनां—वि० (सं० मलिन)—अपवित्र, अस्वच्छ। उ० काया मंजसि कौन गुनां, घट भीतरि है मलनां। (प० २७७-१)।

मलय—सं० पु० (सं०)—सफेद चंदन। (पा० सा० ४-२-२)।

मलयागिरि—मलय नामक पर्वत जो दक्षिण में है। (पा० प० १५७-५)।

मलि—क्रि० स० (सं० मलन)—मलकर, मसलकर। (पा० प० १०४-३)।

मलिक—सं० पु० (अ०)—राजा, अधीश्वर। उ० मीर मलिक छत्रपति राजा, ते भी खाये माया। (प० १२२-४)।

मलिमलि—दे० 'मलि'। मलमलकर। उ० जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैं गल मलि मलि न्हाइ। (सा० ६-७-१)।

मलींनां—कि० (सं० मलिन)—उदास। उ० आचार ब्यौहार सब भये मलींनां। (र० ४-७७)।

मलेछ—सं० पु० (सं० म्लेच्छ)—नीच। उ० सुद्र मलेछ वसैं मन मांहीं, आतम रांम सुचीन्ह्यां नाहीं। (प० १८२-४)।

मलै—क्रि० स० (सं० मलन)—मलता है। (पा० प० १६४-८)।

मसकरा—सं० पु० (हि० मसख़रा)—हँसोड़, विदूषक, ठट्ठेबाज। उ० लालच लोभी मसकरा, तिनकूँ आदर होइ। (सा० १७-८-२)।

मसकला—सं० पु० (अ०)—सिगलीगरों का हँसिया के आकार का एक औजार, जिससे रगड़कर धातुओं पर चमक लाते हैं। उ० सबद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करैं सोइ। (सा० ४०-३-२)।

मसकीन—क्रि० (अ० मिसकीन)—गरीब, दीन, भोला। उ० हम मसकीन खुदाई

बंदे, तुम्हारा जस मनि भावै। (प० २५५-२)।

मसखरा—दे० 'मसकरा'। हँसोड़। (पा० सा० २१-२०-१)।

मसतिकि—दे० 'मस्तक'। सिर। (सा० ३२-४-नो०-६)।

मसांणां—सं० पु० (सं० श्मशान)—मरघट। उ० काल्हि जु बैठा माड़ियां, आज मसांणां दीठ। (सा० ४६-१५-२)।

मसांणि—दे० 'मसांणां'। श्मशान। उ० तव कुल किसका लाजसी, जब ले धरचा मसांणि। (सा० १२-४६-२)।

मसांन–दे० 'मसांणां'। मरघट। उ० सती पुकारै सलि चढ़ी, सुनि रे मींत मसांन। (सा० ४५-३३-१)

मसांनां—दे० 'मसांन'। (पा० सा० १६-३६-२)

मसान—दे० 'मसांणां'। मरघट। उ० जिहि घटि विरहन संचरै, सो घट सदा मसान। (सा० ३-२१-२)।

मसानि—दे० 'मसांणि'। (पा० सा० १५-१८-२)।

मसि—सं० स्त्री० (सं०)—(१) स्याही, रोशनाई। उ० यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउं। (सा० ३-१२-१)।

(२) राख। उ० यह तन जालौ मसि करूं, ज्यूं धूवा जाइ सरग्गि। (सा० ३-११-१)।

(३) कालिमा, पाप। उ० जे मसि लागी सबै छुड़ावी, अब मोहि जिनि बहु रूपक छावी। (प० ७८-३)।

मसीति—सं० स्त्री० (फा० मस्जिद, हि० मसीत)—मसजिद। उ० चढ़ि मसीति एकै कहै, दरि क्यूं साचा होइ। (सा० २२-६-२)।

मस्ति—दे० 'मुष्टि'। मौन। (पा० प० ६१-४)।

मस्त—क्रि० (फा०)—मदपूर्ण, मत्त। (पा० प० ४-६)।

मस्तक—सं० पु० (सं०)—शिर। जब कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार। (सा० २-३-२)।

मस्तकि—शिर में, कपाल में। कहै कबीर जा मस्तकि भाग, नां जांनूं काहू देइ सुहाग। (प० ११८-४)।

महं—अव्य० (सं० मध्य)—में। (पा० प० १७७-७)।

महँगा—वि० (सं० महार्घ)—अधिक मूल्य पर विकने वाला। उ० कहै कबीर महारस महंगा, कोई पीवैगा पीवणहार रे। (प० ७१-८)।

महँगे—अधिक मूल्य पर। उ० नांन्हां काती चित दे, महँगे मोलि विकाइ। (सा० १२-५८-१)।

महँगै—(पा० सा० १४-२०-१)।

महतारी—सं० स्त्री० (सं० माता)—मां, जननी। उ० वाकी विधवा काहे न भई महतारी। (प० १२५-६)।

महतौ—सं० पु० (सं० महत्, हि० महता)—गाँव का मुखिया, सरदार। उ० खोटौ महतौ विकट बलाही, सिर कसदम का पारै। (प० २२२-७)।

महमहीं—क्रि० अ० (हि० महमह)—गमकी, सुगंधि देने लगी। उ० मुख मस्तूरी महमहीं, वांणी फूटी वास। (सा० ५-१४-२)।

महमही—दे० 'महमहीं'। गमकी। (पा० सा० ६-२३-२)।

महर—सं० पु० (सं० महत्)—आदर-सूचक शब्द जिसका प्रयोग विशेषतः भूस्वामियों के लिए किया जाता है। (पा० प० १५८-६)।

महरईये—सं० स्त्री० (हि० महर+आई (प्रत्य०)—श्रेष्ठता, प्रधानता। उ० जौ महाराज चाहौ महरईये, तौ नाथौ ए

महेसौ—दे० 'महेश'। शिव। उ० जाकौ भगत महेसौ रे। (प०१२७-८)।

महोबंती—सं० पु० (अ० मुहब्बत से)—प्रेमी, दोस्त। उ० माया मिलै महोबंती, कूड़े आखै बैन। (सा० ४३-१०-१)।

महौला—सं०पु० (अ०मुहेल, हि०महोला)—चकमा, धोखा। उ० दिया महौला जीव कूं, तब मड़हट करै बषांण। (सा० ४५-३५-२)।

मां—सं० स्त्री० (सं० मातृ)—माता, जननी। (पा० र० ५-२)।

मांइ—सं०स्त्री० (सं० मातृ या माता)—माँ, जननी। उ० मांइ विड़ाणी वाप विड़, हम भी मंझि विड़ांह। (सा० १२-५६-१)।

मांखी—दे० 'माषी'। मक्खी। (पा० प० ६८-५)।

माँग—सं०स्त्री० (सं० मार्ग ?)—सीमंत, सिर के बीच की रेखा जो वालों को विभक्त करती है। उ० वा माँग संवारें जीव कौं, वा नित उठि सुमिरै राम। (सा० ३०-६-२)।

मांग—(पा० सा० ४-११-२)।

मांगउं—दे० 'माँगौं'। (पा०प० १५५-१८)।

मांगण—दे० 'मांगन'। माँगना। उ० मांगण मरण समान है। (सा० ३५-१५-१)।

मांगन—सं० पु० (हि० माँगना)—माँगन का भाव। (पा० सा० ३२-१६-१)।

मांगनहारा—सं० पु० (हि० माँगना + हारा)—माँगने वाला। (पा०प० ३-१)।

मांगहि—क्रि० स० (सं० मार्गण, हि० माँगना)—माँगते हैं। (पा०प० १९६-६)।

मांगि—माँगकर। (पा०सा० २१-२१-२)।

मांगिहै—माँगेगा। (पा०सा० २१-५-२)।

माँगी—माँगने पर। उ० कबीर माथा मोहनी, माँगी मिलै न हाथि। (सा० १६-९-१)।

मांगी—माँगने से। (पा०सा० ३१-१८-१)।

मांगें—माँग की, माँगता है। (पा० प० १५९-३)।

मांगैं—माँगने से। (पा० प० १४८-६)।

माँगै (१)—माँगता है। उ० स्वाँग जती का पहरि करि, घरि घरि माँगै भीष। (सा० १-२७-२)।
(२) माँगता है। उ० कबीर जीवण दुलभ है, मांगै सीस कलाल। (सा० ६-२-२)।

मांगौं—माँगूं। (पा० प० ४५-४)।

मांग्या—माँगा। (पा० प० १५९-३)।

मांची—क्रि० अ० (हि० मचना)–प्रारम्भ होकर। उ० सावज सीह रहे सब मांची, चंद अरु सूर रहे रथ खांची। (र० ४-९८)।

मांछली—दे० 'मछली'। (सा० ४६-६१-नो-३०)।

मांजत—क्रि०स० (सं० मज्जन)–रगड़ कर मैल छुड़ाते रहिए। (पा०प० ७२-७)।

मांजसि—मलते। (पा० प० १७१-१)।

मांजै—मांजता है। (पा०सा० २५-१८-२)

मांझ—अव्य० (सं० मध्य)—में। उ० मूकर रूप फिरै कलि मांझ। (प० १२५-४)।

मांझि—में (पा० प० १३१-११)।

माँटी—दे० 'माटी'। मिट्टी। उ० ऊँचा मंदर धौलहर, माँटी चित्री पौलि। (सा० ४६-१८-१)।

मांड (१)—सं० पु० (सं० मट्टक, हि० माँट)—मटका, बरतन, पिंड, शरीर। उ० सकल मांड मैं रमि रह्या, साहिब कहिए सोइ। (सा० ३६-१-२)।

मांड (२)—सं० पु० (सं० मंड)—भात का पसेव। उ० इत उत चितवत कठवन लीन्हां, मांड चलवनां डऊवा हो राम।

बौरा हो। (प० ७७-६)।

महरम—सं० पु० (अ० मुहर्रम)—अरबी वर्ष का पहला महीना, जिसमें इमाम हुसैन शहीद हुए थे। ब्राह्मण ग्यारसि करै चौवीसों, काजी महरम जांन। (प० २५६-७)।

महरा—सं० पु० (सं० महत्)—प्रधान। दे० 'महर'। उ० वूझै कोई महरा हो। (प० ७७-१३)।

महरू—प्रधान। महरूं मछा मारि न जानैं, गहरै पैठा घाई हो। (प० ७७-५)।

महल—सं०पु० (अ०)—प्रासाद, बढ़िया मकान, अवसर। उ० जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख। (सा० ५-१२-२)। उ० मुनि जन महल न पावई, तहां किया विश्राम। (सा० ५-११-२)।

महा—वि० (सं०)—अत्यंत, बहुत अधिक। (गा० प० ६३-५)।

महातम—सं० पु० (सं० माहात्म्य)—गौरव, बड़ाई, फल। उ० इक तप तीरथ औगाहैं, इक मांनि महातम चाहैं। (प० २७६-३)।

महादेव—सं० पु० (सं०)—शंकर। उ० कोटि महादेव गिरि कविलास। (प० ३४०-२)।

महाप्रसाद—सं० पु० (सं०)—देवताओं का प्रसाद। (पा० प० ३३-३)।

महामद—सं० पु० (सं०)—पूरा मद। उ० अति उदमादि महामद मातां, पाप पुंनि न पिछांनैं। (प० ४०१-८)।

महारस—सं० पु० (सं०) अमृत। उ० कहै कवीर ते विरला जोगी धरणि महारस चाण्या। (प० १६२-१८)।

महारांण—सं० पु० (हि० महराण)—समुद्र। (सा० ४८-१-नो० २)।

महाराज—सं० पु० (सं०)—प्रतिष्ठित पुरुष के लिए सम्बोधन। उ० जौ महाराज चाहौ महरईये, तौ नाथौ ए मन बौरा हो। (प० ७७-६)।

महावत—सं० पु० (स० महामाय)—हाथीवान। उ० महावत तो कूं मारौं साटी, इसहि मरांऊं घालौं काटी। (पा० ३६५-४)।

महिं—अव्य० दे० 'महं'। में। (पा० प० ८८३)।

महिखी—सं० स्त्री० (सं० महिषी)—भैंस। (पा० प० १७६-४)।

महिमां—दे० 'महिमा'। (पा०प० ३५-१०)

महिमा—सं० स्त्री० (सं० महिमन्)—बड़ाई, प्रभाव, महत्व, प्रताप। उ० कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न जाइ। (सा० ५-३८-१)।

महियां—दे० 'महं'। में। (पा०प०६६-८)

महील—दे०'महल'। प्रासाद, यहाँ मदद। (र० १-हि०२६)।

महुं—अव्य० (सं० मध्य)—में। (पा० सा० २७-२-२)।

महु—सं० पु० (सं० मधु)—मकरंद, शहद। उ० घट घट महु के मधुप ज्यूं पर-आतम ले कीन्हि। (सा० ३२-३-२)।

महुआ—दे० 'महुवा'। (पा० प० ५६-३)

महुवा—सं० पु० (सं० मधूक, प्रा० महुअ, हि० महुआ)—महुए का फल। उ० गुड़ करि ग्यांन ध्यांन कर महुवा, भव माठी करि मारा। (प० ७२-३)।

महूरत्य—सं० पु० (सं० मुहुर्त)—समय। उ० धंनि सो घरी महूरत्य दिनां। (प० ३६५-१)।

महेश—दे० 'महेस'। शिव। उ० कथि गया ब्रह्म महेश। (सा० २-२-१)।

महेस—सं० पु० (सं० महेश)—शिव। (पा० सा० ३-२६-१)।

महेसा—दे० 'महेस'। (पा०प० १०३-२)

महेसुर—सं० पु० (सं० महेश्वर)—महादेव, परमेश्वर। उ० देवी देव सुर नर गण गंध्रप, ब्रह्मा देव महेसुर। (र०

(प० २०-५)।

मांड़ा—दे० 'मांड्या'। ठाना। (पा० सा० १४-११-२)।

मांडिय—क्रि० स० (सं० मंडन, हि० मांडना)—सजाया, ठाना। उ० हरि हीरा जन जौहरी, ले ले मांडिय हाटि। (सा० ४६-३-१)।

मांडी (१)—लगाते गए, थोपते गये। उ० माया ऊपरि माया मांडी, साथ न चलै षोपरी हांड़ीं। (प० १२८-४)।

(२) मची हुई है, ठानी। उ० अवधू ग्यांन लहरि धुनि मांडी रे। (प० १०-१)।

मांडै (१)—लगाता है, ठानता है। उ० उज्जल देखि न धीजिये, वन ज्यूँ मांडै ध्यान। (सा० २७-२-१)।

मांडै (२)—क्रि० स० (हि० मारना)—मारता है, फेंकता है। उ० जासूं हिरदै की कहूं, सो फिरि मांडै कंक। (सा० ४३-६-२)।

मांड्या—ठाना। उ० कांम क्रोध सूं झूझणां, चौड़े मांड्या खेत। (सा० ४५-७-२)।

मांन—सं० पु० (सं० मान)—आदर, इज्जत। उ० क्यूँ नृप नारी नींदये, क्यूँ पनिहारी कौं मांन। (सा० ३०-६-१)।

मांनु—गर्व। (पा०प० ३२-३)।

मांनवीं—सं० स्त्री० (सं० मानवी)—स्त्री, औरत। उ० माया राता मांनवीं, तिनसूं किसा सनेह। (सा० २६-५-२)।

मांनसरोवर—दे० 'मानसरोवर'। (पा० प० २८-३)।

मांनां—क्रि० स० (सं० मानन, हि० मानना)—विश्वास कर लिया। उ० एक रांम देख्या सबहिन मैं, कहै कबीर मन मांनां। (प० ५२-६)।

मांनि—विश्वास कर। उ० तूं राम कहन की छाड़ि बांनि, बेगि छुड़ाऊं मेरी कह्यौ मांनि। (पा० ३७९-६)।

मांनियां—श्रद्धा व विश्वास कर लिया। उ० चरन कंवल मांनियां, और न भावै मोहि रे। (प० ४-२)।

मांनैं—ध्यान में लाता है, समझता है। उ० ग्यांनी तौ नींडर भया, मांनैं नांहीं शंक। (सा० २०-२६-१)।

मांनो—अव्य० (हि० मानना)—जैसे, गोया। उ० अंक भाल दे भेटिये, मांनो मिला गोपाल। (सा० २०-६-२)।

मांस—सं० पु० (सं०)—गोश्त। उ० पापी पूजा बैसि करि, भषै मांस मद दोइ। (सा० २२-१३-१)।

मांसु—गोश्त। (पा० प० १२०-२)।

मांहि—अव्य० (सं० मध्य)—भीतर। (पा० प० १-७)।

मांहि—अंदर, में, भीतर। उ० हँसि रही मन मांहि (सा० १-४-२)।

मांहीं—में। (पा० प० ३४-१)।

मांहींत—बीच, में, मध्य में। उ० मंगलवार ल्यौ मांहींत, पंच लोक की छाड़ौ रीत। (प० ३६२-६)।

मांहैं—में, बीच, भीतर। उ० पाणीं मांहैं प्रजली, भई अप्रबल आगि। (सा० ४-६-१)।

मांहै—में। उ० सतगुरु बपुरा क्या करै, जे सिषाही मांहै चूक। (सा० १-२१-१)।

मा—सं० स्त्री० (सं०)—(१) लक्ष्मी, धन। उ० मा सीतलता कै कारणैं, भाग बिलंबे आइ। (सा० ५५-८-१)।

(२) दे० 'मां'। माता। उ० मा का उदर पिता का ब्यंदू। (र० ५-१५)।

माइ (१)—सं० स्त्री० (सं० माया)—छल, धोखा। उ० ताली पीटै सिर धुनैं, मीठै बोई माइ। (सा० २५-६-२)।

माइ (२)—सं०स्त्री० (सं० मातृ)—माता, सखी। उ० अपना बाना बाहिया, कहि कहि थाके माइ। (सा० ३८-६-२)।

मागे—क्रि० स० (सं० मार्गण)—याचना करना। (पा० प० १८८-४)।

मांगौं—लूं, याचना करूँ। (पा० प० ६६-१)।

माछरी—दे० 'मछरी'। (पा० सा० १६-१०-१)।

माछली—दे० 'मछली'। (पा० सा० ३०-४-२)।

माटी—सं० स्त्री० (हि० मिट्टी)—(१) मिट्टी। उ० माटी मलणि कुंभार की, घणीं सहै सिरि लात। (सा० १२-२६-१)।

(२) शरीर, देह। उ० हाड गला माटी गली, सिर साटैं व्यौहार। (सा० ४५-२८-२)।

माड़ियां—सं० पु० (सं० मंडप, हि० माढ़ा)—अटारी पर का चौवारा। उ० काल्हि जु बैठा माड़ियां, आज मसांणां दीठ। (सा० ४६-१५-२)।

माड़े—क्रि० स० (सं० मंडन, हि० मंडना से)—मंडित किया, सुसज्जित किया। उ० कबीर थोड़ा जीवणां, माड़े बहुत मंडाण। (सा० १२-५-१)।

माणसां—सं० पु० (सं० मानस)—मनुष्य, आदमी। (सा० १२-२४-नो०-३२)।

मात—दे० 'माता'। (पा० प० ७३-६)।

माता (१)—सं० स्त्री० (सं० मातृ)—जननी, मां। उ० माता पिता लोक सुत बनिता, अंति न चले संगात। (प० ४००-७)।

माता (२)—क्रि० अ० (सं० मत्त)—मतवाला हुआ। उ० यहु दुनियां कांइ भ्रमि भुलांनीं, मैं रांम रसांइन माता। (प० १५३-६)।

माते—मतवाले हुए, मस्त हुए। उ० जोगी माते धरि धियांन। (प० ३८७-३)।

माथ—दे० 'माथा'। मस्तक। (पा० प० १४६-५)।

माथा—सं० पु० (सं० मस्तक)—शिर का ऊपरी भाग, मस्तक। उ० जाकै मुह माथा नहीं, नहीं रूप करूप। (सा० ३६-४-१)।

माथैं—माथे पर। (पा० प० १०६-४)।

माथै—माथे पर। उ० सुख दुख माथै हलद चढ़ाई। (प० २२६-४)।

मादलु—दे० 'मंदल'। (पा० सा० १५-३०-१)।

माधव—सं० पु० (सं०) भगवान। उ० माधव मदसूदन बनवारी। (प० ३७४-२)।

माधवा—भगवान, माधव। (पा० प० ३६-६)।

माधौ—दे० 'माधव'। विष्णु, भगवान। उ० अच्यंत च्यंत एमाधौ, सो सब मांहि समांनां। (प० ३६-१)।

मान—सं० पु० (सं० मन)—चित्त। (सा० १७-१७- नो०२४)।

मानई—क्रि० अ० (सं० मानन, हि० मानना)—समझते हैं। (पा० सा० २४-१-२)।

मानत—समझते हैं, अनुभव करते हैं। उ० झूठे सुख कौं सुख कहै, मानत है मन मोद। (सा० ४६-१-१)।

मानहो—मानते हैं। (पा० सा० २६-१५-२)।

मानवा—सं० पु० (सं० मानव)—मनुष्य। (पा० सा० २०-६-१)।

मानसरोवर—सं० पु० (सं०)—मानसरोवर, हृदय, सच्चे आनन्द का स्थान। उ० कबीर हीरा, वणजिया, मान सरोवर तीर। (सा० १-२६-२)।

मानसरोवरि—(पा० प० १३०-१३)।

मानि—सं० पु० (सं० मान)—गर्व, अहंकार। उ० मानि करै तौ पीव नहीं, पीव तौ मानि निवारि। (सा० १२-४२-२)।

मानिख—दे० 'मानिष'। मनुष्य। (प०।

सा० १-१६-२) ।

मानियां—माना, ठीक मार्ग पर आ गया। उ० तन भीतरि मन मानियां, बाहरि कहा न जाइ। (सा० ५-३१-१)।

मानिष—स० पु० (सं० मनुष्य)—मनुष्य। उ० मानिष नहीं ते स्वान गति, बांध्या जमपुर जांहि। (सा० १८-३-२)।

मानुष—मनुष्य। (पा० प० १४८-१)।

मानैं—ध्यान में लाते, समझते। उ० पंडित सेती कहि रहे, कह्यां न मानैं कोइ। (सा० ६-१-१)।

मानौं—अव्य० (हि०मानना)-जैसे, गोया। (पा० प० ३१-२)।

मानौ—गोया, जैसे। उ० कबीर तेज अनंत का, मानौ ऊगी सूरज सेणि। (सा० ५-१-१)।

मान्यौ—माना। (पा० प० ३१-६)।

मामा—सं० स्त्री० (फा०)—माता, माँ। (पा० र० ५-१)।

माय—दे० 'माइ' (२)। माता। (पा० प० १२३-७)।

माया—सं० स्त्री० (सं०)-विषय, सम्पत्ति आदि। उ० माया दीपक नर पतँग, भ्रमि भ्रमि ह्वै पडंत। (सा० १-२०-१)।

मार—सं० स्त्री० (हि० मारना से)-चोट, विघ्न, आघात। उ० खालिक दरि खूनी खड़ा, मार मुहे मुंह खाइ। (सा० २२-६-२)।

मारउं—दे० 'मारूं'। (पा० प० ८१-४)।

मारग—सं० पु० (सं० मार्ग)-रास्ता। उ० लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु भार। (सा० २-२७-१)।

मारगि—मार्ग पर, रास्ते पर। उ० बाबा करहु कृपा जन मार गिलाबो, ज्यूं भव बंधन षूटैं। (प० १७६-१)।

मारणहारा—वि० (सं० मारण+हि० हारा)—मारने वाला। उ० मारण हारा जांणिहै, कै जिहिं लागी सोइ। (सा० ३-१४-२)।

मारनहारा—दे० 'मारणहारा'। (पा० सा० २-३४-२)।

मारत--क्रि० अ० (हि० मारना से)—मारते ही, प्रहार करते ही। उ० चौहटै च्यंतामंणि चढ़ी, हाडी मारत हाथि। (सा० ५-१६-१)।

मारहिं-मारते हैं। (पा० सा० २१-५-१)।

मारा—मार दिया। उ० वेद पढ़ंतां ब्राह्मण मारां, सेवा करतां स्वामी। (प० १८७-५)।

मारि—मारकर, मारो। उ० तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिन सच पाऊँ नहीं। (सा० ३-१७-२)।

मारिअै—मार दीजिए। (पा० सा० १५-३५-१)।

मारिया—मार दिया। उ० पाँइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपणैं हाथि। (सा० १२-४३-२)।

मारिसी—मारेगा। उ० नां जांणौं कहां मारिसी, कै घरि कै परदेस। (सा० १२-१२-२)।

मारिहै-मार देगा। (पा० सा० १५-२-२)।

मारी (१)—मारा था, निशाना बनाया था। उ० जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या। (सा० ३-१७-१)।

मारूँ—वध करूँ, आघात पहुँचाऊँ। उ० कबीर मारूं मन कूं, टूक टूक ह्वै जाइ। (सा० १३-५-१)।

मारैं—मारता है। (पा० प० १७७-३)।

मारे—मारता है। उ० चतुर चिकोर चुणि चुणि मारे, कोई न छोडया नैंड़े। (प० १८७-२)।

मारैं—मारता है। उ० क्या ले माटी मुंह सूं मारैं, क्या जलदेह न्हवायें। (प० २५६-३)।

मारै—मारता है। उ० कुकड़ी मारै बकरी मारै, हकहक करि बोलै। (प० ६२-७)।

मारौं—मारूँ। उ० मारौं तौ मन मृग कौं, नहीं तो मिथ्या जांण। (सा० १३-३०-२)।

मारो—मारूं। (पा०सा० २६-५०-२)।

मार्‌या—मार दिया। उ० सतगुरु मार्‌या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि। (सा० १-८-१)।

मार्‌यौ (१)—मारो। उ० हस्ती कोपि मूंड मैं मार्‌यौ। (प० ३६५-२)।

मारहु—सं० पु० (सं० मार+हीं)—मार भी, कामदेव भी। (पा० प० १६२-७)।

मारिग—दे० 'मारग'। मार्ग। उ० कबीर मारिग कठिन है, कोई न सकई जाय। (सा० १४-६-१)।

मारी (२)—सं० स्त्री० (हिं० मारना)—प्राणघातक रोगादि। (सा० १२-१६-नो०-२४)।

मार्ग—दे० 'मारग'। रास्ता। उ० उहु मार्ग पावैं नहीं, भूलि पड़े इस मांहि। (सा० १४-१-२)।

मार्‌यो—दे० 'मारहु'। कामदेव भी। उ० सत भजै वा पाछी पड़ै, गुरु के सबदूं मार्‌यौ डरैं। (प० ३७०-६)।

माल—सं० स्त्री० (सं० माला)—गजरा, माला। अंक माल दे भेटिये, मांनो मिल गोपाल। (सा० ३०-६-२)।

मालती—सं० स्त्री० (सं०)–मालती नामक पुष्प लता। उ० ज्यूं बन फूली मालती, जन्म अबिरथा जाये रे। (प० ३९८-४)।

मालनि—दे० 'मालिनी'। (प० १९८-३)।

मालवा—सं० पु० (सं० मालवा)—मध्य भारत का एक प्राचीन देश, जिसकी राजधानी अवन्ती या उज्जैन थी। उ० देस मालवा गहर गंभीर, डग डग रोटी पग पग नीर। (प० ६८-६)।

माला—दे० 'माल'। माला। उ० कर सेती माला जपै, हिरदै वहै डंडूल। (सा० २४-१-१)।

मालिनि—दे० 'मालिनी'। (पा० प० १८७-१०)।

मालिनी—सं० स्त्री० (सं०)—मालिन। उ० भूली मालिनी हे गोव्यंद जागतौ जगदेव। (प० १९८-१)।

मालिम—सं० पु० (अ० मुअल्लिम)—अध्यापन, ज्ञानी। उ० पंच पीर मालिम भगवांनां। (प० २५६-४)।

मालिया—सं० पु० (सं० मालिका)—पक्के मकान के ऊपर का खंड। (सा० ४६-१८-नो०२६)।

माली—सं० पु० (सं० मालिक)—बाग का माली। उ० बन माली जांनैं बनकी आदि, रांम नांम बिन जनम बादि। (प० ३८२-१)।

माल्हंतां—क्रि० अ० (सं० मल्ह)—चलने वालों के लिए। उ० आज क काल्हि क निस, हमैं, मारगि माल्हंतां। सा० ४६-२-१)।

माल्हंतांह—दे० 'माल्हंतां'। (पा० सा० १६-२७-१)।

माषी—सं० स्त्री० (सं० मक्षिका, हिं० मक्खी)–मक्खी। उ० मकड़ी धरि माषी छछि हारी, मास पसारि चील्ह रखवारी। (प० ८०-३)।

मास (१)—सं० पु० (सं० मांस)–गोश्त। उ० मास पसारि चील्ह रखवारी। (प० ८०-३)।

मास (२)—सं० पु० (सं०)—महीना। उ० जब दस मास उरध मुखि होते, सो दिन काहे भूल्यौ। (प० २४१-२)।

मासा—सं० पु० (सं० माष, जंद० माष, माहा:, हिं० माशा)—आठ रत्ती के बराबर का तोल। उ० मासा मांगै रती न देऊं, घटै मेरा प्रेम तौ कासनि लेऊं। (प० ३७१-३)।

मासु—दे० 'मास' (१) मांस। (पा० सा० ४-१५-२)।

माहरा—सं० पु० (सं० महत्, हिं०

—भलमानुस। उ० चाम्भि चालि मन माहरा, पुर पटण गहिये। (प० ३७३-५)

माहरी—वि० (अ० माहिर से)—पटु, निपुण, जानकार। (सा० २०-४-नो०६)।

माहैं—अव्य० (सं० मध्य, हि० माँह)—में, बीच। उ० जलही माहैं जलि मुई, पूरब जनम लिषेणि। (सा० १६-२२-२)।

मित—दे० 'मित्त'। प्रेम पात्र। (पा० सा० १५-१-१)।

मिया—सं० पु० (फा०)—पति, स्वामी। उ० भीतरि बीवी हरम महल मैं, साल मिया का डेरा। (प० २३८-८)।

मिटा—क्रि० अ० (सं० मिष्ट, प्रा० मिट्ट, हि० मिटना)—मिट गया। (पा० सा० ६-२८१)।

मिटि—मिटना। उ० जब यहु मैं मेरी मिटि जाइ, तब हरि काज संवारै आइ। (प० ३४६-४)।

मिटि गया—दूर हो गया। उ० सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या मांहि। (सा० ५-३५-२)।

मिटी—मिट गई, दूर हुई। उ० तन मन जोबन भरि दिया, प्यास न मिटी सरीर। (सा० ७-१-२)।

मिटे—नष्ट हो जाए। उ० जाति पाँति कुल सब मिटे, नाँव धरौगे कौंण। (सा० १-१४-२)।

मिटावौं—क्रि० स० (सं० मिष्ट से)—दूर करूँ। (पा० प० १५२-११)।

मिठाई—सं० स्त्री० (हि० मीठा से)—मीठा पदार्थ। उ० कहै कबीर जैसैं रंक मिठाई। (प० ३३३-५)।

मित्त—सं० पु० (सं० मित्र)—प्रेम पात्र, प्रियतम से ही। उ० बिन रोयां क्यूँ पाइए, प्रेम पियारा मित्त। (सा० ३-२७-२)।

मिथ्या—वि० (सं०)—झूठ, असत्य। (सा० १३-३०-२)।

मिनकी—सं० स्त्री० (?)—बिल्ली। उ० मुर्गा मिनकी सूं लड़ै, झल पांणीं दौड़ै। (प० १६१-६)।

मिनिअै—क्रि० स० (?)—गज से नापा जाना। (पा० प० १११-५)।

मियां—दे० 'मिया'। (पा० प० ८६-६)।

मिरग—दे० 'मृग'। (पा० प० १७४-३)।

मिरगनि—दे० 'मृगनि'। मृगों। (पा० प० ६१-१)।

मिरगवा—दे० 'मृग'। (पा० प० १२४-६)।

मिरगा—दे० 'मृग'। (पा०प० १२१-२)।

मिरतक—दे० 'मृतक'। (पा०सा० २-४२-२)।

मिरिग—दे० 'मृग'। (पा०प० १३८-५)।

मिलत—क्रि० स० (सं० मिलन, हि० मिलना)–मिलते हुए। (पा० चौ० र० ३१-२)।

मिलता—मिलता हुआ। (पा०चौ० ३१-२)।

मिलन कूं—मिलने के लिए। उ० जिव तरसै तुझ मिलन कूं, मन नाहीं विश्राम। (सा० ३-६-२)।

मिलसी—मिल जाय, भेंट कर ले। उ० जो है जाका भावता, जदि तदि मिलसी आइ। (सा० ४४-३-१)।

मिलहिं—मिलें। (पा०प० ६१-४)।

मिलहिंगे—मिलेंगे। (पा०सा० २-३१-२)

मिलहुगे—मिलोगे। उ० पपींहा ज्यूँ पिव पिव करौं, कबहु मिलहुगे राम। (सा० ३-२४-२)।

मिला—मिल गया। (पा०प० १०६-२)।

मिलाइ—(हि० मिलना से)—मिलाओ, भेंट कराओ। उ० कबीर तास मिलाइ, जास हियाली तूँ बसै।

मिलाए—मिला दिया। (पा०प० १५०-५)

मिलात—मिलते हैं। (पा०प० ७३-८)।

मिलांवहिगे—मिलाएँगे। उ० हंसति हंस मिलांवहिगे। (प० १५०-८)।

मिलावहिगे—मिलाएँगे। (पा०प० ५७-३)

मिलावा (१)—मिला दिया। (पा० प० १०६-५)।

मिलावै—मिला देता है। (पा०सा० ४-४०-१)।

मिलि—एक साथ, मिलकर। उ० सकल वरण इकत्र ह्वै, सकति पूजि मिलि खांहि (सा० २२-१४-१)।

मिलिऔ—मिल जाता है। (पा०प० २०० -४)।

मिलिकरि—संयुक्त करके, एकत्रित करके। उ० तीन्यूं मिलिकरि जोड़या, (तव) उड़ि उड़ि पड़ै पतंग। (सा० ४-१-२)।

मिलिगया—प्राप्त हो गया, आलिंगन कर लिया। उ० रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ। (सा० ३-३२-२)।

मिलिवौ—मिलैंगे। उ० वीछड़ियाँ मिलिवौ नहीं, ज्यूं कांचली भुवंग। (सा० १२-६-२)।

मिलिया—मिल गया। उ० पाला गलि पाणी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि। (सा० ५-१८-२)।

मिलियांह—मिल गये हैं। उ० दरिया केरीं नाव ज्यूं संजोगे मिलियांह। (सा० १२-५६-२)।

मिलियौ—मिल गया। उ० कहै कवीर मनि भया अनंद, जगजीवन मिलियौ परमानंद। (प० ३८२-४)।

मिलिहै—मिल जाय। (पा०सा० २-२८-१)

मिलिहौ—मिलोगे। (पा०प० १५-१)।

मिली—मिल गई। उ० चकवी विछुटी रैणि की, आइ मिली परभाति।(सा० ३-३-२)।

मिलु—मिलो। (पा०प० ६-५)।

मिले—मिलते, मिल सकतें हैं। उ० जे जन विछुटे राम सूं, ते दिन मिले न राति। (सा० ३-३-२)।

मिलैं—मिलते हैं। (पा०सा० ५-६-१)।

मिलैंगे—भेंट करेंगे। उ० एक सबद कहि पीव का, कवर मिलैंगे आइ।(सा० ३-५-२)।

मिलै—मिलो। उ० मूवां पीछै जिनि मिलै, कहै कवीरा राम। (सा० ३-८-१)।

मिलैगा—मिलेगा, भेंट होगी। (पा०सा० १८-१-२)।

मिलैला—मिला। (पा०प० १६६-५)।

मिलौं—प्राप्त करूँ। उ० दिवस थकां साईं मिलौं, पीछैं पड़िहै राति। (सा० १३-१३-२)।

मिल्या—मिल गया। उ० ग्यान प्रकास्या गुर मिल्या, सो जिनि वीसरि जाइ।(सा० १-१३-१)।

मिल्यौ—मिला। उ० सो गारडू मिल्यौ नहीं कवहूँ पसरयौ विष विकराल। (प० ३०८-६)।

मिलावा—सं०पु० (हि० मिलाना+आव (प्रत्य०)—किलाप। उ० कैसैं होइगा मिलावा हरि सनां। (प० २६-१)।

मिवांणां—सं०पु० (सं०निम्न,हि० निवान) —नीची ज़मीन। उ० नीर निवांणां ठाहर नाऊँ छांपरड़ांह। (सा० ५५-४-२)।

मिष्ट—वि० (सं०)-मीठा, मधुर। (सा० २७-५-२)।

मिसकीन—दे०'मसकीन'। (पा०प० १७७ -४)।

मिसर—सं० पु० (सं० मिश्र)—ब्राह्मण, पंडित। उ० अरथ करतां मिसर पछाड़यां तूंर फिरै मैं मंती। (प० १८७-६)।

मिसिर—दे०'मिसर'। (पा०प० १६१-६)

मिहर—सं०स्त्री० (फा० मेहर)–अनुग्रह, कृपा। उ० मीरां मुझसूं मिहर करि, इव मिलौं न काहू साथि। (सा० ५-१६-२)।

मिहरवांनां—वि० (फा० मेहरवान)—

कृपालु। (पा०प० ५९-६)।

मह र—दे० 'मिहर'। कृपा। (पा०प० १७७-२)।

मिहरी—सं० स्त्री० (सं० मेहना, हि० मेहरी)—स्त्री, औरत, पत्नी। उ० देहली लग तेरी मिहरी सगी रे, फलसा लग सगी माइ। (प०३१५-३)।

मींच—सं०स्त्री० (सं२ मृत्यु, प्रा० मिच्चु) –मौत, मृत्यु। उ० कै बिरहिणकूं मींच दे कै आपा दिखलाइ (सा० ३-३५-१)।

मींठ—वि० (सं० मिप्ट, प्रा० मिट्ट)—मीठा, मधुर। उ० कबीर यहु जग कुछ नहीं, षिन षारा षिन मीठ। (सा० ४६-१५-१)।

मींठी—मधुर। दे० 'मींठ'। उ० खातां मींठी खाँडसी, अंति कालि विष होइ। (सा० २०-४-२)।

मींडक—सं०पु० (सं० नंडूक, हि० मेंढक) —मेंढक, अज्ञानी, बंचक, गुरुओं पर विश्वास न करने वाला। उ० मीडक सोवै साप पहरइया। (प० ८०-४)

मींत—सं०पु० (सं० मित्र)–दोस्त। उ० सती पुकारै सलि चढ़ी, सुनि रे मींत मसांन। (सा० ४५-३३-१)।

मींन—सं०पु० (सं० मीन)–मछली। उ० रंजसि मींन देखि बहु पांनीं। (प० ८६-१)।

मींनां—मछली। (पा०प० ४६-३)।

मींनु—मछली। (पा०प० ९-३)।

मींनीं—सं० स्त्री० (सं० मक्षिका)—मधुमक्खी। उ० कांमणि मींनीं षांणि की जे छेड़ौं तौ खाइ। (सा० २०-२-१)।

मींयां—सं०पु०(फा०)–महाशय,उपदेशक। उ० मींयां तुम्ह सौं बोल्यां वणि नहीं आवै। (प० २५५-१)।

मीच—सं० स्त्री० दे० 'मींच'। मृत्यु। उ० मेर नींसांणी मीच की. कुसंगति ही काल। (सा० २५-५-१)।

मीचौं—क्रि०स० (सं० मिष)—बंद करता हूं, मूंदता हूँ। उ० आंषि न मीचौं डरपता मति सुपनां ह्वै जाइ (सा० ५०-६-२)।

मीठ—दे०'मीठा' (पा०सा० १६-३९-१)।

मीठा—वि० (सं० मिष्ट, प्रा० मिट्ठ)—मधुर, मीठा। उ० रांम कह्यां दुनियां गति पावै, षांड़ कह्यां मुख मीठा। (प० ४०-२)।

मीठी—स्त्री०। (पा०सा० ३१-७-१)।

मीठै—स्वाद ने ही, मीठेपन ने ही। उ० ताली पीटै सिर धुनैं, मीठै बोई माइ। (सा० २५-६-२)।

मीत—सं०पु०(सं० मित्र)—साथी, प्रेमी। उ० कबीर कलजुग आइ करि, कीये बहुतज मीत। (सा० ११-१३-१)।

मीता—दे० 'मीत'। मित्र। (पा०प० १७-५)।

मीन—दे० 'मींन'। मछली। (पा० प० १५-५)।

मीयां—दे० 'मींयां'। (पा०प० १८४-१)

मीर—सं०पु० (फा०)—धार्मिक आचार्य, सरदार। उ० मीर मलिक छत्रपति राजा, ते भी खाये माया। (प० १२२-४)।

मीरां (१)—दे० 'मीर'। सरदार। उ० मीरां मुझसूं मिहर करि, इब मिलौं न काहू साथि। (सा० ५-१९-२)।

मीरां (२)—सर्व० (हि० मेरा से)—मेरी आत्मा ने। उ० मीरां मुझसौं यौं कह्या, किनि फुरमाई गाइ (सा० २९-२१-२)।

मुंडायै—क्रि०स०(सं० मुंडन, हि० मुंडना) —सिर के बाल घुटाने से। उ० मूंड़ मुंडायैं जौ सिधि होई, स्वर्ग ही मेड़ न पहुंती कोई। (प० १३२-३)।

मुंडित—वि० (सं०)–मुंडे हुए सिर वाले। उ० लुंचित मुंडित मोनि जटाधर ऐ जु कहै सिधि पाई। (प० १३३-४)।

मुंदावौ—क्रि० स० (सं० मुद्रण, हि० मुंदना, मुंदाना)—बंद कर दूं। उ०

वैसि परहदी द्वारा मुंदावौं, ल्यावौं पूत घर घेरी। (प० २२-५)।

मुंह—दे०'मुख'। मुख। (पा०प० ७-७-१)

मुआ—दे०'मुवा'। मरा। (पा०प० ४६-७)।

मुओ—दे० 'मुवौ'। (पा०प० ६४-२)।

मुई—क्रि०अ० (सं० मृत, प्रा० मिऊ या मुअ+ना (प्रत्य०)—मरी, नष्ट हुई। उ० माया मुई न मन मुवा मरि मरि गया सरीर। (सा० १६-११-१)।

मुएं—मरने पर। (पा०प० ५५-५)।

मुए—मर गए। (पा०प० ८५-३)।

मुएहु—मरे। (पा०प० ६९-६)।

मुकंदा—सं०पु० (सं० मुकुंद)—विष्णु। उ० जंम दुवार जब लेख मांग्या, तबका कहिसि मुकंदा। (प० २५०-२)।

मुकता (१)—सं०स्त्री० (सं० मुक्ता)—मोती। उ० मुकताहल मुकता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं। (सा० ५-३९-२)।

मुकता (२)—वि० (सं० मुक्त)—बंधन रहित, छुटकारा पाया हुआ। उ० मेर मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म विसास। (सा० ३५-१७-१)।

मुकताहल—सं०पु०(सं० मुक्ताफल)–मोती उ० दोइ जन मागां नां मिलैं, मुकताहल अरु मंन। (सा० ३७-२)।

मुकति—सं०स्त्री० (सं० मुक्ति) - मोक्ष। उ० मुकति नहीं हरि नांव बिन, यों कहै दास कबीर। (सा० १७-१९-२)।

मुकदम—सं०पु० (अ० मुकद्दम)—नेता, मुखिया, श्रेष्ठजन। उ० आगैं जीर मुकदम होते, वै भी गये यौं करते। (प० १०२-२)।

मुकलाऊं—क्रि०स० (सं०मुक्त, हि०मुकना) –मुक्त कर दूं, खतम कर दूं। उ० सायर फोडि नीर मुकलाऊं, कुंवा सिला दे पाटौं (प० १९६-४)।

मुकांम—सं०पु० (अ०)—टिकाव, पड़ाव, स्थान। उ० दूरि चलणां कूंच वेगा, इहां नहीं मुकांम। (प० २३७-२)।

मुकांमां—दे० 'मुकांम'। स्थान। उ० पूरिब दिसा हरी का बासा, पछिम अलह मुकांमां। (प० २५९-११)।

मुकुंदा—दे० 'मुकंदा'। (पा०प० १८८-२)

मुकुता—दे० 'मुकता' (१)। (पा० प० १५७-७)।

मुकुति—दे० 'मुक्ति'। (पा०प० १०-१६)

मुक्ताहल—दे० 'मुकताहल'। (पा०सा० ९-३४-२)।

मुक्ति—दे०'मुकति'। (पा०प० १४४-१०)

मुख—सं०पु० (सं०)–मुँह। उ० लोही सींचौं तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव। (सा० ३-२३-२)।

मुखहुं—मुख से। (पा०प० १३१-२)।

मुखां—मुख से। उ० मीरां मुझमैं क्या खता, मुखां न बोलै पीर। (सा० ५६-६-२)।

मुखि—मुख से, मुख द्वारा। उ० जिति मुखि राम न उचरे, तिहि मुख फेरि कहाइ। (सा० २-२३-२)।

मुगध—वि०(सं० मुग्ध)–भ्रांत, मूढ़। उ० रहु रहु मुगध गहे लड़ी, प्रेम न लाजूं मारि। (सा० ३-३६-२)।

मुगधि—वि०(सं० मुग्ध)–मोहित। (सा० २४-५-नो० ६)।

मुगधरे—सं०स्त्रीं०(सं० मुग्ध)–मूर्खता से। उ० कहा मुगधरे पांहन पूजै, कागज डारै गाता। (प० ८८-४)।

मुचि—क्रि०अ०(सं० मोचन)–नष्ट करके। उ० गरभ मुचे मुचि भई किन बांझ। (प० १२५-३)।

मुचे--नष्ट करके। (प० १२५-३)।

मुज्झ—दे० 'मुझ'। (पा०सा० २-२५-२)

मुझ—सर्व० (हि० मैं)– मुझे, मेरे। उ० जेते तारे रैणि के, तेतै वैरी मुझ। (सा० ४५-२९-१)।

मुझमैं—मेरे भीतर। उ० तूं तूं करता तूं भया, मुझ मैं रही न हूँ। (सा० २-६-१)।

मुझसूं—मुझ पर। उ० मीरां मुझसूं मिहर करि इब मिलौं न काहू साथि। (सा० ५-१६-२)।

मुट्याई—क्रि० अ० (हि० मोटा+आना (प्रत्य०)—मोटी होती है। उ० वहुत जतन करि देह मुट्याई, अगनि दहै कै जंबुक खाई। (प० २६५-३)।

मुठि—सं०स्त्री० (सं० मुष्टि)—मुट्ठी। उ० मुठी एक मठिया मुठि एक कठिया, सगि काहू कै न जाइ। (प० ३१५-२)।

मुठी—दे० 'मुठि'। मुट्ठी। (प० ३१५-२)

मुड़ाइ—क्रि०स० (सं० मुंडन)-मुड़ाकर। (प० १७०-३)।

मुड़ाएं—दे० 'मुंड़ायैं'। मुड़ाने से। (पा० प० १७४-४)।

मुड़ाया—मुड़ा दिया। (पा०प० १७५-५)।

मुड़ावत—मुड़ाते। (पा०सा० २५-१६-२)

मुड़ि—क्रि०अ० (सं० मुरण)—पलटकर, लौटकर। उ० अब तौं झूझ्यांहीं बणैं, मुड़ि चाल्यां घर दूरि। (सा० ४५-११-१)।

मुतिया—सं०स्त्री० (हि० मोती)-मुतिया नाम। उ० कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ। (सा० ११-१४-१)।

मुदगर—सं०पु० (सं० मुद्गर)—मुगदर। (पा०प० ४-५)।

मुदगिरि—दे० 'मुदगर'। मुगदर। (प० १२७-नो०-१३०)।

मुदिगर—दे० 'मुदगर'। (पा०प० ६८-६)

मुद्रा—सं०स्त्री०(सं०)-(१) मुखादि अंगों की चेष्टाएं। उ० तेरे रूप नाहीं देखूं नाहीं मुद्रा नहीं माया। (प० २१६-२)। (२) गोरखपंथी साधुओं के कानों में पहनने का काँच या स्फटिक का एक आभूषण। उ० मुद्रा निरति सुरति करि सींगी, नाद न षंडै धारा (प० ६६-२)।

मुनारै—सं०स्त्री०(अ०मनार,हि०मीनार) —स्तम्भ। (पा०सा० २६-३-१)।

मुनि—सं०पु० (सं०)—तपस्वी, त्यागी। उ० सिव विरंचि नारद मुनि ग्यानीं, मन की गति उनहूं नहीं जानीं। (प० ३३-३)

मुनिअर—दे० 'मुनियर'। (पा०सा० १६-३१-२)।

मुनिजन—सं०पु० (सं०)-(१) मननशील महात्मागण। उ० मुनिजन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम। (सा० ५-११-२)। (२) ईश्वर, धर्म आदि का विवेचन करने वाले। उ० आपन तौ मुनिजन ह्वै बैठे, का सनि कहौं कसाई (प० १३६-८)।

मुनियर—दे० 'मुनिवर'। उ० सुर तेतीसूं कौटिग आये, मुनियर सहस अठ्यासी। (प० १-७)।

मुनिवर—सं०पु० (सं०)—श्रेष्ठ मुनि, तपस्वी। (पा०प० ५-७)।

मुनिस—सं०पु० (सं० मुनीश)—मुनियों, धर्म-प्रवर्त्तको अथवा मनुष्य। उ० न्यूति जिमाऊँ अपनौं करहा, छार मुनिस की द्वारी रे। (प० ७३-८)।

मुरगै—सं०पु० (फा० मुर्ग)—मुर्गे को, जीवात्मा को। उ० जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई। (प० ११-३)।

मुरतब—वि०(फा०)—ठीक, तरतीब में। उ० तणि बुणि मुरतब कीन्हां, तब रांम राइ पूरा दीन्हां। (प० २८६-८)।

मुरद—सं०स्त्री० (अ० मुराद)—कामना, इच्छा, अभिलाषा। उ० पंजर जसि करद दुसमन, मुरद करि पैमाल। (प० २५८-२)।

मुरदन—सं०पु० (फा० मुरदा)—मृतक, मृत। (पा०प० १०५-१)।

मुरसिद—सं०पु० (अ० मुरशिद)—गुरु, पथ-प्रदर्शक। उ० मुरसिद पीर तुम्हारै

है को, कहाँ थैं आया। (प० २५५-४)।

मुराड़ा—सं० पु० (हिं०)—जलती हुई लकड़ी। उ० हम घर जाल्या आपणां, लिया मुराड़ा हाथि। (सा० ४३-१३-१)

मुरारि—सं० पु० (सं०)—भगवान, परमेश्वर। उ० तिनि मुसल्माया बापुड़े, जिनि जाणीं भगति मुरारि। (सा० ३३-५-२)।

मुरारी—दे० 'मुरारि'। (पा० प० २७७-४)।

मुरी—दे० 'मुरीद'। चेला। (र० १-टि० ३)।

मुरीद—सं० पु० (अ०)–शिष्य, चेला। उ० परि मुरीद काजी मुसलमानी। (र० १-२)।

मुरीदां—दे० 'मुरीद'। चेला, अनुयायी। उ० पीरां मुरीदां काजियां, मुलां अरू दरवेस। (प० २५७-३)।

मुलकिया—क्रि० अ० (सं० पुलकित)—मुसकरा दिया। उ० आगैं थैं हरि मुलकिया, आवत देख्या दास। (सा० ४५-२३-२)।

मुलनां—दे० 'मुलां'। (र० १-२)।

मुलां—सं० पु० (अ० मुल्ला)—मौलवी, मुल्ला। उ० एक कहावत मुलां काजी, रांम बिनां सब फोकट बाजी। (प० १४२-३)।

मुलांनां—सं० पु० (अ० मौलाना)—मौलवी, मुल्ला। उ० अवलि आदमपीर मुलांनां, तेरी सिफति करि भये दिवांनां। (प० ६३-४)।

मुला—दे०'मुलां'। (पा०सा० २६-३-१)।

मुलिक—दे० 'मुलुक'। उ० और मुलिक किस केरा। (प० २५६-६)।

मुलुक—सं०पु० (अ० मुल्क)–देश, प्रांत। (पा० प० १७७-६)।

मुल्ला—दे० 'मुलां'। (पा०प० १२८-३)।

मुवा—क्रि० अ० (सं० मृत, प्रा० मिअ या मुअ+ना (प्रत्य०)—मरा, वश में लाया। उ० माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर। (सा० १६-११-१)।

मुवैं—मरते। (पा० सा० १६-१-१)।

मुष—सं० पु० (सं० मुख)—मुंह। उ० जैसी मुष तैं नीकसै, तैसी चालै नांहि। (स० १८-३-१)।

मुषह—मुंह से। उ० गवन करै तब मुषह न बोलै। (प० ३६४-२)।

मुष्टि—वि० (सं० मष्ठ, प्रा० मष्ट, मट्ठ)—मौन, उदासीन। उ० मिलै बसंत मुष्टि करि रहिये। (प० ६७-३)।

मुसकौं—सर्व० (हिं० मुझ)—मुझको। (प० १२७-नो० १३०)।

मुसन—क्रि० अ० (सं० मूषण)—चुराने लगे। उ० तायैं संगही चोर घर मुसन लाग। (प० ३८७-२)।

मुसिलि—चुरा लिए, लुट गए, अपहृत हुए। उ० जे सूते ते मुसि लिए, रहे बसत कूं रोइ। (सा० १६-२४-२)।

मुसै—चुराकर उठा ले जाता है। उ० गाफिल होइ वसत मति खोवै, चोर मुसै घर जाई। (प० २३-२)।

मुसलमान—सं० पु० (फा०)—मुस्लिम धर्म का अनुयायी। उ० हिंदू मूयें राम कहि मुसलमान खुदाइ। (सा० ३१-७-१)।

मुसलमानी—मुहम्मद साहब के मत का अनुयायी। उ० पीर मुरीद काजी मुसलमानी। (र० १-२)।

मुसला—सं० पु० (अ०)—नमाज पढ़ने की दरी या चटाई। उ० मुलनां बंग देइ सुर जांनीं, आप मुसला बैठा तांनीं। (र० १-७)।

मुसले—क्रि० स० (हिं० मसलना)—बल पूर्वक दबाने की। उ० मन मुसले की जुगति न जांनैं, मति भूलि बखांनैं। (र० ५-२४)।

मुहकम—क्रि० (अ०)—दृढ़, पक्का। उ० कलियुग हम स्यूं लड़ि पड़या मुहकम मेरा वाछ। (सा० १-५-२)।

मुहड़ै—सं० पु० (सं० मुख)—मुँह में। (पा० सा० २१-१-१)।

मुहर—सं० पु० (हि० मुँह+रा)—घोड़े का एक साज जो उसके मुँह पर रहता है। (पा० प० ४-२)।

मुहरकां—सं० स्त्री० (फा० मुहर्रिक)—नेतागीरी, अगुआगीरी। उ० औरूं कौं परमोधतां, गया मुहरकां मांहि। (सा० १७-१३-२)।

मुहरा- दे० 'मुहर'। घोड़े के मुंह पर पहनाया जाने वाला एक साज। उ० दे मुहरा लगाम पहिरांऊं, सिकली जीन गगन दौराऊं। (प २५-२)।

मुहांमुह—क्रि० वि० (हि० मुँह+मुँह)—मुँह तक, लवालव, भरपूर। उ० दुनियां भाँडा दुख का, भरी मुहांमुह भूप। (सा० १२-४७-१)।

मुँहि —दे० 'मुहि'। मुख में। (पा० प० १८७-८)।

मुँहिमुहैं—दे० 'मुहांमुह'। (पा० सा० २१-६-२)।

मुहि—सं० पु० (हि० मुँह)—मुख में। उ० पूजि पुजारा ले गया, दे मूरति कै मुहि छार। (प० १९८-८)।

मुहेमुहि—दे० 'मुहांमुह'। मुँह तक, भर पेट, खूब। उ० खालिक दरि खूनी खड़ा, मार मुहेमुहि खाइ। (पा० २२-९-२)।

मूंछ—सं० स्त्री० (सं० श्मश्रु)—ऊपरी ओंठ के ऊपर के बाल जो केवल पुरुषों के ही उगते हैं। (पा० सा० २५-१४-२)।

मूंछू—दे० 'मूंछ'। उ० माथौ मूंछू मुंडाइ करि चल्या जगत कै साथि। (सा० २४-१०-२)।

मूंठी—दे० 'मूठि'। मुट्ठी। (पा० प० ९७-६)।

मूंड—सं० पु० (सं० मुंड)—शिर, कपाल। उ० मूंड ठोकि ले वाहरि जारयौ। (प० ९५-४)।

मूंड़—दे० 'मूंड'। शिर। (पा० प० २३-३)।

मूंड़ि—क्रि० स० (सं० मुंडन)—ठगना, ठग ले, हजामत करे। उ० मन मैवासी मूंडि ले, केसौं मूंड़े कांइ। (सा० २४-१३-१)।

मूंडिए—ठीक करे, अधिकार में करे। उ० मन कौं काहे न मूंडिए, जामैं विषै विकार। (सा० २४-१२-२)।

मूंडे—हजामत करता है, ठीक करता है। उ० मन मैवासी मूंडि ले, केसौं मूंडे कांइ। (सा० २४-१३-१)।

मूंडठ—वि० (हि० मुरड़)—गर्वपूर्ण, अहंकारी, अभिमानी। उ० कवीर मूंडठ कर मियाँ, नप सिप पाषर ज्यांह। (सा० ५५-५-१)।

मूंढ—वि० (सं०)—जड़वुद्धि, मूर्ख। उ० गयौ गयौ धंन मूंढ जनां, फिरि पीछैं पछिताई रे। (प० १२७-४)।

मूंदि—क्रि० स० (सं० मुद्रण ?)—छिपा कर, मूंद कर। उ० जिहि सेरी साधू नीकले, सो तौ मेल्ही मूंदि। (सा० २४-१५-२)।

मूंदे—बंद कर दिए। उ० नऊं दुवार नरक धरि मूंदे, तू दुरगंधि को वैढौ रे। (प० ३११-२)।

मूंवाले माहां—वि० (सं० मृत, प्रा० मिअ)—मृत को। उ० कहै कवीर सुनहु नर नाहा, नां हम जीवत न मूंवाले माहां। (प० ६५-४)।

मूआ – दे०'मुआ'। (पा०सा० १४-३०-१)

मूएं—दे० 'मुए'। (पा० प० ६८-६)।

मूए—'मरे'। दे० 'मुए'। (पा० प० ८५-३)।

मूकति—दे० 'मुकति'। मुक्ति। उ० कहै कबीर हरि भगति बिन, मूरति नहीं रे मूल। (र० चौ० ३५)।

मूका—सं० पु० (हि० मुक्का)—मुट्ठी। उ० कोई ले भरि सकै न मूका, औरनि पैं जानां चूका। (प० २८२-३)।

मूठि—सं० स्त्री० (सं० मुष्टि, प्रा० मुट्ठि)—(१) मुठिया, दस्ता। उ० सतगुरु मारया बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि। (सा० १-८-१)।
(२) जादू के। उ० बिरला कोई ठाहरै, सतगुर सांमीं मूठि। (सा० २६-१-२)।

मूढ़—दे० 'मूंढ'। मूर्ख। (पा० सा० २२-२-१)।

मूतर—सं० पु० (सं० मूत्र)—मूत, पेशाव। उ० एक बूंद एकै मल मूतर, एक चांम एक गूदा। (प० ५७-३)।

मूनीं—दे० 'मुनि'। मननशील महात्मा। उ० जहां सूत कपास न पूनीं, तहां बसै इक मूनीं। (प० ३१-४)।

मूये—क्रि० अ० (हि० मुवना से)—मर गये। उ० हिंदू मूये रांम कहि, मुसलमान खुदाइ। (सा० ३१-७-१)।

मूरख—दे० 'मूरिख'। मूर्ख। (पा० सा० २१-११-२)।

मूरति—सं० स्त्री० (सं० मूर्ति)—आकृति, सूरत, नरदेह। उ० बेगि छाड़ि पछिताइगा, ह्वै मूरति भंग। (सा० २०-६-२)।

मूरि—दे० 'मूरी'। जड़ी, बूटी। (पा० प० ८-३)।

मूरिख—वि० (सं० मूर्ख)—अज्ञ, नादान, बेवकूफ। उ० मूरिख लोगन जांणहीं, बाहरि ढूंढण जांहि। (सा० ५३-६-२)।

मूरी—सं० स्त्रीं० (सं० मूल, हि० मूरि)—जड़ी, बूटी। उ० साचै नियरैं भूठै दूरी, विष कूं कहै सजीवन मूरी। (र० ४-५२)।

मूरों—दे० 'मुए'। मरे हुए को। (सा० ५२-३-नो० ६)।

मूल—सं० पु० (सं०)—(१) जड़। उ० और गुनह हरि बकससी, कांमीं डाल न मूल। (सा० २०-१७-२)।
(२) मूल वस्तु, असली चीज। उ० कहै कबीर हरि भगति बिन, मूकति नहीं रे मूल। (र० चौ०-३५)।

मूलबंध—सं० पु० (सं०)—मूलाधार चक्र, मूलबंध। उ० मूलबंध इक पावा, तहां सिध गणेस्वर रावा। (प० ३१-१२)।

मूला—दे० 'मूल' (२)। मूलवस्तु। (पा० र० १-१)।

मूलि—सं० पु० (सं० मूल)—आरम्भ से ही। उ० ते नर बिनठे मूलि, जिनि धंधैं मैं ध्याया नहीं। (सा० १२-२१-२)।

मूली—दे० 'मूरी'। जड़ी, बूटी। उ० तन मन खोजौं चोट न पाऊं, ओषद मूली कहां घसिलाऊं। (प० ११८-२)।

मूवां—क्रि० अ० (सं० मृत)—मृत होने। उ० मूवां पीछैं जिनि मिलै, कहै कबीरा राम। (सा० ३-८-१)।

मूवा—क्रि० (हि० मुवना से)—मरा हुआ, मृतक। उ० बाजै बाव बिकार की, भी मूवा जीवै। (सा० १३-२३-२)।

मूवौ—क्रि० अ० (सं० मृत)—मर गया। उ० सो जनमत काहे न मूवौ अपराधी। (प० १२५-२)।

मूस—दे० 'मूसा'। (पा० प० १३७-५)।

मूसलमांन—दे० 'मुसलमान'। (पा० प० १७२-४)।

मूसा—सं० पु० (सं० मूषक)—चूहा। उ० मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै साप पहरइया। (प० ८०-४)।

मूसि—क्रि० स० (सं० मूषण)—चूराकर। (पा० प० १६४-४)।

मूसे—दे० 'मूंदे'। बंद कर दिए। (पा०

प० ८०-८) ।

मूसै—दे० 'मूसा'। चूहे ने। उ० मूसै मंजार खायौ, स्यलि खायौ स्वांना। (प० १६०-७)।

मृग—सं० पु० (सं०)—जानवर-विशेष। उ० कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढै बन मांहि। (सा० ५३-१-१)।

मृगछाला—सं० स्त्री० (सं० मृग+हि० छाला)—मृगचर्म। उ० स्त्री अस्थांन अंतर मृगछाला, गगन मंडल सींगी बाजै। (प० १५३-२)।

मृगत्रिष्णां—सं० स्त्री० (सं० मृगतृष्णा)—मृगमरीचिका। उ० मृगत्रिष्णां दिन दिन ऐसी, अब मोहि कछू न सोहाइ। (र० ३-८३)।

मृत—क्रि० अ० (हि० मरना)—मरते समय। उ० मृत काल किनहूं नहीं देखा, माया मोह धन अगम अलेखा। (र० ४-५०)।

मृतक—सं० पु० (सं०)—मरा हुआ प्राणी, मुर्दा। उ० मृतक पीड़ न जांणई, जांणैंगी यहु आगि। (सा० ३-३८-२)।

मृत्यु—सं० स्त्री० (सं०)—मरण, मौत। (पा० र० १२-२)।

में—अव्य० (सं० मध्य)—में, अधिकरण कारक का चिह्न। (पा० सा० १६-३८-१)।

मेंडुक—सं० पु० (सं० मंडूक, हि० मेढक)—दुर्दुर, मेढक। (पा०प० ८४-५)।

मेखुली—सं० स्त्री० (सं० मेखला)—करधनी, कटिबंध। (पा० प० १३३-४)।

मेट—क्रि०स० (सं० मृष्ट, प्रा० मिट्ट)—मिटाना, दूर करना। उ० आपा मेट जीवत मरै तौ पावै करतार। (सा० १-२६-२)।

मेटनां—मिटाना। (पा० चौ० र० ५-२)।

मेटि—मिटाकर। उ० कहै कबीर सरणाई आयौ, मेटि जामन मरणां। (प० २४८-१०)।

मेटैं—मिटाने से। (पा० सा० १६-१६-१)।

मेटैं—मिटाया जा सके। (र० १-टि०७)।

मेट्यां—मिटाने से। उ० आपा मेट्यां हरि मिलै, हरि मेट्यां सब जाइ। (सा० ४१-१०-१।

मेदनीं—सं० स्त्री० (सं० मेदिनी)—पृथ्वी, धरती, संसार। उ० आप सवारथ मेदनीं, भगत सवारथ दास। (सा० ४५-४१-१)।

मेदिनीं—दे० 'मेदनी'। (पा० सा० १४-३६-१)।

मेर (१)—सं० पु० (सं० मेल)—दोस्ती। उ० मेर नींसांणी मीच की, कुसंगति ही काल। (सा० २५-५-१)।

मेर (२)—स० पु० (सं० मेरु)—सुमेरु पर्वत। उ० कहै कबीर बिचार बिचारी, तिल मैं मेर समांनां। (प० १७४-१३)।

मेर—सर्व (हि०) मेरा, अहंकार। उ० पसू पंपेरू पीव जंत, सब रहे मेर मैं बूड़ि। (सा० ५०-४-२)। दे० 'मेरा'।

मेरडंड—सं० पु० (सं० मेरुदंड)—पीठ के बीच की हड्डी, रीढ़। उ० उलटे पवन चक्र षट वेधा, मेरडंड सर पूरा। (प० ७-५)।

मेरा—सर्व० (हि० मैं से)—अपना। उ० कलियुग हम स्यूं लड़ि पड़्या, मुहकम मेरा बाछ। (सा० १-५-२)।

मेरी—अपनी। उ० मेरी पारी मैं लिखि दे श्रीगोपाल। (प० ३७६-४)।

मेरे—मुझे। उ० भिस्नन मेरे चाहिये, बाझ पियारे तुझ। (सा० ११-७-२)।

मेरै—मेरे पास। (पा० प० २२-३)।

मेरो—मेरा। (पा० प० २६-६)।

मेरौ—मेरा। उ० वेगि छुड़ाऊं मेरौ कह्यौ मांनि। (प० ३७६-६)।

मेला—सं० पु० (सं० मेलक)—लोगों का जमाव, भीड़भाड़। उ० कहै कबीर उनि देसि सिधाये, बहुरि न रहि जगि

मेला। (प० २०७-५)।

मेलि—क्रि० स० (हि० मेल+ना)—मिला कर। (पा० सा० १९-१७-२)।

मेली—मिला दी, डाल दी। (पा० सा० २५-२१-१)।

मेलेउं—मेलूं, डाल दूं। (पा०प० ५१-३)।

मेलै—मिलावे, डाले। उ० कोई एक मेलै लवणि, अमों रसांइण हुंत। (सा० ३३-७-२)।

मेलौं—डालूं। (पा० सा० २-२२-१)।

मेल्या (१)—डाल दिया। उ० पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि। (सा० १-३५-१)।

मेल्या (२)–दे० 'मेला'। मिलन, समागम, भीड़भाड़। उ० दरिया पारि हिंडोलनां मेल्या कंत मचाइ। (सा० ५२-५-१)।

मेल्यूं—डालूं। उ० इस तन का दीवा करौं बाती मेल्यूं जीव। (सा० ३-२३-१)।

मेल्हि—क्रि० अ० (हि० मेल्हना से)—फेंककर, पनपती हुई। उ० जालण आंणीं लाकड़ी, ऊठी कूंपल मेल्हि। (सा० ५८-१-२)।

मेल्हि गया—बेचैन होकर रह गया। उ० सबही ऊभा मेल्हि गया, राव रंक सुलितान। (सा० १२-५-२)।

मेल्ही—डाल दी, फेंक दी। (पा० सा० २५-१२-२)।

मेल्हया—डाल दिया। उ० हँसै न बोलै उनमनीं, चंचल मेल्ह्या मारि। (सा० १-९-१)।

मेषली–सं० स्त्री० (सं० मेखला)–करधनी, कटिबंध। उ० चित करि बटवा तुचा मेपली, भसमैं भसम चढ़ाइ। (प० २०८-५)।

मेह—सं० पु० (सं० मेघ, प्रा० मेह)—वर्षा, मेंह। उ० डूंगरि बूठा मेह ज्यूं, गया निवांणां चालि। (सा० १३-२२-२)।

मेहां—वर्षा में। उ० जवासा के रूष ज्यूं, घण मेहां कुमिलाइ। (सा० १६-१५-२)।

मेहरी—सं० स्त्री० (सं० मेहना)—स्त्री, औरत। (पा० प० १००-३)।

मैं (१)—अव्य० (सं० मध्य, प्रा० मज्झ, हि० मँह)—में। उ० देन्यूं बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव। (सा० १-१६-२)।

मैं (२)—सर्व० (सं० अस्मद का यथा रूप)—स्वयं, मैं। (पा० प० ४-८)।

मैंगर—दे० 'मैंगल'। (पा० र० १५-१)।

मैंगल (१)—वि० (सं० मदकल)—मत्त, मतवाला। उ० मन तौ मैंगल ह्वै रह्यौ, क्यूं करि सकै समाइ। (सा० १३-२६-२)। (२) सं० पु० (सं० मदकल)—मस्त हाथी। उ० जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैंगल मलि न्हाइ। (सा० ६-७-१)।

मैंड—सं० पु० (हि० मेड़)—रुकावट, बाँध। उ० ग्यान न पायौ बावरे, धरी अविद्या मैंड़। (र० चौ०-५)।

मैंड़िया—क्रि० स० (स० मंडन, हि० मांडना)—बना-ठना। (सा० ४६-१५-नो०)।

मैंण—सं०स्त्री०–मोम। उ० जिभ्यां तांति नासिका करहीं, माया का मैंण लगाया। (प० १९५-४)।

मैंर—सर्व० (हि० मैं+रे)—मैं तो। उ० मैंर निरासी जे निधि पाई, हमहिं कहा यहु तुमहि बड़ाई। (प० २-५)।

मैंवासा—सं० पु० (सं० मवास हि० मेवासा) दुर्ग, किला। उ० मैंवासा भाजै नही, हूण मतै निज दास। (सा० २४-२५-२)।

मैंवासी—दे० 'मैंवासी'। किलेदार। (पा०प० ४-६)।

मैंडी—सं० स्त्री० (सं० मंडप; हि० मढ़ी, मेडिया)—छोटा घर। उ० मैडी महल बावड़ी छाजा, छाड़ि गये सब भूपति राजा। (प० १००-४)।

मैदांन—सं० पु० (फा० मैदान)—सपाट

भूमि। (पा० सा० १४-६-२)।

मैदांनां—सपाट भूमि। (पा०प० ५६-४)

मैदांनि—(पा० सा० ५-५-२)।

मैदानि—विस्तृत सपाट भूमि, प्रपंच से बाहर। उ० अपना क र किरपा करै, ले उतारै मैदानि। (सा० ४३-२-२)।

मैमंत—दे० 'मैमंता'। (पा० सा० २६-२-१)।

मैमंता—वि० (सं० मदमत्त)—मदोन्मत्त। उ० मैमंता तिण नां चरै सालै चिता सनेह। (सा० ६-५-१)।

मैल—सं० स्त्री० (सं० मलिन)—गर्द, धूल, गंदगी। (पा० प० ८४-३)।

मैला—वि० (सं० मलिन, प्रा० मइल)—अस्वच्छ। (पा० प० ५८-७)।

मैली—वि० (सं० मलिन, प्रा० मइल)—मलिन, गंदी। उ० धन मैली पिव ऊजला लागि न सकौं पाइ। (सा० ५-३६-२)।

मैवासा—सं० पु० (राज० मवासा = गढ़)—मन की दुष्प्रवृत्तियों का गढ़। उ० मैवासा भाजे नहीं। (प० २४-२५-२)।

मैवासी—सं०पु० (हि० मेवासा से)—गढ़पति, किलेदार। उ० मन मैवासी मूंडिले, केसौं मूंडे कांइ। (सा० २४-१३-१)।

मों—दे० 'मो'। मेरा। (पा०प० ४०-७)

मो—सर्व० (सं० मम)—मेरा। उ० जाणौं जे हरि कौं भजौं, मो मनि मोटी आस। (सा० १६-५-१)।

मोई किया—क्रि० सं० (हि० मैन से)—मुलायम करने के लिए चिकना किया। अधिकार में किया। उ० मैंवासा मोई किया, दुरिजन काढे दूरि। (सा० २४-२६-१)।

मोकउं—मुझको। (पा० प० २६-४)।

मोकौं—मुझको। उ० सबको कहै तुम्हारी नारी, मोकौं इहै अदेह रे। (प० ३०७-२)।

मोपैं—मुझसे। उ० आठ पहर का दाझणां मोपैं सह्या न जाइ। (सा० ३-३५-२)।

मोर—मेरा। उ० तन मन भींतरि वसै मदन चोर, जिनि ग्यांन रतन हरि लीन्ह मोर। (प० ३८४-३)।

मोरा—मेरा। उ० दरसन देहु भाग बड़ मोरा। (प० १२०-६)।

मोरी—स्त्री० मेरी। (पा० प० १९-३)।

मोरै—हमारे, मेरे। उ० रांम देव मोरै पांहुनैं आये, मैं जोबन मैं माती। (प० १-४)।

मोसैं—मुझसे। (पा० प० १३६-२)

मोहिं—मुझे। (पा० प० २-३)।

मोहि—मुझको, मुझे। उ० कहै कवीरा संत हौ, वड़ा अचंभा मोहि। (सा० ६-२-२)।

मोट—वि० (हि० मोटा)—जो वारीक न हो, साधारण। उ० मोट चून मैदा भया, वैठि कबीरा जीम। (सा० ३१-१०-२)।

मोटी—वि० (सं० मुष्ट)—मोटी, साधारण से अधिक। उ० जाणौं जे हरि कौं भजौं, मो मनि मोटी आस। (सा० १६-५-१)।

मोटे—वि० (सं० मुष्ट)—मोटे। (पा० सा० १०-१०-२)।

मोड़ही—क्रि० स० (हि० मुड़ना से)—फेरते, लौटाते। उ० साधु अंग न मोड़ही ज्यूं भावै त्यूं खाव। (सा० ३-१९-२)।

मोतिन—सं० पु० (सं० मौक्तिक)—मोतियों। (पा० सा० २८-५-१)।

मोती—दे० 'मोतिन'। (सं० मौक्तिक, प्रा० मोत्तिअ)—मोती, रत्न। उ० तौ मुख तैं मोती झड़ैं, हीरे अंत न पार। (सा० ३४-८-२)।

मोतियाँ—मोती। उ० पार ब्रह्म बूठा मोतियाँ, धड़ बाँधी सिष राह। (सा०

५५-३-१)।

मोत्यां—मोती। उ० हरि मोत्यां की माल है, पोई काचै तागि। (सा० ३३-८-१)।

मोद—सं० पु० (सं०)—आनन्द, हर्ष। उ० झूठे सुख कौं सुख कहै, मानत है मन मोद। (सा० ४६-१-१)।

मोनि—वि० (सं० मौनिन)—मौन धारण करने वाले। उ० लुंचित मुंडित मोनि जटाधर, ऐ जु कहै सिधि पाई। (प० १३३-४)।

मोनीं—मौन धारण करने वाले महात्मा। (पा० प० ८६-६)।

मोरणां पांचौं—सं० स्त्री० (हि० पाँचों मूर्च्छनाएँ)—संगीत में प्रयुक्त पाँचों मूर्च्छनाएँ। उ० गमां वतीस मोरणां पांचौं, नीका साज बनाया। (प० १९५-५)।

मोरहीं—दे० 'मोड़ही'। (पा० सा० २-२-२)।

मोल—सं० पु० (सं० मूल्य, प्रा० मुल्ल)—मूल्य, कीमत। उ० कबीर हीरावण जिया, महँगे मोल अपार। (सा० ४५-२८-१)।

मोलि—मूल्य पर, दाम पर। उ० बहुत मोलि महँगे गुड़ पावा, लै कसाव रस रांम चुवावा। (प० ७३-३)।

मोह—सं० पु० (सं०)-(१) मोह, सांसारिक पदार्थों को अपना समझने की बुद्धि। उ० कबीर इस संसार का झूठा माया मोह। (सा० १६-२८-१)।

(२) अज्ञान, भ्रम। उ० मेरी मेरी दुनियां करते मोह मछर तन धरते। (पा० १०२-१)।

मोहड़ी—सं० स्त्री० (हि० मुंह+ड़ा)—किसी वस्तु का अगला भाग। (पा० प० ८३-६)।

मोहनीं—दे० 'मोहनी'। (पा० सा० ३१-४-१)।

मोहनी—वि० (सं०)—मोहित करने वाली। उ० कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खांड़। (सा० १६-७-१)।

मोहा—क्रि० स० (सं० मोहन)—मोह लिया। (पा० र० ११-५)।

मोहिया—मोहित किया। (पा० प० १७३-८)।

मोहू—मोह। (पा०र० १-२)।

मोहे—मोह लिए। (पा० प० १३३-४)।

मोहै—मोहती है। (पा०सा० ३१-४-१)।

मौंनां—दे० 'मोनि'। (पा० र० ६-२)।

मौंनि—सं० पु० (सं० मौन)—चुप्पी। उ० मुकताहल बिन चंच न लावै, मौंनि गहै कै हरि गुन गावै। (प० ३४४-४)।

मौंनीं—दे० 'मुनि'। (पा०प० १६१-३)।

मौज—सं० स्त्री० (अ०)—मजा, आनन्द। उ० बार बार नहीं पाइए, मनिपा जन्म की मौज। (सा० १२-३५-२)।

मौज मैं—उमंग में, धुन में। उ० चरन कँवल की मौज मैं, रहिस्यूं अंतिरु आदि। (सा० ३१-६-२)।

मौजूद—वि० (अ०)—उपस्थित, तैयार, हाजिर। (पा० प० ८७-८)।

मौति—सं० स्त्री० (अ०)—मृत्यु। (सा० १२-१३-नो० १५)।

मौपैं—मुझसे। उ० अवरन कौं का बरनिये, मौपैं लख्या न जाइ। (सा० ३८-६-१)।

म्यंत—सं० पु० (सं० मित्र)—साथी, दोस्त। उ० काल सिहणैं यौं खड़ा, जागि पियारे म्यंत। (सा० ४६-३-१)।

म्यलियांह—दे० 'मिल्या'। मिल गया। (सा० ३-३२-नो०)।

म्यांनैं—अव्य० (सं० मध्य)—में, बीच में। (पा० प० ८७-७)।

म्यानैं—दे० 'म्यांनैं'। में। उ० हक साच खालिक खालक म्यानैं, सो कछू सच

सूरति मांहि। (प० २५७-८)।

म्यौं म्यौं—सं० स्त्री० (अनु०)—भय के कारण बिल्ली की भाँति निकलती हुई धीमी आवाज। उ० आडी तिरछी फिरती है, क्या च्यौं च्यौं म्यौं म्यौं करती है। (प० १०६-२)।

म्रगौं—सं० पु० (सं० मृग)—वन्य पशुओं ने। (सा० १२-१३-नो० २०)।

म्रिग—दे० 'मृग'। (पा०प० ६४-८)।

म्रिगछाला—दे० 'मृगछाला'। (पा० प० २४-४)।

म्रिगा—दे० 'मृग'। (पा०प० १२४-७)।

म्रिघ—दे० 'मृग'। पशु। (सा० १२-५४-नो० ७०)।

म्रिघा—दे० 'मृग'। पशु-विशेष। (सा० ४२-१-नो० १)।

य

यंद्र—सं० पु० (सं० इंद्र)—इन्द्र नामक देवता। (र० ४-१००)।

यह—सर्व० (सं० एषः)—यह। (पा० प० १०-१३)।

यहि—वि० (सं० इह)—इस। (पा० प० ४१-१)।

यहीं—क्रि०वि० (सं० इह)—इसी जगह, इसी स्थान पर। (पा० प० ६४-६)।

यहु—सर्व०-यह। उ० दूधा यहु आकार। (सा० १-२६-१)।

या (१)—अव्यय (फा०)—अथवा। उ० या रब यार हमारा। (प० ६३-५)।

या (२)—सर्व०, वि० (सं० इह)—इस, यह। (पा०प० २३-४, सा० १४-६-२)

यातै—इससे। (पा० प० १५७-३)।

याही—सर्व० (हि० या+हि)—यही। उ० याही ओषदि साचि। (सा० १३-४०-२)।

यार—सं० पु० (फा०)—दोस्त, साथी। उ० या रब यार हमारा। (प० ६३-५)

यूं—अव्यय (सं० एवमेव, प्रा० एमेअ, प० एमि, हि० यों)—इसी प्रकार, ऐसे ही। उ० यूं जे राम रमाइ। (सा० २-२४ १)।

यूं—(पा० प० १४१-४)।

येही—सर्व० (सं० इह)—यह ही, यही। उ० बोलनहार जगत गुरु येही। (प० ६१-३)।

यों—अव्यय (सं० एवमेव, प्र० एमेअ, अप० एमि)—इस प्रकार। उ० कबीर सुंदरि यों कहै। (सा० ५२-१-१)।

यौं—अव्यय (सं० एवमेव, प्रा० एमेअ, अप० एमि, हि० यों)—इस प्रकार, इस भाँति, उसी प्रकार, वैसा ही। उ० कबीर हरि रसयौं पिया। (सा० ६-१-१), ज्यूँ मन मेरा तुझ सौं, यौं जे तेरा होइ। (ला० ५६-७-१)।

यौंही—(हि० यों+ही)—इसी प्रकार, इसी तौर है। उ० जियरा यौंही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ। (सा० ३-१०-२)।

र

रंक—वि० (सं०)—निर्धन, धनहीन, दरिद्र। उ० सबही ऊभा मेल्हि गया, राव रंक सुलितान। (सा० १२-५-२)।

रंकु—दरिद्र। (पा० प० ७८-२)।

रँग—सं० स्त्री० (फा० रग)—शरीर की नस या नाड़ी। उ० सब रँग तंत

रवाव तन, विरह बजावै नित्त। (सा० ३-२०-१)।

रंग—सं० पु० (सं०)—(१) स्नेह, अनुराग। उ० क्या जाणों उस जीव सूं, कैसें रहसी रंग। (सा० ११-१६-२)।
(२) वर्ण, रंग। उ० सब जग धोवी धोइ मरै, तौभी रंग न जाय। (सा० १३-११-२)।
(३) क्रीड़ा, खेल, विहार। उ० नाना भोजन स्वाद सुख, नारी सेती रंग। (सा० २०-९-१)।

रंगाइ—क्रि०स० (हि० रंगना से रंगाना)—रंगा कर, तैयार कराकर। उ० तुचा रंगाइ करौती कीन्हीं। (र०चौ०-१७)।

रँगाऊँ—रंगा लूं। उ० तौं नील रँगाऊँ दंत। (सा० ११-१-२)।

रंगि—दे० 'रंग' (१)। रंग में, स्नेह में। (पा० प० १३३-९)।

रंगी—वि० (हि० रंग+ई (प्रत्य०)—आनन्दीं, मौजी, विनोदशील। उ० अनहद वेन बजावै रंगी। (प० २०६-४)।

रंगै—दे० 'रंग' (२)। उ० नांनां रंगै भांवरि फेरी। (प० २२६-५)।

रंचक—क्रि०वि० (सं० न्यंच, प्रा० णंच)—थोड़ा भी, तनिक भर। उ० ता मन का कोइ जानैं भेव, रंचक लीन भया सुषदेव। (प० ३३-५)।

रंजसि—क्रि० अ० (सं० रंचन, हि० रंजना)—प्रसन्न होते हो, आनन्दित हो। उ० रंजसि मीन देखि वहु पांनीं। (प० ८६-१)।

रंतड़ियां—सं० स्त्री० (सं० रक्त से)—लाल हो गई। उ० सांई अपणैं कारणैं, रोइ रोइ रंतड़ियां। (सा० ३-२५-२)।

रंती—सं० स्त्री० (सं० रक्तिका, प्रा० रत्तीअ, हि० रत्ती)—एक माशे का आठवां भाग भी, थोड़ा भी। उ० रंती घटै न तिल बधै, जौ कोटिक करै उपाइ। (सा० ३५-८-२)।

रंधना—सं० पु० (सं० रंधन, हि० रांधना)—रांधने का वर्तन। उ० रतन कौ थाल कियौ तैं रंधना। (प० ८७-४)।

रंभा—सं० स्त्री० (सं०)—वेश्या, सुन्दरी वेश्या, एक प्रसिद्ध अप्सरा। उ० सेज रमैं रमीं रंभा होरी, तासौं प्रीति न लागी। (प० २९९-६)।

रउ—दे० 'रउरा'। (पा० प० ४३-८)।

रउरा—सर्व० (हि० राव)—आप, जनाव। (पा० प० १७२-१)।

रकत—सं० पु० (सं० रक्त)—खून, लहू। उ० प्रथमे रकत कि रेतं। (प० १६४-५)।

रखवारा—सं० पु० (हि० रखवाला)—रक्षक, पहरेदार। (पा० प० १६२-३)।

रखवारी—सं० पु० (हि० रखवाला)—हिफाजत। उ० मास पसारि चील्ह रखवारी। (प० ८०-३)।

रखवारे—दे० 'रखवारा'।—रक्षक। (पा० प० ६१-५)।

रखवाला—दे० 'रखवारा'। उ० उस रखवाला औरै होवै। (प० ३७०-२)।

रखवालू—रक्षक। उ० सो मेरा रखवालू। (प० २७०-१४)।

रखवाले—रक्षक। उ० रखवाले का होइ विनास। (प० ३७०-३)।

रग—दे० 'रंग'। (पा० सा० २-१७-१)।

रगत—दे०'रकत'। खून, रक्त। उ० जाकै रगत मास न होइ। (प० २१२-४)।

रघुनाथ—सं० पु० (सं०)—श्री रामचंद्र, भगवान। उ० कहै कबीर रघुनाथ सूं, मतिर मंगावै मोहि। (सा० ३५-१५-२)।

रघुपति—सं० पु० (सं०)—श्री रामचंद्र। (पा० प० ८६-२)।

रघुराइ—सं० पु० (सं० रघुराज)—भगवान श्री रामचंद्र। (पा० प० ७७-६)।

रचनहार—वि० (हि० रचना+हारा (प्रत्य०)—रचने वाले, सृष्टिकर्त्ता। उ० रचनहार कूं चीन्हि लै, खैबे कूं कहा रोइ। (सा० ३५-३-१)।

रचनां—सं० स्त्री० (सं० रचना)—निर्मित वस्तु। (पा० प० ५७-२)।

रचना—निर्मित वस्तु, सृष्टि। उ० बिछुरे पंचतत की रचना, तब हम रांमहिं पाँवहिगे। (प० १५०-२)।

रचा—क्रि० स० (सं० रचन)—बनाना, सिरजना। (पा० सा० १०-७-२)।

रचि—रचकर, बनाकर। (पा०प० ६२-४)

रचिऔ—बनाओ। (पा० प० १३०-३)।

रचित—वि० (सं०)—बना हुआ। (पा० चौ० र० ११-१)।

रचिहैं—विधान करते हैं, बनाते हैं। (पा० प० ३३-२)।

रची—बनाई। (पा० प० ५५-७)।

रचे—बनाए, निर्मित किए। (पा० सा० १५-५८-२)।

रच्यौ—बनाया। उ० करम कोटि कौ ग्रेह रच्यौ रे। (प० ५-३)।

रज—सं० पु० (१) (सं० रजस्)—स्त्री के योनि मार्ग से प्रति मास निकलने वाला रक्त स्राव। उ० रज बीरज की कली, तापरि साज्या रूप। (सा० १६-१९-१)।
(२) (सं० रजोगुण)—राजसी स्वभाव, रजोगुणी प्रवृत्ति। उ० रज बिनां कैसो रजपूत। (प० १२६-३)।

रजगुन—सं०पु०(सं० रजोगुण)—राजसी स्वभाव। उ० रजगुन ब्रह्मा तमगुन संकर, सतगुन हरि है सोई। (प० ५७-७)।

रजनीं—सं० स्त्री० (सं०)—रात। (पा० र० १३-४)।

रजपूत—सं० पु० (सं० राजपुत्र, हि० राजपूत)—क्षत्रिय। उ० रज बिनां कैसो रजपूत। (प० १२६-३)।

रजमल—सं० पु० (सं० रजोमल)—राजसी विकार। उ० जैसैं धुबिया रजमल धोवै, हट-तप-रत सब निंदक खोवै। (प० ३४२-४)।

रटत—क्रि० स० (हि० रटना से)-बार-बार कहता है, पुकारता रहता है। (पा० प० १५-२)।

रटै—रटने से, बारंबार कहते रहने से। उ०गुण गायें, गुण नाम कटै, रहै न राम वियोग। (सा० २-२८-१)।

रटौ—रटूँ। (पा०प० ६६-८)।

रतंन—सं० पु० (सं० रत्न)—मणि, जवाहिर। उ० पाया राम रतंन। (सा० २-७-२)।

रतन—चमकीले बहुमूल्य पदार्थ, रत्न। उ० बिनसै रतन अमोल। (सा० ५१-१-२)।

रतनु—रत्न। (पा० प० ४३-३)।

रत—वि० (सं०)—अनुरक्त, लीन। उ० तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंचतत बराती। (प० १-३)।

रतनालियां—वि०(सं० रक्त)-लाली लिये हुए, सुर्खी युक्त। (पा०सा० १६-८-२)।

रतवाई—क्रि० अ० (सं० रत+आना (प्रत्य०)-अनुरक्त हो जाते हैं। उ० निरखत नैन रहे रतवाई। (र० १-टि० ४७)।

रतबलियां—सं० स्त्री० (देश० रतवाई) —पहले दिन कोल्हू चलने पर उसका रस लोगों में बाँटने की प्रथा। (सा० ४६-१९-नो० ३३)।

रता—वि० (सं० रत)—लीन, अनुरक्त। उ० मैं मंता अविगत रता, अकलप आसा जीति। (सा० ६-६-१)।

रति—दे० 'रत'। (पा० प० ५-३)।

रती—दे० 'रंती'। उ० मासा मांगे रती न देऊं। (प० ३७१-३)।

रन—सं० पु० (सं० अरण्य, प्रा० रन्न)—जंगल, वन। उ० हम भी पांहन पूजते, होते रन के रोझ। (सा० २३-४-१)।

रपटि—क्रि० अ० (सं० रफन)—फिसलकर, रपटकर। (पा० प० १४६-६)।

रफत—वि० (फा० रफतनी)—साथ जाने योग्य। (प० २५८-५)।

रबाब—सं० पु० (अ०)—रबाब नाम का सारंगी नुमा तार लगा हुआ बाजा। उ० सब रँग तंत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त। (सा० ३-२०-१)।

रबाबी—सं० पु०(अ० रबाब + ई (प्रत्य०)—रबाब बजाने वाला। उ० धौल मंदलिया बैल रबाबी, कऊवा ताल बजावै। (प० १२-३)।

रबि—दे० 'रवि'। (पा० प० १०३-४)।

रमइया—सं० पु० (हि० राम + ऐया (प्रत्य०)—राम, ईश्वर। उ० नैंनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहां समाइ। (सा० ११-४-२)।

रमइयौ—राम। (सा० ३३-७-नो० ८)।

रमजांनां—सं० पु० (अ० रमजान)—एक अरबी महीना जिसमें मुसलमान रोजा रखते हैं। (पा० प० १७७-७)।

रमणां—सं० स्त्री० (सं० रमणी)—स्त्री। उ० बहु सुंदरि रमणां। (प० २४८-५)।

रमत—क्रि० अ० (सं० रमण, हि० रमना)—रमता है, व्याप्त होता है। (पा० प० ४६-७)।

रमनां—रमता है। (पा० प० १०१-५)।

रमसि—रमता है। (पा० प० ६८-६)।

रमहु—रमो। उ० सार सुख पाइये रे, रंगि रमहु आत्मारांम। (प० ३००-१)।

रमिगया—चलता हो गया, चल दिया। उ० जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति। (सा० ४-४-२)।

रमिता—व्याप्त रहने लगा। (सा० ३२-४-नो० ५)।

रमिरह्या—व्याप्त हो रहा है, रम रहा है। उ० नैंनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहां समाइ। (सा० ११-४-२)।

रमे—रम गए। (पा० प० १४०-५)।

रमैं—अनुरक्त होता है, आनन्द करे। उ० ससा सींग की बूनहड़ी, रमैं बांझ का पूत। (सा० ५८-५-२)।

रमौं—रमूं। (पा०प० १३५-८)।

रमता—दे० 'रमित'। (पा० प० १४२-१०)।

रमाइ—क्रि० स० (सं० रमण का सकर्मक रूप, यहाँ अकर्मक है)—अनुरक्त हो जाय। उ० यूं जे राम रमाइ। (सा० २-२४-१)।

रमित—वि० (हि० रमना)—रमण करने वाला, सर्व व्यापक। उ० रमित रांम सूं लागै रंग, कहै कबीर ते निर्मल अंग।

ररां ममां—सं० पु० (हि० र, म)—रकार मकार अर्थात् राम। उ० ररां ममां दोई अखिर सारा। (प० २७६-५)।

ररै ममैं—राम में ही। उ० बांवन आषिर सोधि करि, ररै ममैं चित लाइ। (सा० १६-२-१)।

रलि गया—क्रि० अ० (सं० ललन)—एक में मिलि गया। उ० रलि गया आटैं लूंण। (सा० १-१४-१)।

रवंते—क्रि० अ० (सं० रमण, हि० रमना)—रमण करते हैं, क्रीड़ा करते हैं। उ० निराकार प्रभु आदि निरंजन कत रवंते भवनां। (प० १७४-४)।

रवहु—दे० 'रमहु'। (पा० प० १७३-२)।

रवि—सं० पु० (सं०)—सूर्य। उ० रवि ससि बिना उजास। (सा० ५-२-१)।

रषाइए—क्रि० स० (हि० रखना)—रखिये। उ० पूर्णं बैसि रषाइए, परगट होइ दिवानि। (सा० २०-६-२)।

रषियौ—सुरक्षित रखा। उ० बीस पषां

इम रषिवौ। (सा० ३५-१-३)।

रस—सं० पु० (सं०)—पेय पदार्थ। उ० कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि। (सा० ६-१-१)।

रसन—रस से। (पा० प० २-२)।

रसनाँ—सं० स्त्री० (सं० रसना)—जीभ को। उ० जिनि पाया तिनि सूगह गह्या, रसनाँ लागी स्वादि। (सा० ५-३३-१)।

रसना—दे० 'रसनां'। उ० फुनि रसना नहीं राम। (सा० २-१७-१)।

रसनूं—दे० 'रसनां'। (पा०प० ४१-४)।

रसरिया—सं० स्त्री० (हि० रस्सी)—डोरी, रस्सी। (पा० प० १७०-६)।

रसहिं—सं० पु० (सं० रस)—रस को। (पा० प० १०८)।

रसहि—रस को। उ० रसनां रसहि विचारिये, सारंग श्रीरंग धार रे। (प० ५-८)।

रसांइण—सं० पु० (सं० रसायन) (१) विष। उ० कोई एक मेलै लवणि अमीं रसांइण हुंत। (सा० ३३-७-२)। (२) महत्वपूर्ण औषध। उ० सबै रसांइण मैं किया हरि सा और न कोइ। (सा० ६-८-१)।

रसांइन—दे० 'रसांइण' (२)। (पा०प० १०६-३)।

रसाइन—दे० 'रसांइण' (२)। उ० राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल। (सा० ६-२-१)।

रसाई—क्रि० स० (सं० रस से)—रसपूर्ण करना, बनाना। (पा० प० ५६-५)।

रसाल—वि० (सं०)—मधुर, स्वादिष्ट। उ० राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल। (सा० ६-२-१)।

रसु—दे० 'रस'। (पा० प० ५५-१)।

रसोई (करी)—सं० स्त्री० (हि० रस+ओई (प्रत्य०)—भोजन (बनाया)। उ० एकै पवन एक ही पांणी, करी रसोई न्यारी जांनीं। (र० चौ०-२२)।

रहउं—क्रि० अ० (हि० रहना से)—रहूँ। (पा०प० ९-३)।

रहउ—(पा० सा० २४-६-१)।

रहट—सं० पु० (सं० आरहट्ट, प्रा० अरहट्ट)—पानी निकालने का यंत्र। उ० नैंना नीझर लाइया, रहट बहै दिन जाम। (सा० ३-२४-१)।

रहटवा—सं० पु० (हि० रहंट)—सूत कातने का चर्खा। उ० सहजि रहटवा दियौ चलाई। (प० २२८-३)।

रहटां—उ० रहटां नहीं परम पद दाता। (प० २२८-५)।

रहटा—उ० मन मेरौ रहटा रसनां परइया। (प० २२८-१)।

रहण—क्रि० अ० (हि० रहना)—ठहरने के लिए, रुकने के लिए। उ० प्रीत न जोड़ी राम सूं, रहण कहाँ थै होइ। (सा० १४-३-१)।

रहत—रहती है। (पा० प० १४१-४)।

रहते—ठहरते हैं। (पा० प० ८०-५)।

रहन—रहने, ठहरने। (पा० प० ६२-२)।

रहनां—रहना है, ठहरना है। (पा० प० ९५-१)।

रहनीं—रहना। (पा० प० १२२-१०)।

रहनु—ठहरना, रहना। (पा० प० ११५-१)।

रहलीं—रहीं। (पा० प० १६-३)।

रहसी—रहेगा, जमेगा। उ० क्या जाणौं उस जीव सूं कैसें रहसी रंग। (सा० ११-१६-२)।

रहहिं—रहता है। (पा० प० ८१-५)।

रहहु—रहो। (पा० प० ७१-८)।

रहा—रह गया। उ० नैनूं रहा समाइ। (सा० ५-३८-२)।

रहाइ—रहता है। (पा० प० ५५-५)।

रहाई—रहती है। (पा० प० ३४-३)।

रहाई ले—रहले। (पा० प० १५६-३)।

रहि गई—रह गई, कायम रही। उ० बहती सलिता रहि गई, मंछ रहे जल त्यागि। (सा० ४-९-२)।

रहिए—रह जाइए। (पा० प० ६६-२)।

रहिअैं—रहते हैं। (पा० प० ६१-४)।

रहिवौं—रहूंगा। (प० ६-२)।

रहिये—रह जाइए। उ० जासौं रहिये लागि। (सा० ४३-५-१)।

रहिस्यूं—रहूँगा। उ० चरन कवँल की मौज मैं, रहिस्यूं अंतिरु आदि। (सा० ३१-६-२)।

रही—रह गई, पड़ी रही। उ० आसणि रही विभूति। (सा० ४-४-२)।

रहुरहु—रह जा, ठहर जा। उ० रहु रहु मुगध गहे लड़ी, प्रेम न लाजूँ मारि। (सा० ३-३६-२)।

रहूं—रहूँ। उ० किहि विधि रहनि रहूं हो दयाला। (प० २३०-२)।

रहे—रहे हैं। उ० मंछ रहे जल त्यागि। (सा० ४-९-२)।

रहैं—रहते हैं। उ० निकटि रहैं तें नीच। (सा० २०-१४-२)।

रहै—रह जाय, स्थित हो जाय। उ० ताहि रहै ल्यौ लाइ। (सा० ४३-७-२)।

रहैगा—रह जाएगा। (पा० प० ९४-६)।

रहैत—रहती है। उ० फूलनि मैं जैसैं रहैत वास। (प० ३८२-३)।

रहौ—रहे, रह जायँ। उ० भावैं स्यंभ रहौ प्रमोधि। (सा० २०-१९-२)।

रह्या—ठहर गया, रह गया। उ० भीतरि रह्या शरीर। (सा० १-६-२)।

रह्यौ—रह गया, रहा। (पा० प० २१-२)।

रहनि—सं० स्त्री० (हि० रहना)—रहने का ढंग, रहने की क्रिया। उ० किहि विधि रहनि रहूं हो दयाला। (प० २३०-२)।

रहवरहु—वि० (फा० रहवर)—मार्ग-निर्देशक भी। उ० हम रफत रहवरहु समां, मैं खुर्दा सुमां विसियार। (प० २५८-५)।

रहसैं—क्रि० अ० (हि० रहस्+ना (प्रत्य०)—प्रसन्न होता है। उ० सैंन करै मनहीं मन रहसैं, गूंगै जांनि मिठाई। (प० ६-८)।

रहाया—क्रि० अ० (हि० रहना)—रहा। (पा० प० ६०-३)।

रहावा—क्रि० अ० (हि० रहना)—रहता है। (पा० चौ० र० ३-१)।

रहित—वि० (सं०)—विना, वगैर। उ० त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल, तब हमारो नांउं रांम राई हो। (प० ५० -८)।

रहिवेकौं—सं० पु० (हि० रहना से)—रहने के लिए, ठहरने के लिए। उ० रहिवेकौं नहीं ठौर। (सा० १४-५-१)।

रहिमांन—वि० (अ० रहमान)—बड़ा दयालु। उ० तूं पूरा रहिमांन। (सा० ७-२-२)।

रहिमानां—(पा० प० ४२-८)।

रहीम—सं० पु० (अ०)—दयालु परमात्मा। उ० काबा फिर कासी भया, राम भया रहीम। (सा० ६१-१०-१)।

रहीमां—(पा० प० १७७-१२)।

रांचु—दे० 'राचैं'। (पा० प० ९७-१)।

रांड—वि० (सं० रंडा)—विधवा, वेवा। (पा० प० १०९-६)।

रांडनि—विधवा अथवा वास्तविक पति को भुला देने वाली जीवात्मा। उ० सब रांडनि कौ साथ चरपा को धरै।

रांणौं—दे० 'राणा'। राजा भी। उ० जस रांणौं गढ़ मेलिसीं, सुमिरि लै करतार। (सा० १२-७-२)।

रांनीं—सं० स्त्री० (सं० रानी)—रानी। (पा० प० ९२-३)।

रांम—सं० पु० (सं० राम)—रामचंद्र, भगवान। उ० रांम नाम गुन गाइ। (प० ५-१७)।

रांमदेव—सं० पु० (सं० रामदेव)—रामदेव, भगवान। उ० रांमदेव मोरैं पांहुनैं आये, मैं जोवन मैं माती। (प० १-४)।

रांमराय—दे० 'रांम'। (पा० प० ५३-७)।

रांमहिं—दे० 'रांम'। (पा० प० २७-४)।

रांमां—दे० 'रांम'। (पा०प० १७७-१२)।

रांमु—दे० 'रांम'। (पा० प० २०-१०)।

रांमैं - दे० 'रांम'। (पा० प० १२५-५)।

राइ—सं०पु० (सं० राजा)—राय, राजा, सरदार। (पा० प० ११५-६)।

राई—सं० स्त्री० (सं० राजिका, प्रा० राइआ)—एक प्रकार की छोटी सरसों। उ० भगति दुवारा संकड़ा, राई दसवैं माइ (सा० १३-२६-१)।

राई लूंण किया—मुहा० राई नोन उतारा अर्थात् राई और नमक को आग में डालना जिससे बच्चों पर पड़ा नजर का प्रभाव जाता रहे। उ० कबीर बारचा नांव परि, कीया राई लूण। (सा० ३८-६-१)।

राउ—दे० 'राइ'। राय। (पा० चौ० र० ३६-२)।

राऊ—दे० 'राइ'। राय। (पा० र० ८-५)।

राखत—क्रि० स० (सं० रक्षण, प्रा० रक्खण)—रखता है, धारण करता है। उ० आयी चोर तुरंग मुसि ले गयो मोरी राखत मुगध फिरैं। (प० २४३-६)।

राखता—रखते रखते। (पा० सा० ११-४-२)।

राखन—रखने। (पा० प० ६५-७)।

राखल - रखा। उ० त्रिगुंण रहित फल रमि हम राखल। (प० ५०-८)।

राखहु—रखो। उ० कहै कबीर धीर मति राखहु, सासति करौ हंमारी। (प० १६१-६)।

राखा—रख लिया। (पा० प० ६०-४)।

राखि—रख लो। उ० ऐसा अद्भुत जिनि कथै, अद्भुत राखि लुकाइ। (सा० ८-३-१)।

राखिअै—रख लीजिए। (पा० प० ३६-६)।

राखिए—रखिए। (पा० प० ११७-३)।

राखिये—रखी जा सकती है। उ० कहु धौं किहि विधि राखिये, रूई पलेटी आगि। (सा० १६-३२-२)।

राखिहै—रखा जा सकता है। (पा० र० १७-७)।

राखे—रखे। (पा० प० ८०-४)।

राखैं—रखे, निर्वाह करे, पाले। (पा० प० ३५-२)।

राखैं—रखे, पाले। उ० ज्यूं हरि राखैं त्यूं रहौं, जो देवैं सो खाउं। (सा० ११-१५-२)।

राखौं—रक्षा करूं, रखूं। उ० जे सिर राखौं आपणां, तौ पर सिरिज अंगीठ। (सा० १३-६-२)।

राखौ—रखूं। (पा० प० १२३-१२)।

राख्या—रखा, सुरक्षित किया। उ० राख्या पवन सँवारि। (सा० ३३-४-१)।

राख्यौ—रख लिया। (पा०प० १६५-८)।

राखनहारे—(सं० रक्षण+हार)—रखवाला, रक्षक। (पा०सा० १५-५४-१)।

राखनहारौ—रखने वाला, रक्षक। उ० तोहि राखनहारौ मोहि बताइ। (प० ३७१-६)।

राग—सं० पु० (सं०)—मन प्रसन्न करने की क्रिया, मनोरंजन। उ० सातौं सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग। (सा० १२-४-१)।

राग रंग—सं० पु० (सं०)—सांसारिक सुख। उ० छत्र सिंघासण चवर ढुलंता, रागरंग बहु आगौ। (प० २६६-५)।

रागिनीं—सं० स्त्री० (सं० रागिनी)—संगीत में किसी राग की स्त्री। (पा० प० ८६-८)।

राचणं—क्रि० स० (सं० रंजन, हि० राचना)—अनुरक्त होने में। उ० पर नारीं कै राचणैं, औगुण है गुण नांहि। (सा० २०-५-१)।

राचणौं—अनुरक्त होना। उ० पर नारी को राचणौं, जिसी ल्हसण की पांनि। (सा० २०-६-१)।

राचनैं—दे० 'राचणैं'। (पा० सा० ३०-४-१)।

राचनौं—दे० 'राचणौं'। (पा० सा० ३०-१-१)।

राचिए—अनुरक्त होइए। (पा० सा० २४-१४-२)।

राचियां—अनुरक्त हुआ, लीन हुआ। उ० जे हरि चरणां राचियां, तिनके निकटि न जाइ। (सा० २०-२-२)।

राचिया—अनुरक्त हुआ। (पा० सा० २५-१५-१)।

राचे—अनुरक्त हुए। (पा०सा० १५-७७-२)।

राचै—रंजित हो जाय, रंग जाय। उ० होइ मगन रांम रंगि राचै, आवागवन मिटै छापै। (प० १८३-६)।

राछ भरत—सं० पु० (सं० रक्ष)—जुलाहों के करघे में एक औजार, जिससे ताने का धागा ऊपर नीचे उठता व गिरता है। उ० राछ भरत भइ संझा, तारुणीं त्रिया मन बंधा। (प० २८६-६)।

राज—सं० पु० (सं० राज्य)—(१) शासन, प्रबंध। उ० राज पियारे रांम का, नगर वस्या भरिपूरि। (सा० २४-२६-२)।
(२) पूरा अधिकार। उ० अणजांणे का राज। (सा० २६-७-१)।

राजदुवारै—सं० पु० (सं० राजद्वार)—राजा की ड्योढ़ी, न्यायालय। (पा० सा० २१-१८-२)।

राजस—सं० पु० (सं०)—राज्याभिमान, आवेश। (पा० प० १८४-२)।

राजा—सं०पु० (सं० राजन्, प्रा० राय)—राजा, नरेश। उ० राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होइ। (सा० १२-६-२)।

राजा रांम—सं० पु० (सं० राजाराम)—श्री रामचंद्र, भगवान। उ० हम घरि आये हो राजा रांम भरतार। (प० १-२)

राजेसुर—सं० पु० (सं० राजेश्वर)—राजाओं का राजा। (पा०प० १५७-२)।

राजै—क्रि० अ० (सं० राजन्)—राज्य करता है, शोभित होता है, रहता है। (पा० प० १५७-६)।

राणा—स० पु० (सं० राट्)—राजा। उ० राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होइ। (सा० १२-६-२)।

रातड़ियांह—दे० 'राति'। (पा० सा० २-२३-२)।

रातदिवस—क्रि० वि० (सं० रात्रि+दिवस)—रात-दिन, सर्वदा। उ० रात दिवस कै कूकणैं, (मत) कवहूं लगै पुकार। (सा० २-१६-२)।

राता—क्रि० अ० (सं० रक्त, प्रा० रक्त+ना (प्रत्य०)—अनुरक्त हुआ। उ० पर नारी राता फिरैं, चोरी विढ़ता खांहि। (सा० २०-३-१)।

राति—सं० स्त्री० (सं० रात्रि, हि० रात)—रात का समय। उ० दिवस थकां सांईं मिलौं, पीछैं पड़िहै राति। (सा० १३-१३-२)।

राती—रात। (पा० प० १२१-७)।

रातै—क्रि० अ० (सं० रक्त, प्रा० रक्त+ना (प्रत्य०)—अनुरक्त होने पर, विषयासक्त होने पर। उ० अणरता सुख सोवणां, रातै नींद न आइ। (सा० २६-

५-१) ।

रातौ—वि० (सं० रक्त, प्रा० रत्त)—लाल, सुर्ख । उ० तन रातौ मन सेत । (सा० ४२-१-२) ।

रात्यूं—सं० स्त्री० (हि० रात से)—रात में । उ० रात्यूं रूंनी बिरहनीं, ज्यूं बंचौ कूं कुंज । (सा० ३-१-१) ।

राधा—सं० स्त्री० (सं०)—कृष्ण की प्रेयसी । (पा० प० १५८-७) ।

राना—दे० 'राणा' । (पा०सा० २४-५-२)

राम—सं० पु० (सं०)—ईश्वर । उ० राम नाम के पटं तरै, देबे कौं कुछ नांहि । (सा० १-४-१) ।

रामहिं—राम में ही, राम ही । उ० अब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं नाहि । (सा० २-८-२) ।

रामुराम—राम राजा । (पा०प० १११-१)

रामै—राम । (सा० १-२६-नो० २७) ।

राम चरन—सं० पु० (सं० रामचरन)—भगवान का आश्रय । उ० राम चरण नीकां गही, जिनि जाइ जनम ठगाइ । (सा० १६-१-२) ।

रामजन—सं० पु० (सं०)—राम का सेवक । उ० कहै कबीरा रामजन, खेलौ संत विचार । (सा० १-३१-२) ।

राव—दे० 'राउ' । राजा, सरदार । उ० राव रंक सुलितान । (सा० १२-५-२) ।

रावन—सं० पु० (सं० रावण)—लंका का प्रसिद्ध राजा जो राक्षसों का नायक था । उ० रावन होत लंक कौ छत्रपति, पल मैं गई बिहात । (प० ४००-६) ।

रावल—सं० पु० (सं० राजकुल, प्रा० राउल)—राजा, सरदार । (पा० प० ५१-७) ।

राषतां—क्रि० स० (हि० राखना)—रक्षा करते-करते । उ० रासि पराई राषतां, खाया घट का खेत । (सा० १७-१५-१) ।

राषि जांणै—रक्षा करना, अधिकार में करना । उ० काम मिलावै रांम कूं, जो कोई जांणै राषि । (सा० २९-११-१) ।

राषौं—रक्षित रखा । उ० ज्यूं नाले राषौं रस मइया (प० २०२-१६) ।

रासड़ीं—स० स्त्री० (सं० रसना, प्रा० रसणां, हि० रसरी)—रस्सी, डोर । (सा० १२-६१-नो० ८२) ।

रासि—सं० स्त्री० (सं० राशि)—ढेर, वस्तुओं का समूह। उ० रासि पराई राषतां, खाया घर का खेत । (सा० १७-१५-१)

रासी—सं० स्त्री० (सं० राशि)—क्रांति। वृत में पड़ने वाले विशिष्ट तारा-समूह जो बारह हैं । उ० नव ग्रिह बांमण भणता रासी । (प० १४२-५) ।

राह—सं० स्त्री० (फा०) —मार्ग, रास्ता, नियम । (पा० प० ६०-८) ।

राही—सं० स्त्री० (सं० राधिका, प्रा० राहिआ, राधा)—राधिका, राधा । उ० इहि बंनि खेलै राही रुकमनि, उहि बन कान्ह अहीरा रे । (प० ७६-१०) ।

राहु—सं० पु० (सं०)—विप्रचित्ति और सिंहिका का पुत्र जो चन्द्रमा और सूर्य को ग्रसता है । (पा० प० १४-३) ।

रिंचक—वि० (सं० न्यंच, प्रा० णंच, हि० रंचक)—थोड़ा, तनिक सा । (सा० ६-८-नो०) ।

रिखि—सं० पु० (सं० ऋषि)—योगी, तपस्वी । (पा० प० १६५-६) ।

रिझाइलै—क्रि० स० (सं० रंजन)—प्रेमी बना ले, प्रसन्न कर ले । उ० कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अंमृत गुण गाइ । (सा० २-३१-१) ।

रिण—सं० पु० (सं० रण)—युद्ध, लड़ाई । (र०-१-टि० २४) ।

रिणरूं—युद्ध तो । (र० १-टि० ३७) ।

रितु—सं० स्त्री० (सं० ऋतु)—वसत आदि ऋतु । (पा० प० १४९-१) ।

रिदा—सं० पु० (सं० हृदय)—हृदय,

दिल। उ० सत संगति रिदा मंझारि। (प० १२१-१६)।

रिदै—हृदय। (पा० प० ७७-३)।

रिपु—सं० पु० (सं०)—शत्रु, वैरी। (पा० प० ४-७)।

रिसाइ—क्रि० अ० (हि० रिस+आना (प्रत्य०)—क्रुद्ध हो जाए, विगड़ जाए। उ० हँसौं तौ राम रिसाइ। (सा० ३-२८-१)।

रिसाई—रूठता है। विगड़ता है। (पा० प० १११-८)।

रिसालू—गुस्सा होंगे। उ० टुक एक तुम्हारैं हाथ लगाऊं, तौ राजा रांम रिसालू। (प० २७०-१५)।

रिसावै—क्रुद्ध होता है। उ० घर छाडै जिनि वाहिर जाइ, नहींतर खरी रिसावै राइ। (प० ३६२-७)।

री—अव्य० (सं० रे)—सम्बोधन अरी, एरी। उ० कागद के री कांवरीं, पांणी के री गंग। (सा० १३-२१-१)।

रीझ—सं० स्त्री० (देश)—नील गाय। (सा० १७-११-नो० १४)।

रीझिकरि—(सं० रंजन)—प्रसन्न होकर। उ० सतगुर हम सूं रीझिकरि, एक कह्या प्रसंग। (सा० १-३३-१)।

रीझै—प्रसन्न होता है। उ० चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन कै भाइ। (सा० ४४-४-२)।

रीता—वि० (सं० रिक्त, प्रा० रित्त)—खाली, शून्य। उ० दुहूं चूकां रीता पड़ै, ताकूं वार न पार। (सा० ३४-६-२)।

रु—दे० 'और'। अरु। (पा० प० १८१-५)

रुई—दे० 'रुई'। (पा० सा० १५-७१-२)।

रुकमनि—सं० स्त्री० (सं० रुक्मिणी)—श्री कृष्ण की पटरानी जो राजा भीष्मक की कन्या था। उ० इहि वंनि खेलैं राहीं रुकमनि। (प० ७६-१०)।

रुक्मिनी—(पा० प० १३१-१०)।

रुचि—सं० स्त्री० (सं०)—प्रवृत्ति। (पा० प० १२१-२)।

रुचिभई—यौ० (सं० रुचि+भई)—स्वाद मिला। उ० राम कवीरैं रुचि भई, यही ओषदि साधि। (सा० १२-४०-२)।

रुचै—क्रि० अ० (हि० रुच से ना० धा०)—भला होना, रुचि के अनुकूल होना। (पा० सा० १४-३२-२)।

रुत—दे० 'रुति'। ऋतु। (पा० प० १४१-३)

रुति—सं० स्त्री० (सं० ऋतु)—मौसम, ऋतु। उ० फूल जु फूले रुति वसंत। (प० ३८८-२)।

रुधिर—सं० पु० (सं०)—रक्त, लहू। (पा० प० १८१-३)।

रुल्य—क्रि० अ० (सं० लुलन)—इधर-उधर डोलना, खराव होकर। उ० माला पहरयां कुछ नहीं, रुल्य मूवा इहि भारि। (सा० २४-७-१)।

रुसवां—वि० (फा० रुसवा)—जिसकी वहुत वदनामी हो। (पा० र० १७-१०)।

रुंड—सं० पु० (सं० रुंड)—विना सिर का धड़।

रूंधहि—क्रि० स० (सं० रुंधन)—रूँधता है, वंद कर देता है। (पा० सा० १६-१४-२)।

रूंधै—रोक दे, वंद कर दे। उ० काल कंठ तैं गहैगा, रूंधै दसूं दुवार। (सा० २-२६-२)।

रूंनी—क्रि० अ० (सं० रोदन, प्रा० रोअन, हि० रोना)—रुदन किया, विलाप किया। उ० राव्यूं रूंनी विरहनीं, ज्यूं वंचौ कूं कुंज। (सा० २-१-१)।

रूँपड़ा—सं० पु० (वै० रुक्ष, हि० रुख)—वृक्ष। उ० हरिया जांणैं रूँपड़ा, उस पांणीं का नेह। (सा० ५५-१-१)।

रूषां—पेड़, वृक्ष। उ० मंछी रुषां चढ़ि गई। (सा० ४-१०-२)।

रूई—सं० स्त्री० (सं० रोम, प्रा० रोवं,

हि० रोई)—कपास की रूई। उ० कब-लग राखौं हे सखी, रूई पलेटी आगि। (सा० १२-६०-२)।

रूख—दे० 'रूँपड़ा'। वृक्ष। (पा० प० १५७-५)।

रूखड़ा—दे० 'रूँषड़ा'। (पा० सा० २२-१४-१)।

रूखां—दे० 'रूषाँ'। वृक्षों। (पा० सा० २-५४-२)।

रूखा—वि० (सं० रूक्ष, प्रा० रक्ख)—अस्निग्ध,रूखा। उ० पांणी मैं घीव नीकसै तौ रूखा खाइ न कोइ। (सा० १३-२६-२)।

रूठड़ा—वि० (सं० रुष्ट, हि० रूठा)—नाराज होकर, रूठकर। उ० जग रूठड़ा फिरंत। (सा० २६-३-२)।

रूठि—नाराज हो गया, रूठ गया। उ० और हमारा हम वलू गया कबीरा रूठि। (स० १६-२६-२)।

रूड़ौ—वि० (हि० रूरा)—श्रेष्ठ, उत्तम, सुन्दर। उ० ग्रिह जिनि जांनौ रूड़ौ रे। (प० ८५-१)।

रूतौ—क्रि०स० (सं० रुंधन, हि० रूँधना) रोकते हैं। (पा०चौ०र० ३२-२)।

रूनौं—क्रि० अ० (सं० रोदन, प्रा० रोधन हि० रोना)–रोया। (सा० १२-२४-नो० ३२)।

रूप—सं० पु० (सं०)—आकर, अनुरूप। उ० षीर रूप हरि नांव है, नीर आन व्यौहार। (सा० ३२-१-१)।

रूपक—सं० पु० (सं०)—(१) प्रतिकृति, मूर्त्ति। उ० जाकै मुह माथा नहीं, नहीं रूपक रूप। (सा० ३६-४-१)। (२) तमाशा। उ० अब मोहि जिनि बहु रूपक छावौ। (प० ७८-३)।

रूपी–वि० (सं० रूपिन्)–तुल्य, सदृश्य। (पा०सा० ६-४१-१)।

रूपु—दे० 'रूप'। (पा० प० ७६-६)।

रूष—सं० पु० (सं० वृक्ष, प्रा० रक्ख)—पेड़, वृक्ष। उ० जवासा के रूष ज्यूं, घण मेहां कुमिलाइ। (सा० १६-१५-२)

रूसणां—क्रि० अ० (हि० रोष)—रोष करना, रूठना। उ० पाड़ोसी सू रूसणां, तिल तिल सुख की हांणि। (सा० १७-१२-१)।

रूसनां—(पा० सा० २४-१५-१)।

रे—अव्य० (सं०)—सम्बोधन शब्द अरे। उ० माया हम सौं यों कह्या, तू मति देरे पूठि। (सा० १६-२६-१)।

रेख—सं० स्त्री० (सं० रेखा)—(१) लकीर। उ० कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ। (सा० ११-४-१)। (२) निशान। उ० तन मन सौंप्या पीव कूं, तब अंतरि रही न रेख। (सा० ४५-३७-२)।

रेखा - (पा० प० १०८-६)।

रेषा—उ० गावणहारे कै रूप न रेषा। (प० १६५-५)।

रेजा—सं० पु० (फा०)—थान, कपड़ा। (पा० सा० १५-६६-१)।

रेतं—सं०पु० (सं० रेतस्)—वीर्य, शुक्र। उ० प्रथमे रकत कि रेतं। (प० १६४-५)

रेत—सं० पु० (सं० रेतजा)—वालू। उ० मुख मैं पड़िया रेत। (सा० १७-१५-२)।

रेष–दे०'रेख'(२)। रेखा, निशान, सूरत। उ० तब रूप न रेख तहां ले बांनां। प० २०३-४)।

रैंणा—सं० स्त्री० (सं० रजनी)—रात में। उ० रैंणा दूर बिछोहिया, रहु रे संपभ झूरि। (सा० ३-४४-१)।

रैंनि—रात में। (पा० प० १५-६)।

रैणि—रात में। उ० रैणि न आवै नींदड़ी, अंगि न चढ़ाई मास। (सा० २६-४-२)।

रैन—रात। (पा० सा० २-४-१)।

रैनि दिवस—सं० पु० (सं० रजनी +

दिवस)—रात दिन, सर्वदा। उ० रैंनि दिवस का गमि नहीं, तहाँ कबीर रह्या ल्यौ लाइ। (सा० १०-१-२)।

रोआ—क्रि० अ० (सं० रोदन, प्रा० रोअन, हि० रोना)—रोया। (पा० प० ६०-६)।

रोइ—रोता है। उ० खेवे कूँ कहा रोइ। (सा० ३५-३-१)।

रोइ रहे—रोते रह गये। उ० रहे वसत कूँ रोइ। (सा० १६-२४-२)।

रोइ रोइ—बार बार रोती रही। उ० सांई अपणें कारणैं, रोइ रोइ रंतड़ियां। (सा० ३-२५-२)।

रोइअं—रोइए। (पा० प० ५५-५)।

रोइए—रोया जाए। (पा० सा० १६-३-१)।

राई—रो पड़ी। (पा० प० १०४-१)।

रोऊँ—रोऊँ, रुदन करूँ। उ० जौ रोऊँ तौ बल घटै, हँसौं तौ राम रिसाइ। (सा० ३-२८-१)।

रोकि—क्रि०स० (हि० रोक)—रोककर, बाधा डालकर। (पा०प० १२१-७)।

रोकै—रोकता है। (पा० प० १५२-१०)।

रोक्या—सामना करे, रोके। (र० १-टि० २४)।

रोक्यौ—रोक दी, बंद कर दी। उ० रौक्यौ घटि साँस नहीं निकसै ठौर ठौर सब छाड़चौ। (प० ६२-६)।

रोग—सं० पु० (सं०)—बीमारी, व्याधि। उ० लोग कहै पिंड रोग। (सा० २६-१०-१)।

रोगिया—वि० (सं० रोगिन्)—व्याधि-ग्रस्त, यहाँ योगी। उ० नव ग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल मैं ब्यंब प्रकासै। (प० १६२-४)।

रोगी—वि० (सं० रोगिन्)—रोगी, बीमार। उ० बैठ मुवा रोगी मुवा, मुवा सकल संसार। (सा० ४१-६-१)।

रोज—सं० पु० (सं० रोदन, रुदन)—रोना-धोना। उ० गावण हीं मैं रोज है, रोवण ही मैं राग। (सा० ३५-२०-१)।

रोजा—सं० पु० (फा० रोजा)—वह व्रत जो मुसलमान रमजान के महीने में ३० दिन तक रखते हैं और जिसका अंत होने पर ईद होती है। उ० इनकै काजी मुलां पीर पैकंवर, रोजा पछिम निवाजा। (प० ५८-३)।

रोझ—सं० स्त्री० (देश०)—नील गाय। उ० हम भी पांहन पूजते, होते इन के रोझ। (सा० २३-४-१)।

रोटी—सं० स्त्री० (?)—फुलका, चपाती। उ० पेड़ा रोटी खाइ करि, गला कटावै कौंण। (सा० ३२-१२-२)।

रोड़ा—सं० पु० (सं० लोष्ठ, प्रा० लोट्ट)—बड़ा कंकड़, पत्थर का टुकड़ा। उ० रोड़ा ह्वै रहौ बाट का, तजि पाषंड अभिमान। (सा० ४१-१४-१)।

रोपै—क्रि० स० (सं० रोपण)—जमाना, रोपना। (पा० प० ६४-७)।

रोम रोम—मुहा० (सं० रोमावली)—रोम-रोम में, शरीर भर में। उ० रोम रोम विष भरि रह्या, अंमृत कहाँ समाइ। (सा० ५५-८-२)।

रोमावलि—दे० 'रोमावली'। (पा० प० १५५-८)।

रोमावली—सं० स्त्री० (सं०)—रोयों की पंक्ति। उ० कोटि समुद्र जाकै पणि-हारा, रोमावली अठारह मारा। (प० ३४०-११)।

रोयां—क्रि० अ० (हि० रोना)—रोये। उ० बिन रोयां क्यूं पाइए, प्रेम पियारा मित्त। (सा० ३-२७-२)।

रोलि—दे० 'रौलि'। (पा० सा० १५-८३-२)।

रोलै—सं०पु० (सं० रवण, हि० रोर)—पानी का तोड़, बहाव। उ० गांगी रोलै बहि गया, हरि सूं नांहीं हेत। (सा०

२४-४-२)।

रोवण—क्रि० अ० (सं० रुदन, हि० रोना)—रोने से। उ० रोवण हीं मैं राग। (सा० ३५-२०-१)।

रोवत रोवत—रोते ही रोते। उ० रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ। (सा० ३-३२-२)।

रोवन—रोने से। (पा०सा० ३२-१३-१)।

रोवहु—रोवो। (पा०सा० १९-३-२)।

रोवै—रोता है। उ० दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै। (सा० ३-४५-२)।

रोवणहारे—वि०(हि० रोवनहारा (प्रत्य०)—रोने वाले। उ० रोवणहारे भी मुए, मुए जलांवणहार। (सा० ४६-३१-१)।

रोवन हारे—(पा० सा० १६-२३-१)।

रोस—सं० पु० (सं० रोष)—क्रोध, चिढ़। उ० डारी खाँड़ पटकि करि, अंतरि रोस उपाइ। (सा० ३-३२-१)।

रौंस—(पा० सा० ३३-६-१)।

रोहै—क्रि० अ० (सं० रोहण)—चढ़ना, रोकना। उ० रोहै मृग ससा बन घेरै, पारधी बांण न मेलै। (प० ६-५)।

रौंदौं—क्रि० स० (सं० मर्दन)—पैरों के नीचे कुचलना। (पा० प० ४-७)।

रौलि—सं० स्त्री० (देश०)-धौल, चपत, तमाचा। उ० एक रांम के नांव बिन, जंम पड़ैगा रौलि। (सा० ४६-१८-२)।

ल

लंका—सं० स्त्री० (सं०)—रावण की राजधानी, लंका पुरी। उ० कहै कबीर सो लहसै लंका। (प० २०६-५)।

लंगर—दे०'लगर'। (पा०प० १३७-४)।

लंगूर—सं० पु० (सं० लांगूल)—पूँछ, दुम। उ० हणवंत जागे ले लंगूर। (प० ३८७-५)।

लंगूरु—(पा० प० १६८-५)।

लंघण—स० पु० (सं० लंघन)—उपवास, अनाहार, फाका। उ० छांनै लंघण नित करै, रांम पियारे जोग। (सा० २६-१०-२)।

लंघी—क्रि० स० (सं० लंघन)—इस पार से उस पार जाना। (पा० प० १-६)।

लंघै—पार जाता है। (पा०प० १८८-६)।

लंबा—वि० (सं० लंब)—विस्तृत, बड़ा। उ० लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु भार। (सा० २-२७-१)।

लंबी—बड़ी। (पा० सा० १६-१२-१)।

लंबे—क्रि०वि० (हि० लंबा से)—लम्बाई में, सीधे। उ० लंबे पाँव पसारि। (सा० २-११-२)।

लई—क्रि० स० (सं० लभन, हि० लहना, लेना)—ली, ग्रहण की, पकड़ी। उ० सतगुरु लई कमांण करि। (सा० १-६-१)।

लउवा—सं० पु० (सं० लाला, हि० लवा)—एक पक्षी। उ० तालि चुगैं बन तीतर लउवा। (प० १७७-३)।

लकड़ी—सं० स्त्री० (सं० लगुड)—लकड़ी, छड़ी, काठ, ईंधन। उ० हौं बिरह की लकड़ी। (सा० ३-३७-१)।

लख—वि० (सं० लक्ष, प्रा० लक्ख)—लाख, बहुत। उ० चौरासी लख चंद। (पा० १-१८-१)।

लखई—क्रि० स० (सं० लक्ष)—देखता है। (पा० र० १४-६)।

लखि—देखकर (पा० प० ७५-५)।

लखिया जाइ—देखा जाता है। (पा० सा० २-३७-१)।

लखी—देखी। (पा० प० १५३-२)।

लखी न जाई—(मुहा०)—समझ में नहीं आती। उ० अविगति की गति लखी न जाई। (प० ४६-२)।

लखै—देखता है, देख सकता है। उ० जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ। (सा० ४-३-२)।

लख्या—देखा। उ० मो पैं लख्या न जाइ। (सा० ३८-६-१)।

लखमीं—सं० स्त्री० (सं० लक्ष्मी)—हिन्दुओं की एक देवी, गृहस्वामिनी। (पा० प० १५५-६)।

लखरांव—सं०पु० (सं० लक्ष+राजि)—बहुत बड़ा बाग। (पा०सा० ४-३७-१)।

लखावा—क्रि० अ० (हि० लखना)—दिखाई पड़ा। (पा० र० ८-४)।

लखावै—सुझा देता है, बोधगम्य करा देता है। उ० कोई भरम लखावै। (प० १५४-७)।

लग—क्रि० वि० (सं० लग्न)—तक। (पा० प० २६-४)।

लगि—तक। (पा० प० ७७-२)।

लगइअै—क्रि०स० (सं० लग्न)—लगाइए। (पा० प० ७७-२)।

लगन—सं०पु० (सं० लग्न)—शुभ मुहूर्त। (पा० प० १०६-३)।

लगर—सं० पु० (देश०)—चील की तरह का एक शिकारी पक्षी, लग्घड़। उ० कागि लगर फांदिया, बटेरै बाज जीता। (प० १६०-६)।

लगांम—दे० 'लगाम'। (पा० प० ४-३)।

लगांमीं—दे० 'लगाम'। (पा० प० १६१-६)।

लगा—क्रि० अ० (सं० लग्न)—प्रारम्भ होना। (पा० सा० २-५३-१)।

लगाइ—क्रि० स० (हि० लगना)—लगा कर, जड़ दिया, डाल दिया, लगा दिया। उ० डांडी देहु लगाइ। (प० २२-३)।

लगाई—जड़ दी, दे दी। (पा० प० ६५-४)।

लगाऊं—जड़ दूं, डाल दूं। (पा० प० ४-३)।

लगाएं—मलने से, लगाने से। (पा० प० १७२-३)।

लगावहिगे—लगाएंगे। (पा०प० ५७-४)।

लगावै—लगाता है। (पा० प० ६५-२)।

लगावौ—पैदा करते हो, लगाते हो। उ० विचिही भरम का भेद लगावौ। (प० ५६-२)।

लगाम—सं० स्त्री० (फा०)—लगाम। उ० दे मुहरा लगाम पहिरांऊं। (प० २५-२)।

लगाय गया—क्रि० स० (हि० लगाना)—लगा गया, प्रज्वलित कर गया। उ० सतगुर गया लगाय। (सा० ४-६-२)।

लगिए—क्रि० अ० (सं० लग्न)—पहुंच जाइए। (पा० सा० १८-१२-२)।

लगी—लग गई। (पा० प० १११-७)।

लगै—पहुंचे, प्रभावित करे। उ० कबहूं लगै पुकार। (सा० २-१६-२)।

लछिमी—दे० 'लखमीं'। (पा०प० ३५-७)

लजांनें—क्रि० अ० (सं० लज्जा से)—लज्जित होना। (पा० प० १६७-६)।

लज्जा—सं० स्त्री० (सं०)—लाज, शर्म। (पा० प० ६८-५)।

लज्या—(सं० लज्जा)—लाज, शर्म। उ० राम कहत लज्या क्यूं कीजै। (प० २४२-४)।

लट—सं० स्त्री० (सं० लट्वा)-केशपाश, बालों का गुच्छा। उ० लट छूटी खेलै विकराल। (प० ३४०-१५)।

लड़िपड़्या—क्रि० अ० (सं० रणन)—वार किया, विचलित करने का यत्न किया। उ० कलियुग हम स्यूं लड़ि पड़्या। (सा० १-५-२)।

लड़ै—भिड़ै, जुट जाय। उ० लड़ै धणी

के हेत। (सा० ४५-९-१)।

लदांनां—क्रि० स० (हि० लादना से)—किसी की सहायता से लादना। उ० वेगे हो तुम्ह लाद लदांनां। (प० २३४-५)।

लदाइ लदाइ—क्रि० अ० (सं० ऋद्ध, प्रा० लिद्ध)—भारयुक्त होकर। उ० भार लदाइ लदाइ। (सा० १४-२-२)।

लदाऊ—लदा दूं। (पा० प० १७६-४)।

लपटांनां—दे० 'लपटाइ'।

लपटाइ—क्रि० अ० (सं० लिप्त+ना (प्रत्य०)-संलग्न हो गई, लग गई। उ० पंष रही लपटाइ। (सा० २५-६-१)।

लपटाई—(पा० प० ३४-९)।

लपटांनां—लपटाना है, संलग्न करना है। (पा० प० १८६-२)।

लपटांनीं—संलग्न करना है। (पा० प० १७०-४)।

लपटि-लपट कर। (पा० प० १११-६)।

लपसी—सं० स्त्री० (सं० लप्सिश)—मीठा डालकर बनाई गई गाढ़ी लेई। उ० लुचरी लपसी आप सवारै। (प० १३५-४)।

लपेटी—क्रि० स० (हि० लिपटना से)—चारों ओर से ढककर रखना। (पा० सा० १५-७१-२)।

लमधी—सं० पु० (देश०)—समधी का बाप। (पा० प० ११०-७)।

लरके परके—(मुहा०)-लड़के-वाले। उ० लरके परके सब जागत हैं। (प० २०-३)।

लरत—क्रि० अ० (सं० रणन)—लड़ते हैं। (पा० प० १६९-१)।

लरनैं—लड़ना। (पा०प० २५-९)।

लरनैं लागे—(मुहा०)—युद्ध ठान दिया। उ० सत संतोष ले लरनैं लागे, तोरे दस दरवाजा। (प० ३५९-१०)।

लरै—लड़ता है। (प० ३३०-२)।

लराई—सं० स्त्री० (हि० लड़+आई (प्रत्य०)—युद्ध, झगड़ा। (पा० प० १३५-५)।

लरिका—सं० पु० (हि० लाड़+क (प्रत्य०)—लड़का, पुत्र। उ० ए लरिका क्यूं जीवैं खुदाइ। (प० २१-३)।

लरिके—लड़के। (पा० सा० ५-१-२)।

ललनीं—सं० स्त्री० (सं० ललना)-स्त्री। (पा० प० ६८-१०)।

लवणि—सं० पु० (सं० लवण से)—लावण्य, सौन्दर्य। उ० कोई एक मेलै लवणि, अमीं रसांइण हुंत। (सा० ३३-७-२)।

लवनि—(पा० सा० २८-७-२)।

लषमणि—सं० पु० (सं० लक्ष्मण)—दशरथ के पुत्र और रामचंद्र के भाई लक्ष्मण। (प० २३२-४)।

लषै—समझे, देखे। उ० ता गति लषै न कोइ। (सा० ९-२-१)।

लसकर—सं०पु० (फा० लश्कर)—पड़ाव, छावनी। उ० गगन मंडल मै लसकर करै, सो सुलितांन छत्र सिरि धरै। (प० ३३०-७)।

लसकरु—(पा० प० १२८-८)।

लहंग—क्रि० अ० (हि० लहराना)—लहराता हुआ। उ० आसमांन म्यांनैं लहंग दरिया, तहां गुसल करदा बूद। (प० २५८-७)।

लहरइं—क्रि० अ० (हि० लहरना)—लहराता है। (पा० प० ३६-५)।

लहरि—सं० स्त्री० (सं० लहरी)—(१) स्वर लहरी, उपदेश। उ० गुर की लहरि चमंकि। (सा० १-२५-२)। (२) उमंग, भावना। उ० विषै लहरि फहराइ। (सा० १३-२८-१)।

लहरी—सं० स्त्री० (सं०)—झोंका (विष के प्रभाव का)। उ० तन मन डस्यौ भुजंग भामिनी, लहरी वार न पारा। (प० ३०८-५)।

लहसुन—सं० पु० (सं० लशुन)—एक

पौधा जिसकी जड़ गोल गाँठ के रूप में होती है। (पा० सा० ३०-१-१)।

लहा—क्रि०स० (हि० लहना से)—प्राप्त किया। (पा० सा० ६-२८-२)।

लहाई—क्रि० स० (सं० लभण, प्रा० लहन, हि० लहना)—पाता है। उ० खसम न भेद लहाई। (प० ८१-२)।

लहाउं—प्राप्त कराऊँ। (पा० सा० ८-१२-१)।

लहि—क्रि० स० (हि० लहना से)—प्राप्त करके। (पा० चौ० र० ३४-२)।

लहिअै—प्राप्त कीजिए। (पा०प० ७२-५)

लहुरिया—वि०(सं०लघु, प्रा०लहु+रिया (प्रत्य०)—छोटी। (पा० प० ११-२)।

लहुरी—वि० (सं० लघु, प्रा० लहु+री (प्रत्य०)—छोटी। उ० लहुरी धीइ सबै कुल खोयौ, तब ढिग बैठ न पाई। (प० २२-७)।

लहुरैं—छोटा। उ० लहुरैं थकैं दुटि पीया खारो। (र० ५-३०)।

लहैं—क्रि० स० (सं० लभण, प्रा० लहन, हि० लहना)—प्राप्त करते हैं। उ० पारब्रह्म कौ पार न लहैं। (प० ३४०-६)।

लहै—प्राप्त करते हैं। उ० संकलटी तैं सब लहै। (सा० १६-२५-१)।

लह्या—प्राप्त किया। उ० घट माँहैं औघट लह्या। (सा० ५-६-१)।

लांऊं—क्रि० स० (हि० लगाना)—लगाऊँ। उ० ओषद मूली कहां घसि लांऊं। (प० ११८-२)।

लांधा—दे० 'लाधा'। (प० १७४-१०)।

लांबे—दे० 'लंबे'। वि०—बड़े, लम्बे। (पा० सा० २५-१-२)।

लांवन—सं० पु० (सं० लावण्य)—अत्यन्त सुन्दरता। उ० कंद्रप कोटि जाकै लांवन करैं, घट घट भीतरि मनसा हरैं। (प० ३४०-१६)।

लांवै—क्रि० स० (हि० लगाना)—डालते हैं, स्पर्श कराते हैं। उ० मुकताहल बिन चंच न लांवै। (प० ३४४-४)।

लांहनि—सं० पु० (देश० लाहन)—खमीर। उ० काया कलाली लांहनि करिहूं, गुरु सबद गुड़ कीन्हां। (प० १५५-३)।

लाइ (१)—सं० पु० (सं० अलात=लुक, प्रा० अलाय)—आग, विपयाग्नि। उ० चहुँ दिसि लागी लाइ। (सा० २-३२-१)।

लाइ (२)—क्रि० स० (हि० लेना+आना से लाना)—उपस्थित करती है, लगाती है। उ० जग हट वाड़ा स्वाद ठग, माया वेसां लाइ। (सा० १६-१-१)।

लाइए—लगाइए। (पा० प० १०-१५)।

लाइया—(१) लाते हैं। उ० नैंना नीझर लाइया, रहट वहै दिन जाम। (सा० ३-२४-१)।

(२) लगा दिया। उ० अहेड़ी दौं लाइया। (सा० ४-८-१)।

लाइलै—लगा ले। (पा० प० १३०-११)।

लाई—लगाई। उ० हरि ठग जग कौं ठगौरी लाई। (प० ८६-१)।

लाऊं—ले आऊँ। (पा० प० १६०-७)।

लाऊंगा—लगाऊँगा। उ० उस मूनीं सूं चित लाऊंगा। (प० ३१-५)।

लाए—लगाए। (पा० प० १३१-२)।

लाया—लगाया, नियुक्त करती है। उ० हरि सूं न लाया हेत। (सा० १७-६-१); लालै लाया लोग। (१६-३-१)।

लाये—लगाए। उ० प्रेम प्रीति ल्यौ लाये रे। (प० ७६-२)।

लाकड़ी—दे० 'लकड़ी'। उ० जालण आंणीं लाकड़ी, ऊठी कूंपल मेल्हि। (सा० ५८-१-२)।

लाकरी—(पा० सा० १५-७-१)।

लाख—वि०(सं०लक्ष)—लाख। उ० तव गुण लाख बिकाइ। (सा० ४६-१-१)

लाखौं—लाखों, असंख्य। (पा० सा० ८-१२-२)।

लाग—क्रि०अ० (सं० लग्न, हि० लगना)-लगते हैं। (पा० प० १४९-७)।

लागत—लगते ही, चोट पहुँचने पर, प्रभावित होने पर। उ० लागत ही मैं मिल गया, पड़या कलेजै छेक। (सा० १-७-२)।

लागा—(१) आरम्भ किया। उ० बांहण लागा तीर। (सा० १-६-१)।
(२) साथ-साथ चले, पीछे-पीछे चले। उ० तब पैंडे लागा हरि फिरै, कहत कवीर कवीर। (सा० ४१-२-२)।

लागि—(१) लग कर। उ० गलि पूरे कै लागि। (रा० ४-७-२)।

लागि सकई—(यौ०)—घात में रह सकते हैं, ताक में रह सकते हैं। उ० चोर न सकई लागि। (सा० ३४-१०-२)।

लागि सकौं—लग पाता। उ० लागि न सकौं पाइ। (सा० ५-३६-२)।
(२) सं० स्त्री० (हि० लगना से)—लगाव, सम्वन्ध। उ० टूटैगी कहुँ लागि। (सा० ३३-८-२)।

लगिया—लग गया, चुभ गया। उ० अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवासूं फूटि। (सा० १-८-२)।

लागी—(१)—लगी हुई है। उ० जाकै लागी सो लखै। (सा० ४-३-२)।
(२)—जान पड़ी, मालूम हुई। उ० करत न लागी बार। (सा० १-२-२)।
(३)—जल उठी। उ० चहुं दिसि लागी लाइ। (सा० २-३२-१)।

लागु—लग। (पा० प० १९-३)।

लागू हो—लग गया,चुभ गया। उ० विरह वान तिहि लागू हो। (प० ७७-३)।

लागे—उगता है, उत्पन्न होता है। उ० वहुत भाँति लागे जड़ फूल। (प० ११-६)।

लागैं—लगते हैं। उ० फल लागैं ते दूरि। (सा० ५५-१०-२)।

लागै—(१)—लग गया, प्रवृत्त हुआ। उ० लागै प्रेम धियान। (सा० ५-४४-२)।
(२)—आघात पहुँचे, चोट लगे। उ० त्यूं त्यूं लागै तीर। (सा० ४०-६-१)।
(३)—आरोपित हो जाती है। उ० पैंड़ी चढ़ि पाछां वड़ै, लागै मोटी खोड़ि। (सा० १६-१४-२)।

लागौ—लग जाओ। (पा० र० ३-१)।

लाज—सं० स्त्री० (सं० लज्जा)—शर्म, लज्जा। (पा० प० २०-७)।

लाजूं—लाज से। उ० प्रेम न लाजूं मारि। (सा० ३-३६-२)।

लाजौं—(पा० सा० २-४१-२)।

लाजसी—क्रि० अ० (हि० लाज से)—लज्जित होना। (पा०सा० १५-२८-२)।

लाडू—सं० पु० (हि० लड्डू)—मोदक, लड्डू। उ० लाडू लावण लापसी पूजा चढ़ै अपार। (प० १९८-७)।

लात—सं० स्त्री० (?)—पाद प्रहार, पदाघात। उ० धणीं सहै सिरि लात। (सा० १२-२९-१)।

लातां—अनेक वार पाद प्रहार। (पा० सा० ३१-५-२)।

लातौं—अनेक पाद प्रहार। उ० विलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि-सुमरि जगदीस। (सा० १६-१०-२)।

लाद—सं० स्त्री० (हि० लादना)—लादने या वैल या गाड़ी पर बोझा रखने की क्रिया। उ० वेगे हो तुम्ह लाद लदांनां। (प० २३४-५)।

लादा—क्रि० स० (सं० लब्ध, प्रा० लद्ध, हि० लादना)—भार युक्त किया। (पा० सा० २६-४-२)।

लादि—लाद कर। (पा० प० १२६-८)।

लादे—भार युक्त करते हैं। उ० लोगनि

लादे बैंल। (सा० १४-७-२)।

लाधा—क्रि० स० (सं० लब्ध, प्रा० लद्ध +ना (प्रत्य०), हि० लाधना)—हासिल कर लिया है, प्राप्त कर लिया है। उ० लाधा है कछू लाधा है, ताकी पारिष को न लहै। (प० १६६-१)।

लापसी—दे० 'लापसी' । उ० लाडू लावण लापसी, पूजा चढ़ै अपार। (प० १६८-७)।

लाभ—सं० पु० (सं०)—प्राप्ति, नफा, उपकार। उ० जिहि हरि जैसा जाँणियाँ तिनकूं तैसा लाभ। (सा० २-२१-१)।

लार—सं० स्त्री० (सं० लाला)—उ० झूठे जग की लार। (सा०२२-१६-२)। (२) सम्बन्ध। उ० झूठी कुल की लार। (सा० २४-२१-१)।

लारै—क्रि० स० (सं० लालन, हि० लालना)—दुलार करने लगती है। उ० मूसा पैठा बांवि मैं, लारै सापणि धाई। (प० १६१-३)।

लाल—वि० (फा०)—रक्त वर्ण का, सुर्ख। उ० जिस गलि लाल कवाइ। (सा० १३-११-१)।

लालन—(लाल का बहुवचन रूप)—लालों, अमूल्य रत्नों। (पा० सा० ४-१८-१)।

लालच—(१) सं० पु० (सं० लालसा)—लोभ, तृष्णा। उ० नां गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव। (सा० १-१६-१)।
(२) वि०—लालची। उ० लालच लोभी मसकरा, तिनकूं आदर होइ। (सा० १७-८-२)।

लालचि—लालच। उ० लालचि लागौ करत धनीं। (प० ६६-६)।

लालि—सं० पु० (फा०)—मानिक या माणिक्य। उ० कबीर मंदिर लाष का, जड़ियां हीरैं लालि। (सा० १२-१६-१)।

लालैं—सं० स्त्री० (सं० लालसा)—अभिलाषा में, इच्छा में, चाह में। उ० कबीर माया पापणीं, लालैं लाया लोग। (सा० १६-३-१)।

लाव—क्रि० स० (हि० लगाना)—लगाओ, दो। उ० कूडै चित्त न लाव। (सा० ४६-२७-१)।

लावहु—लगा दो। (पा०प० १३२-१)।

लावा—लगाया। (पा० र० ३-७)।

लावै—डालते हैं, लगाते हैं। (पा० प० ३५-६)।

लावौं—लाऊँ। (पा० प० ८-३)।

लावण—वि० (सं० लावण्य)—नमकीन। उ० लाडू लावण लापसी, पूजा चढ़ै अपार। (प० १६८-७)।

लावन—सं० पु० (सं० लावण्य)—सुन्दरता। (पा० प० १५५-१७)।

लावानालि—सं० स्त्री० (?)—लौकी नाल जो यंत्र बनाने में काम में आती है। उ० लावा नालि तंति एक संगि करि, जंत्र एक भल साजा। (प० २६२-२)।

लाष—दे० 'लाख'। उ० कबीर मंदिर लाष का, जड़िया हीरैं लालि। (सा० १२-१६-१)।

लाष करोड़ि—(यौ०)—बहुत अधिक। उ० जुड़िसी लाष करोड़ि। (सा० ३४-७-२)।

लाहनि—दे०'लांहनि'। (पा०प० ५१-३)।

लाहा—सं० पु० (सं० लाभ)—नफा, लाभ। उ० रांम नांम जपि लाहा लीजै। (प० ३५५-४)।

लाहु—लाभ। (पा० प० ६३-२)।

लाहूत—(सा० ४६-२६-नो० ४६)।

लाहौ—नफा, फायदा। उ० आइनैं दिसावरि रे रांम जपि लाहौ लीजै। (प० २३४-२)।

लिएं—क्रि० स० (हि० लहना)—ले लिए। (पा० प० २६-३)।

लिए—(पा० प० ४-५)।

लिऔ—लिया। (पा० प० २५-६)।

लिखा—क्रि० स० (सं० लिखन)–लिखा, अंकित किया। (पा०सा० ८-२-२)।

लिखाई—लिखा दी। (पा०प० १०६-३)।

लिखाया—दूसरे के द्वारा लिखने का कार्य कराया। (पा० प० ८६-६)।

लिखि—लिखकर। (पा० प० १२-२)।

लिखिलिखि–लिखलिख कर। उ० लिखि-लिखि राम पठाउँ। (सा० ३-१२-२)।

लिखिलिया—अंकित कर लिया। उ० राँम नांम लिखि लिया शरीर। (प० २१-१)।

लिखे—लिख दिये। (पा० प० ८६-९)।

लिखौं—लिखूँ। उ० लिखौं राम का नाउँ। (सा० ३-१२-१)।

लिख्या—लिखा। उ० तऊ हरि गुंण लिख्या न जाइ। (सा० ३८-५-२)।

लिपै—क्रि० अ० (सं०√लिप्)—गीली वस्तु का फैल जाना, लीपा जाना। (पा० प० ३४-४)।

लिया—क्रि० स० (हि० लहना)—प्राप्त करना, लेना। (पा० प० १३०-९)।

लियैं—लिए हुए। उ० खसम लियैं कर डोरी डोलै। (प० ९१-३)।

लियौ—(पा० प० १२-२)। दे० 'लिए'।

लिव—दे० 'ल्यौ'। (पा० प० ७१-८)।

लिपेंणि—सं० स्त्री० (सं० लिखन)—कर्म की रेखा। उ० जल ही माहैं जलि मुई, पूरब जनम लिषेंणि। (सा० १६-२२-२)।

लीए–क्रि० स० (सं० लभण, प्रा० लहन, हि० लहना लेना)—थामे हुए, पकड़े हुए। उ० लीए फिरै जुभाइ। (सा० १७-५-१)।

लीजै—ग्रहण कीजिए। (पा०प० १०-७)।

लीजौ—लीजिए। (पा० प० ११९-१०)।

लीज्यौ—लीजिए। उ० चेतना होइ सु चेति लीज्यौ। (प० १५८-१०)।

लीन—लिया। (पा० प० ४३-३)।

लीनां—लिया, ग्रहण किया। (प० ११६-२)।

लीन्ह—लिया। उ० जीव सर भरि लीन्ह। (सा० ४५-२२-१)।

लीन्हां—लिया। उ० सर्व तत हरि लीन्हां रे। (प० ३६६-२)।

लीन्हीं—ले ली, ग्रहण की। (पा० प० ९७-६)।

लीन्हें—लिया, लेकर। (पा०प० २०-६)।

लीन्हों—लिया। उ० अब तौ जरें बरे बनि आवैं, लीन्हों हाथ सिंधौरा। (प० १२९-२)।

लीन्हौं—लिया। (पा० प० ५८-२)।

लीया—प्राप्त किया, लिया। उ० चपि न लीया साव। (सा० २-१८-१)।

लीर लीर—सं० स्त्री० (सं० चीर ?)—पृथक्-पृथक् सूत कर देने पर भी, चिथड़े-चिथड़े। उ० लीर लीर लोई थई, तऊ न छाड़ै रंग। (सा० २६-३-२)।

लीला—सं० स्त्री० (सं०)—खेल, रहस्य पूर्ण बातें या विचित्र काम। उ० कहै कबीर गुणीं अरु पंडित, मिलि लीला जस गावैं। (प० १८६-८)।

लुंचित—सं० स्त्री० (सं० लुंचन)—केशों को नोचने वाले श्रावक। उ० लुंचित मुंडित मोनि जटाधर, अंति तऊ मरणां। (प० २४८-८)।

लुकाइ—क्रि० स० (सं० लुक=लोप से हि० लुकना का सक० रूप लुकाना)—छिपाकर। उ० रिदा कवल मैं राखि लुकाइ। (प० १२३-५)।

लुकाई—(पा० र० १९-३)।

लुकावा—छुपाते हैं। उ० भूठैदां जगि

साच लुकावा। (र० ३-१०)।

लुकानां—क्रि० अ० (हि० लुकना)—छिपा हुआ है। उ० झूठनि मैं सब साच लुकानां। (र० ३-१३)।

लुक्या—छिप गया। उ० भील लुक्या बन वीझ मैं, ससा सर मारैं। (प० १६१-६)।

लुचारी—सं० स्त्री० (सं० रुचि, हि० लुचुई)—मैदे की पतली मुलायम पूरी। उ० लुचरी लपसी आप सवारैं, द्वारैं ठाढा राम पुकारैं। (प० १३५-४)।

लुटि—क्रि० अ० (सं०√लुट्)—नष्ट होना, लुटना। (पा० प० ६५-८)।

लुणत—क्रि० स० (सं० लवण = काटना, लून = कटा हुआ + ना (प्रत्य०)—काटते समय। उ० विष की क्यारी बोइ करि, लुणत कहा पछिताइ। (सा० १३-५-२)

लुणतां—फसल काटता है। उ० अनबावैं लोहा दांहिणैं, वोवैं सु लुणतां होइ। (सा० ३४-२-२)।

लुणैं—कटे हुए। उ०लुणे खेत हठि वाड़ि करैं। (प० २४३-५)।

लुनत—(पा० सा० २६-११-२)।

लुनें—कटे हुए। (पा०प० ८३-५)।

लुवधी—सं० पु० (देश०)—समधी। उ० सुवधी कै घरि लुवधी आयौ। (प० १३-७)।

लुवधिया—क्रि० अ० (हि० लुबुध + ना (प्रत्य०)-लुब्ध हुआ, मोहित हो गया। उ० मन भवरा तहां लुवधिया, जांणैंगा जन कोइ। (सा० ५-७-२)।

लुभांनां—क्रि० अ० (हि० लोभ से ना० धा०)—लुब्ध हुआ, रीझना। (पा० प० ७६-५)।

लुभांनों—रीझो। (पा० प० १७-६)।

लुभुकि—क्रि० अ० (हि० लभकना, लपकना)-लपक कर। (पा०प० १६५-४)।

लुभुकी—(पा० प० १६५-४)।

लुहार—सं० पु० (सं० लौहकार, प्रा० लोहार)—लोहे का काम करने वाला। उ० तातैं लोहिं लुहार। (सा० १-२८-१)

लुहारिया—(पा०सा० १६-३५-१)।

लूंचि लूंचि—क्रि० स० (सं० लुंचन, हि० लुंचना)-नोंच नोंचकर। उ० केस लूंचि लूंचि वरतिया, इनमैं किनहुं न पाई। (प० ३१७-६)।

लूंण—सं० पु० (सं० लवण, हि० लोन)-नमक। उ० रलि गया आटैं लूंण। (सा० १-१४-१)।

लूखा—वि० (सं० रूक्ष)—रूखा, शुष्क, सूखा। (पा० सा० २६-५-२)।

लूटहिं—क्रि० स० (सं०√लुट्)—लूटते हैं। (पा० प० ७२-३)।

लूटियौ—लूटो, अपने हाथ करो। उ० लूटि सकै तौ लूटियौ। (सा० २-२५-१)।

लूटि सकै—लूट सकते हो। (सा० २-२५-१)

लूटे—लूटते हैं। (पा०प० १०२-२)।

लूटैं—लूटते हैं। उ० पंच चोर गढ मंझा, गढ लूटैं दिवसर संझा। (प० २६२-२)।

लूटैं—(पा० प० १३२-५)।

लूटि—सं०स्त्री० (हि०) लूटा हुआ माल। उ० राम नाम हैं लूटि। (सा० २-२५-१)

लूवन—सं० स्त्री० (सं० लक = जलना, हि० लौ, लपट)—गर्म हवा के झोंके। उ० वागड़ देस लूवन का घर है। (प० ६८-१)।

लेंहड़ा—सं० पु० (देश०)—झुंड, दल (पशुओं का)। (पा० सा० ४-१८-२)।

ले—क्रि० स० (सं० लभन, हि० लहना)—लेकर। उ० क्या ले गुर संतोपिए, हौंस रही मन मांहि। (सा० १-४-२)।

लेइ—लेता है। उ० खैचि लेइ जिनि भार। (प० ७५-२)।

लेइगा—लेगा। (पा० प० २१-५)।

लेइहै—लेता है। (पा० प० १०४-४)।

लेइहौं—लूंगी। (पा० प० ५-६)।

लौंग—सं० पु० (सं० लवंग)—लवंग नामक मसाला। उ० जब हम वनजी लौंग सुपारी, तब तुम्ह काहे वनजी खारी। (प० २६१-२)।

लौंगहिं—लौंग को। (पा० प० १५७-३)।

लौंन—दे०'लूंण'। (पा०सा० १-२४-१)।

लौ—दे० 'ल्यौ'। (पा० सा० ५-१-२)।

लौचैं—दे० 'लोचैं'। उ० या देही कूं लौचैं देवा। (प० ३४८-४)।

लौडैं—क्रि० अ० (सं० लोल, हि० लोटना)—लिपटा रहता है, लोटता है। (सा० ४६-२२-नो० ४०)।

लौरे—सं० पु० (सं० लोल, हि० लोर)—आंसुओं से। (सा० १२-३२-नो० ४४)।

लौलीन—दे०'लैलीन'। (पा०प० १५-४)।

ल्यावौं—क्रि० स० (हि० लगना का सक० रूप)—ले आऊँ। उ० वैसि परहडी द्वारा मुंदावौं, ल्यावौं पूत घर घेरी। (प० २२-५)।

ल्यौ—सं०स्त्री० (हि० लाग से लौ)—चित्त की वृत्ति, चाह। उ० तहां कबीर रह्या ल्यौ लाइ। (सा० १०-१-२)।

ल्यौ लाइस—लौ लगावो, मनोवृत्ति लगावो। उ० रांम नांम ल्यौ लाइस जियरे। (र० २-१८)।

ल्हसण—सं० पु० (सं० लशुन, हि० लहसुन)—लहसुन की गाँठ। उ० पर नारी को राचणौं, जिसि ल्हसुण की षांनि। (सा० २०-६-१)। दे० 'लहसुन'।

व

वंदा—दे० 'बंदा'। सेवक। (र० १-टि० ५४)।

वणजिया—क्रि० स० (सं० वाणिज्य, हि० बनिज+ना)—व्यापार किया। उ० कबीर हीरा वणजिया, महँगे मोल अपार। (सा० ४५-२८-१)।

वपरीति—वि० (सं० विपरीत)—प्रतिकूल। (सा० १६-२४-नो० २५)।

वपुड़ा—दे० 'बपुरा'। बेचारा। उ० तिणका वपुड़ा ऊ वस्या, गलि पूरे कैं लाजि। (सा० ४-७-२)।

वरत—सं० स्त्री० (सं० वरत्रा)—मोटी रस्सी का ग्राम्य नाम ! उ० टूटी वरत अकाश थैं, कोइ न सकै झड़ झेल। (सा० ४५-३२-१)।

वसत—सं० स्त्री० (सं० वस्तु)—वह जिसका कोई अस्तित्व हो। उ० गाफिल होइ वसत मति खोवै, चोर मुसै घर जाई। (प० २३-२)।

वह—सर्व० (सं० सः)—वह। (पा० प० १५८-८)।

वहि—वही। (पा०प० १००-५)।

वहु—वह। उ० यहु सीतल वहु तपति है। (सा० ३१-२-२)।

वांणी—दे० 'बांणी'। शब्द, वचन। (सा० २५-५-२)।

वा—सर्व० (हि० वह)—वह। उ० वा नित उठि सुमिरै राम। (सा० ३०-६-२)।

वाकी—उसकी। उ० गरै काठ वाकी वांनि न जाई। (प० १३६-४)।

वाके—उसके। (पा० र० ८-१)।

वाकै—उसके। (पा०प० २३-६)।

वाकौ—उसको। (पा०प० ३४-१०)।

वासूं—उसके सामने, उससे। उ० कोई न पूजै वासूं प्रांनां। (र० बा० २)।

वासौं—उससे। (पा० र० २-२)।

वाचवंत—क्रि० स० (हि० वाचना)—बाँचते हैं। उ० जन जू जू वाचवंत।

(सा० ३३-७-१)।

वार—सं० पु० (सं० अवार)—सीमा, अंत। (पा० प० ३६-५)।

वारपार—सं० पु० (सं० अवार+पार)-यह छोर और वह छोर,अंत। उ०कामी वार न पार। (सा० २०-२५-७)।

वारी—क्रि० स० (हि० वारना)—निछावर किया। उ०वारी फेरी बलि गई,जित देखौं तित तूँ। (सा० २-६-२)।

वारया—क्रि० स० (हि० उतारना, वारना)—निछावर कर दिया। उ० कबीर वारया नांव परि। (सा० ३८-६-१)।

वास—दे० 'वास (१)'। निवास। (पा० ५-५-१)।

वाही—सर्व० (हि० वह)– दे० 'वह'। उस ही। (पा० चौ० र० ३५-१)।

विआई—क्रि० अ० (हि० बिआना)—जन दिया, सृष्टि फैला दी। उ० ऊंनमि बिआई बादली, बरसण लगे अंगार। (सा० ५१-२-१)।

विचित्र—दे० 'विचित्र'। (र० १-टि०-२०)।

विद्या—दे० 'विद्या'। ज्ञान। (प० ३४०-६)।

विपति—सं० स्त्री० (सं० विपत्ति)—आफत, कठिनाई। उ० व्रिपति देपि न रोइ। (प० १२१-८)।

विभचार—सं० पु० (सं० व्यभिचार)—बदचलनी। उ० जांणि करै विभचार। (सा० ५२-२-१)।

विभूति—दे० 'विभूति'। भस्म। (सा० ४-४-२)।

विरंचि-सं० पु० (सं०)–ब्रह्मा, विधाता। उ० सिव विरचि नारद मुनि ग्यांनी। (प० ३३-३)।

विरला—वि० (सं० विरल)—अल्प, थोड़ा। उ० परनारी पर सुन्दरी, विरला वंचै कोइ। (सा० २०-४-१)।

विरख—दे०'विरषा'। वृक्ष। (सा० ४५-१७-१)।

विरांणै—वि० (फा० वेगाना)—पराया, दूसरे का। (सा० १२-६१-नो०-८३)।

विलाइति—सं० पु० (अ०)—दूर का देश। उ० विन विलाइति बड़ राज। (सा० ३५-१३-२)।

विराइ—सं०स्त्री०(हि० वि+राय)–मत-भेद, विषम राय। (सा० ३५-११-१)।

विश्रांम-सं० पु० (सं० विश्राम)–आराम, चैन, सुख। उ० दुख विसरया सुख कीया विश्रांम। (प० १५-४)।

विश्राम—चैन, सुख। उ० मनि नाहीं विश्राम। (सा० ३-६-२)।

विष—सं० पु० (सं०)—विष समान विषय, जहर। उ० हरि भजि मगन रहै विष त्यागी। (प० २६८-२)।

विषई—दे० 'विषई'। विषयी, कामी। (सा० २०-१-२)।

विषम—वि० (सं०)—असमान। (सा० ३२-४-२)।

विषया—सं० पु० (सं० विषय)—विषयादि से। उ० जौ विषया रहै उदास। (प० ३००-५)।

विषिया—विषयादि। (सा० २१-१-२)।

विषै—विषय में, विषय के कारण। उ० व्रिषै न सूझै काल। (सा० १२-४६-१)।

विसाम—क्रि०अ०(हि० विष)—विष का प्रभाव चढ़ाया। (सा० ५२-६-नो०७)।

विह—सं० स्त्री० (सं० विधि)—ढंग, विषय-विधान। (सा०३५-८-नो० १०)।

वीर—सं० पु० (सं०)—भाई। (सा० ४६-१०-नो० १६)।

वै—सर्व० (हि० वह से)—वे उ० मति वै राम दया करै, दरसि बुझावै अग्नि। (सा० ३-११-२)।

वैसण—क्रि० अ० (सं० वेशन)–बैठना।

उ० ते मंदिर खाली पड़, वैसण लागे काग। (सा० १२-४-२)।

वैसे—क्रि० अ० (हि० बैठना)—बैठता है। (सा० २४-६-नो० १२)।

वो—सर्व० (हि० वह)-वह। उ०वो हालै वो चीरिये, साषित संग न बेरि। (सा० २५-४-२)।

वोढन—सं० पु० (प्रा० ओवेड्ढण)—ओढ़ने का वस्त्र। उ० वोढन हमरै एक पछेवरा, लोक बोलें इकताई हो। (प० ५०-६)।

वोढें—क्रि० स० (सं० उपवेषन, प्रा० ओवेड्ढण)-ऊपर लेते हैं। उ०वोढें काला कापड़ा, नांव धरावैं सेत। (सा० २३-७-२)।

वोर—सं० स्त्री० (सं० अवार)—तरफ, दिशा। उ० मन धावै चहुं वोर। (सा० २४-२-१)।

वोछा—वि० (हि० ओछा)—नीचा। (सा० १२-५६-नो० ७६)।

वोही—वि० (हि० वह+ही)—उसी तरह का, जैसे का तैसा। उ० पांहण वोही तेह। (सा० ५५-२-२)।

व्यंद—सं० पु० (स० बिंदु)—बिंदु। उ० उतपति व्यंद कहां थैं आया। (प० ४१-३)

व्यंदहु—दे० 'व्यंददु'। व्याप्त है। (सा० ३३-६-६)।

व्यापक—वि०(सं०)-चारों ओर व्याप्त। उ० सब घटि अंतरि तूं ही व्यापक, धरै सरूपैं सोई। (प० ५५-६)।

व्यापै—क्रि० अ० (सं० व्यापन, हि० व्यापना)—व्याप्त होता है। उ० जुरा मरण व्यापै कुछ नांहीं। (प० २३-६)।

व्यावन—सं० पु० (हि० व्याना)—बच्चा देना। उ० चषि बिन दिवस जिसी है संझा, व्यावन पीर न जानैं बंझा। (प० २८५-३)।

व्यौपार—सं० पु० (सं० व्यापार)—रोजगार, व्यवसाय। उ० सांई मेरा बांणियां सहजि करै व्यौपार। (सा० ३८-८-१)।

व्योम—सं० पु० (सं० व्योम)—आकाश। उ० बसुधा व्योम बिरकत रहै, बिन ठाहर बिसवास। (सा० ३१-३-२)।

व्यौहार—सं०पु० (सं० व्यवहार)—कामकाज। उ० दिन दस के व्यौहार कौं, झूठैं रंगि न भूलि। (सा०१२-१३-२)।

श

शदेह—सं० पु० (सं० संदेह)—शुबहा, संशय। (र० २ की पादटि०)।

शरप—सं० पु० (सं० सर्प)—सांप। उ० बंबई उलटि शरप कौं लागी। (प० १६२-६)।

शुख—सं० पु० (सं० सुख)—आनंद। (र० २ की पादटि०)।

शो—सर्व० (हि० सो)—वह। (र० २ की पाद टि०)।

शोई—वह ही, वही। (र० २ की पाद टि०)।

श्रम—सं० पु० (सं०)-परिश्रम, प्रयत्न। उ० मेला पाया श्रम सौं। (सा० ३-४३-१)।

श्रवण—सं० पु० (सं०)—कर्ण, कान। उ० सिरजे श्रवण कर चरन। (सा० ३५-१-२)।

श्रवत—क्रि० अ० (सं० स्राव, हि० स्रवता)—बहता है, टपकता है, चूता है। उ० श्रवत सुनि रवि ससि सिव सिव। (प० १७२-४)।

श्रवन—दे० 'श्रवण'। उ० श्रवन कपाट बजर था तूटा। (प० ३६५-४)।

श्रवनूं—दे० 'श्रवण'। उ० नैनूं निकट

श्रवनूं रसनूं। (प० २२२-४)।

श्रीनरहरी—सं० पु० (सं० श्रीनरहरि)—विष्णु भगवान। उ० इहि विधि सेविये श्रीनरहरी। (प० ३२६-१)।

श्रीमुरारि—सं० पु० (सं०)—भगवान। उ० तूं बिन पंचाननि श्रीमुरारि। (प० ३८५-२)।

श्रीरंग—सं० पु० (सं०)—विष्णु। उ० तहां श्रीरंग केलि कराइ रे। (प० ४-५)

श्रीवनवारि—सं० पु० (सं० श्रीवनमाली)—श्रीकृष्ण। उ० तव मिलि गए श्रीवनवारि रे। (प० ४-१५)।

श्रीहरि—सं० पु० (सं०)—भगवान। उ० जिहि हिरदै श्रीहरि भेटिया। (प० २८-५)।

ष

षंडपाड़ै—क्रि० स० (सं० खंडन + पारना) निराकरण नहीं कर पाता है। उ० आसा पास षंड नहीं पाड़ै। (प० १७६-५)।

षंडै—(१) सं० पु० (सं० खड्ग)—अस्त्र। उ० विन षंडै संग्राम है, नित उठि मन सौं झूझणां। (सा० २६-८-२)।
(२) क्रि० स० (खंडन, हि० खंडना)—निराकरण कर सकता है। उ० नाद न षंडै धारा। (प० ६६-२)।

षजीनां—सं० पु० (अ० ख़जाना)—धनागार, कोश। उ० जंगल केर षजीनां। (प० १०६-४)।

षट दरसन—सं० पु० (सं० षट् दर्शन)—छ: दर्शन शास्त्र—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व व उत्तर मीमांसा। (सा० ३१-११-२)।

षटदल कंवल—सं० पु० (सं० षट् दल, कमल)—लिंगमूल स्थित स्वाधिष्ठान चक्र। उ० षट दल कंवल निवासिया, चहु कौं फेरि मिलाइ रे। (प० ४-३)।

षटरस—सं० पु० (सं० षट्रस)—छ: हों प्रकार के रस या स्वाद वाले पदार्थ, मधुर, लवण, तिक्त, कटु, कषाय और अम्ल। उ० षट रस भोजन भगति करि। (सा० ११-१८-२)।

षटाइ—क्रि० स० (हि० खट्टा करना)—खट्टा करके। उ० कलि का स्वामी लोभिया, पीतलि धरी षटाइ। (सा० १७-६-१)।

षटि—दे०'षटि'। (सा० ४५-१४-नो०)।

षटीक—सं०पु० (सं० खट्टिक, हि० खटिक)—एक छोटी जाति जिसका काम तरकारी आदि बेचना है। उ० बांध्या वार षटीक कै, तापसु किती एक आव। (सा० ४६-२७-२)।

षड़ग—सं० पु० (सं० खड्ग)—एक प्रकार की तलवार, खाँड़ा। उ० म्यांन षड़ग गहि काल सिरि, भली मचाई मार। (सा० ४५-२७-२)।

षणि—क्रि० स० (सं० खनन, हि० खनना)—खोदकर। उ० कबीर जोगी वनि वस्या, षणि खाये कंद मूल। (सा० ४७-२-१)।

षपत—क्रि०अ० (सं० क्षेपण, हि० खपना)—नष्ट होते समय। (र० १-टि०-७६)।

षपरा—सं० पु० (सं० खर्पर)—भिक्षापात्र। उ० मन मैं षपरा मन मैं सींगी, अनहद वेन वजावै रंगी। (प० २०६-४)।

षये—क्रि० अ० (सं० क्षय)—नष्ट हो गए। उ० उपजि षये वेकाम। (सा० २-१७-२)।

षर—सं० पु० (सं० खर)—गधा। उ० ज्यूं षर सूं परबंधिया, यूं बधे सब लोई। (प० १८१-३)।

षरतर—वि० (सं० खरतर)—बड़ी तेजी

से। उ० जन परतर खेलै कोई। (प० १७३-१२)।

षरसाँण—दे० 'परसान'। उ० विरह लाइ परसाँण। (सा० ४७-५-१)।

षरसान—सं० स्त्री० (हि० खर+सान)—तीखी सान। उ० तौ कीण सहै षरसान। (सा० ३-३०-१)।

षरा—वि० (सं० खर)—सच्चा, अधिक तीक्ष्ण। उ० कबीर हरि की भगति का, मन मैं षरा उल्हास। (सा० २४०-२५-१)।

षरीस—दे० 'खरीद'। (सा० ४६-२६-नो० ४५)।

षलक—सं० पु० (अ० ख़लक़)—दुनिया। उ० सारा षलक खराब किया है, मांनस कहा बिचारा। (प० १०६-८)।

षांगौं—सं० स्त्री० (हि० खांगना से खाँग)—कमी, अपराध, त्रुटि। उ० तैं तौ कीयौ मेरे खसम सूं षांगौं। (प० २१३-२)।

षांड—सं० स्त्री० (सं० खंड, हि० खांड)—शक्कर। उ० रांम कह्यां दुनियां गति पावै, षांड कह्यां मुख मीठा। (प० ४०-२)।

षांडी—क्रि० स० (सं० खंडन)—निराकरण कर दिया, दूर किया। उ० इहि विधि त्रिष्णां षांडी। (प० १०-२)।

षांण—क्रि० स० (हि० खाना)—खाना, भोगना। उ० माया का रस षांण न पावा। (प० १०१-१)।

षांणि—दे० 'षांड़'। शक्कर। उ० कांमणि भींनीं षांणि की, जे छेड़ौं तौ खाइ। (सा० २०-२-१)।

षांनि—सं० पु० (हि० खाना)—खाना, भोजन, ढेर। उ० जिणि ल्हसण की षांनि। सा० (२०-६-१)।

षाग—सं० पु० (सं० खड्ग, प्रा० खग्ग, हि० खाँग)—तलवार, खांडा। उ० ग्यान रतन करि षाग रे। (प० ३५०-३)।

षाड——सं० पु० (सं० खात, हि० खाड़)—गड्ढा, गर्त। उ० षाड बुणै कोली मैं बैठी, मैं खूंटा मैं गाड़ी। (प० १०-५)।

षाडू—अन्नादि मूंद रखने के लिए बना गड्ढा। उ० षाडू दह दिसि गयौ फूटि। (प० ३८३-६)।

षाये—क्रि० स० (सं० खादन, प्रा० खाअन)—भोजन किया, खाया। उ० हरि के षारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिनि षाये। (प० १९-१)।

षार—वि० (सं० क्षार, हि० खारा)—क्षार या नमक के स्वाद का। उ० षार समंद मैं मंछला, केता बहि बहि जांहि। (सा० २०-५-२)।

षारा—खारा। उ० षिन षारा षिन मीठ। (सा० ४६-१५-१)।

षारी—खारी। उ० संसारि आइ माया किनहूं एक कहीं षारी। (प० २३२-८)।

षारे—कड़ुये, अरुचिकर, क्षार। उ० हरि के षारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिनि षाये। (प० १२-१)।

षारिसा—वि० (अ० ख़ालिस)—शुद्ध, जिसमें कोई दूसरी वस्तु न मिली हो। उ० औरै स्यावढ करै षारिसा। (प० २१६-८)।

षालसै—शुद्ध। उ० कहै कबीर ते भये षालसै, रांम भगति जिनि जांनी। (प० २६४-१०)।

षिन—सं० पु० (सं० क्षण, हि० खिन)—एक क्षण में ही, लमहे में ही। उ० षिन षारा षिन मींठ। (सा० ४६-१५-१)।

षिवै—क्रि० अ० (सं० क्षेपण, हि० खपना)—नष्ट होता है। उ० कहौ कौन षिवै कहौ कौंन गाजै, कहां थैं पांणी निसरै। (प० २६१-३)।

षिमां—सं० स्त्री० (सं० क्षमा)—सहनशीलता, सहिष्णुता। (र० १-टि० १२)।

षिरिषिरि—क्रि० अ० (सं० क्षरण, हि० छरना)—झड़-झड़ कर, धीरे-धीरे नष्ट होकर। (र० १-टि० २)।

षीणां—वि० (सं० क्षीण)—दुवला, पतला। उ० तन पीणां मन उनमनां, जग रूठड़ा फिरंत। (सा० २९-३-२)।

षींनां—उ० उदित भया तम पींनां। (प० १६-८)।

षीर—सं० पु० (सं० क्षीर)—दूध। उ० षीर रूप हरि नांव है, नीर आन व्योहार। (सा० ३२-१-१)।

षुदाइ—सं० पु० (फा० खुदाइ)—स्वयंभू, ईश्वर। उ० और षुदाइ तुरक मोहि करता। (प० ५९-४)।

षुर—सं० पु० (सं० खुर)—खुर। उ० उर विन षुर विन चंच विन, वपु विहूंनां सोई। (प० २१२-३)।

षुसरै—सं० पु० (फा० खुसुर)—श्वसुर, ससुर। उ० तौ षुसरै कौण परम गति पाई। (प० १३२-४)।

षूंदि—क्रि० अ० (हि० खूंदना)—थोड़ी ही दूर में कूदकर, उछल-कूद कर। उ० खाया पीया षूंदि। (सा० २४-१५-१)।

षूटै—क्रि० अ० (सं० खुड, हि० खुटना)—खुले, छूट जाय। उ० ज्यूं भव वंधन षूटै। (प० १७९-१)।

षूणैं—सं० पु० (सं० शून्य)—कोने में, सुनसान में। उ० षूणैं वैसि रषाइए, परगट होइ दिवानि। (सा० २०-६-२)।

षेदा—सं० पु० (हि० खेदना से)—खेदने भगाने वाले, खेदा। उ० चित तर उवा पवन षेदा, सहज मूल वांधा। (प० २१०-३)।

षेव—सं० पु० (क्षेम)—कल्याण, आनन्द। (र० १-टि० १२)।

षेह—सं० स्त्री० (सं० क्षार, पं० षेह)—धूल। उ० वारि जु वांध्या प्रेम के, डारि रह्या सिरि षेह। (सा० ६-५-२)।

षोज—सं० स्त्री० (हि० खोजना से)—पता। (सा० १-२६-नो० २७)।

षोजत—क्रि० स० (सं० खुज)—तलाश करते-करते, ढूंढ़ते-ढूंढ़ते। उ० वाहरि षोजत जनम गंवाया। (प० १७-७)।

षोजहि—उ० जारि गाडि पुर षोजहि षोवैं। (प० ६५-६)।

षोडस कंवल—सं० पु० (सं० षोडश कमल)—कंठ स्थान स्थित विशुद्ध चक्र। (प० ४-१५)।

षोड़ि—सं० स्त्री० (सं० खोट या खोर)—बुराई। उ० लागी मोहीं षोड़ि। (सा० १२-३१-१)।

षोवैं—क्रि० स० (सं० क्षेपण)—खोते हैं। उ० जारि गाडि पुर षोजहिं षोवैं। (प० ६५-६)।

षोपरी—वि० (हि० खोखला)—सारहीन, खाली। उ० वैसंदर षोपरी हांडी, चल्यौ लादि पलांनि। (प० ३१४-५)।

ष्वार—क्रि० वि० (फा० ख्वार)—व्यर्थ ही। उ० कवीर पूंजी साह की, तूं जिनि खोवै ष्वार। (सा० २२-१-१)।

स

संक—सं० स्त्री० (सं० शंका)—डर, भय, खटका। उ० ग्यांनी तौ नींडर भया, मांनैं नांहीं संक। (सा० २०-२६-१)।

संकट—सं० पु० (सं० सम+कृत, प्रा० संकट)—विपत्ति। (पा० प० ९८-३)।

संकटि—विपत्तियों में, मुसीवत में। उ० जेको नींदै साध कूं, संकटि आवै सोइ। (सा० ५४-५-१)।

संकड़ा—वि० (सं० संकणि)—पतला और तंग। उ० भगति दुवारा संकड़ा,

राई दसवैं भाइ। (सा० १३-२६-१)।

संकर—सं० पु० (सं० शंकर)—शिव। उ० संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नांमां जै देव। (प० ३८७-६)।

संकल—सं० स्त्री० (सं० शृंखला)—बंधन, जंजीर। उ० संकल ही तैं सब लहै, माया इहि संसार। (सा० १६-२५-१)।

संक्या—सं० स्त्री० (सं० शंका)—आशंका, संशय। उ० अजहूं न संक्या गई तुम्हारी। (प० १८२-१)।

संख—सं०पु० (सं० शंख)—बड़ा घोंघा, जो बजाने के काम आता है। उ० बाजैं संख सबद धुनि बेनां, तन मन चित हरि गोबिंद लीनां। (र० ४-६६)।

संखम—दे०'संषम'। (पा०सा० २-६-१)।

संग—क्रि० वि० (सं० संग)—एक साथ, हमराह। उ० दीपक पावक आंणिया, तेल भी आंण्या संग। (सा० ४-१-१)।

सँग—दे० 'संग'। (सा० २-१२-२)।

संगति—सं० स्त्री० (सं०)—मिलाप, सम्बन्ध ज्ञान, साथ। उ० हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप। (सा० ५-३०-१)।

सँगतैं—सं० पु० (हि० संग+तैं)—समीप से, साथ। उ० जाका सँग तैं बीछुड़्या, ताही के सँग लागि। (सा० २-१२-२)।

संगम—सं० पु० (सं०)—त्रिकुटी अर्थात् तीनों नाड़ियों का मिलन स्थान। उ० सुमति कबीर विचारी, त्रिकुटी संगम स्वांमीं। (प० ७-७)।

संगा—दे० 'संग'। साथ। (पा० प० १३७-८)।

संगात—ते० 'संगाती'। साथी, संगी। उ० माता-पिता लोक सुत वनिता, अंति न चले संगात। (प० ४००-७)।

संगाती—सं० पु० (हि० संग+आती)—साथी, संगी। उ० आवत संग न जात संगाती, कहा भयो दरि बांधे हाथी। (प० ६८-५)।

सँगि—दे० 'संग'। साथ में। उ० पति सँगि जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि। (सा० ५-१-२)।

संगि—साथ में। (पा० प० ५-६)।

सँगी—सं० पु० (हि० संग+ई (प्रत्य०)—साथी, मित्र। उ० पंच सँगी पिवपिव करैं, छठा जु सुमिरे मंन। (सा० २-७-१)।

संगी—साथी। उ० तेरा संगी को नहीं, सब स्वारथ बंधी लोइ। (सा० १२-५५-१)।

संगु—दे० 'संग'। साथ। (पा० प० १२६-३)।

संग्रह—सं० पु० (सं०)—संचय, जमा। उ० हस्ती घोड़ा बैल बांहणीं, संग्रह किया घणेरा। (प० २३८-७)।

संग्रांम—सं० पु० (संग्राम)—युद्ध,लड़ाई। उ० बिन षंडै संग्राम है, नित उठि मन सौं झूझणां। (सा० २६-८-२)।

संग्रामहि—युद्ध। (पा० प० ११६-४)।

संघाती—दे० 'संगाती'। साथी। (पा० प० १०४-७)।

संघारे—क्रि० स० (सं० संहार)—नाश कर दिया। उ० तै पापणीं सबै संघारे, काकौ काज संवारयौ। (प० २६६-७)।

संघारैं—नाश करते हैं। (पा०र० ६-५)।

संघेरैं—वि० (सं० संघटित)—संयुक्त, एक साथ। उ० पंच कुटंब मिलि झूझन लागे, बाजत सबद संघेरैं। (प० ६-४)।

संच—सं०पु० (सं० संचय)—राशि, ढेर, समूह। उ० ले चल्या घर आपणैं, भारी पाया संच। (सा० ५०-१२-२)।

संचंते—दे० 'संचते'। एकत्रित करते-करते। (पा० प० ८५-७)।

संचते—क्रि० अ० (सं० संचयन, हि०

संचई)—संग्रह करते-करते। उ० सोइ मूवे धन संचते, सो उवरे जे खाइ। (सा० १६-१२-२)।

संचर—सं० पु० (सं०)—गमन, पैठ। उ० रांम सनेही दास बिचि, तिणां न संचर होइ। (सा० २६-१४-२)।

संचरै—क्रि० अ० (सं० संचरण)—व्याप्त हो, फैल जाए। उ० तिल इक घट मैं संचरै, तौ सब तन कंचन होइ। (सा० ६-८-२)।

संचारि—क्रि० स० (सं० संचारण)—किसी वस्तु का संचार करके रखा। (पा० सा० २८-४-१)।

संचारिए—संचार करो। (पा०सा० ३०-३-२)।

संचिए—दे० 'संचिये'। (पा० सा० ३१-२०-१)।

संचिये—क्रि० अ० (सं० संचयन)—संग्रह करना चाहिए। उ० कबीर सो धन संचिये, जो आगैं कूं होइ। (सा० १६-१३-१)।

संची–सँभाल कर रखी। (पा०प० ४४-३)।

संचें—संग्रह किया। (पा० सा० ३१-१२-२)।

संचै—संग्रह करती है। उ० सूरौ कहा मरन थैं डरपैं, सती न संचै भांडी। (प० १२६-४)।

संच्यो—एकत्रित किया। उ० कहै कबीर सुनहु रे संतौ, धन संच्यो कछु संगि न गयो। (प० २४३-६)।

संच्यौ—(पा० प० ८३-६)।

संजम—सं० पु० (सं० संयम)—इंद्रियों का निग्रह। उ० नौंमी नेम दसमीं करि संयम, एकादसी जागरणां। (प० २५०-७)।

संजमो—दे० 'संजम'। (पा०प० ८२-४)।

सँजोइ—क्रि० स० (सं० सज्जा० हि० संजोना)—तैयार कर रही है। उ० नवसत साजे कांमनीं, तन मन रही सँजोइ। (सा० २४-२३-१)।

संजोइ—(पा० प० १२७-३)।

संजोग—सं० पु० (सं० संयोग)—मेल, मिलान। (पा०सा० १४-२७-१)।

संजोगे—संयोग से, इत्तिफ़ाक से। उ० दरिया केरी नाव ज्यूं, संजोगे मिलियांह। (सा० १२-५६-२)।

संजोगैं—संयोग से। (पा० र० ५-५)।

संझा—सं०स्त्री० (सं० संध्या)–सूर्यास्त का समय, शाम। उ० पंच चोर गढ़ मंझा, गढ़ लूटैं दिवसर संझा। (प० २६२-२)।

सडैंमरकैं—दे० 'संनां मुरकां'। (पा० प० २६-५)।

संत—सं० पु० (सं० सत)—हरिभक्त, साधु-महात्मा। उ० कहै कबीरा संत हौं, अवगति की गति और। (सा० १४-५-२)।

संतई—सं० पु० (सं० संत + ई (प्रत्य०)—संतपन, भलमनसाहत। उ० संत न छाड़ै संतई, जे कोटिक मिलैं असंत। (सा० २६-२-१)।

संतति–सं० स्त्री० (सं०)—दल, झुण्ड। उ० काम क्रोध माया मद मंछर ए संतति हंम मांहीं। (पा० प० १६१-६)।

संतन—दे० 'संत'। संतों। (पा० प० १५-१)।

संतहु—दे० 'संतौं। (पा० प० ४१-७)।

संतानौं—क्रि० स० (सं० संतापन)—संताप देना, तंग करना। (पा० सा० २-३४-१)।

संताप—सं० पु० (सं०)—कष्ट, मनो-व्यथा। उ० माया तरवर त्रिविध का, साखा दुख संताप। (सा० १६-२०-१)।

संतावा—क्रि० अ० (सं० संतापन, प्रा० संतावन, हि० सताना)—संताप दिया। उ० नां जसरथ घरि औतरि आवा, नां लंका का राख संतावा। (र० वा०-५१)।

संतोख—सं० पु० (सं० संतोष)—संतुष्टि,

तृप्ति। (पा० प० १७-४)। 'दे० संतोप'।

संतोखि—क्रि० अ० (सं० संतोष+ना (प्रत्य०)—संतुष्ट हो जाते हैं। उ० आदि अंति जो लीन भये हैं, सहजैं जांनि संतोखि रहे हैं। (र० २-१४)।

संतोखिए—दे० 'संतोषिये'। (पा० सा० १-१-२)।

संतखु—दे० 'संतोष'। (पा० प० २५६)।

संतोष—सं० पु० (सं०)—तृप्ति। उ० सत संतोष ले लरनैं लागे, तोरे दस दरवाजा। (प० ३५६-८)।

संतोषि—क्रि० स० (सं० संतोष+ना (प्रत्य०)—संतुष्ट किया जाय। उ० क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन मांहि। (सा० १-४-२)।

संतोषी—सं० पु० (सं० संतोषिन्)—संतुष्ट रहने वाला। उ० सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुबिचार। (सा० ४०-२-१)।

संतौ—सं० पु० (सं० सत्)—साधुओं, हरिभक्तों। उ० कहौ संतौ क्यूं पाइये, दुर्लभ हरि दीदार। (सा० २-२७-२)।

सँदेस—सं० पु० (सं० संदेश)—समाचार। (सा० ३४-२-नो० ३)।

संदेसौ—दे० 'सँदेस'। समाचार, संवाद। उ० अंदेसड़ा न भाजिसी, संदेसौ कहियां। (सा० ३-९-१)।

संदेह—सं० पु० (सं०)—संशय, शंका। (पा० चौ० र० ३८-१)।

संधि—सं० स्त्री० (सं०)—(१) मेल, संयोग। उ० फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ। (सा० २-३१-२)। (२) जोड़, दोनों के मिलन की जगह। उ० ताता लोहा यौं मिलै संधि न लखई कोइ। (सा० ५६-७-२)।

संधें—जोड़ के स्थान पर। उ० एक पग दोइ पग त्रेपग, संधे संधि मिलाई। (प० २०-६)।

संधे—जोड़ के स्थान पर। (सा० २-३१-२)।

संधिक—सं० पु० (हि० साधक)-साधना करने वाला। (पा० प० ४४-५)।

संनां मुरकां—सं० पु० (सं० शंड+मर्क)—शंड और मर्क नाम के दो दैत्य जिनका नाम साथ ही लिया जाता है। उ० तब संनां मुरकां कह्यौ जाइ, प्रहिलाद वंधायौ वेगि आइ। (प० ३७९-५)।

संन्यासी—सं० पु० (सं० संन्यासिन्)—सन्यास आश्रम में रहने वाला। उ० जोगी जती तपी संन्यापी, बहु तीरथ भरमणां। (प० २४८-७)।

संपटि—सं० पु० (सं० +संपुट)—ढक्कनदार पिटारी या डिबिया। उ० संपटि मांहि समाइया, सो साहिब नहीं होइ। (सा० ३६-१-१)।

संपति—सं० स्त्री० (सं० संपत्ति)—धन, वैभव। उ० दारा सुत ग्रेह नेह, संपति अधिकाई। (प० ३२०-३)।

संपुट—दे०'संपटि'। (पा०सा० ७-३-१)।

संपै—दे० 'संपति'। धन, वैभव। (पा० प० ८२-६)।

संबाहि—क्रि० स० (सं० संवाहन)—सहन करो। उ० भरम मलका दूरि करि सुमिरण सेल संबाहि। (सा० ४५-१-२)।

सँबाहिया—क्रि० स० (सं० संवाहन से)—सहन कर लिया। उ० सूरै सार सँबाहिया, पहर्‌या सहज सँजोग। (सा० ४५-८-१)।

संबाहिया—सहन किया। (पा० सा० १४-२७-१)।

सँभारा—दे० 'सँभर'। स्मरण किया। (र० ४-९)।

सँभार—क्रि० अ० (सं० संभार)—स्मरण करो, याद करो। उ० जब लग सांस सरीर मैं, तब लग रांम सँभार। (सा० २२-४-२)।

संभारि—स्मरण करो। (सा० २१-२३-२)।

संभारा—क्रि० स० (हि० संभालना)—रक्षा किया। उ० माघ मास सति कर्वालि तुसारा, भयौ वसंत तव वाग संभारा। (र० ४-१७)।

संभारी—संभाल कर, देख-देख कर। (पा०प० १७०-१)।

संभारू—संभाल कर। (पा० र० १७-१)।

संभारे—संभाल किया। उ० कहै कवीर अन्न खान न देहूं, वरियां भली संभारे। (प० ३९६-६)।

सँभाल—क्रि० स० (हि० संभालना)—दे० 'संभारा', वश में रखा। उ० कवीर कहैं रे प्राणियां, वांणी ब्रह्म सँभाल। (सा० २५-५-२)।

संमर्थ—वि० (सं० समर्थ)—सर्व शक्तिमान। उ० सेइ मन समझि समर्थ सरणां गता, जाकी आदि अंति मधि कोइ न पावै। (प० १९९-१)।

संमि—वि० (सं० सम)—वरावरी का, न मित्र न शत्रु। उ० आपा पर संमि चीनिये, दीसै सरव समांन। (प० ५-५)।

संमिता—दे० 'समिता'। समता का भाव। उ० इक कथि-कथि भरम लगांवैं, संमिता सी वस्त न पावैं। (प० २७६-५)।

संमिकरि—क्रि० स० (सं० सम+हि० करना)—वश में करके रखता है। उ० वंक नालि जे संमि करि राखैं, तौ आवागमन न होई। (प० १५७-१८)।

संम्रथ—दे० 'संमर्थ'। समर्थ, सर्व शक्तिमान। उ० उस सम्रथ का दास हौं, कदे न होइ अकाज। (सा० ११-१७-१)।

संम्रथ्थ—दे० 'संमर्थ'। उ० कवीर दिल स्यावति भया, पाया फल संम्रथ्थ। (सा० ५-३४-१)।

संयम—सं० पु० (सं०)—उद्योग में, प्रयत्न में। (सा० ३८-१२-नो० १३)।

संयानीं—दे० 'संयांनां'। चतुर। (प० १४७-१)।

संवारण—क्रि० स० (सं० संवरण, हि० सँवारना)—सजाने में। उ० भांजण घड़ण संवारण संम्रथ, ज्यूं रापै त्यूं रहिए। (प० ३४-२)।

संवारहिं—सजाते हैं, वनाते हैं। (पा० प० ६२-४)।

सँवारा—वनाया। उ० पीर पांड़ घृत प्यंड संवारा। (प० ९३-३)।

सँवारि—ठीक करो। उ० जिनि पंथूं तुझ चालणां, सोई पंथ सँवारि। (सा० १२-१४-२)।

संवारि—(पा० सा० १५-५३-२)।

संवारी—ठीक-ठाक की। (पा०र० १७५-२)

संवारे—दुरुस्त करे, सम्पन्न करे। उ० कवहूं न सोवै काज संवारे, पांण तिहारी माती। (प० २१६-४)।

संवारै—सँवारता है। उ० जव यहु मैं मेरी मिटि जाइ, तव हरि काज संवारै आइ। (प० ३४९-४)।

संष—सं० पु० (सं० शंख)—हे शंख। उ० रैंणा दूर विछोडिया, रहुरे संषम फूरि। (सा० ३-४४-३)।

संसा—सं० पु० (सं० संशय)—द्विविधा, सन्देह। उ० कवीर संसा जीव मैं कोइ न कहै समझाइ। (सा० ३४-३-१)।

संसै—संदेह, अनिश्चयात्मक ज्ञान। उ० अंधा नर चेतै नहीं, कटै न संसै सूल। (सा० २०-१७-१)।

संसौ—संदेह। उ० जिहिं घट मैं संसौ वसै, तिहिं घटि रांम न जोइ। (सा० २९-१४-१)।

संसार—सं० पु० (सं०)—दुनिया, प्रपंच। उ० ते नर इस संसार में, उपजि पये वेकाम। (सा० २-१७-२)।

संसारा—संसार, दुनिया। उ० हम न मरैं मरि हैं संसारा, हंम कूं मिल्या जियावनहारा। (प० ४३-१)।

संसारि—संसार में। (पा० सा० १५-५७ -१)।

संसारू—संसार में। (पा० प० ५५-४)।

संसारी—वि० (सं० संसारिन्)—दुनिया-दार, दुनिया में फँसा हुआ। उ० ताथैं संसारीं भला, मन मैं रहै डरता। (सा० २०-२७-२)।

सईं—वि० (सं० समान)—बराबर। उ० हरिजी सवाँन को हितू, हरिजन सईं न जाति। (सा० १-१-२)।

सक—सं० पु० (अ० शक)-शंका, संदेह।

सकई—क्रि० अ० (सं० √शक्, हि० सकना)—करने योग्य हो सकता है। (पा० सा० १०-१-१)।

सकत—सकता है। (पा० प० ७५-८)।

सकहु—सको। (पा० सा० १५-२१-१)।

सका—पा सका, कर सका। (पा० सा० २२-४-१)।

सकूं—कर सकूं। (पा० सा० २-३२-१)।

सकै—सकता है। उ० जौ गढ़पति मुहकम होई, तौ लूटि न सकै कोई। (प० २६२ -३)।

सक्कै—सकता है। (पा० सा० ८-८-२)।

सकति—सं०स्त्री०(सं० शक्ति)-दुर्गा, दैवी शक्ति, भगवती। उ० सकल वरण इकत्र ह्वै, सकति पूजि मिलि खांहि। (सा० २२-१४-१)।

सकती—दे० 'सकति'। शक्ति। उ० सिव सकती दिसि कौण जु जोवै, पछिम दिसा उठै धूरि। (सा० ५-४६-१)।

सकल—वि० (सं०)—सम्पूर्ण, कुल, सब, समस्त। उ० सकल पाप सहजैं गये जब सांई मिल्या हजूरि। (सा० ५-२६-२)।

सकाम—वि० (सं०)—काम या वासना युक्त, कामी। उ० नर नारी सब नरक है, जब लग देह सकाम। (सा० २०-७ -१)।

सकारा—क्रि० वि० (सं० सकाल)-सवेरे। (पा० र० १२-१)।

सकेलि—क्रि० स० (सं० संकलन?)—इकट्ठा करके, जमा करके। (पा० सा० १५-४-१)।

सखा—सं० पु० (सं० सखिन् का सखा रूप)—साथी, संगी, मित्र। उ० प्रहलाद पधारे पढ़न साल, संग सखा लीयें बहुत बाल। (प० ३७९-३)।

सखी—स्त्री० (सं०)—सहेली, सहचरी। उ० हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ। (सा० ७-३-१)।

सगपन—सं० पु० (हि० सगापन)—सम्बन्ध, आत्मीयता। उ० हंस उड़्या चित चालिया, सगपन कछू नांहीं। (प० १९०-७)।

सगल—दे० 'सगला'। सारा, कुल। (पा० प० ४६-४)।

सगला—वि० (सं० सकल)—सब, समस्त, कुल। उ० स्वारथ कों सबको सगा, जब सगला ही जांणि। (सा० २९-१५ -१)।

सगली—सारी। (पा० प० ८४-८)।

सगले—सारे। (पा० प० १६२-२)।

सगलो—सारा। (पा० प० १८६-५)।

सगा—वि० (सं० स्वक्)—सहोदर, निकट संबंधी। उ० सतगुरु सवाँ न को सगा, सोधी सईं न दाति। (सा० १-१-१)।

सगी—निकट की। (पा० प० १००-३)।

सगौ—निकट का। (पा० प० १३५-६)।

सगाई—सं० स्त्री० (हि० सगा+आई (प्रत्य०)—नाता, सम्बन्ध। उ० मन फाटा वाइक बुरै, मिटी सगाई साक। (सा० ३७-२-१)।

सगुरा—दे० 'सगला'। सारा। (पा०सा० २२-१०-२)।

सघन—क्रि० (सं०)—घना। उ० है गै गैंवर सघन घन, छत्रपती की नारि। (सा० ३०-५-१)।

सच—दे० 'सचु'। सत्य। उ० कबहूँ सच नहीं पायौ। (प० ३०८-३)।

सचपाऊँ—क्रि० अ० (हि० सच+पाना)—आनंदित होता हूँ, सुखी होता हूँ। उ० तिहि सरि अजहूँ मारि, सर विन सच पाऊँ नहीं। (सा० ३-१७-२)।

सचल—क्रि० (सं०)—चलता हुआ। उ० जो थे सचल अचल ह्वै थाके, करते बाद विवाद। (प० २८१-८)।

सचांनां—दे० 'सिचांनां'। (पा० सा० १६-२७-२)।

सचु—सं० पु० (सं० सत्य)—सत्य बात। (पा० प० ३६-३)।

सजणां—सं०पु०(सं० सत्+जन)-प्रियतम का, आत्मीय का। (सा० ३-२६-१)।

सजन—सं० पु० (सं० सत्+जन)—सज्जन, भलेमानस। उ० वैरी उलटि भये हैं मीता, सापत उलटि सजन भये चीता। (प० १५-५)।

सजनां—दे०'सजणां'। (पा०प० १५-८)।

सजीवन मूरी—सं० स्त्री० (सं० संजीवनी +हि० मूरी)—जीवनप्रदायिनी बूटी। उ० साचै नियरै झूठै दूरी, विष कूं कहै सजीवन मूरी। (र० ४-५२)।

सझ—सं० स्त्री० (सं० सज्जा)-सजावट, वेश, रूप। (सा० ४८-१-नो० २)।

सठौरी—सं० स्त्री० (सं० शठ+औरी (प्रत्य०)—मूर्खता। उ० मेरे तन मन लागी चोट सठौरी। (प० ३०३-१)।

सण—सं० पु० (सं० शण)—सन नामक प्रसिद्ध पौधे की छाल जिससे रस्सियाँ बनती हैं। उ० सापित सण का जेवड़ा, भींगां सूं कठ्ठाइ। (सा० १७-११-१)।

सत—सं० पु० (सं० सत्)—सत्यतापूर्ण धर्म। उ० सती विचारी सत किया, काठौं सेज विछाइ। (सा० ४५-३४-१)।

सतगंठी—वि० (सं० शत+हि० गांठ)—अनेक गाँठें पड़ी हुई, जीर्णशीर्ण। उ० सतगंठी को जीन है, साध न मानै संक। (सा० ३७-८-१)।

सतगुण—सं० पु० (सं० सत्व गुण)—अच्छे कर्मों की ओर प्रवृत्त करने वाला गुण। उ० हरि रस जे जन वेधिया, सतगुण सीगणि नांहि। (सा० ४०-५-१)।

सतगुन—दे० 'सतगुण'। सत्व गुण। (पा० प० ३२-५)।

सतगुरू—दे० 'सतगुर'। उ० सतगुरू सवाँ न को सगा, सोधी सईं न दाति। (सा० १-१-१)।

सतजुग—सं० पु० (सं० सत्य युग)—चार युगों में से पहला जो सबसे उत्तम माना जाता है। (पा० प० १४३-५)।

सतसंगति—सं० स्त्री० (सं० सत्संग)—अच्छी संगत। उ० सत संगति मति मन करि धीरा। (प० ११५-६)।

सतसंगि—सं० पु० (सं० सत्संग)—अच्छी संगत। (पा० प० ७३-८)।

सतावहु—क्रि० स० (सं० संतापन)—संताप देना, दुःख देना। (पा० प० २६-७)।

सतावा—संताप दिया। (पा०र० ३-२)।

सतिगुर—दे०'सतगुर'। (पा०प० ५६-७)।

सतिगुरू—दे०'सतगुर'। (पा०प० ६-५)।

सति—सं० पु० (सं० सत्य)—एक मात्र वस्तु, सत्य। उ० हमारै रांम रहीम करींमा केसो, अलह रांम सति सोई। (प० ५८-१)।

सती—सं० स्त्री० (सं०)—प्रतिव्रता, साध्वी। उ० सोई रांम सतीं कहै, सोई कौतिगहार। (सा० ३३-१-२)।

सतु—दे० 'सत'। सत्य। (पा० प० २५-६)।

सत्त—दे० 'सत'। सत्य। (पा० प० १७-१)।

सत्तरि—वि० (सं० सप्तति)—सत्त

संख्या में । उ० सत्तरि सहस सलार है जाकै, असी लाख पैकंबर ताकै । (प० ३३९-३) ।

सद—वि० (सं० सद्यः)—ताजा । उ० सद पांणीं पाताल का, काढ़ि कबीरा पीव । (सा० ५०-५-१) ।

सदकै—सं० पु० (अ० सद्कः)—निछावर (करूँ) । उ० सतगुरू के सदकै करूँ दिल अपणीं का साध । (सा० १-५-१) ।

सदा—अव्य० (सं०)—नित्य, सदैव । उ० सदा अनंदी रांम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि । (सा० ३१-८-२) ।

सदाफल—सं० पु० (सं०)—श्रीफल । उ० सदा सदाफल दाख बिजौरा कोतिकहारी भूली । (प० २१४-२) ।

सधै—क्रि० अ० (हि० साधना से)—सिद्ध हो जाना, पूरा होना । (पा० सा० १५-१४-१) ।

सनंदन—सं० पु० (सं०)—ब्रह्मा के चार मानस पुत्रों में से एक । उ० सनक सनंदन जैदेव नांमा, भगति करी मन उनहुँ न जानां । (प० ३३-२) ।

सनक—सं० पु० (सं०)—ब्रह्मा के चार मानस पुत्रों में से एक । (प० ३३-२) ।

सनकादि—सं० पु० (सं०)—ब्रह्मा के चारों मानस पुत्र । (पा०प० १०४-५) ।

सनकादिक—उ० तहां न फिरि मध जोइये, सनकादिक मिलिहैं साथि रे । (प० ४-१२) ।

सनमांन—सं० पु० (सं० सम्मान)—आदर, सत्कार । उ० मलेरे पांच औसर जब आवा, करि सनमांन पूरि जम पावा । (र० ३-२९) ।

सनमुख—अव्य० (सं० सम्मुख)—सामने, आगे । उ० जा कारणि मैं ढूंढ़ता, सनमुख मिलिया आइ । (सा० ५-३६-१) ।

सनमुखा—दे० 'सनमुख' । आगे । उ० पंचू भइया भये सनमुखा, तब यहु पान करीला । (प० १०९-६) ।

सनमुष—दे० 'सनमुख' । सामने आगे । (सा० ३५-१०-२) ।

सनां—प्रत्य० (हि० सन)—से, अवधी में करण कारक का चिह्न । उ० कैसै होइगा मिलावा हरि सनां । (प० २९-१) ।

सनातन—वि० (सं०)—शाश्वत, नित्य, सदा रहने वाला । उ० अब मन उलटि सनातन हूवा, तब हम जांनां जीवत मूवा । (प० १५-७) ।

सनाथा—वि० (सं० सनाथ)—स्वामी युक्त । (पा० र० ३-१) ।

सनाह—सं० पु० (सं० सन्नाह)—कवच, बखतर । उ० स्वाद सनाह टोप ममिता का, कुवधि कमांण चढ़ाई । (प० ३५९-४) ।

सनेह—सं० पु० (सं० स्नेह)—प्रेम । उ० झूठे कौं झूठा मिलै, दूणां बधै सनेह । (सा० २२-१७-१) ।

सनेहा—दे० 'सनेह' । स्नेह । (पा० प० ९८-२) ।

सनेहीं—दे० 'सनेही । (सा० ५०-९-२) ।

सनेही—वि० (सं० स्नेहिन्)—प्रेमी, भक्त । उ० धरि परमेसुर पांहुणां सुणौं सनेही दास । (सा० ११-१८-१) ।

सपचै—क्रि० अ० (हि० सपचना)—सपचती है । (पा० सा० २-८-१) ।

सपनां—सं० पु० (सं० स्वप्न)—स्वप्न । (पा० प० ९६-१०) ।

सपनेहु—स्वप्न में भी । (पा०र० १७-५) ।

सपनै—स्वप्न में । (पा० र० १७-११) ।

सफ—सं० स्त्री० (अ० सफ)—पंक्ति, कतार, रेखा । (र० १-१) ।

सफा—वि० (अ० सफा)—खासतौर से, स्पष्ट रूप से । उ० तू सकल गहगरा, सफ सफा दिलदार । (र० १-१) ।

सब—वि० (सं० सर्व, प्रा० सब्ब)—सम्पूर्ण, सभी, कुल पूरा । उ० जाति पांति कुल सब मिटे, नांव धरौगे कौंण ।

(सा० १-१४-२) ।

सबकाहू—सर्व०—सभी के लिए । उ० राम नाँव ततसार है सब काहू उपदेश । (सा० २-२-२) ।

सबकूं—सभी कोई । उ० सबकूं सुख दे सबद करि, अपणीं अपणीं ठौर । (सा० ५७-२-२) ।

सबको—सभी कोई । उ० स्वारथ को सबको सगा, जब सग लाहीं जांणि । (सा० २९-१५-१) ।

सब कोइ—सभी । उ० कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ । (सा० २-१-१) ।

सबतैं—वि०—सबसे । उ० एकतैं सब होत है, सबतैं एक न होइ । (सा० ११-९-२) ।

सबद—सं०पु० (सं० शब्द)–(१) उपदेश-प्रद वाक्य, शब्द । उ० सतगुर साँचा सूरिवाँ, सबद जु वाह्या एक । (सा० १-७-१) ।

(२) समाचार, संवाद, बातें । उ० एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ । (सा० ३-५-२) ।

सबदनि—शब्दों से । (पा०प० १६२-७) ।

सबदां—शब्दों का । (सा० ४९-२-नो० ७) ।

सबदि—उपदेश से । (पा०प० १५९-५) ।

सबदी—उपदेश पर चलने वाले व्यक्ति । (पा० प० ८६-६) ।

सबदूं—शब्द से । उ० सत भजै वा पाछी पड़ै, गुर के सबदूं मारची डरै । (प० ३७०-६) ।

सबदै—शब्द द्वारा । (पा० सा० १५-८८-२) ।

सबनिकौं—वि० (सं० सर्व, प्रा० सव्व)—सबको । उ० मानि बड़े मुनियर गिले, मानि सबनि कौं खाइ । (सा० १६-१७-२) ।

सबनिमैं—सब में । (प० ५०-१) ।

सबहिं—सब । (पा० सा० ५-११-२) ।

सबहिन—सबको । (प० ५२-६) ।

सबहिन्ह—सब में । (पा० प० ५३-१) ।

सबहीं—सबको । उ० जे ओ एक न जांणियां,तो सबहीं जांण अजांण । (सा० ११-८-२) ।

सबही—सबको । (पा० र० १२-२) ।

सबै—सभी । उ० कबीर सापत को नहीं, सबै बैशनों जांणि । (सा० ३२-२-१) ।

सबरौ—सं० पु० (सं० सबल)—बलवान तक । उ० आगि आगि सबरौ कहै, तामैं हाथ न बाहि । (सा० २०-२४-२) ।

सबल—वि० (सं०)—बलशाली । उ० सबल सनेहीं हरि मिले, तब उतरे पारि कबीर । (सा० ५०-९-२) ।

सबूरी—सं० पु० (अ० सब्र)—संतोष, धैर्य । उ० सेष सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ । (सा० २२-११-१) ।

सब्द—दे०'सबद'। (पा०सा० २२-१५-१)

सभ—दे० 'सब' । सभी, सब । (पा० प० ८-५) ।

सभनि—सबको । (पा० प० ५४-४) ।

सभं—सब । (पा० प० ५२-२) ।

सभा—सं० स्त्री० (सं०)—पंचायत, मंडली, समाज । (सा० १२-५०-नो० ६५) ।

सभागा—वि० (सं० सौभाग्य)—भाग्य-शाली । उ० कोई जांणैगा जांननहार सभागा । (प० १४१-२) ।

समंगल—वि० (सं० मंगल)—कल्याण का । उ० बोरत सबद समंगल सब घटि ब्यंदत ब्यंदै कोई । (प० १७२-६) ।

समंद—सं० पु० (सं० समुद्र)—सागर । उ० समंद समाना बूंद मैं,सो कत हेरचा जाइ । (सा० ७-४-२) ।

समंदर—सं० पु० (सं० समुद्र)—सागर ।

उ० समंदर लागी आगि, नदियां जलि कोइला भई। (सा० ४-१०-१)।

सम—वि० (सं०)—तुल्य, समान। उ० इक झंझर सम सूत खटोला। (प० ९० ३)।

समझाइ—क्रि०स० (हि० समझाना से)—बोध कराकर । उ० दास कबीर कहै समझाइ, केवल रांम रहौ ल्यौ लाइ। (प० ३४९-८)।

समझाइया—बोध करा दिया। उ० केवल कहि समझाइया आतम साधन सार रे। (प० ५-१६)।

समझाई—बोध किया। उ० अपनें पुरिष मुख कबहू न देख्यौ, सती होत समझी समझाई। (प० २२६-७)।

समझाऊँ—बोध करता हूँ। उ० कबीर इस संसार कौं, समझाऊँ कै बार। (सा० १७-२०-१)।

समझायौं—बोध कराता हूँ। (पा० सा० २१-२८-१)।

समझि समझि–क्रि० स० (हि० समझना) —समझ समझ कर । उ० हौं बिरह की लकड़ी, समझि समझि धूंधाऊँ। (सा० ३-३७-१)।

समझी—समझ लिया। (प० २२-७)।

समझु—समझ ले। (पा० प० ९७-१)।

समझै—समझता है। उ० सर अपसर समझै नहीं, पेट भरण सूं काज। (सा० २९-७-२)।

समता—सं० स्त्री० (सं०)—तुल्यता, बराबरी। (पा० सा० १७-२-१)।

समंद—दे० 'समंद'। समुद्र, सागर। उ० बूंद समानी समंद मैं,सो कत हेरी जाइ। (सा० ७-३-२)।

समधी—सं० पु० (सं० संबंधी)—पुत्र या पुत्री का ससुर। (पा० प० ११०-७)।

समय—सं० पु० (सं०)—अवसर, काल। (पा० प० ९४-६)।

समरथ—वि० (सं० समर्थ)—योग्य, उपयुक्त। (पा० प० १५-९)।

समरत्थ—समर्थ। (पा०सा० ९-३२-१)।

समरपन—सं० पु० (सं० समर्पण)—भेंट, नजर। उ० तन मन सीस समरपन कीन्हां। (प० ४०३-५)।

समसरि—वि० (सं० सम+सदृश)—बराबर। (पा० प० ३९-१०)।

समां—सं०पु० (सं० समय)—वक्त,समय, साथ। उ० हम रफत रहबरहु समां, मैं खुर्दा सुमां बिसियार। (प० २५८-५)।

समांणां— क्रि० अ० (सं० समाविष्ट, हि० समाना से)—समाया, घुसा। उ० सूर समांणां चंद मैं, दहूं किया घर एक। (सा० ५-१०-१)।

समांणी—घुसी । उ० सुरति समांणी निरति मैं, निरति रही निरधार। (सा० ५-२२-१)।

समांनां—समा गया। (प० ६१-६)।

समांनीं—समा गई । उ० कहै कबीर गुजरी बौरांनीं, मटकी फूटीं जोति समांनीं। (प० ३५४-५)।

समांनूं—समा रहा। उ० कहै कबीर यहु जन्म बाद, सहजि समांनूं रही लादि। (प० ३८३-७)।

समांने—समा गए, घुस गए। (पा० प० १९९-६)।

समांनौं—समा रहा। (पा०प० १२६-८)

समांहीं—समाता है । उ० जीवनहार अतीत सदा संगि, ये गुंण तहां समांहीं। (प० ३२-६)।

समाइ—समाकर, व्याप्त होकर,घुसकर। उ० तेज पुंज पारस घणीं, नैंनूं रहा समाइ। (सा० ५-३८-२)।

समाइगा—समा जाएगा। (पा० र० ६-७)।

समाइया—समा गया। (पा० सा० ७-३-१)।

समाइ सकैं—भीतर जा सकता है। उ० मन तौ मैंगल ह्वै रह्यौ, क्यूं करि सकै समाइ। (सा० १३-२६-२)।

समाई—समाकर। उ० जब वस्तु अगोचर पाई, तब दीपक रह्या समाई। (प० २६२-५)।

समाऊँ—समा जाऊँ। (प० १५-८)।

समाता—समाता हुआ। उ० संत न बांधै गांठड़ी, पेट समाता लेइ। (सा० ३५-१०-१)।

समाना—समा गया। उ० समंद समाना बूंद मैं, सो कत हेरया जाइ। (सा० ७-४-२)।

समानी—लीन हो गई, समा गई। उ० बूंद समानी समद मैं, सो कत हेरी जाइ। (सा० ७-३-२)।

समाया—समा गया। (पा०प० १४७-२)

समावै—समाता है। (पा०चौ०र० २१-२)।

समांन—दे० 'समांनि'। (प० ५-५)।

समांनि—वि० (सं० समान)—तुल्य,बराबर। उ० तुम्ह समांनि दाता नहीं, हम से नहीं पापी। (प० १७८-१०)।

समांवहिगे—दे० 'समावहिगे'। (प० १५०-६)।

समाधि—सं०स्त्री० (सं०)—ध्यान। उ० तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि, सहज समाधि लगांवहिगे। (प०१५०-४)।

समाधियां—ध्यान। उ० दहूं कै बीचि समाधियां, तहाँ काल न पासै आइ रे। (प० ४-४)।

समावउं—क्रि० स० (सं० समाविष्ट)—समा दूं, भरूं। (पा० प० १०७-८)।

समावहिगे—समावेंगे। (पा०प० ५७-६)।

समिता—सं० स्त्री० (सं० समता)–सबको एक भाव देखने का स्वभाव। उ० सीतलता तब जांणियें, समिता रहै समाइ। (सं० ३९-३-१)।

समींप—वि० (सं० समीप)—पास, नजदीक। उ० बांह पकरि करि कृपा कीन्हीं, आप समींप लई। (प० ३०४-४)।

समुंद—दे० 'समंद'। सागर। (पा०प० ६६-४)।

समुंदर—दे० 'समंदर'। सागर। (पा० प० १५७-४)।

समुंदहिं—समुद्र में। (पा०सा० ११-६-२)

समुंदा—दे० 'समंद'। समुद्र। (पा० प० १४२-३)।

समुझाइ—क्रि०स० (हि० समझाना से)–बोध करा सकता है। (सा० १४-२-नो० ३)।

समुझाए—बोध कराने। (पा० सा० १५-८६-२)।

समुझावन–समझाने। (पा०चौ०र० २-२)

समुझावा–समझाया। (पा०चौ०र० ६-२)

समुझि–दे० 'समझि'। (पा०प० १०४-७)।

समुझै—समझता है। (पा० सा० १५-८६-२)।

समुद्रहिं—दे० 'समंदर'। (पा०प० १२२-३)।

समूला—क्रि० वि० (सं० समूला)–जड़ से मूलसहित। उ० दिवस चारि सरसा रहै अंति समूला जांहि। (सा० २०-३-२)।

समेटि–क्रि० स० (हि० सिमटना)–इकट्ठी करके। (सा० १२-२०-नो०)।

समोइ—क्रि०स० (१)–मिलाओ। उ० तन करि मटकी मनहि बिलोइ, ता मटकी मैं पवन समोइ। (प० ३५४-३)।

सम्हारा—दे० 'संभारा'। रक्षा की। (पा० प० ५६-५)।

सम्हालि—संभालकर। (पा०स० १६-१०-२)।

सयांनां–सं०पु० (सं०सज्ञान)–चतुर व्यक्ति। (पा० र० १०-६)।

सयांनी—चतुर। (पा०प० १६०-१)।

सयांने—चतुर लोग। उ० बहुत सयांने

पचि रहे, फल निरमल परि दूरि। (सं० ४५-१७-२)।

सयानैं—चतुर व्यक्ति। (पा०प० ८६-४)।

सयानप–सं०पु०(स० सज्ञान, हि० सयाना-पन)—चातुरी, चालाकी। (र० १-टि० १८)।

सर (१)—सं० पु० (सं० शर)—बाण, तीर। उ० कर कमाण सर साँधि करि, खैंचि जु मारया मौंहि। (सा०३-१५-१)।

सर (२)—सं० पु० (फा०)–सिर, चोटी, उच्च स्थान। उ० सर अपसर समझै नहीं, पेट भरण सूं काज। (सा० २९-७-२)।

सरकरा—सं०स्त्री०(सं० शर्करा)–शक्कर, खांड, चीनी। उ० गूंगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई। (प० १५६-२)।

सरग—सं० पु० (सं० स्वर्ग)–आकाश, स्वर्ग। उ० कौंन मरै कौन जनमैं आई, सरग कौंने गति पाई। (प०४४-१)।

सरगहि—स्वर्ग में। (पा०प० १७४-४)।

सरगुन—वि० (सं० सगुण)–गुण-सम्पन्न। उ० हम निरगुन तुम्ह सरगुन जांनां। (र० ३-४८)।

सरग्गि–दे० 'सरग'। स्वर्ग। उ० यहु तन जालौं मसि करूँ, ज्यूं धूवां जाइ सरग्गि। (सा० ३-११-१)।

सरजी—क्रि०स० (सं० सृजन)—रची हुई, बनाई हुई। उ० सरजी आंनैं देह बिनासै, माटी बिसमल कीता। (प० ६२-३)। अथवा—सं० पु० (सं० संजीवन, हि० सजीव)–देह वाले प्राणी। (प० ६२-३)।

सरजीव—दे० 'सरजो'। (पा० प० १८३-३)।

सरणांगता—दे० 'सरणागति'। उ० सेइ मन समझि संमर्थ सरणांगता। (प० १९९-१)।

सरणागति—सं० पु० (सं० शरणागत)—शरण में आया हुआ जन। उ० तुम्ह सरणागति केसवा, राखि राखि मुरारी। (प० १७८-२)।

सरधा—सं० स्त्री० (सं० श्रद्धा)—आस्था, विश्वास। उ० सील साच सरधा नहीं, इंद्री अजहु उघारि। (सा० १३-१५-२)।

सरन—सं० स्त्री० (सं० शरण)—आश्रय। (पा० र० २०-७)।

सरनि—शरण में। उ० नांउ मेरी खेती नांउ मेरे बारी, भगति करौं मैं सरनि तुम्हारी। (प० ३३३-२)।

सरनैं—शरण में। उ० दास कबीर रांम कै सरनैं, ज्यूं लागी त्यूं तोरी। (प० १८७-८)।

सरनांई—सं० स्त्री० (सं० शरणागति)—शरण में। उ० कहत कबीर सुनहु रे सुवटा, उबरै हरि सरनांई। (प० ९७-५)।

सरनाई—दे०'सरनांई'। (पा०प० ५९-८)।

सरप—सं० पु० (सं० सर्प)—साँप। उ० विष के वन मैं घर किया, सरप रहे लपटाइ। (सा० ४६-२८-१)।

सरपहि—सर्प को। (पा० सा० ५-१२-१)।

सरपहि—सर्प को। उ० सरपहि दूध पिलाइये, दूधैं विष ह्वै जाइ। (सा० ५५-९-१)।

सरपैं—सर्प के साथ। उ० ऐसा कोई नां मिलै, स्यूँ सरपैं विष खाइ। (सा० ५५-९-२)।

सरपूरा–क्रि० (सं० स्वरपूरण)—स्वर भर दिया। उ० उलटे पवन चक्र षट वेधा, मेर डंड सरपूरा। (प० ७-५)।

सरवंग—सं० पु० (सं० सर्वांग)–सम्पूर्ण, सारे शरीर के साथ। उ० सेत्रौ तन मन लाइ करि, रांम रह्या सरवंग। (र०वा० ३९)।

सरब—वि० (सं० सर्व)—सब, तमाम। उ० आपा पर संमि चीन्हिये, दीसै सरब समांन। (प० ५-५)।

सरबत्तरि—अव्य० (सं० सर्वत्र)–सब कहीं, हर जगह। उ० आपुन मैं जे करै निवाजा,

सो मुलनां सरवत्तरि गाजा। (र० १-८)

सरवदा—अव्य० (सं० सर्वदा)—हमेशा, सदा। (पा०प० ३४-२)।

सरवस—दे० 'सर्वस'। सब कुछ। (पा० प० ६८-७)।

सरभरि—सं०पु०(सं० सदृश, प्रा० सरिस + वर)—बराबरी में, तुलना में। उ० सीस काटि पासंग दिया, जीव सरभरि लीन्ह। (सा० ४५-२२-१)।

सरलैं—वि० (सं० सरल)—सीधा। उ० जालौं इहै बड़ पणां, सरलै पेड़ि खजूरि। (सा० ५५-१०-१)।

सरवर—दे०'सरोवर'। तालाव, सरोवर। उ० रूप बिन नारी पुहुप बिन परमल, बिन नीरैं सरवर भरिया। (प० १५८-६)

सरवरि—सरोवर में। (पा०प०८३-५)॥

सरवांनां—सं० पु० (?)—तंबू, खेमा (पा०प० १४०-३)।

सरवैं—क्रि०स०(सं० श्रवण, हि० सुनना)—बहाती है, टपकाती है। उ० जौ व्यवै तौ दूध न देई, ग्याभण अंमृत सरवै। (प० १५२-३)।

सरस—वि० (सं०)—रसीला। (पा०चौ० र० ३३-१)।

सरसती—सं० स्त्री० (सं० सरस्वती)—नदी-विशेष। (पा०प० १४६-७)।

सरसा—क्रि०अ० (सं० सर+ना (प्रत्य०)—प्रफुल्लित, रसपूर्ण। उ० दिवस चारि सरसा रहै अंति समूला जांहि। (सा० २०-३-२)।

सरसाहै—क्रि० अ० (हि० सरसना)—शोभित होता है, शोभा देता है। (सा० ५५-७-नो० ८)।

सरसौं—सं० स्त्री० (सं० सर्षप)—एक पौधा जिसके छोटे गोल बीजों से तेल निकलता है। (पा० सा० २४-६-२)।

सरांधां—दे० 'सराध'। श्राद्ध। (सा० २४-६-नो० १२)।

सराई—सं० स्त्री० (हि० सिराना)—शीतलता, ठंडापन। उ० बिरह अगिनि तन दिया जराई, बिन दरसन क्यूं होइ सराई। (प० २२५-३)।

सराध—सं० पु० (सं० श्राद्ध)—पितृ पक्ष में श्राद्ध के साथ की हुई क्रिया। उ० जीवत पित्र कूं बोलैं अपराध, मुंवां पीछै देहि सराध। (प० ३५६-५)।

सरावगी—सं० पु० (सं० श्रावक)—जैन धर्मावलंबी, जैनी। उ० पंडित भए सरावगीं, पाणी पीवैं छांणि। (सा० १७-१२-२)।

सराहिए—क्रि० स० (सं० श्लाघन हि० सराहना)—तारीफ करनी चाहिये, बड़ाई कीजिए। उ० आपन त्यौं न सराहिए, और न कहिये रंक। (सा० ५४-७-१)।

सरि—सं० पु० (सं० शर)—बाण। उ० जिहि सरि मारी काल्हि सो सर मेरे मन बस्या। (सा० ३-१७-१)।

सरिखा—दे० 'सरीखा'। समान। (पा० सा० १५-६४-२)।

सरिया—क्रि० अ० (सं० सरण)—चलते फिरते हैं। उ० ऊंच नीच सम सरिया, तार्थं जन कबीर निसतरिया। (प० १८५-५)।

सरीकी—वि० (अ० शरीक)—सम्मिलित। उ० आपा जांनि सांई कूं जांनैं, तब ह्वै भिस्त सरीकी। (प० २५५-८)।

सरीखा—वि० (सं० सदृश, प्रा० सरिस)—समान, तुल्य। उ० जाके रांम सरीखा साहिब भाई। (प० ११४-३)।

सरीखे—समान। उ० रांम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब काम। (सा० २८-५-२)।

सरीर—सं० पु० (सं० शरीर)—गात्र, जिस्म। उ० सरीर सरोवर बेदी करिहूं ब्रह्मा वेद उचार। (प० १-५)।

सरीरउ—शरीर के। (पा०सा० ४-२०-२)

सरीरा—शरीर। उ० अकल निरंजन सकल सरीरा, ता मन सौं मिलि रह्या कबीरा। (प० ३३-७)।

सरीरौं—शरीर के। उ० अंक भरे भरि मेंटिया, पाप सरीरौं जांहि। (सा० २८-६-२)।

सरीरी—सं० पु० (सं० शरीरिन्)—शरीर वाली। (पा० प० ३५-७)।

सरूप—वि० (सं० स्वरूप)—रूप युक्त। उ० कहै कबीर नर सुंदर सरूप। (प० १२५-७)।

सरूपी—वि० (सं० स्वरूपिन्)—स्वरूप से सम्बन्धित। उ० जोति सरूपी हाथि न आया, कहौ हलाल क्या कीता। (प० ६२-४)।

सरेवहु—क्रि० स० (सं० श्लाघन, हि० सराहना)—प्रशंसा करो। (पा० प० ८८-५)।

सरै—क्रि० स० (सं० सरण)—पूरा होता है, काम चलता है। उ० जब लग मैं मैं मेरी करै, तब लग काज एक नहीं सरै। (प० ३४९-३)।

सर्‌या—निभता है, संपादित होता है। उ० स्वांमीं पर्णौं जु सिर चढ़्यो, सरचा न एको काम। (सा० १७-२-२)।

सर्‌यौ—उ० मन रे सरची न एकौ काजा। (प० २६४-१)।

सरोबर—दे० 'सरोवर'। (पा० प० ५-५)।

सरोवर—सं० पु० (सं०)—तालाब। उ० सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा बेद उचार। (प० १-५)।

सर्प—सं० पु० (सं०)—साँप। (पा० प० १२०-४)।

सर्पिनीं—सं० स्त्री० (सं० सर्पिणी)—साँपिन। (पा० सा० ३०-१८-१)।

सर्बस—सं० पु० (सं० सर्वस्व)—सब कुछ। उ० मन चाल्यां देवल चलै, ताका सर्बस जाइ। (सा० १३-२८-२)।

सलांम—सं० पु० (अ० सलाम)—प्रणाम, वंदगी। उ० काल चक्र का मरदै मांन, तां मुलनां कूं सदा सलांम। (प० ३३०-३)।

सलांमति—सं० स्त्री० (अ० सलामत से)—स्वस्थता। उ० कुसल खेम अरु सही सलांमति, ए दोइ काकौं दीन्हां रे। (प० ३६६-१)।

सलामति—दे० 'सलांमति'। (पा० प० १०२-१)।

सलार—सं० पु० (फा० सालार)—अफसर, नायक। उ० सत्तरि सहस सलार हैं जाकै, असी लाख पैकंबर ताकै। (प० ३३९-३)।

सलि—सं० पु० (सं० शर, हि० सर, सल)—चिता पर। उ० सती पुकारै सलि चढ़ी, सुनि रे मींत मसांन। (सा० ४५-३३-१)।

सलिता—सं० पु० (सं० सरित)—नदी, दरिया। उ० बहती सलिता रहि गई, मंछ रहे जल त्यागि। (सा० ४-९-२)।

सलैली—वि० (हि० सील)—रपटीली, सीली। उ० जन कबीर का सिषर घर, बाट सलैली सैल। (सा० १४-७-१)।

सवाँ—वि० (सं० समान)—बराबर, तुल्य। उ० सतगुरु सवाँ न को सगा, सोधी सईं न दाति। (१-१-१)।

सवां—दे० 'सवां'। समान। (पा० सा० १-२-१)।

सवांरन—दे० 'संवारण'। (पा० प० ६६-२)

सवा—सं० स्त्री० (सं० स+पाद)—चौथाई सहित। (पा० प० ४२-३)।

सवाई—सं० स्त्री० (हि० सवा+ई (प्रत्य०))—सवागुना। उ० सेव करंतां जो दुख भाई सो दुख सुख बरि गिनहु सवाई। (र० बा० १०)।

सवारथ—सं० पु० (सं०)—अपना हित, अपना उद्देश्य। उ० आप सवारथ मेदनीं, भगत सवारथ दास। (सा० ४५-४१-१)।

सवारथी—वि० (सं० स्वार्थिन्)—मतलबी, स्वार्थ रखने वाला। उ० कबीरा रांम सवारथी, जिनि छाड़ी तन की आस। (सा० ४५-४१-२)।

सवालष—वि० (सं० सपाद लक्ष)—सवा लाख। उ० इक लष पूत सवालष नाती, ता रावन घरि दिवा न बाती। (प० ६८-३)।

ससा—सं० पु० (सं० शशा)—खरगोश, शशक। उ० ससा सींग की धूनहड़ी, रमैं बांझ का पूत। (सा० ५८-४-२)।

ससि—सं० पु० (सं० शशि)—चन्द्रमा। उ० कौतिग दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास। (सा० ५-२-१)।

ससिहर—सं० पु० (सं० शशिधर)—चन्द्रमा। उ० ससिहर सूर दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी। (प० ७-४)।

ससुर—सं० पु० (सं० श्वसुर)—पति या पत्नी का पिता। (पा० प० १३५-३)।

सहस—वि० (सं० सहस्र)—हजार। (प० ६९-६)।

सहसौं—वि० (सं० सहस्र)—हजारों। उ० एक जनम कै कारणैं, कत पूजौ देव सहसौ रे। (प० १२७-७)।

सहज—(१) वि० (सं०)—स्वभावत:, साथ में उत्पन्न। उ० गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुंनि ल्यौ घाट। (सा० १०-३-१)।

(२) सं० पु० (सं०)—स्वाभाविक ज्ञान, स्वभावोत्पन्न आत्म-ज्ञान। उ० सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हैं कोइ। (सा० २१-१-१)।

सहज रूप—सं० पु० (सं०)—मूल रूप, अपना रूप। उ० नारी बिना नीर घट भरिया, सहज रूप सो पाया। (प० ६-१०)।

सहज समाधी—सं० स्त्री० (सं० सहज समाधि)—स्वाभाविक मनोवृत्ति। उ० तहीं कबीरा रमि रह्या, सहज समाधी सोइ रे। (प० ४-१८)।

सहज समावैं—उ० सहज समावैं सुख मैं रहिबौं, कोटि कलप बिश्राम। (प० ६-२)।

सहजहिं—सहज ही। (पा० प० ४-७)।

सहजि—सरलतापूर्वक। उ० इंद्री पसर मिटाइये, सहजि मिलैगा सोइ। (सा० १३-२-२)।

सहजैं—स्वभावत:, सहज ही। उ० सकल पाप सहजैं गये, जब सांई मिल्या हजूरि। (सा० ५-२६-२)।

सहतैं—सं० पु० (अ० शहद)—शहद से। (पा० प० ६८-५)।

सहनांण—सं० स्त्री० (सं० सज्ञान, हिं० सहदानी)—निशान, पता, चिह्न। (सा० १२-१६-नो० २४)।

सहनाई—सं० स्त्री० (फा० शहनाई)—नफीरी, शहनाई। उ० ढोल दमामा दुड़बड़ी, सहनाई संगि भेरि। (सा० १२-३-१)।

सहर—सं० पु० (फा० शहर)—नगर, बड़ा कसबा। उ० कत कत की सालि पाड़िये गल बल सहर अनंत। (सा० ३७-५-२)।

सहस—वि० (सं० सहस्र)—दस सौ, असंख्य। (पा० प० ५-७)।

सहसौं—हजारों। (पा० प० १५८-३)।

सहस बांह—सं० पु० (सं० सहस्रबाहु)—कार्तवीर्यार्जुन, जो हैहय जाति के क्षत्रियों के राजा कृतवीर्य का पुत्र था। उ० सहस बांह के हरे परांण, जर जोधन घाल्यौ खै मांन। (प० ३४०-१३)।

सहा—क्रि० स० (सं० सहन)—बरदाश्त किया। (पा० सा० २-४०-२)।

सहाइ—सं० स्त्री० (सं० सहाय)—सहायता, सहारा, मदद। उ० थिति पाई मन थिर भया, सतगुर करी सहाइ। (सा० ५-२६-१)।

सहाई—सं०पु० (स०सहाय)—सहायक। उ० कहै कबीर सकति कछु नांहीं, गुर भया सहाई। (प० १५६-७)।

सहारं—क्रि० स० (सं० संहरण, हि० संहारना)—मारना। (पा०प० ११५-५)।

सहारी—क्रि० स० (सं० सहन, हि० सहाना)—सहता है, बर्दाश्त करता है। उ० कैसो जांनैं जिनि यहु लाई, कैं जिनि चोट सहारी। (प० २८४-५)।

सहारैं—सहले। उ० चोट सहारैं सबद की तास गुरू मैं दास। (सा० ३९-१-२)।

सहियौ—क्रि० स० (सं० सहन)—सहन किया। (पा०प० ६७-५)।

सहै—सहन करे, सहन करती है। उ० माटी मलणि कुँभार की, घणीं सहै सिरि घात। (सा० १२-२९-१)।

सहैगा—भोगेगा, सहेगा। उ० घणीं सहैगा सासनां, जम की दरगह मांहि। (सा० १३-१७-२)।

सह्या जाइ—सहा जाता है। उ० आठ पहर का दाझणां, मोपें सह्या न जाइ। (सा० ३-३५-२)।

सह्यौ जाइ—सहा जाता है। उ० माधौ दारन दुख सह्यौ न जाइ। (प० ३८४-१)।

सही—वि० (फा० सहीह)—ठीक, शुद्ध। (पा०प० १२४-७)।

सही सलांमति—भला-चंगा, ठीक, तंदुरुस्त। उ० कुसल खेम अरु सही सलांमति, ए दोइ काकौ दीन्हां रे। (प० ३६६-१)।

सहेत—अव्य० (सं० सहित)—साथ, सग। उ० अरध षिन जीवन भला, भगवंत भगति सहेत। (प० १२१-६)।

सहेली—सं० स्त्री० (सं० सह+एली (प्रत्य०)—संगिनी, अनुचरी। उ० सखी सहेली मंगल गावैं, सुख दुख माथै हलद चढ़ाई। (प० २२६-४)।

सांइयां—सं०पु० (सं० स्वामी)—मालिक, परमेश्वर। उ० पीलक दौड़ी सांइयां, लोग कहै पिंड रोग। (सा० २९-१०-१)

सांईं—दे० 'सांई'। स्वामी। उ० बंदे ऊपरि मिहर करै मेरे सांईं। (प० २५९-२)।

सांई—सं० पु० (सं० स्वामी, प्रा० सुंतो)—मालिक। उ० सांई संगि साध नहीं पूगी, गयौ जोबन सुपिनां की नांई। (प० २२६-२)।

सांई सेती—मालिक से, स्वामी से। उ० सांई सेती चोरियां, चोरां सेती गुझ। (सा० २२-१०-१)।

सांकड़ी—दे० 'संकड़ी'। तंग। उ० कबीर सेरी सांकड़ी, चंचल मनवां चोर। (सा० १३-४-१)।

सांकरा—दे० 'संकड़ा'। तंग। (पा०सा० २९-१-१)।

सांकरी—सँकड़ी। (पा०सा० २९-१०-१)

सांकरे—सँकडे। (पा० सा० ३१-९-१)।

साँच—क्रि० वि० (सं० सत्य)—सच्चाई के साथ। उ० सांईं सेंती साँच चलि, औरां सूँ सुध भाइ। (सा० २४-११-१)।

सांच—वि० (सं० सत्य)—ठीक, सत्य। (पा० प० ८७-६)।

साँचा—वि० (सं० सत्य)—सच्चा, शुद्ध, वास्तविक। उ० लेखा देणां सोहरा, जे दिल साँचा होइ। (सा० २२-२-१)।

सांचा—दे० 'साँचा'। सच्चा। (पा०प० ८४-२)।

सांचि—सत्य, शुद्ध। (पा०प० १८७-६)।

सांची—शुद्ध, सत्य। (पा०प० १७९-९)।

सांचु—सत्य। (पा० प० ६७-४)।

सांचैं—सत्य। (पा० प० १६-५)।

सांझ—सं० स्त्री० (सं०संध्या)—संध्या। उ० बैल बियाइ गाइ भई बांझ, बछरा दूहै तीन्यूं सांझ। (प० ८०-२)।

सांटि—दे० 'साटि'। (पा०प० २३-५)।

सांटै—दे०'साटै'। (पा०सा० १४-४०-२)।

साँठी साँठी—सं० स्त्री० (सं० सस्थिति, हि० गाँठ ?)—पूँजी, धन। उ० साँठी साँठी झड़ि पड़ी, मल का रह्या सरीर। (सा० ४०-६-२)। अथवा दे० 'साटी'। पतली छड़ी। (सा० ४०-६-२)।

सांठो—पूंजी, धन। उ० वड़े वोहरै सांठो दीन्हीं, कलतर काढयौ खोटै। (प० १०८-३)।

सांति—दे०'स्वांति'। (पा०प० १०७-२)।

सांथरा—सं०पु०(सं० संस्तर)—बिछौना, बिस्तर। उ० नीद न मांगै सांथरा, भूप न मांगै स्वाद। (सा० २०-२३-२)।

सांधा—क्रि० स० (सं० संधान, हि० सांधना)—निशाना लगाया। उ० ध्यांन धनक जोग करम, ग्यांन वांन सांधा। (प० २१०-४)।

साँधि करि—लक्ष्य करके, निशाना लगा कर। उ० कर कमाण सर साँधि करि, खैंचि जु मारचा मांहि। (सा० ३-१५-१)।

सांधै—लक्ष्य करता है। उ० सांधै तीर पताल कूं, फिरि गगनहि मारै। (प० १५४-४)।

सांनां—क्रि० स० (हि० सनना से)—मिलाया, मिलावट की। उ० विष अमृत एकै करि सांनां, जिनि चीन्हां तिनहीं सुख मांनां। (र० ३-७१)।

सांनि—मिला लिया। उ० पांच गज दोवटी मांगी, चूंन लीयो सांनि। (प० ३१४-४)।

सांनियां—मिलावे। उ० पांच तत तीनि गुण जुगति करि सांनियां। (प० १६६-१३)।

सांप—सं० पु० (सं० सर्प, प्रा० सप्प)—सर्प, भुजंग। (पा० प० १२३-८)।

साँभलूं—क्रि० स० (सं० संभार, हि० संभारना)—स्मरण करता हूँ, याद करता हूँ। उ० ज्यूं ज्यूं हरि गुण साँभलूं, त्यूं त्यूं लागै तीर। (सा० ४०-६-१)।

साँभलौं—स्मरण करता हूं। उ० ज्यूं ज्यूं हरि गुण साँभलौं, त्यूं त्यूं लागै तीर। (सा० ४०-७-१)।

सांभलौं—(पा० सा० १४-२२-१)।

सांमीं—क्रि० वि० (सं० सम्मुख, प्रा० सम्मुहे, हि० सामने)—समक्ष, आगे। उ० विरला कोई ठाहरै, सतगुर सांमीं मूठि। (सा० २६-१-२)।

सांस—सं० स्त्री० (सं० श्वास)—दम, श्वास, जीवन। उ० जब लग सांस सरीर मैं, तब लग रांम सँभार। (सा० २२-४-२)।

सांसा—श्वास। (पा० प० ६०-७)।

सा—अव्य० (स० सदृश)—समान, तुल्य। उ० सबै रसांइण मैं किया हरि सा और न कोइ। (सा० ६-८-१)।

साइर—सं० पु० (सं० सागर)—सागर, समुद्र, जलाशय। उ० दौं लागी साइर जल्या, पंपी वैठे आइ। (सा०४-६-१)।

साईं—दे० 'सांईं'। स्वामी। उ० और न कोई सुणि सकै कै साईं कै चित्त। (सा० ३-२०-२)।

साई (१)—सं० स्त्री० (सं० सार ? हि० साढ़ी)—साढ़ी, वालाई, मलाई। उ० एक दहिड़िया दही जमायौ दुसरी परि गई साई रे। (प० ७६-७)।

साई (२)—दे० 'सोई'। वही। उ० साई माइ सास पुनि साई, साई याकी नारी। (प० १५२-७)।

साक—सं०पु० (सं० शाका, हि० साका)—मर्यादा, महाजनीं, प्रामाणिकता। उ० मन फाटा वाइक बुरै, मिटी सगाई साक। (सा० ३७-२-१)।

साकत—सं० पु० (सं० शाक्त)—शाक्त मत का अनुयायी। उ० साकत मरै संत जन जीवै, भरि भरि रांम रसांइन पीवै। (प० ४३-३)।

साखत—दे० 'साकत'। (पा० सा० २५-६-१)।

साखा—सं० स्त्री० (सं० शाखा)–टहनी, डाल, अंश। उ० माया तरवर त्रिविध का, साखा दुख संताप। (सा० १६-२०-१)।

साखि—सं० स्त्री० (सं० साक्षी, हि० साखी)—गवाही। उ० निगम जाकी साखि बोलें, कहैं संत सुजांन। (प० ३०१-७)।

साखी—दे० 'साखि', 'साषी'। गवाह, साक्षी। (पा० सा० ४-४१-२)।

सागर—सं० पु० (सं०)—जलाशय, समुद्र। उ० हरि सागर जिनि बीसरै, छीलर देखि अनंत। (सा० २-३०-२)।

साच—सं० पु० (सं० सत्य)—सत्य, वास्तविक बात। उ० सील साच सरधा नहीं, इंद्री अजहु उघारि। (सा० १३-१५-२)।

साचै—सत्य को। उ० साचै मारै झूठ पढि, काजी करै अकाज। (सा० २२-५-२)।

साछ—सं० पु० (सं० सत्य)—सच्ची बात, अभीष्ट। उ० सत गुरु के सदकै करूं दिल अपणीं का साछ। (सा० १-५-१)।

साज—सं० पु० (फा०)—तैयारी, ठाट-बाट। उ० कबीर पल की सुधि नही, करै कालिह का साज। (सा० ४६-६-१)।

साजु—सज्जा। (पा० प० ६७-३)।

साजन—सं० पु० (सं० सज्जन)—प्रेमी। (सा० ३७-३-नो० ५)।

साजा—क्रि० अ० (सं० सज्जा, हि० सजना, साजना)—सँवारा। उ० अब तौ एक अनूपम बात भई, पवन पियाला साजा। (प० १५३-६)।

साजी—सँवारी, रची। उ० जिनि नटवै नटसरी साजी, जो खेलैं सो दीसैं बाजी। (र० २-१२)।

साजे—सज्जित करके। उ० नवसत साजे कांमनीं, तन मन रही सँजोइ। (सा० २४-२३-१)।

साजैं—अलंकृत करके। (पा० सा० २५-१३-१)।

साजिया—क्रि० स० (सं० सज्जा, हि० सजना)—शोभित किया हुआ है। (पा० र० ११-४)।

साज्या—निर्मित है, शोभित है। उ० रज बीरज की कली, तापरि साज्या रूप। (सा० १६-१६-१)।

साझी—सं० पु० (सं० साहाय्य, हि० साझा + ई (प्रत्य०)—साझेदार, हिस्सेदार। उ० निपजी मैं साझी घणां, बाँटै नहीं कबीर। (सा० १-३०-२)।

साटि—सं० स्त्री० (हि० सटना से सांटी)—बिक्री, मोल-तोल। उ० जबर मिलैगा पारिषू, तब हीरां की साटि। (सा० ४६-३-२)।

साटी—सं० स्त्री० (सं० यष्टिका)—पतली छोटी छड़ी। उ० महावत तोकूं मारौ साटी,इसहि मरांऊँ घालौं काटी। (प० ३६५-४)।

साटैं—अव्य० (देश० साटे)—बदले में, परिवर्तन में। उ० हाड गला माटी गली सिर साटैं व्यौहार। (सा० ४५-२८-२)

साढ़ी (१)—दे० 'साई' (१)। मलाई। (पा० प० १३१-७)।

साढ़ी (२)—वि० (सं० सार्द्ध)–अर्द्धयुक्त। (सा० ४६-१८-नो० २७)।

साढ़े—(पा० सा० १६-१२-२)।

सात—वि० (सं० सप्त)—पाँच और दो। (प० १६३-३)।

सात दीप—सात द्वीप। (पा० सा० १६-६-१)।

सात समंद—सात समुद्र। उ० सात समंद की मसि करौ लेखनि सब बनराइ।

(सा० ३८-५-१) ।

सात सूत—शरीर की सप्तधातुएँ । उ० सात सूत दे गइ वहर्तार, पाट लगी अधिकाई । (१६३-३) ।

सातिग—वि० (सं० सात्विक)—सतोगुण सम्बन्धी । उ० राजस तामस सातिग तीन्यूं, ये सव तेरी माया । (प० १८४-३) ।

सातौं विरही—सं० पु० (सं० सप्त+व्रीहि)—सप्त धान । उ० सातौं विरही मेरे नीपजै, पंचूं मोर किसानां । (प० १४-४) ।

सातौं सबद—सं०पु० (सं० सप्त+शव्द) —सात प्रकार के प्रसिद्ध वाजे । उ० सातौं सवद जु वाजते, घरि घरि होते राग । (सा० १२-४-१) ।

साथ—अव्य० (सं० सह या सहित)-संग, सहित । उ० सव रांडनि कौ साथ चरपा को घरै । (प० १३-१०) ।

साथा—साथ में, संग में। (पा०र० ३-१)

साथि—साथ में, संग में । उ० यह तन कचा कुंभ है, लियां फिरै था साथि । (सा० १२-३६-१) ।

साथी—सं०पु० (हि० साथ+ई (प्रत्य०) —संगी,दोस्त, मित्र । उ० कवीर साथी सो किया, जाकै सुख दुख नहीं कोइ । (सा० ५६-१-१) ।

साध (१)—सं० स्त्री० (सं० श्रद्धा)—आकांक्षा, इच्छा, कामना । उ० सांई संगि साध नहीं पूगी,गयौ जोवन सुपिनां कीं नांई । (प० २२६-२) ।

साध (२)—सं० पु० (सं० साधु)—महात्मा, संत, हरि भक्त । उ० वाहरि दीसै साध गति, माहैं महा असाध । (सा० २७-१-२) ।

साधन—सं० पु० (सं०)—सामान, उपकरण । उ० साधन कंचू हरि न उतारै, अनभै ह्वै तौ अर्थ विचारै। (प० २११-१) ।

साधा—दे० 'साध' (१) । इच्छा । (पा० र० १-६) ।

साधि—क्रि०स० (सं० साधन)—स्वभाव डाल, अभ्यास डाल । उ० राम कवीरै रुचि भई, याही ओषदि साधि । (सा० १२-४०-२) ।

साधिक—स० पु० (सं० साधक)—साधना करने वाला, योगी । उ० साधिक सिध सूर अरु सूरपति, भ्रमत भ्रमत गये हारी । (प० १७२-२) ।

साधी—स्वभाव डाला, सिद्ध की । उ० माधी मैं ऐसा अपराधी, तेरी भगति होत नहीं साधी । (प० १६१-१) ।

साधें—सिद्ध करने । (पा० सा० १५-१४-१) ।

साधे—सिद्ध कर लिए । (पा० प० १६५-११) ।

साधु—सं० पु० (सं०)—संत, महात्मा, सज्जन । (पा० सा० ४-१८-२) ।

साधुन—साधु की । (पा०सा० ४-३७-२)

साधूं—दे० 'साधु' । संत । उ० बाह्मण गुरू जगत का, साधूं का गुरु नाहिं । (सा० १७-१०-१) ।

साधू—दे० 'साधु' । संत, हरि भक्त । उ० साधू अंग न मोड़ही, ज्यूं भावै त्यूं खाव । (सा० ३-१६-२) ।

साधो—संतों । (पा० प० १४६-८) ।

साधौ—संतों । (पा० प० ७६-६) ।

सानौं—सं०पु० (सं० शाण)—वह पत्थर की चक्की, जिस पर अस्त्र आदि तेज किए जाते हैं । (सा० ३७-३-नो० ५) ।

साप—दे० 'सर्प' । उ० मींडक सोवै साप पहरइया । (प० ८०-४) ।

सापणि—सं० स्त्री० (हि० सांप से)—उ० मूसा पैठा वांवि मैं, लारै सापणि धाई । (प० १६१-३) ।

सावण—सं०पु० (अ० साबुन)—साबुन । उ० कै लै दूणी कालिमां, भावै सों मण

सावण लाइ। (सा० ४२-३-२)।

सावित—दे० 'स्यावति'। (पा० सा० ६-३२-१)।

साबुन—दे० 'सावण'। (पा० सा० २२-३-२)।

साम्हीं—अव्य० (सं० सम्मुख)—सामने। (पा०सा० २४-१२-२)।

सायर—सं० पु० (सं० सागर)—समुद्र, जलाशय। उ० नलनी सायर घर किया, दौ लागी बहुतेणि। (सा० १६-२२-१)।

सारंग—सं०पु० (सं०)—चातक, पपीहा, शार्ङ्ग। उ० रसनां रसहि बिचारिये, सारंग श्रीरंग धार रे। (प० ५-८)।

सारंगपांनि—दे० 'सारंगपानि'। (पा० प० २१-४)।

सारंगपांनी—दे० 'सारंगपानि'। (पा० प० ६३-६)।

सारंगपानि—सं० पु० (सं० शार्ङ्गपाणि)—श्रीकृष्ण, विष्णु। उ० ऊंचे मदिर जालि दे, जहां भगति न सारंगपानि। (सा० ३०-१०-२)।

सारंगपानीं—दे०'सारंगपानि'। श्रीकृष्ण। उ० कहै कबीर भजि सारंगपानीं नहीं तर ह्वै है खैंचा तांनीं। (प० ९१-५)।

सार (१)—सं० पु० (सं०)-मुख्य बात। उ० मनसा बाचा क्रमनां,कबीर सुमिरण सार। (सा० २-४-२)।

सार (२)—सं०स्त्री० (हि० सारना से)-सँभाल, रक्षा। उ० मैं मंता घूंमत रहै, नांहीं तन की सार। (सा० ६-४-२)।

सार (३)—वि० (सं०)—उत्तम, श्रेष्ठ, दृढ़। उ० कहै कबीर कठोर कै, सबद न लागै सार। (सा० ५५-७-१)।

सार (४)—सं० पु० (सं०)—लोहा। उ० सूरै सार संवाहिया, पहरद्या सहज संजोग। (सा० ४५-८-१)।

सारदूलहि—सं० पु० (सं० शार्दूल)—सिंह। उ० ऐसा नवल गुंणी भया, सारदूलहि मारै। (प० १६१-८)।

सारषे—वि० (सं० सदृश, प्रा० सरिस)-समान, तुल्य। उ० ते घर मड़हट सारषे, भूत वसै तिन मांहि। (सा० ३०-३-२)।

सार संग्रह—सं०पु० (सं०)—तत्व ज्ञान। (सा० ३२-१-नो० २)।

सारा—सं० पु० (सं० सार)—(१) लोहा, शस्त्र। उ० सारा बहुत पुकारिया, पीड़ पुकारै और। (सा० ४०-८-१)। (२) मौलिक रूप, शुद्ध रूप। उ० सोधि सरीर भयो तन सारा। (प० १७-४)।

सारिंगधर—सं०पु० (सं० शार्ङ्गधर)—श्री विष्णु। (पा० प० १३१-१२)।

सारिंगपांनि—दे० 'सारंगपानि'। (पा० प० १५५-१८)।

सारि—सं० पु० (सं०)—गोटी (पासे की)। (सा० ११-११-नो० ११)।

सारि लगाइ—(मुहा०)-पासा फेंक कर। उ० तत करि तांति धर्म करि डांडी, सत की सारि लगाइ। (प० २०८-३)।

सारिख—वि०(सं० सदृश, प्रा० सरिस)-सरीखा, समान, तुल्य। उ० बहु विचार करि देखिया, कोई न सारिख रांम। (र० वा० ६)।

सारिरषे—दे० 'सारषे'। सरीखें। (पा० सा० ४-६-२)।

सारी—सं० पु० (सं० सारि)—पासे की गोटी। उ० पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया सरीर। (सा० १-३२-१)।

सारीखा—वि० (सं० सदृश)—समान, तुल्य। (पा० सा० २४-१७-१)।

सारीषा—दे० 'सारीखा'। समान। उ० करिए तौ करि जांणिये, सारीषा सैं संग। (सा० २६-३-१)।

सारीही—वि० (हि० सारा से)—सम्पूर्ण, समूची ही। उ० छूटि पड़ौं या बिरह तैं जे सारीही जलि जाऊं। (सा० ३-३७-२)।

सारु—दे० 'सार' (१)। तत्व। (पा० प० १९८-७)।

सारे—क्रि०स० (हि० सरना से)—साथ दिये, पूर्ण कर दिये। उ० रांम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब काम। (सा० २८-५-२)।

सारैं—लगाता है, पूरा करता है। उ० तौ जनमत तीनि डांडि किन सारैं। (प० ४१-२)।

साल (१)—सं० पु० (सं०)—कोट, किला। उ० भीतरि बीबी हरम महल मैं, साल मिया का डेरा। (प० २३८-८)।

साल (२)—सं० स्त्री० (सं० शाला)—पाठशाला में। उ० प्रह्लाद पधारे पढ़न साल, संग सखा लीयें बहुत बाल। (प० ३७९-३)।

सालक—वि० (फा० सालिक)—धर्म व नीति का आचरण करने वाला। उ० करि फिकर रह सालक जसम, जहाँ सतहां मौजूद। (प० २५८-८)।

सालि—दे० 'सारि' या 'सारी'। गोटी। उ० कतकत की सालि पाड़िये गलबल सहर अनंत। (सा० ३७-५-२)।

सालिगरांम—सं० पु० (सं० शालग्राम)—विष्णु भगवान। उ० जेती देषौं आत्मा, तेता सालिगरांम। (सा० २३-५-१)।

सालिम—वि० (अ०)—पूर्ण, पूरा। (पा० प० १४८-६)।

सालैं-क्रि०स० (सं० शूल, हि० सालना)-खटकते हैं, दुःख पहुँचाते हैं। उ० जे दिन गये भगति बिन ते दिन सालैं मोहि। (सा० ५०-११-२)।

सालै—दु.ख पहुँचाते हैं। उ० पंच सखी मिलि मंगल गावैं, यहु दुख याकौं सालै। (प० ८१-६)।

साव—सं० पु० (?)—चाव, चाह, स्वाद, अनुभव। उ० कबीर प्रेम न चषिया चषि न लीया साव। (सा० २-१८-१)।

सावका—दे० 'सावकौ'। श्रावक। (पा० प० १३५-५)।

सावकौ—वि० (सं० श्रावक)—संन्यासी सुनने वाला भी। उ० बाप सावकौ करै लराई, माया सद मतिवाली। (प० २३०-७)।

सावज—दे०'स्यावज'। (पा०प० १२१-६)

सावधान—वि० (सं०)—सचेत, सतर्क, चौकस। सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुविचार। (सा० ४०-२-१)।

सावन—सं०पु०(सं० श्रावण)—आषाढ़ के बाद का महीना। (पा०प० १७६-६)।

सापत—दे० 'सापित'। शाक्त। उ० बैश्नों की छपरी भली, नां सापत का बड गाउँ। (सा० ३०-१-२)।

साषा—सं० स्त्री० (सं० शाखा)—टहनी, डाल। उ० तलि करि साषा ऊपरि करि मूल, बहुत भांति लागे जड़ फूल। (प० ११-५)।

साषि—सं०स्त्री० (सं० साक्षिन्)—सीख, गवाही, साक्षी। उ०तहाँ कबीरा चलि गया, गहि सतगुर की साषि। (सा० १४-९-२)।

साषित—सं० पु० (सं० शाक्त)—शाक्त सम्प्रदाय। उ० साषित सण का जेवड़ा, भींगां सूं कठठाइ। (सा० १७-११-१)।

साषी—सं० स्त्री० (सं० साक्षि)—साखी, दोहे, साक्षी। उ० पद गोएँ मन हरषियां, साषी कह्यां अनंद। (सा० १८-४-१)।

सास—सं० पु० (सं० श्वास,—साँस, प्राण, जीवन। उ० चलु सखी बिलम न कीजिये, जब लग सास सरीर। (प० ३०२-६)।

सासत—दे० 'सासति'। दंड, सजा, शासन। (पा० प० ८४-६)।

सासति—सं० स्त्री० (सं० शास्ति)—शासन, दंड, सजा। उ० कहै कबीर धीर मति राखहु, सासति करौ हमारी। (प० १९१-६)।

सासनां—सं० पु० (सं० शासन)—दंड, सजा । उ० घणीं सहैगा सासनां, जम की दरगह माहिं । (सा० १३-१७-२) ।

सासनि—दंड, शासन । उ० अंतर गगन होत अंतर धुंनि, बिन सासनि है सोई । (प० १७२-५) ।

सासरैं—सं० पु० (सं० श्वसुरालय, हि० ससुराल)—श्वसुर के घर । उ० जेठी धीय सासरैं पठवौ, ग्यूं बहुरि न आवैं फेरी । (प० २२-६) ।

सासु—सं० स्त्री० (सं० श्वश्रू)—पति या पत्नी की माँ । सासु की दुखी सुसर की प्यारी, जेठ कैं तरसि डरौं रे । (प० २३०-५) ।

सासुरे—दे० 'सासरैं' । ससुराल । (पा० प० १०९-१) ।

सासुरै—दे० 'सासरैं' । ससुराल । (पा० प० १६०-७) ।

सासू—दे० 'सासु' । उ० सासू कहै काति बहू ऐसैं, बिन कातैं निसतरिबौ कैसैं । (प० २२८-४) ।

सास्त्र—सं० पु० (सं० शास्त्र)—हिन्दुओं के छः दर्शन । उ० चारि बेद छह सास्त्र बखानी । (र० ३-१६) ।

साह—सं० पु० (फा० शाह)—महाराज, बादशाह । उ० कोटी धज साह हस्ती बध राजा, क्रिपन को धन कौनैं काजा । (प० ९९-३) ।

साहणहार—वि० (हि० सहना से)—सहने वाला । उ० लागैं थैं भागा नहीं, साहणहार कबीर । (सा० ४०-७-२) ।

साहनहार—दे० 'साहणहार' । (पा० सा० १४-२२-१) ।

साहस—सं० पु० (सं०)—हिम्मत । उ० निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर साहस धीर । (सा० १-३०-१) ।

साहि—क्रि० स० (सं० साधना, हि० साधना)—साधो, ठीक करो । उ० काइर हुवां न छूटिये, कछु सूरा तन साहि । (सा० ४५-१-१) ।

साहिकरि—ठीक करके । उ० सती सूता तन साहि करि, तन मन कीया धांण । (सा० ४५-३५-१) ।

साहिब—सं० पु० (अ०)—परमात्मा, मालिक । उ० साहिब सेवा मांहि है, बेपरवांही दास । (सा० ५-२-२) ।

साहिबी—सं० स्त्री० (अ० साहिब)—प्रभुता, मालिकपन । (पा० प० ७३-४) ।

साहु—दे० 'साधु' । (पा० सा० १५-१७-१) ।

साहेब—दे० 'साहिब' । स्वामी, परमेश्वर । (पा० प० ४-८) ।

सिंगार—सं० पु० (सं० शृंगार)—सज्जा, सजावट । उ० कोटि कुबेर जाकैं भरैं भंडार, लछमीं कोटि करैं सिंगार । (प० ३४०-६) ।

सिंगारु—(पा० प० ११-३) ।

सिंघ—सं० पु० (सं० सिंह)—शेर, यहां ज्ञान का प्रतीक । उ० एक अचंभा देखा रे भाई ठाढ़ा सिंघ चरावैं गाई । (प० ११-१) ।

सिंघलदीप—सं० पु० (सं० सिंहलद्वीप)—लंका । उ० कबीर खोजी रांम का गया जु सिंघलदीप । (सा० ५३-४-१) ।

सिंघासण—दे० 'स्यंघासण' । (प० २९९-५) ।

सिंघासन—दे० 'स्यंघासण । (पा० प० १०१-५) ।

सिंचाई—क्रि० अ० (हि० सींचना)—सींचा । (पा० प० १६८-५) ।

सिंदूर—दे० 'स्यंदूर' । (पा० सा० ११-१३-१) ।

सिंधु—सं० पु० (सं०)—सागर । (पा० प० १८-५) ।

सिंधौरा—दे० 'स्यंधौरा' । सिंदूरदान । (पा० प० ५८-२) ।

सिंभु—दे० 'स्यंभ' । शिव । (पा० सा० ६-२४-२) ।

सिंहन—दे० 'सिंघ' । शेरों । (पा० सा०

४-१८-२)।

सिउं—दे० 'स्यूं'। सहित। (पा० प० १६१-२)।

सिकदार—सं० पु० (अ० सिक्क+दार)—सिक्का चलाने वाला। (सा० १२-६-नो० ७)।

सिकली—वि०(अ० सिकल)-भारी, दृढ़। उ० दे मुहरा लगाम पहिराऊं, सिकली जीन गगन दौराऊं। (प० २५-२)।

सिकलीगर—सं० पु० (अ० सैकल+फा० गर)—पैनी कर देने वाला, सान धरने वाला, चमक देने वाला। उ० सतगुर ऐसा चाहिए, जैसा सिकलीगर होइ। (सा० ४०-३-१)।

सिकारी—वि० (फा० शिकारी)—शिकार करने वाला। (पा० प० १५७-४)।

सिख—दे० 'सिष (२)'। चोटी। (पा० प० १५७-४)।

सिखर—दे० 'सिषर'। चोटी, कंगूरा। (पा० सा० १०-२-१)।

सिखरांह—दे० 'सिषरांह'। (पा० सा० २२-२०-१)।

सिखलावते—क्रि० स० (सं० शिक्षण, हिं० सिखाना से)—शिक्षा देते। (पा० सा० २२-३-१)।

सिखां—दे० 'सिख'। (पा० सा० २१-१७-२)।

सिचांणां—सं० पु० (सं० संचान)—बाज पक्षी। उ० काल सिचांणां नर चिड़ा औझड़ औयंतां। (सा० ४६-२-२)।

सिचांनां-दे० 'सिचांणां'। (प० १५४-२)।

सिद्ध—सं० पु० (सं०)—महात्मा, शक्ति प्राप्त पुरुष। (पा० सा० २०-५-२)।

सिध—दे० 'सिद्ध'। महात्मा। उ० षट दरसन संसै पड़्या, अरू चौरासी सिध। (सा० ३१-११-२)।

सिधगणेस्वर—सं० पु० (सं० सिद्ध गणेश्वर)—मूलाधार चक्र का देवता। उ० मूलबंध इकपावा, तहां सिध गणेस्वर रावा। (प० ३१-१२)।

सिधाये—क्रि० अ० (सं० सिद्ध से)—चले गए। उ० कहै कबीर उनि देसि सिधाये, बहुरि न इहि जगि मेला। (प० २०७-५)।

सिधि—सं० स्त्री० (सं० सिद्धि)—ऐश्वर्य, पूर्णता, युक्ति। उ० सब सिधि सहजैं पाइए, जे मन जोगी होइ। (सा० २४-१७-२)।

सिफति—सं० स्त्री० (अ० सिफ़त)—गुण, कृपा। उ० अवलि आदम पीर मुलांनां, तेरी सिफति करि भये दिवांनां। (प० ६३-४)।

सियरा—वि० (सं० शीतल, प्रा० सीअड़)—ठंडा, शीतल। उ० नहीं सो दूरि नहीं सो नियरा, नहीं तात नहीं सो सियरा। (र० बा० ४०)।

सियांना—दे० 'सयांनां'। चतुर। (पा० प० ६९-१०)।

सियार—दे० 'स्याल'। पशु-विशेष। (पा० प० ७१-६)।

सिर—सं० पु० (सं० शिरस्)—माथा, सिर। उ० जे सिर राखौं आपणां, तौ पर सिरिज अंगीठ। (सा० १३-६-२)।

सिरजनहार—सं० पु० (सं० सृजन+हिं० हार)—रचनेवाला, परमेश्वर। (पा० प० १५-६)।

सिरजनहारा—(पा० प० १४-५)।

सिरजे—क्रि० स० (सं० सर्जन)—बनाए, रचे। (पा० प० ४०-३)।

सिरिज—रचकर, बनाकर। उ० जे सिर राखौं आपणां, तौ पर सिरिज अंगीठ। (सा० १३-६-२)।

सिरांनीं—क्रि० अ० (हिं० सीरा से)—समाप्त होना, मिटना। उ० कहै कबीर मेरी कथा सिरांनीं। (प० ३६०-५)।

सिरावा—समाप्त होता है। (पा० र० १५-४)।

सिरि—दे० 'सिर'। सिर पर, माथे पर। उ० वारि जु बांध्या प्रेम कै, डारि रह्या सिरि षेह। (सा० ६-५-२)।

सिरु—सिर, मस्तक। (पा० प० ६२-४)।

सिरिमौर—सं० पु० (हि० सिर+मौर)—सिरताज, सिर का मुकुट। उ० सहज सुंनि कौने हरौ गगन मंडल सिरिमौर। (प० १८-७)।

सिरोवनीं—सं० पु० (सं० शिरोमणि)—श्रेष्ठ। उ० भजि भजिसि भूषन पिया मनोहर, देव देव सिरोवनीं। (प० ३६२-२)।

सिरहानैं—सं० पु० (सं० शिरस्+अधीन)—चारपाई में सिर की ओर का भाग। (पा० सा० १५-१-१)।

सिलहला—दे० 'सलैली'। रपटने वाला। (पा० प० १४६-३)।

सिलहली—दे० 'सलैली'। रपटने वाली। (पा० सा० १०-२-१)।

सिला करै—मुहा० (सं० शिल+हि० करना)—कटे हुए खेत में गिरे अनाज के दाने चुनते हैं। उ० औरैं स्यावढ़ करै षारिसा, सिला करै सब कोई। (प० २१६-८)।

सिव—सं० पु० (सं० शिव)—परमेश्वर, शिव। (सा० ५-४६-१)।

सिवनगरी—सं० स्त्री० (सं० शिवनगरी)—काशी। उ० परम तत आधारी मेरे, सिव नगरी घर मेरा। (प० १६६-७)।

सिवपुरी—दे० 'सिवनगरी'। काशी। (पा० प० ४६-४)।

सिवसंकर—सं० पु० (सं० शिव शंकर)—महादेव। उ० कितेक सिवसंकर गए ऊठि। (प० ३५-१)।

सिष (१)—सं० पु० (सं० शिष्य)—चेला, अनुयायी। उ० कबीर गुर बसै बनारसी, सिष समंदां तीर। (सा० ४४-२-१)।

सिष (२)—सं० स्त्री० (सं० शिखा)—चोटी, चुटिया। उ० कबीर मूंठ कर मियाँ, नष सिष पाषर ज्यांह। (सा० ५५-५-१)।

सिषही—शिष्य ही। उ० सतगुरु बपुरा क्या करै जे सिषही मांहै चूक। (सा० १-२१-१)।

सिषर—सं० पु० (सं० शिखर)—चोटी, ऊँचा स्थान, ब्रह्माण्ड। उ० कबीर मोती नीपजैं, सुन्नि सिषर गढ़ मांहि। (सा० ५-८-२)।

सिषरांह—सं० पु० (सं० शिखर)—शिखर पर। उ० पार ब्रह्म बूठा मोतियाँ, धड़ि बाँधी सिषरांह। (सा० ५५-३-१)।

सिषाँकी—शिष्यों की। उ० रांम काठै रह्या, करैं सिषाँ की आस। (सा० १७-४-२)।

सिषाही—शिष्य ही। (सा० १-२१-१)। (पाठान्तर)।

सिष्टि—सं० स्त्री० (सं० सृष्टि)—सारी रचना। उ० तारी लाइकैं सिष्टि बिचारौ, तब गहि भेट निसहुरा हो। (प० ७७-१०)। अथवा सं०स्त्री० (सं० सृष्टि)—संसार, दुनिया। (प० ७७-१०)

सिस्टि—सं० स्त्री० (सं० सृष्टि)—संसार। (पा० र० ४-१)।

सिहणैं—दे० 'सिरहानैं'। चारपाई में सिर की ओर का भाग। उ० काल सिहणैं यौं खड़ा, जागि पियारे म्यंत। (सा० ४६-३-१)।

सिहरु—सं० पु० (अ० सिह)—माया कर्म, इंद्रजाल। (पा० प० ८७-२)।

सींग—सं० पु० (सं० शृंग)—सींग। उ० ससा सींग की धूनहड़ी, रमैं बांझ का पूत। (सा० ५८-४-२)।

सींगणि—सं० स्त्री० (हि० सिंगिनी)—सींगों से बना धनुष। उ० हरि रस जे जन वेधिया, सतगुण सींगणि नांहि। (सा० ४०-५-१)।

सींगीं—दे० 'सींगी'। (प० १५३-४)।

सींगी—सं०स्त्री० (हि० सींग)—हिरन के सींग का बना बाजा। उ० मुद्रा निरति सुरति करि सींगी, नाद न षंडै धीरा। (प० ६९-२)।

सींचताड़ीं—क्रि० स० (सं० सिंचन, हि० सींचना)—पानी डालने से। उ० काटत वेली कूपले मेल्हीं, सींचताड़ीं कुमिलांणीं। (प० १६३-७)।

सींचनहार—सं० पु० (सं० सिंचन + हि० हार)—सीचने वाला। (पा० सा० १६-३३-२)।

सींचा—क्रि० स० (सं० सिंचन, हि० सींचना)—सीचा, पाला-पोसा हुआ। उ० जाका प्यंड तारी का सींचा। (प० ४१-६)।

सींची—पानी देने से। उ० त्रिष्णां में सींची नां बुझै, दिन दिन बधती जाइ। (सा० १६-१५-१)।

सींचै—सीचता है। (पा०सा० १५-१४-२)

सींचौं—सींचूं, पानी दूं। उ० जे काटौं तौ डहडही, सींचौ तौ कुमिलांइ। (सा० ५८-३-१)।

सींचौ—पानी दो। (पा० प० ३८-५)।

सींध—दे० 'सिध'। सिद्ध, महात्मा। उ० सींध भइ तब का भया, चहुँ दिसि फूटी वास। (सा० ५८-६-१)।

सींधव—सं० पु० (सं० सैंधव, हि० सिंधव) —सेंधा नमक। उ० सींधव नीर कबीर मिल्यौ है, फटक न मिलै पखान। (प० २८-७)।

सींयां—क्रि० स० (हि० सीना)—सीया। उ० कोटि बरस लूं कंचूं सींयां, सुर नर धंधै पाड़्या। (प० २११-५)।

सी—दे०'सा'। समान। (पा०प० ६९-४)

सीख—दे० 'सीप'। शिक्षा। (पा० सा० १-२९-१)।

सीखा—क्रि० स० (सं० शिक्षण)—काम करने का ढंग जान लिया। (पा० सा० १४३-४)।

सीखें—सीखने। उ० सीखें सुनें पढ़ें का होई, जौ नहीं पदहि समांनां। (प० ३२-१०)।

सीचणहार—दे० 'सींचनहार'। सींचने वाला। (सा० ४६-१९-नो०३५)।

सीझसि—क्रि० अ० (सं० सिद्ध, प्रा० सिज्झ + ना प्रत्य०)—उऋण नहीं हो सकते। उ० साच बिन सीझसि नहीं, कांई ग्यान दृष्टै जोइ रे। (प० ३९१-२)।

सीझै—क्रि० अ० (हि० सीझना)—कष्ट झेलते हैं। उ० कठिन पासि कछू चलै न उपाई, जंम दुवारि सीझै सब जाई। (र० ३-६६)।

सीढ़ी—सं० स्त्री० (सं० श्रेणी)—जीना, पैड़ी। (पा० सा० २०-२-१)।

सीत (१)—सं० पु० (सं० सीत्य)–धान्य, धान का खेत। उ० स्वांमीं हूवा सीत का, पैकाकार पचास। (सा० १७-४-१)।

सीत (२)—सं० पु० (सं० शीत)—ओस, तुषार। उ० देषण के सब्को भले, जिसे सीत के कोट। (सा० १७-१७-१)।

सीतल—वि० (सं० शीतल)—ठंडा, शांत। उ० हरि संगति शीतल भया, मिटी मोह की ताप। (सा० ५-३०-१)।

सीतलता—सं० स्त्री० (सं० शीतलता)—ठंडापन, शांति। उ० सीतलता सुपिनै नहीं, फल फीको तनि ताप। (सा० १६-२०-२)।

सीता—दे० 'सीत (२)'। ठंडा। (सा० ४१-१४-नो० २०)।

सीप—सं० पु० (सं० शुक्ति, प्रा० सुत्ति) —सीपी। उ० सायर नहीं सीप बिन, स्वांति बूंद भी नांहि। (सा० ५-८-१)।

सीयरा—सं०पु०(सं० शृगाल, हि०सियार) —सियार। उ० बंबूर की डरियां बनसी लैहूँ, सीयरा मूंकि मूंकि पाई। (प० १७७-६)।

जात हूँ, सुणता है सब कोइ। (सा० २ १-१)।

सुणि—सुन, श्रवण कर। उ० चूंणैं पड़्या न छूटियो, सुणि रे जीव अबूझ। (सा० ४५-२-१)।

सुणिये—सुना जाए, सुना जाता है। उ० जहाँ जुरा मरण व्यापै नहीं, मुवा न सुणिये कोइ। (सा० ४७-१-१)।

सुणिसकै—सुन सकता है। उ० और न कोई सुणि सकै, कै साईं कै चित्त। (सा० ३-२०-२)।

सुणीं—सुनी, श्रवण की। (सा० १-२७ -नो० २९)।

सुणौं—सुनो। उ० घरि परमेसुर पांहुणां, सुणौं सनेही दास। (सा० ११-१८-१)।

सुत—सं० पु० (सं०)—पुत्र। उ० दारा सुत ग्रेह नेह, संपति अधिकाई। (प० ३२०-३)।

सुतकलित—यौ० (सुत + कलत्र)—पुत्र व स्त्री। उ० कां सिकडूंवा सुत कलित, दाझण बारंबार। (सा० १७-२२-२)।

सुतधार—सं० पु० (सं० सूत्रधार)—जगत रूपी नाटक का व्यवस्थापक। उ० जिनि यहु चित्र वनाइया, सो साचा सुतधार। (र० ५-६७)।

सुता—सं० स्त्री० (सं०)–पुत्री, बेटी। उ० माया माता माया पिता, अति माया अस्तरी सुता। (प० ८४-७)।

सुदरसन—सं० पु० (सं० सुदर्शन)—सुदर्शन चक्र। उ० राजा अंबरीष कै कारणि चक्र सुदरसन जारै। (प० १२२ -७)।

सुदामा—सं० पु० (सं० सुदामन्)—दरिद्र ब्राह्मण जो श्रीकृष्ण के सखा थे। (पा० प० ४५-५)।

सुद्ध—वि० (सं० शुद्ध)-शुद्ध, साफ। (पा० प० ९४-४)।

सुध—सं० स्त्री० (सं० शुद्ध (बुद्धि)—स्मरण, याद, शुद्ध। उ० निरमल हरि का नांव सों, कैं निरमल सुध भाइ। (सा० ४२-३-१)।

सुधा—सं० स्त्री० (सं०)—अमृत, पीयूष। (पा० प० १४६-२)।

सुधि—सं० स्त्री० (सं० शुद्ध)—ख्याल, विचार, चेत। उ० कबीर पल की सुधि नहीं, करै काल्हि का साज। (सा० ४६ -६-१)।

सुनंतां—क्रि० स० (सं० श्रवण, हि० सुनना से)—सुनता हुआ। (पा० प० ९२-४)।

सुन—सुनो। (पा० प० १०४-२)।

सुनत—सुनता हुआ। उ० कहत सुनत जग जात है, विषै न सूझैं काल। (सा० १२-४९-१)।

सुनता—सुनता है। (पा० सा० ३-२५-१)।

सुनते—श्रवण करते ही। (पा० सा० ३ -१८-२)।

सुनन—सुनने। (पा० र० ११-८)।

सुनहिं—सुनते हैं। (पा० प० १६७-३)।

सुनहुं—सुनो। उ० कहै कबीर सुनहुं मति सुंदरि, राजा रांम रमूं रे। (प० २३० -१०)।

सुनहु—सुनो। उ० कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि भजि बांधौ मेरा। (प० २२२ -११)।

सुनि (१)—सुनकर। (पा० प० ८८-३)।

सुनिएं—सुना जाए। (पा० प० ७२-९)।

सुनिए—सुना जाए। (पा० प० ४४-६)।

सुनिअै—सुनो। (पा० प० ६१-४)।

सुनियत—सुना है। (पा० प० ४५-३)।

सुनु—सुन कर। (पा० प० १९-३)।

सुनें—सुनने से। उ० कहें सुनें कैसें पति अइये, जब लग तहां आप नहीं जइये। (प० २४-४)।

सुनैं—सुनता रहे। उ० तन मन सौंपे

मृग ज्यूं, सुनैं वधिक का गीत। (सा० ४३-३-२)।

सुनैंगी—सुनेगी। (पा० सा० १५-८४-२)।

सुनौं—सुन लो। उ० कहत कबीर सुनौं रे संतौ, मेरी मेरी सब झूठी। (प० १०५-८)।

सुनौ—सुनो। (पा० प० ७६-६)।

सुनति—सं० स्त्री० (अ० सुन्नत)—खतना, मुसलमानों का रसम जिसमें लड़कों के लिंगेन्द्रिय का अगला चर्म काट देते हैं। उ० हौ तौ तुरक किया करि सुनति, औरति सौं का कहिये। (प० ५६-५)।

सुनहां—सं० पु० (सं० श्वान)—कुत्ते रूप कामादिक विषय। उ० डांइन डारै सुनहां डोरै, स्यंध रहै वन घेरे। (प० ६-३)।

सुनाइ—क्रि० स० (सं० श्रवण)—सुना कर। उ० है कोई ऐसा पर उपगारी, हरि सूं कहै सुनाइ रे। (प० ३०७-६)।

सुनाएं—सुनाना। (पा० प० १६८-३)।

सुनायें—सुनाना। उ० का सुनहां कौं सुमृत सुनायें, का सापित पैं हरि गुन गांये। (प० २२१-२)।

सुनारा—सं० पु० (सं० स्वर्णकार)—सोनार। (प० १७-३)।

सुनावत—सुनाते हुए। (पा०सा० २२-६-१)

सुनावा—सुनाया। (पा० प० ११५-६)।

सुनावै—कर्णगोचर कराते हो। उ० भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग। (सा० ३५-२-१)।

सुनि (२)—सं० पु० (सं० शून्य)—शून्य देश में, ब्रह्म में। उ० तपनि गई सीतल भया, जब सुनि किया असनान। (सा० ५-३२-२)।

सुनित्य—सं० स्त्री० (अ० सुन्नत)—खतना। उ० कृतम सुनित्य और जनेऊ, हिंदू तुरक न जांनैं भेऊ। (र० ५-२३)।

सुनिमंडल—सं० पु० (स० शून्यमंडल)—चिदाकाश, ब्रह्माण्ड। उ० सुनिमंडल मैं पुरिष एक, ताहि रहै ल्यौ लाइ। (सा० ४३-७-२)।

सुन्नति—दे० 'सुनति'। खतना। (पा० र० ६-४)।

सुन्नि (१)—वि० (सं० शून्य)—निस्तब्ध, निश्चल। उ० कवीर मोती नीपजै, सुन्नि सिपर गढ़ मांहि। (सा० ५-८-२)।

(२) सं० पु० (सं० शून्य)—शून्य देश। उ० हदि छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान। (सा० ५-११-१)।

सुन्निहि—शून्य प्रदेश में। (पा० प० ५७-६)।

सुन्यं—सं० पु० (सं० शून्य)—खाली। उ० कहै कवीर जहां बसहु निरंजन, तहां कुछ आहि कि सुन्यं। (प० १६४-८)।

सुपनंतरि—दे० 'सुपनैंतर'। (पा० प० ४०-८)।

सुपनां—सं० पु० (सं० स्वप्न)—सपना। उ० आंपि न मीचौं डरपता, मति सुपनां ह्वै जाइ। (सा० ५०-६-२)।

सुपनैं—सं० पु० (सं० स्वप्न)—नींद, निद्रा, स्वप्न। उ० कवीर सुपनैं रैंनि कै, पारस जीय मैं छेक। (सा० १२-२३-१)।

सुपनैंतर—(सं० स्वप्न + तर)—स्वप्न में। उ० वासुरि गमि नरैंणि गमि, नां सुपनैं-तर गंम। (सा० ३१-४-१)।

सुपिन—स्वप्न। (पा० प० ६७-३)।

सुपिनां—स्वप्न। (पा० सा० २-४३-२)।

सुपिनें—स्वप्न में। (पा० प० १०६-२)।

सुपिनैं—स्वप्न में भी। उ० सीतलता सुपिनैं नहीं, फल फीकौ तनि ताप। (सा० १६-२०-२)।

सुपिनैंमांहि—स्वप्न में। उ० वासुरि सुख नां रैंणि सुख, नां सुख सुपिनैं मांहि। (सा० ३-४-१)।

सुप्पनैं—सपने में ही। उ० सुप्पनैं बिंद न देई झरनां, ता काजी कूं जुरा न मरणां। (प० ३३०-५)।

सुपहला—वि० (हि० सु+पहला)—पहला ही। उ० कहि कबीर चेत्या नहीं, अजहूँ सुपहला दिन। (सा० ५५-६-२)।

सुपारी—सं० पु० (सं० सुप्रिय)-छालिया, कसैली। उ० उजल कपड़ा पहरि करि, पान सुपारी खांहि। (सा० १२-५४-१)।

सुफल (१)—सं० पु० (सं०)-अच्छे फल। उ० पंषी चले दिसावरां, बिरवा सुफल फलंत। (सा० ४७-७-२)।

सुफल (२)—वि० (सं० सफल)—पूर्ण। उ० जन्म मरन थैं तौ तूं छूटै, सुफल हूंहि सब कांमां। (प० ३९-६)।

सुबधी—सं० पु० (सं० सम्बन्धी, हि० समधी)—पुत्र या पुत्री का ससुर। उ० सुवधी कै धरि लुबधी आयौ, आन बहू कै भाइ। (प० १३-७)।

सुबास—सं० पु० (सं० सु+बास)-सुन्दर निवास स्थान। उ० मिष्ट सुबास कबीर गहि, विषम कहै किहि साध। (सा० ३२-४-२)।

सुबासिक—वि० (सं० सु+बास)—सुगंधित। (पा० प० १०१-६)।

सुबिचार—वि० (सं० सुविचारवान्)—अच्छे विचारों वाला। उ० सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुबिचार। (सा० ४०-२-१)।

सुभग—वि० (सं०)—सुन्दर, सुखद। उ० रवि ससि सुभग रहे भरि सब घटि, सबद सुंनि थिति मांहीं। (प० १६८-६)।

सुभर—वि० (सं० शुभ)—स्वच्छ। उ० मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं। (सा० ५-३९-१)।

सुभाइ (१)—क्रि० वि० (सं० स्वभाव)—सहज भाव से, स्वभावत:। उ० कबीर तष्टा टोकणीं, लीए फिरै सुभाइ। (सा० १७-५-१)।

(२)—सं० पु० (सं० स्वभाव)—चित्त, आचरण। उ० बिन सावण पाणीं बिना, निरमल करै सुभाइ। (सा० ५४-३-२)।

सुभाव—दे० 'सुभाइ' (२)। (पा० प० ७५-१०)।

सुमति—सं०स्त्री० (सं०)—सुबुद्धि। उ० दुरमति दूरि गंवाइसी, देसी सुमति बताइ। (सा० २८-२-२)।

सुमरि सुमरि—क्रि० स० (सं० स्मरण, हि० सुमरना)-जपो, स्मरण करो। उ० बिलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस। (सा० १६-१०-२)।

सुमार ह्वै—सं० पु० (सं० सुमर)—सहज मृत्यु होकर। उ० भीतरि भिद्या सुमार ह्वै, जीवै कि जीवै नाहि। (सा० ३-१५-२)।

सुमिरंता—दे० 'सुमिरत'। (पा० सा० ३-५-१)।

सुमिरण—क्रि० स० (सं० स्मरण, हि० सुमरना)—ध्यान करना, जप करना। उ० कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल। (सा० २-५-१)।

सुमिरत—स्मरण करते। (पा०र० १९-५)

सुमिरतां—स्मरण करने में। उ० कबीर कठिनाई खरी, सुमिरतां हरि नाम। (सा० २-२९-१)।

सुमिरन—स्मरण करना। उ० रांम नांम सुमिरन बिनां, बूड़त है अधिकाई। (प० ३२०-२)।

सुमिरावै—स्मरण कराता है। (सा० २८-४-२)।

सुमिरि—स्मरण कर। उ० मन रे रांम सुमिरि, रांम सुमिरि भाई। (प० ३२०-१)।

सुमिरि लै—चिन्तन कर लो, जप लो। उ० जम रांणीं गढ़ मेलिसी, सुमिरि लै करतार। (सा० १२-७-२)।

सुमिरै—स्मरण करता है। उ० मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहिं आहि। (सा० २-८-१)।

सुमिरौ—स्मरण करो। (पा० र० २-१)।

सुमिरचौ—स्मरण किया। उ० तीस वरस कै रांम न सुमिरचौ, फिरि पछितानौं विरध भयौ। (प० २४३-४)।

सुमृत—दे० 'सुमृत'। उ० चारि वेद जाकै सुमृत पुरानां, नौ व्याकरनां मरम न जांनां। (प० ४६-३)।

सुमृति—सं० स्त्री० (सं० स्मृति)—हिंदुओं के धर्मशास्त्र ग्रंथ। उ० सुरति सुमृति दोइ कौ विसवास, वाभि परचौ सव आसा पास। (प० ७७-४)।

सुमेर—सं० पु० (सं० सुमेरु)—सुमेरु नाम का पर्वत। (र० १-टि० ३६)।

सुयंप्रकास—सं० पु० (सं० स्वयं प्रकाश)—आपही आप प्रकाशित होने वाला, परमात्मा। उ० सुयंप्रकास आनन्द वभेक मैं, धन कवीर ह्वै वैठे। (प० १५१-६)।

सुरंग—वि० (सं०)—सुंदर, सुडौल। उ० कवीर कहा गरवियौ, देहा देखि सुरंग। (सा० १२-६-१)।

सुर (१)—सं० पु० (सं०)—देवता। उ० सुर नर थाके मुनि जनां, जहाँ न कोई जाइ। (सा० १४-१०-१)।

सुर (२)—सं० पु० (सं० स्वर)—आवाज। उ० मुलनां वंग देइ सुर जांनी, आप मुसला वैठा तांनीं। (र० १-७)।

सुरग—दे० 'स्वर्ग'। (पा०सा० २०-१-१)

सुरगुवासु—(यौ०) स्वर्ग में रहना। (पा० प० ८२-२)।

सुरजौ—दे० 'सूरज'। सूर्य भी। (पा० प० १०५-५)।

सुरझा—क्रि० अ० (हि० सुलझना)—सुलझ गया। (पा० सा० २२-६-१)।

सुरझै—सुलझता है। उ० नौ मन सूत उरझि नहीं सुरझै, जनमि जनमि उरझेरा। (प० २३८-११)।

सुरझचा—सुलझा, खुला। उ० कहत सुनत सव दिन गए, उरझि न सुरझचा मन। (सा० ५५-६-१)।

सुरझिहौं—क्रि० स० (हि० सुलझना)—सुलझता हूं। उ० अनेक जतंन करि सुरझिहौं, फुनि फुनि उरझाई। (प० १७८-६)।

सुरझेरा—सं० स्त्री० (हि० सुलझना)—सुलझाव। (पा० प० ८६-८)।

सुरतां—सं० स्त्री० (सं० स्मृति, हि० सुरत)—ध्यान द्वारा। उ० तरवर एक अनंत मूरति, सुरतां लेहु पिछाणीं। (प० १६६-३)।

सुरता—सं०पु० (सं० श्रोता)-सुनने वाला। उ० कथता वकता सुरता सोई, आप विचारै सो ग्यानी होई। (प० ४२-१)।

सुरतान—दे० 'सुलितांन'। (पा० प० १२८-७)।

सुरतानु—दे० 'सुलितांन'। (पा० प० १२८-८)।

सुरति (१)—सं० स्त्री० (सं० स्मृति)—सुध, ध्यान, चेत अथवा चित्त की एकतानता। उ० सुरति निरति परचा भया, तव खूले स्यंभ दुवार। (सा० ५-२२-२)।

सुरति (२)—सं० स्त्री० (सं० श्रुति)—श्रुति। उ० सुरति सुमृति दोइ कौ विसवास, वाझि परचौ सव आसा पास। (प० ४७-४)।

सुरतैं—ध्यान में, स्मरण में। उ० जो कवहूँ उड़ि जाइ जँगल में, वहुरि न सुरतैं आनैं। (प० ४०-६)।

सुरपति—सं० पु० (सं०)—इंद्र। उ० साधिक सिध सूर अरु सुरपति, भ्रमत-भ्रमत गये हारी। (प० १७२-२)।

सुरवि—सं० स्त्री० (सं० श्रवण से)—सुनने की शक्ति। (सा० ४३-५-नो०६)।

सुरषी—वि० (सं० सुरक्षित)—अपने वश में। उ० सुरषी पंच राखिये सवै, तौ दूजी द्रिष्टि न पैसे कवै। (प० ३६२-१३)।

सुरष्या—वश में। (प० ३६२-३)।

सुरसुरी—सं० स्त्री० (सं० सुरसरि)—गंगा। उ० ज्यू दादुर सुरसुरी जल

भीतरि, हरि विन मुकति न होई। (प० ३४६-५)।

सुरहीं—सं० स्त्री० (सं० सुरभी)—चमरी गाय। उ० सुरहीं चूंपै बछतलि, बछा दूध उतारै। (प० १६१-७)।

सुरही—गाय। उ० तिण चरि सुरही उदिक जु पीया, द्वारैं दूध बछ कूं दीया। (र० चौ० १२)।

सुरांग—वि० दे० 'सुरंग'। सुन्दर। उ० पासि विनंठा कपड़ा, कदे सुरांग न होइ। (सा० ३७-४-१)।

सुरा—सं० स्त्री० (सं०)—मदिरा। उ० इक हूंहि दीन एक देहि दांन, इक करै कलापी सुरापांन। (प० ३८६-५)।

सुरैं—मदिरा मे। उ० सोवन कलस सुरैं भरया, साधूं निंद्या सोइ। (सा० २५-७-२)।

सुरुज—दे० 'सूरज'। सूर्य। (पा० प० १५०-३)।

सुलझाया—क्रि० स० (हि० सुलझना से)—जटिलताएं दूर कीं। उ० तिनि सुलझाया वापुड़े, जिनि जाणीं भगति मुरारि। (सा० ३३-५-२)।

सुलतांन—दे० 'सुलितांन'। (पा० सा० २-१६-१)।

सुलषणीं—वि० (सं० सुलक्षण से)—शुभ गुणों से युक्त। उ० सोई नारि सुलषणीं, नित प्रति झूलण जाइ। (सा० ५२-५-२)।

सुलषनां—(सं० सुलक्षण)—शुभ लक्षण-सम्पन्न। उ० साइं मेरा सुलषनां, सूता देइ जगाइ। (सा० ३८-४-२)।

सुलितांन—सं० पु० (फा० सुलतान)—वादशाह। उ० सो सुलितांन जु द्वै सुर तानैं, वाहरि जाता भीतरि आनैं। (प० ३३०-६)।

सुलितान—वादशाह। उ० विरहा बुरहा जिन कहौ, विरहा है सुलितान। (सा० ३-२१-१)।

सुवनां—सं० पु० (सं० शुक, हि० सुअटा)—तोता। उ० तुम्ह प्यंजरा मैं सुवनां तोरा। (प० १२०-५)।

सुवा—दे० 'सूवा'। तोता। (पा० प० १७९-५)।

सुवारथि—दे० 'सवारथ'। स्वार्थ। (पा० सा० १४-३९-१)।

सुवारथी—दे० 'सवारथी'। स्वार्थी। (पा० सा० १४-३९-२)।

सुषदेव—दे० 'सुखदेव'। शुकदेव मुनि। उ० रंचक लीन भया सुखदेव। (प० ३३-५)।

सुषमन—दे० 'सुखमन'। सुषुम्ना नाड़ी। उ० इला प्यंगुला सुषमन नांहीं, ए गुंण कहां समांहीं। (प० ३२-४)।

सुहाइ—क्रि० अ० (सं० शोभन)—अच्छा लगता है। (पा० प० १५-६)।

सुहाग—सं० पु० (सं० सौभाग्य)—सौभाग्य। उ० कहै कबीर मैं कछू न कीन्हां, सखी सुहाग रांम मोहि दीन्हां। (प० २-६)।

सुहागनि—दे० 'सुहागिनि'। सौभाग्यवती। (प० ३७०-१)।

सुहागल—वि० (सं० सौभाग्य)—खुशकिस्मती से मिला हुआ। उ० अचिरज कीया लोक मैं, पीया सुहागल नीर। (र० चौ० २०)।

सुहागा—सं० पु० (सं० सुभग)—एक प्रकार का क्षार जो गरम गंधकी सोतों से निकलता है। (पा० प० १६-६)।

सुहागिनि—सं० स्त्री० (हि० सुहाग+इन)–सौभाग्यवती। (पा०प० १६२-१)

सुहेला—वि० (सं० शुभ ?)—सुखद। उ० भला सुहेला ऊतरया, पूरा मेरा भाग। (सा० ५०-१०-१)।

सुहेली (१)—वि०—सुखद उ० अणी सुहेली सेल की, पड़तां लेइ उसास। (सा० ३६-१-१)।

सुहेली (२)—सं० स्त्री० (सं० सह+

एली)—संगिनी। (पा० प० १३५-४)।

सूं—अव्य (सं० सह)—करण या अपादान का चिह्न 'से'। उ० एक जु वाह्या प्रीति मूं, भीतरि रह्या शरीर। (सा० १-६-२)

सूंघत—क्रि० स० (सं० सं० + घ्राण)—सूंघते ही। (पा० प० २-४)।

सूंघै—सूंघता फिरता है। उ० उ० कस्तूरी के मृग ज्यूं, फिरि फिरि सूंघै घास। (सा० ५३-३-२)।

सूंम—वि० (अ० सूम)—कंजूस, कृपण। उ० सांची रही सूंम की संपति, मुगध कहै यहु मेरी। (प० १०५-६)।

सूमहि—कंजूस की। (पा० प० ६५-७)।

सूई—सं० स्त्री० (सं० सूची)—सुई। उ० गुरु प्रसाद सूई कै नांकै हस्ती आवै जांहीं। (प० १०-८)।

सूक(१)—सं० पु० (सं० शुक)—शिरीष वृक्ष। उ० सूक बिरख यहु जगत उपाया, समझि न विषम तेरी माया। (र० २-७)।

सूक (२)—दे० 'सूख'। (प० ३८८-६)।

सूकर—सं० पु० (सं० शूकर)—सूअर। उ० सूकर रूप फिरै कलि मांझ। (प० १२५-४)।

सूकरि—सूअर। (पा० प० १९६-१०)।

सूका—सं० पु० (सं० शुष्क, हि० सूखा)—जो भीगा न हो। उ० मंदिर पैसि चहूं दिसि भीगे, बाहरि रहे ते सूका। (प० १७५-५)।

सूकित—क्रि० अ० (सं० शुष्क + ना (प्रत्य०)—सूखे हुए, शुष्क। उ० सूकित पांन पात तरवर थैं, उलटि न तरवरि आवै। (प० ३९७-४)।

सूकै—वि० (सं० शुष्क)—शुष्क। उ० सूकै सरवर पालि बंधावै, लुणै खेत हठि वाड़ि करै। (प० २४३-५)।

सूख (१—क्रि०अ० (सं० शुष्क)—सूखना। (पा० प० ७५-७)।

सूख (२)—दे० 'सुख'। (पा० सा० ११-२-१)।

सूखन—सूखने। (पा० सा० १६-३३-१)।

सूखा—त्रि० (सं० शुष्क)—अनावृष्टि। (पा० सा० १५-४१-२)।

सूखिम—दे० 'सूषिम'। सूक्ष्म। (पा० सा० १०-१६-१)।

सूगह—क्रि० वि० (हि० सु + गह)—दृढ़तापूर्वक। उ० जिनि पाया तिनि सूगह गह्या, रसना लागी स्वादि। (सा० ५-३३-१)।

सूचा—वि० (सं० शुचि, हि० सूची)—निर्मल, पवित्र, शुद्ध। उ० यहु संसार सकल है मैला, रांम कहैं ते सूचा। (प० १२९-७)।

सूची—पवित्र। (पा० सा० २१-२-१)।

सूचे—पवित्र। उ० कहै कबीर तेई जन सूचे, जे हरि भजि तजहिं विकारा। (प० २५१-८)।

सूझैं—क्रि० अ० (सं० संज्ञान, हि० सूझना)—ध्यान में आवे, दिखलाई पड़ता। उ० कहत सुनत जग जात है विषै न सूझैं काल। (सा० १२-४६-१)।

सूझै—नजर में आता है, दिखलाई पड़ता है। उ० सिर फोड़ै सूझै नहीं, को आगिला अभाग। (सा० २०-२१-२)।

सूझया—ध्यान में आ गया। उ० आपै मैं तब आपा निरप्या, अपन पै आपा सूझया। (प० ६-१५)।

सूत—सं० पु० (सं० सूत्र)—सूत, तंतु, रुई का महीन तार। उ० ताकू केरे सूत ज्यूं, उलटि अपूठा आंणि। (सा० १३-१-२)।

सूतग—सं०पु० (सं० सूतक)—वह अशौच जो संतान होने या किसी के मरने पर परिवार वालों को होता है। उ० एक ही वास रहै दस मासा, सूतग पातग एकै आसा। (र० चौ० ३)।

सूतां—दे० 'सूता'। सोने से। (सा० २-१५-१)।

सूता—क्रि० अ० (हि० सोना)—सोया-सोया, पड़ा-पड़ा। उ० कबीर सूता क्या करे, जागि न जपै मुरारि। (सा० २-११-१)।

सूति (१)—सूत। उ० जोगी फेरी फिल करो, यौं बिन नांवैं सूति। (सा० १३-३-२)।

सूति (२)—सं० स्त्री० (सं०)—फल या फल की उत्पत्ति का अवसर। उ० आई सूति कबीर की, पाया राम रतंन। (सा० २-७-२)।

सूतिग—अशौच। उ० नां तिहि सूतिग पातिग जातिग, नां तिहि माइ न देव कथा पिक। (र० बा०-६२)।

सूती—सो गई, लीन हो गई। उ० मंदिर मांहि भया उजियारा, ले सूती अपनां पीव पियारा। (प० २-४)।

सूते—सो गये। उ० जे सूते ते मुसि लिए, रहे वसत कूं रोइ। (सा० १६-२४-२)।

सूतै—सोने से। (पा० सा० ३-१८-१)।

सूद—सं० पु० (सं० शूद्र)—शूद्र जाति का। (प० ४०-नो० ४२)।

सूदा—दे० 'सूद'। शूद्र जाति का। उ० एक जोति थैं सब उतपनां, कौंन बांम्हन कौन सूदा। (प० ५७-४)।

सूध—(१) क्रि० वि० (सं० शुद्ध, हि० सूधा)—सीधा। उ० पंच बैल जब सूध चलाऊं, राम जेवरिया जोरूं। (प० ३८९-६)।
(२) वि० (सं० शुद्ध)—शुद्ध। उ० जिभ्या वचन सूध नहीं निकसै तब सुकरित की बात कहै। (प० २४३-८)।

सूधा—दे० 'सूध'। (पा०प० १२२-७)।

सूधी—सीधी, लक्ष्य की ओर ठीक की हुई। उ० सतगुर मारया बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि। (सा० १-८-१)।

सूनति—दे० 'सुनति'। (पा०प० १७८-३)।

सूनहां—दे० 'सुनहां'। श्वान। उ० सापित सूनहां दोऊ भाई, वो नींदै वौ भौंकत जाई। (प० २२१-४)।

सूनां—वि० (सं० शून्य)-निर्जन, सुनसान। (पा० प० ६०-६)।

सूनीं—खाली। उ० सब घटि मेरा सांइयां, सूनीं सेज न कोइ। (सा० २९-१८-१)।

सूनी—खाली। (पा० प० ४-३५-१)।

सूनें—खाली, जनहीन। उ० सूनें घर का पाहुणां, ज्यूं आया त्यूं जाव। (सा० २-१८-२)।

सूनें (१)—खाली। (पा० सा० २-४६-२)।

सूनैं (२)—सं० पु० (सं० शून्य, हि० सूना)—निर्जन स्थान में, एकांत में। उ० कंकर कूई पतालि पनियां, सूनैं बूंद बिकाई रे। (प० ७६-५)।

सूप—सं० पु० (सं० शूर्प)—सूप। (सा० ३२-१-नो०२)।

सूबस—क्रि० वि० (हि० सुबस)—भली वस्ती में। उ० पुरपाटण सूबस बसै, आनंद ठांयें ठांइ। (सा० ३०-२-१)।

सूभर—वि०(सं० शुभ्र)-उज्ज्वल, दिव्य। (सा० ५३-८-नो०१०)।

सूर—(१) सं० पु० (सं० सूर्य)—सूरज, पिंगलानाड़ी। उ० सूर समांणां चंद मैं, दहूं किया घर एक। (सा० ५-१०-१)।
(२) दे० 'सुर'। देवता। उ० साधिक सिध सूर अरु सुरपति, भ्रमत भ्रमत गये हारी। (प० १७२-२)।

सूरज—सं० पु० (सं० सूर्य)—सूर्य। उ० कबीर तेज अनंत का, मानौ ऊगी सूरज सेणि। (सा० ५-१-१)।

सूरण—सं० पु० (सं० शूर)—बहादुर, शूरवीर। (र० १-टि० २४)।

सूरतन—दे० 'सूरातन'। (पा० सा० १४-४१-१)।

सूरति—सं० स्त्री० (फा० सूरत)—

आकृति। उ० खाक एक सूरति वहुतेरी। (प० ६३-२)।

सूरा—सं० पु० (सं० शूर)—वीर पुरुष। उ० काइर हुवां न छूटिये कछु सूरा तन साहि। (सा० ४५-१-१)।

सूरातन—यौ० (सं० शूर+तन)—शूर-वीरता। (पा० सा० १४-७-१)।

सूरि—दे० 'सूर' (१)। सूर्य। उ० देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगे सूरि। (सा० ३-४४-२)।

सूरिज—दे० 'सूरज'। सूर्य। उ० जाकै सूरिज कोटि करैं परकास, कोटि महादेव गिरि कविलास। (प० ३४०-२)।

सूरिवाँ—सं० पु० (सं० शूर, हि० सूरमा) वीर, वहादुर। उ० सतगुर साँचा सूरिवाँ, सवद जु वाह्या एक। (सा० १-७-१)।

सूरिवां—(पा० सा० १-६-१)।

सूरिवैं—वीर पुरुष ने। उ० खेत वुहारया सूरिवैं, मुझ मरणे का चाव। (सा० ४५-६-२)।

सूरी—दे० 'सूली'। फाँसी, सूली। (पा० सा० ३-५-२)।

सूरैं—सं० पु० (सं० शू)—शूरवीर ने। (पा० सा० १४-२७-१)।

सूल—सं० पु० (सं० शूल)—चुभने वाली वस्तु, कसक, कष्ट। उ० अंधा नर चेतै नहीं, कटै न संसै सूल। (सा० २०-१७-१)।

सूलां—सं० पु० (सं० शूल)—काँटे पर। (सा० १३-८-नो०६)।

सूला—काँटा, फाँसी, शूल। उ० ऊंकार आदि है मूला, राजा परजा एकहि सूला। (र० चौ० १)।

सूली—नुकीली लौह दंड, फाँसी। उ० सुंदरि थैं सूली भली, विरला वंचै कोइ। (सा० २०-१६-१)।

सूवा—सं० पु० (सं० शुक)—सुआ, तोता। उ० नर कैं साथि सूवा हरि वोलैं, हरि परताप न जानैं। (प० ४०-५)।

सूवैं—तोते ने। उ० चतुराई सूवैं पढ़ी, सोई पंजर मांहि। (सा० १७-१४-१)।

सूषिम—वि० (सं० सूक्ष्म)—रहस्यमयी, भेद भरी। उ० कवीर सूषिम सुरति का, जीव न जांणैं जाल। (सा० १५-१-१)।

सृष्टि—सं० स्त्री० (सं०)-संसार, रचना। (पा० प० १८१-४)।

सेंतका—मुहा०—(सं० संहित से)—मुफ्त का। (पा० सा० २१-१७-१)।

से—प्रत्य० (प्रा० सुंतो)-करण और अपादान का चिह्न। (पा० प० ६४-५)।

सेइ—क्रि० अ० (सं० सेवक, हि० सेना)—आराधना करो। उ० सेइ मन समझि संमर्थ सरणांगता। (प० १६६-१)।

सेइए—आराधना करो, सेवा करो। (पा० प० १०१-१)।

सेइया—सेया। (पा० सा० २६-६-२)।

सेउ—दे० 'सेवा'। (पा० प० ७७-५)।

सेकिसी—क्रि० स० (सं० श्रेपण)—जलावेगा, भूनेगा। (सा० १३-८-नो०६)।

सेख—दे०'सेष'। शेख। (पा०प० ४२-४)

सेखा—दे० 'सेषा'। शेष नाग। (पा० प० ४८-५)।

सेज—सं० स्त्री० (सं० शय्या, प्रा० सज्जा)—पलंग, शय्या। उ० सव घटि मेरा सांइयां, सूनीं सेज न कोइ। (सा० २६-१८-१)।

सेजरिया—पलग, सेज। (पा०प० १५-७)।

सेजा—पलंग। (पा० सा० १६-६-१)।

सेजैं—पलंग पर। उ० सेजैं रहूं नैंन नहीं देखौं। (प० २३०-३)।

सेझै—क्रि० स० (सं० सेंधन)-दूर करता है, हटाता है अथवा ठंडा कर देता है। उ० सेझै कूवा स्वाति अति सीतल, कवहूं कुवाव नहीं रे। (प० २१६-५)।

सेणि—सं० स्त्री० (सं० श्रेणी)—समूह,

पक्ति। उ० कबीर तेज अनत का, मानौ ऊगी सूरज सेणि। (सा० ५-१-१)।

सेत—वि० (सं० श्वेत)-उज्ज्वल, निर्मल, सफेद। उ० बोढ़ें काला कापड़ा, नांव धरावैं सेत। (सा० २३-७-२)।

सेती (१)—क्रि० वि० (हि० सेंत)—व्यर्थ, बेमतलब। उ० पंडित सेतीं कहि रहे, कह्यां न मानैं कोइ। (सा० ६-१-१)।

सेती (२)—प्रत्य० (प्रा० सुंतो)—करण और अपादान की विभक्ति 'से'। उ० नारी सेती नेह, बुधि बबेक सबहीं हरैं। (सा० २०-८-१)।

सेनि—दे० 'सेणि'। समूह। (पा० सा० ६-१५-१)।

सेनेह—सं० पु० (सं० स्नेह)—प्रेम, मुहब्बत। उ० सकति सेनेह पकरि करि सुनति, यहु न बदूं रे भाई। (प० ५६-३)

सेन्यां—सं० स्त्री० (सं० सेना)—सेना, परिवार। उ० हरि की दास मरैं मगहरि सेन्यां सकल तिराई। (प० ३४५-७)।

सेपटआवा—क्रि० अ० (सं० संपुट+हि० आना)—कोश बना। (र० १-टि० ६)।

सेर—वि० (सं० सेठ ?)—एक तौल। (प० १६३-४)।

सेरी—सं० स्त्री० (फा०)-तृप्ति, संतोष। उ० कबीर सेरी सांकड़ी, चंचल मनवा चोर। (प० १३-४-१)।

सेल—सं० पु० (सं० शल, प्रा० सेल)—बरछा, भाला। उ० अणी मुहेली सेल की, पड़तां लेइ उसास। (सा० ३६-१-१)।

सेव—सं० स्त्री० (सं० सेवा)—आराधना, सेवा। उ० जब लग भगति सकांमता, तब लग निर्फल सेवा। (सा० ११-१०-१)।

सेवक—सं० पु० (सं०)—नौकर, भक्त। उ० स्वामी सेवक एक मत, मन ही मैं मिलि जाइ। (सा० ४४-४-१)।

सेवकाई—सं० स्त्री० (सं० सेवक+हि० आई (प्रत्य०)—सेवा। (पा०प० ७-४)।

सेवग—दे० 'सेवक'। उ० यहु मन दीजे तास कौं, सुठि सेवग भल सोइ। (सा० २६-४-१)।

सेवतां—क्रि० वि० (हि० सेवना)—सेवा करते समय। पारब्रह्म कूं सेवतां, जे सिर जाइ त जाव। (सा० ४५-३०-२)।

सेवा—सं० स्त्री० (सं०)—सेवा, टहल, खिदमत। उ० साहिब सेवा मांहि है, बेपरवांही दास। (सा० ५-२-२)।

सेविया—क्रि० स० (सं० सेवन से हि० सेना)-अगोरता रहा, सेवा करता रहा। उ० सूवै सैंबल सेविया, यौं जग चल्या निरास। (सा० २३-८-२)।

सेविये—सेवा कीजिए। उ० सिर साटैं हरि सेविये, छाड़ि जीव कीं बांणि। (सा० ४५-३१-१)।

सेवैं—सेवा करने से, पूजा करने से। उ० सेवैं सालिग रांम कूं, मन की भ्रांति न जाइ। (सा० २३-६-१)।

सेवैं—सेवा से। (पा० सा० २६-१०-१)।

सेवौ—सेवा करो। उ० कहै कबीर सेवौ बनवारी। (प० ११४-७)।

सेष—सं० पु० (अ० शेख़)—इस्लाम धर्मोपदेशक। उ० सेष सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ। (सा० २२-११-१)।

सेषा—सं० पु० (सं० शेष)—शेष नाग। उ० ध्रू प्रहिलाद बभीषन सेषा, तन भीतरि मन उनहुँ न देषा। (प० ३३-४)

सेस—दे० 'सेषा'। शेष नाग। (पा० प० १०४-५)।

सेस नाग—सं० पु० (सं० शेष नाग)—शेष नाग। उ० सेस नाग जाकैं गरड़ समांनां, चरम कंवल कंवला नहीं जांनां। (प० ४६-४)।

सेसा—दे० 'सेषा'। शेष नाग। (पा० प० १०३-४)।

सैंजल—सं० स्त्री० (पं० सेंजी)—एक

प्रकार की पंजाबी घास। उ० माटी गलि सैंजल भई, पांहण बोही तेह। (सा० ५५-२-२)।

सैंट—सं० पु० (देश० हि० सैंठा)—कंडा। उ० कबीर मंदिर ढहि पड़्या सैंट भई सैंवार। (सा० १२-१७-१)।

सैंण—दे०'सैन'। संकेत। उ० कोई वाइल वंध्या नां मिलै, सांई हंदा सैंण। (सा० ४३-१०-२)।

सैंवल—सं० पु० (सं० शाल्मली)—सेमल। उ० यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंवल फूल। (सा० १२-१३-१ ।

सैंवार—सं० पु० (सं० शैवाल)—सेवार। उ० कबीर देवल ढहि पड़्या, ईंट भई सैंवार। (सा० १२-१८-१)।

सैन—सं० स्त्री० (सं० संज्ञपन, प्रा० सण्णपन, हि० सैन)—संकेत। (सा० ४३-५-नो० ६)।

सैनां—दे०'सैन्यां'। (पा०प० १५५-१५)।

सैवल—'सैंवल'। सेमल का वृक्ष। उ० दिन दहूं चहूंकै कारणैं, जैसैं सैंवल फूले। (प० १६०-१)।

सैल—सं० स्त्री० (फा० सैलाब)—स्रोत, वहाव। (पा० प० ११८-६)।

सैली—वि० (सं० स्वैर)—स्वच्छंद। उ० ढेकर चढ़ि गयौ रांड़ कौ करध मनह पाट की सैली रे। (प० ७६-४)।

सो—सर्व० (सं० सः)—वह। उ० ग्यान प्रकास्या गुर मिल्या, सो जिनि वीसरि जाइ। (सा० १-१३-१)।

सोइ (१)—वही। उ० जे कुछ चितवैं राम विन, सोइ काल की पास। (सा० २-६-२)।

सोइ (२)—क्रि० अ० (सं० शयन, हि० सोना)—सोओ। उ० उजल हूवा न छूटिए, सुख नींदड़ीं न सोइ। (सा० १२-५३-२)।

सोई—वही। उ० जो कुछ था सोई भया, अव कछू कह्या न जाइ। (सा० ५-१७-२)।

सोइअै—सो जाइए। (पा० सा० ३-४-१)।

सोइयै—पड़े रहिये, सो जाइए। उ० केसौ कहि कहि कूकिये, ना सोइयै असरार। (सा० २-१६-१)।

सोऊं—नींद लूं। उ० जे सोऊं तौ दोइ जणां, जागूं तौ एक। (सा० १२-२३-२)।

सोखा—दे० 'सोष्या'। सोख लिया। (पा० प० ५७-३)।

सोखै—क्रि० स० (सं० शोषण)—सुखा डालती है। उ० उलटी गंग संमुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै। (प० १६२-३)।

सोख्या—सोख लिया। उ० वाझ पियालै अमृत सोष्या, नदी नीर भरि राख्या। (प० १६२-१७)।

सोगति—सं० स्त्री० (सं० सुगति)—अच्छी गति। (र० १-टि० ६०)।

सोगसंताप—सं० यौ० (सं० शोक-संताप)—रंज, गम व तकलीफ। उ० जहां जांऊं तहां सोग संताप, जुरा मरण कौ अधिक वियाप। (प० ७९-३)।

सोच—सं० पु० (सं० शोंच)—चिंता। (पा० सा० १४-२५-२)।

सोचहि—क्रि० अ० (सं० शोचन)—सोचता है। (पा० प० ७२-२)।

सोचिविचारिया—क्रि० अ० (सं० शोचन + विचारण)–समझ-बूझ लिया, निश्चय कर लिया। उ० कबीर सोचि विचारिया, दूजा कोई नांहि। (सा० ३३-३-१)।

सोचि—दे० 'सोच'। सोच-विचार, चिंता। (पा० प० १०१-६)।

सोचै–सोचता है। उ० हरि कौ नाव न लेह गंवारा, क्या सोचै वारंवारा। (प० २६२-१)।

सोज (१)—सं० पु० (सं० शोच, हि०

सोच)—पछतावा, सोच। उ० च्यंत न सोज चित बिन चितवै, विन मनसा मन होई। (प० २०६-२)।

सोज (२)—सर्व० (हि० सो जो)—सो जो। उ० मुकति सोज आपा पर जांनैं, सो पद कहाँ जु भरमि भुलानैं। (र० ३-१०४)।

सोधहु—क्रि० स० (सं० शोधन, हि० सोधना)—सोधो, ठीक करो। (पा० चौ० र० ३६-१)।

सोधि—(१) सुधार कर, विचार कर। उ० बांवन आषिर सोधि करि, ररै मर्मै चित लाइ। (सा० १६-२-२)।

(२) सुधार कर लो, शुद्ध कर लो। उ० सोधि सरीर कनक की नांई। (प० १७-२)।

सोधिया—सोध किया। (पा० सा० ३-१४-२)।

सोधैं—ठीक करता है। उ० जब लग नाभि कवल नहीं सोधैं। (प० २०२-६)।

सोध्यौ—खोज की, विचार किया। उ० हौं ज कहत तोसूं वार बार, मैं सब वन सोध्यौ डार डार। (प० ३८८-३)।

सोधी—सं० स्त्री० (सं० शुद्धि)—(१) आत्मशुद्धि। उ० सतगुरु सवां न को सगा, सोधी सई न दाति। (सा० १-१-१)।

(२) सुध, ख्याल। (२४-५-नो०६)।

सोनां—सं० पु० (सं० स्वर्ण)—कंचन, स्वर्ण। (पा० सा० १५-२५-२)।

सोनैं—स्वर्ण के। (पा० प० १६-६)।

सोव्रन—सं० पु० (सं० स्वर्ण)—सोना। (पा० सा० ३३-७-२)।

सोभा—सं० स्त्री० (सं० शोभा)—तेज, सौन्दर्य। उ० जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार। (सा० २-३-२)।

सोमवार—सं० पु० (सं०)—सोमवार का दिन। उ० सोमवार ससि अमृत झरै, चाखत बेगि तपै निसतरै। (३६२-४)।

सोरह—वि० (सं० षोडश)—दस और छः। (पा० प० ११२-६)।

सोरहा—वि० (अ० शोहरत)—ख्याति, प्रसिद्धि। उ० स्वांग पहरि सोरहा भया, खाया पीया षूंदि। (सा० २४-१५-१)।

सोलहकला—सं० स्त्री० (सं० षोडशकला) —चंद्रमा की सोलह कलाएँ। उ० सोलह कला संपूरण छाजा। (प० २०२-११)।

सोवणां—सोना, शांत हो जाना। उ० एक दिनां भी सोवणां, लंबे पाँव पसारि। (सा० २-११-२)।

सोवत (१)—सोते हुए। (पा०प० १६८-७)

सोवत (२)—सं० पु० (सं० स्वर्ण)—सोना। (सा० ४६-१८-नो० २८)।

सोवन (१)—सोना। (पा०सा० ३-२-२)।

सोवन (२)—सं० पु० (सं० स्वर्ण)—सोना। उ० सोवन कलस सुरै भरया, साधू निंद्या सोइ। (सा० २५-७-२)।

सोवहि—सोते हैं। (पा० प० १६७-५)।

सोवेगा—सो जाएगा। (पा० सा० ३-१६-२)।

सोवै—सोता है। उ० सुखिया सब संसार है, खायै अरु सोवै। (सा० ३-४५-१)।

सोवैगा—सोवेगा, मर जाएगा। उ० तेल घट्या वाती बुझी, सोवैगा दिन राति। (सा० २-१०-२)।

सोहं—सं० पु० (सं० सः+अहम्)—वह मैं हूं, सोऽहम्। उ० सोहं हंसा एक समान, काया के गुंण आंनहि आंन। (प० ५३-१)।

सोहरा—वि० (सं० शुद्ध)-सरल, आसान। उ० स्वांमीं हूंणा सोहरा, दोद्धा हूंणा दास। (सा० १७-३-१)।

सोहै—क्रि०अ०(सं० शोभन)-शोभित होता है। उ० सुहागनि गलि सोहै हार, संतनि विरख विलसै संसार। (प० ३७०-४)।

सौं (१)—सं० स्त्री० (सं० सौगंध, हि०

सौगंद)—कसम, शपथ। उ० कातीं गीह जरी का सूत, नणद के भइया मी सौं। (प० १३-२)।

सौं (२)—दे० 'से'। करण या अपादान का चिह्न। (पा० प० १३-७)।

सौंज—सं० स्त्री० (सं० सौजस्)—शक्ति। उ० थाकी सौंज संग के बिछुरे, राम नांम मसि धोई। (प० २८१-७)।

सौंण—सं० पु० (सं० सौन)—बलिगृह, कसाईखाना। (सा० १२-५४-नो० ७०)।

सौंपतां—दे० 'सौंपता'। (पा० सा० ६-२-२)।

सौंपता—क्रि० स० (सं० समर्पण, प्रा० सउप्पण)—सौंपते हुए। उ० तेरा तुझकौं सौंपता, क्या लागै है मेरा। (सा० ११-३-२)।

सौंपा—सौंप दिया, दे दिया। (पा० सा० १४-२३-२)।

सौंपि—समर्पण कर दो। उ० तन मन जीवन सौंपि सरीरा, ताहि सुहागनि कहै कबीरा। (२० १३९-११)।

सौंपिया—अर्पण कर दिया। उ० जाकौं तन मन सौंपिया, सो कबहूं छांड़ि न जाइ। (सा० ४४-३-२)।

सौंपे—अर्पण कर दे। उ० तन मन सौंपे मृग ज्यूं, सुनैं बधिक का गीत। (सा० ४३-३-२)।

सौंपै—सौंप दे। (सा० ६-३-२)।

सौंप्या—सौंप दिया। उ० तन मन सौंप्या पीव कूं, तव अंतरि रही न रेख। (सा० ४५-३७-२)।

सौ—वि० (सं० शत)—पचास का दूना। (पा० प० ७३-३)।

सौदा—सं० पु० (अ०)—क्रय विक्रय की वस्तु। उ० कबीर गुदड़ी बीषरी, सौदा गया बिकाइ। (सा० ४८-३-१)।

सौदागर—सं० पु० (फा०)—व्यापारी। (पा० प० ४-१)।

सौ बार—क्रि० वि० (सं० शत+हि० वार)—सैंकड़ो वार, कई वार। उ० केसौ कहा बिगाड़िया, जे मूंडै सौ बार। (सा० २४-१२-१)।

सौरा—सं० पु० (सं० शफ़री)—मछली। उ० तालि चुगैं वन तीतर लउवा, परबति चरैं सौरा मछा। (प० १७७-३)।

स्यंगार—दे० 'सिंगार'। शृंगार, सजावट। उ० किया स्यंगार मिलन कै तांई। (प० ११७-५)।

स्यंघ—दे० 'सिंघ'। सिंह, आत्मा। उ० जल मैं स्यंध जु घर करै, मछली चढ़ै खजूरि। (सा० ५-४६-२)।

स्यंघासण—सं० पु० (सं० सिंहासन)—राजगद्दी। उ० राज पाट स्यंघासण आसण, बहु सुंदरि रमणां। (प० २४८-५)।

स्यंचाई—दे० 'सिंचाई'। उ० अंमृत ले ले नींब स्यंचाई, कहै कबीर वाकी बांनि न जाई। (प० २२१-५)।

स्यंदूर—सं० पु० (सं० सिंदूर)—सिंदूर। उ० कबीर रेख स्यंदूर की, काजल किया न जाइ। (सा० ११-४-१)।

स्यंधौरा—सं० पु० (हि० सिंदूर+ओरा (प्रत्य०)—सिंदूरदान। उ० मरनैं कहा डराइये, हाथि स्यंधौरा लीन्ह। (सा० ४५-१२-२)।

स्यंभ—सं० पु० (सं० स्वयंभु, शंभु)—शिव, परमेश्वर, ब्रह्मा। उ० कुबुधि न जाई जीव की, भावै स्यंभ रहौ प्रमोधि। (सा० २०-१९-२)।

स्यावति—वि० (फा० सावित से साबुत)—स्थिर, निश्चल, पूरा। उ० कबीर दिल स्यावति भया, पाया फल संम्रथ्थ। (सा० ५-३४-१)।

स्यांम (१)—सं० पु० (सं० सामन्)—सामवेद। उ० रुग न जुग न स्यांम अथरवन, वेद नहीं व्याकरनां। (प० २१९-६)।

स्यांम (२)—वि० (सं० श्याम)—सांवले रंग का। उ० अबरन वरन स्यांम नहीं पीत, हाहू जाइ न गावै गीत। (प० ३२८-८)।

स्यास—दे० 'स्यांम'। (पा० प०८७-६)।

स्यार—सं० पु० (सं० शृगाल)—सियार। (पा० प० १२०-५)।

स्यारि—सियार ने। (पा० प० १३७-५)।

स्याल—दे० 'स्यार'। सियार। उ० नित उठि स्याल स्यंघ सूं झूझै, कहै कबीर कोई विरला बूझै। (प० ८०-५)।

स्यालि—सियार ने। उ० मूसै मंजार खायौ, स्यालि खायौ स्वांना। (प० १६०-७)।

स्यावज—सं० पु० (सं० श्वापद)—जंतुओं। उ० कांम क्रोध लोभ मोह, हाकि स्यावज दीन्हां। (प० २१०-६)।

स्यावढ़—सं० पु० (देश सियावड़)— खेत का मालिक जो कुल फसल काट लेता है। उ० औरै स्यावढ करै षारिसा, सिला करै सब कोई। (प० २१६-८)।

स्यूं (१)—अव्य (सं० सः हि० स्यों)—सहित, साथ। उ० उदै भय जब सूर का स्यूं तारां छिपि जाइ। (सा० १७-१६-२)।

स्यूं (२)—प्रत्य० (प्रा० सुन्तो)—करण और अपादान का चिह्न 'से'। उ० कलियुग हम स्यूं लड़ि पड़या मुहकम मेरा बाछ। (सा० १-५-२)।

स्यौं—साथ। (सा० १७-१०-नो० ११)।

स्रवन—दे० 'श्रवण'। कान। (पा० प० ८८-३)।

स्रवनन—कानों। (पा० प० ४५-३)।

स्रवनं—दे० 'श्रवनूं'। (पा०प० ४१-४)।

स्रीकंवलाकंत—सं० पु० (सं० श्रीकमलाकांत)—विष्णु। (पा० प० १३०-१०)।

स्रीगोपाल—सं० पु० (सं० श्रीगोपाल)—विष्णु, कृष्ण, परमेश्वर। (पा० प० १२३-१)।

स्रीनरहरी—दे० 'श्रीनरहरि'। (पा० प० १२३-१)।

स्रीरंग—दे० 'श्रीरंग'। विष्णु। (पा० प० १०-८)।

स्रीरांमैं—सं० पु० (सं० श्रीराम)—श्री राम। (पा० प० ४६-७)।

स्रीहरि—दे० 'श्रीहरि'। (पा० प० १७३-१०)।

स्वर्ग—सं० पु० (सं०)—स्वर्ग। उ० मूंड़ मुडायें जौ सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़न पहुँती कोई। (प० १३२-३)।

स्वाँग—सं० पु० (सं० स्व+अंग)—भेस, रूप। उ० स्वाँग जती का पहरि करि, घरि घरि माँगै भीप। (सा० १-२७-२)।

स्वांग—भेस। उ० स्वांग पहरि सोरहा भया खाया पीया खूंदि। (सा० २४-१५-१)।

स्वांति (१)—सं० स्त्री० (सं०)—स्वाति नामक नक्षत्र। उ० सायर नाहीं सीप बिन, स्वांति बूंद भी नांहि। (सा० ५-८-१)।

स्वांति (२)—सं० स्त्री० (सं० शांति)—शांति। उ० स्वांति भई तब गोव्यंद जांनां। (प० १५-२)।

स्वांन—सं० पु० (सं० श्वान)—उ० सूकर स्वांन काग जौं भखिन, तामैं कहा भलाई। (प० ३११-४)।

स्वांनां—कुत्ता। उ० मूसै मंजार खायौ, स्यालि खायौ स्वांनां। (प० १६०-७)।

स्वांमीं—सं०पु० (स० स्वामी)—मालिक। उ० स्वांमीं हूंणा सोहरा, दोद्धा हूंणां दास। (सा० १७-३-१)।

स्वांमींपणौं—दे० 'स्वांमींपना'। प्रभुत्व। (सा० १७-२-२)।

स्वांमींपनां—सं० पु० (सं० स्वामित्व)—मालिकपन। (पा० सा० २१-४४-२)।

स्वाति—दे० 'स्वांति' (१) नक्षत्र। (पा० (सा० ६-१८-१)।

स्वाद—सं० पु० (सं० स्वादु)—मधुरता, अनुभव। उ० कबीर मन विकरैं पड़्या, गया स्वाद कै साथि। (सा० १३-१६-१)।

स्वादा—स्वाद। (पा० र० ४-४)।

स्वादि—मधुरता के कारण। उ० कोटि कर्म पल मैं करै, वहु मन विपिया स्वादि। (सा० १३-१८-१)।

स्वान—दे० 'स्वांन'। कुत्ता। उ० मानिष नहीं ते स्वान गति, वांध्या जमपुर जांहि। (सा० १८-३-२)।

स्वारथ—सं० पु० (सं० स्वार्थ)—स्वार्थ, अपना प्रयोजन। उ० विन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछांणि। (सा० २९-१५-२)।

स्वारथ बँधी—यौ० (सं० स्वार्थ + वद्ध)—स्वार्थ से वँधे हुए। उ० तेरा संगी को नहीं, सव स्वारथ वंधी लोइ। (सा० १२-५५-१)।

स्वारथि—दे० 'स्वारथ'। स्वार्थ। (पा० र० ५-६)।

स्वारथी—वि० (सं० स्वार्थिन्)-मतलवी। (पा० सा० १५-६२-२)।

ह

हंकार—सं० पु० (सं० अहंकार)—दे० 'अहंकार'। (पा० प० ३६-२)।

हंकारा—अहंकार। पा० प० १९७-३)।

हंकारी—वि० (सं० अहंकारिन्)—अहंकारी। (पा० प० १७०-५)।

हंकारू— हंकार। (पा० प० ७७-४)।

हंडिया—क्रि० अ० सं० अभ्यटन, प्रा० अह‌ट्टन, हि० हंडना)—घूम-फिरा, छ न वीन की। उ० कवीर सव जग हंढि [illegible], मदिल कंधि चढ़ाइ। (सा० ३७-१०-१)।

हंत - दे० 'हुंत'। (पा० सा० २८-७-२)।

हंदा—विभक्ति (राज०)—अर्थात् स्वामी के संकेत के द्वारा। उ० कोई घाइल वेध्या नां मिलै, सांई हंदा सैंण। (सा० ४३-१०-२)।

हंम—दे० 'हम'। उ० जाहि भावे सो आइल्यो, प्रेम ओट हंम कीन्ह। (सा० ४५-२२-२)।

हंस—सं० पु० (सं०)—हंस नाम का प्रसिद्ध पक्षी। उ० और पंखेरू पी गए, हंस न वोवै चंच। (सा० १६-३०-२)।

हंसड़ो-हस पक्षी। (सा० २८-१-नो०२)।

हंसणीं—स्त्री०—हंस की मादा, जीवात्मा। उ० सरवर तटि हसणीं तिसाई। (प० २९८-१)।

हंसन—हंसों। (पा० स० ४-१८-१)।

हंसहि हंस को, आत्मा को। (पा० प० ५७-८)।

हंसहि—हंस को, आत्मा को। उ० हंसहि हंस मिलांवहिगे। (प० १५०-८)।

हंसा—हंस प [illegible], जीव [illegible]। उ० सोंह हंसा एक मान काया के गुंण आंनहि आं [illegible]। ([illegible] ० ५३-१)।

हंसु—हंस। (पा० प० ६८-८)।

हंस्यौं—हंसों से (स० ४८-१ नो०४)।

हँसि हँसि—क्रि० अ० (हि० हँसना)—उ० हँसि हँसि कंत न पाइए, [illegible]नि पाया तिनि [illegible]इ। (स० ३-२९-१)।

हँसि वोलौं—हँस कर वोलूँ। उ० जे हँसि वोलौं औ सौं, तौं नील रँगाऊ दंत। (सा० ११-१-२)।

हँसै—प्रसन्न होकर दीख पड़ना। उ० हँसै न वोलै उनमनीं, चंचल मेल्ह्या मारि। (सा० १-६-१)।

हँसौं—हँसूं, प्रसन्न होऊँ। उ० जौ [illegible]ऊं [illegible] [illegible]ल घटै हँसौं तौ राम रिसाइ। (सा० ३-२८-१)।

हंसिहंसि— दे० 'हँसि हँसि'। पा० सा०

२-३८-१)।

हंसै—दे० 'हंसे'। (पा०सा० १-२२-१)।

हउं—दे० 'हौं'। मैं। (पा० प० ६-३)।

हक—सं० पु० (अ० हक)—सत्य, खुदा, ईश्वर। उ० कुकड़ी मारै बकरी मारै, हक हक करि बोलै। (प० ६२-७)।

हकारा—दे० 'हंकार'। उ० लागै लोभ न और हकारा (प० ४-२८)।

हक्क—दे० 'हक'। (पा० प० १८३-७)।

हज—सं० पु० (अ०)—मुसलमानों की मक्के की तीर्थ यात्रा। उ० क्या हज काबै जाइ। (सा० २२-११ १)।

हजरी—दे० 'हजारी'। उ० कातौंग हजरी का सूत। (प० १३-२)।

हजार—वि० (फा०)—सहस्र। अनेक। (पा० सा० १५-२७-१)।

हजारी—वि० (फा० हजार)—एक प्रकार का बहुमूल्य भीना वस्त्र। उ० भगति हजारी कपड़ा, तामैं मल न समाइ। (सा० २८-१३-१)।

हजूर—सं० पु० (अ० हुजूर)—बादशाह का दरबार। (पा० प० ८७-४)।

हजूरि—हजूर में, समक्ष में। उ० निर्मल कीन्हीं आतमां, ताथैं सदा हजूरि। (सा० १-३५-२)।

हट—सं० पु० (हि० हाट)—प्रपंच का बाजार। उ० जा दिन कृतमनां हुता, होता हट न पट। (सा० ५-२८-१)।

हटवाड़ा—वि० (हि० हटवार)—दूकानदार। उ० जग हटवाड़ा स्वाद ठग, माया वेसां लाइ। (सा० १६-१-१)।

हट्ट—सं० पु० (सं०)—बाजार। उ० पूरा किया बिसाहुणां, बहुरि न आँवौं हट्ट। (सा० १-१२-२)।

हठि—क्रि० अ० (हि० हठ)—हठ करके। उ० लुणैं खेत हठि बाड़ि करैं। (प० २४३-५)।

हठिल—वि० (हि० ह +इल(प्रत्य०)—हठी। (पा० प० १६-३)।

हड़—सं० पु० (सं० हड्ड)—हड्डी, अस्थि-पिंजर। उ० कबीर कहा गरबियौ, चांम पलेटे हड़ (सा० १२-११-१)।

हड़तां—क्रि० अ० (सं० अभ्यटन, हि० हंढ़ना)—ढूंढ़ने पर भी। (सा० १२-१६ -नो० २४)।

हड़हड़—क्रि०स० (अनु०)-हड़हड़ करके। उ० हड़हड़ हड़हड़ हसती है, दिवांनपनां क्या करती है। (प० १०६-१)

हणवंत—सं० पु० (सं० हनुमान्)—भक्त हनुमान। उ० हणवंत जागे ले लंगूर। (प० ३८७-५)।

हतै—क्रि० स० (सं० हत+ना)—वध करता है, प्रहार करता है उ० कबीर काजी स्वादि वसि, ब्रह्म हतै तब होइ। (सा० २२ ६-१)

हत्या—वध किया, नष्ट कर दिया। उ० हनि झूठै जीव हत्या गियांना (र० ३-६)।

हथ—दे०'हथ्थ'। (पा०सा० १६-१२-२)।

हथलेवा—सं०पु०(हि० हाथ लेना)—पाणि-ग्रहण। उ० हथलेवा हौसैं लिया, सकाल पड़ी पिछांणि। (सा० २४-२४-२)।

हथि—दे० 'हथ्थ'। हाथ में। (पा० प० १६३-८)।

हथियार—सं० पु० (हि० हथियाना)—तलवार आदि शस्त्र। (पा० सा० १-२२-२)।

हथियारा—हथियार। (पा०प० ५६-५)।

हथियारि—शस्त्र से, औजार से। उ० कहै कबीर भीतरि भिद्य सतगुर कै हथियारि। (सा० १-६-२)।

हथ्थ—सं०पु०(हि० हाथ)—हाथ में। उ० हीरै पड़ि गया हथ्थ। (सा० ५-३४-२)।

हद—सं० स्त्री० (अ०)—सीमा, सीमि। संसार। उ० हद बिन अनाहद सबद बागा। (प० १५८-६)।

हृदे—सीम । उ० हृदे छाडि वेहृदि गया, हुवा निरंतर वास । (सा० ५-५-१) ।

हृद्द—सीमा । (पा० सा० ९-२१-१) ।

हनि—क्रि० स० (सं० हनन)—मारकर, वध करके । (पा० चौ० र० ३२-१) ।

हनुमत—दे० 'हणवंत' । (पा० प० १०३-४) ।

हम—सर्व० (हि० मैं का बहुवचन)—हम, मैं (कभी-कभी) । उ० सतगुर हम सूँ रीझि करि, एक कह्या प्रसंग । (सा० १-३३-१) ।

हमकौं—हमको । (पा० प० १०६-२) ।

हमतैं—हमसे । (पा० प० ४४-१) ।

हमरा—हमारा । (पा० प० २३-१०) ।

हमरी—हमारी । (पा० प० १४३-३) ।

हमरै—हमारे । (पा० प० १५-८) ।

हमरौ—हमारा । (पा० प० ५३-७) ।

हमसूं—हमसे । (पा० प० १६५-१०) ।

हमसौं—हमसे । (पा० सा० १-२०-२) ।

हमस्यूं—हमसे । उ० कलियुग हमस्यूं लड़ि पड्या, मुहकम मेरा वाछ । (सा० १-५-२) ।

हमह—हमें, हमको । उ० इनके गुनह हमह का पकरौ, का अपराध हमारा । (प० २९२-५) ।

हमहिं—हमको । उ० सवही करि अलगा रहौं, सो विधि हमहिं वताइ । (सा० ५७-१-२) ।

हमहुं—हमको । (पा० प० १५९-४) ।

हमहूं—हमें । (पा० प० १६४-९) ।

हमैं—हमको । उ० आजक काल्हिक निस हमैं मारगि माल्हंतां । (सा० ४६-२-१) ।

हमवलू—सं०पु० (रहवर के तुक पर हमवर से अथवा अधीन)—साथी । उ० और हमारा हमवलू, गया कवीरा रूठि । (सा० १६-२९-२) ।

हमार—सर्व० (हि० हम)—हमारा । (पा० र० १९-८) ।

हमारा—मेरा, हमारा । उ० और हमारा हमवलू, गया कवीरा रुठि । (सा० १६-२९-२) ।

हमारी—स्त्री०—हमारी । (पा० सा० १६-३४-२) ।

हमारे—मेरे, हमारे । उ० नैन हमारे जलि गए छिन छिन लोड़ैं तुझ । (सा० ३-४२-१) ।

हमारै—हमारे । (पा० प० १-१) ।

हर—वि० (फा०)—प्रत्येक । (पा० प० ८७-१) ।

हरखिऐ—क्रि० अ० (हि० हरखना से)—हर्षित होइए । (पा० प० ८२-६) ।

हरखि—हर्षित होकर । (पा० सा० ७-१०-२) ।

हरखिया—हर्षित हुआ । (पा० सा० १४-१७-२) ।

हरणी—सं० स्त्री० (सं० हरिणी)—मादा हिरन । (सा० ६-२१-नो० ३८) ।

हरत—क्रि० स० (हि० हरना)—हरते हुए, लूटते हुए । उ० हरत इहांही हारिया परति पड़ी मुखि धूल । (सा० १२-३२-२) ।

हरता—सं० पु० (सं० हर्तृ)—हरण करने वाला । उ० सापित कै तूं हरता करता, हरि भगतन कै चोरी । (प० १८७-७) ।

हरदी—सं० स्त्री० (सं० हरिद्रा)—हलदी । (पा० सा० २०-३-१) ।

हरनाकस—सं० पु० (सं० हिरण्यकशिपु)—विष्णु विरोधी दैत्यराज जो प्रह्लाद का पिता था । (प० ३७९-१०) ।

हरम - सं० पु० (अ०)—अंतःपुर, जनानखाना । उ० भीतरि वीवी हरम महल मैं, साल मिया का डेरा । (प० २३८-८) ।

हरषि—दे० 'हरिख' । (प० २८१-४) ।

हरषियाँ—क्रि० अ० (हि० हरखना)—हर्षित होता है । उ० पद गोएं मन

हरषियाँ, साषी कह्यां अनंद। (सा० १८-४-१)।

हरहाई—दे० 'हरिहाई (१)'। (पा० सा० २१-१८-२)।

हरास—(१) वि० (अ०)—निषिद्ध वस्तु। उ० खांहि हलाल हरांम निवारैं, भिस्त तिनहु कौं होई। (प० १०२-७)।
(२) सं० पु० (अ०)—बेईमानी, पाप। (पा० सा० ३१-११-१)।

हरांम करै—(मुहा०)—मुश्किल कर देती है। (सा० १६-८-२)।

हरांमीं—वि० (अ० हराम+ई)—दुष्ट, पाजी। (पा० प० ६३-५)।

हरि—सं०पु० (सं०)-भगवान, परमात्मा। उ० ज्यूँ हरि राखै त्यूँ रहौं, जो देवै सो खाउँ। (सा० ११-१५-२)।

हरिआई—क्रि० अ० (हि० हरिआना)—हरा रहता हूँ, ताजा रहता हूँ। उ० पठए न जांऊं अरवा नहीं आंऊं, सहजि रहूं हरिआई हो। (प० ५०-५)।

हरिकहीं—(हि० हरकहीं=सर्वत्र)—सब कहीं। उ० खालिक हरिकहीं दरहाल। (प० २५८-१)।

हरिख—सं० पु० (सं० हर्ष)—आनंद। उ० हरिख आहि जौ रमियैं रांमां, और सबै विसमा के कांमां। (र० ३-६८)।

हरिजन—सं० पु० (सं०)—भगवद्भक्त। उ० हरि जी सबाँन को हितू हरिजन संई न जाति। (सा० १-१-२)।

हरिदीदार—सं० पु० (सं० हरि+दीदार)—हरिदर्शन। उ० दुर्लभ हरि दीदार। (सा० २-२७-२)।

हरिनांम—सं० पु० (सं० हरिनामन्)—हरि का नाम। (पा० प० ७३-६)।

हरिनि-दे० 'हरणी'। (पा० प० १३७-३)।

हरिनीं—दे० 'हरणी'। (पा० सा० ६-३-१)।

हरियल्—दे० 'हरियल'। (पा० सा० १३-१-१)।

हरियल—वि० (सं० हरित)—हरा, हरी। उ० दिवस चारि की है पतिसाही ज्यूं बनि हरियल पात। (प० ४००-४)।

हरिया—वि० (सं० हरित)—हरी, हरी-भरी। उ० आगैं आगैं दौं जलैं, पीछैं हरिया होइ। (सा० ५८-२-१)।

हरियारैं—दे० 'हरियालैं'। (पा० सा० १६-३-१)।

हरियालैं—वि० (सं० हरित+आलि)—हरे-भरे। (सा० ४६-२१-नो०३८)।

हरिरस—सं० पु० (सं०)—भगवद्भक्ति। (सा० ४०-५-१)।

हरिषिहरषि—क्रि० अ० (सं० हर्षण)—खुश हो होकर। उ० हरि जैसा है तैसा रहो, तूं हरिषि हरषि गुण गाइ। (सा० ८-२-२)।

हरिसनां—सं० पु० (सं० हरि+सनां)—हरि से)—उ० कैसैं होइगा मिलावा हरि सनां। (प० २६-१)।

हरिहाई (१)—वि० (हि० हरकना से)—हरहट, जो बार-बार खेत चरने इधर-उधर भागे। उ० रज दुवारां यौं फिरे, ज्यूं हरिहाई गाइ। (सा० १७-६-२)।

हरिहाई (२)—सं० स्त्री० (हि० हरहा से)—हरहरी, मनमानी उ० दिन प्रतिपसू करै हरिहाई। (प० १३६-३)।

हरी—वि० (सं० हरित, प्रा० हरिअ)—हरा-भरा, फुल्लित। उ० अंतरि भीगी आत्मां, हरी भई बनराइ। (सा० १-३४-२)।

हरुए—दे० 'हलके'। पा० सा० १५-२७-२)।

हरुवा—दे० 'हलका'। (पा० सा० ७-६-१)।

हरे—क्रि० स० (सं० हरण)—हरण किए, छीने। उ० सहसबांह के हरे परांण, जरजोधन घाल्यौ खैं मांन। (प० ३४०-१३)।

हलका—वि० (सं० लघुक, प्रा० लघुअ, विपर्यय हलुअ, हि० हरुअ)—हलका, कम वजन का। उ० भारी कहौं तवहु डरौं, हलका कहूँ तौ भूठ। (सा० ८-१-१)।

हलके हलके—वि० (दे० 'हलका')—खाली, हलके। उ० हलके हलके तिरि गये, वूड़े तिनि सिर भार। (सा० १२-६२-२)।

हलद—सं० स्त्री० (सं० हरिद्रा)—हलदी। (प० २२६-४)।

हलद चढ़ाई—सं० स्त्री० (सं० हरिद्रा)—हलदी चढ़ाना, विवाह के पहले उवटन लगाने की क्रिया। (प० २२६-४)।

हलदि—दे० 'हलद'। (पा० प० १०९-४)।

हलाल—वि० (अ०)—विधि विहित जायज। उ० जोरी करि जिवहै करैं, कहते हैं ज हलाल। (सा० २२-८-१)।

हलाहल—सं० पु० (सं०)—महाविष। उ० कवीर मूल निकंदिया, कौंण हलाहल खाइ। (सा० २३-९-२)।

हलूर—सं० स्त्री० (हि० हलना से अनु० हलहल)—हिलोर, तरंग। उ० पांणी नीर हलूर ज्यूं, हरि नाव विना अपवाद। (प० २९६-२)।

हवा—सं० स्त्री० (अ० हौवा)—पैगंवरी मत के अनुसार सवसे पहली आई स्त्री। उ० मां मां हवा कहां कैं आई। (र० ५-१३)।

हवाल—सं० पु० (अ० अहवाल)—हाल, दशा, गति। उ० जव दफतर देखैगा दई, तव ह्वैगा कौंण हवाल। (सा० २२-८-२)।

हसंत हसंत—क्रि० अ० (हि० हँसना)—हँसते-हँसते। उ० केते अजहूँ जाइसी, नरकि हसंत हसंत। (सा० २०-१३-२)।

हसणां—क्रि० अ० (हि० हँसना)—प्रसन्न होना। उ० कवीर हसणां दूरि करि, रोवण सौं चित्त। (सा० ३-२७-१)।

हसती—सं० पु० (सं० हस्तिन्)—हाथी। उ० मूसा हसती सौं लड़ै, कोई विरला पेपै। (प० १६१-२)।

हसती है—क्रि० अ० (हि० हँसना)—प्रसन्न होती है। उ० हड़ हड़ हड़ हड़ हसती है, दिवांनपनां क्या करती है। (प० १०७-१)।

हसि—क्रि० अ० (हि० होना)—है। उ० इव तूं हसि प्रभू मैं कुछ नांही। (प० ६५-१)।

हस्त—सं० स्त्री० (फा० हस्ती)—अस्तित्व, सत्त। उ० हस्त लोक अरु मैं तैं वोली। (प० ६०-२)।

हस्ति—सं० स्त्री० (सं०)—हथिनी। (पा० प० ९७-४)।

हस्ती—सं० पु० (सं० हस्तिन्)—हाथी। उ० गुरु प्रसाद सूई कै नांकै हस्ती आवै जांहीं। (प० १०-८)।

हहि—क्रि० अ० (हि० होना)—है। (पा० प० ३८-४)।

हांकि—दे० 'हाकि'।–(पा० प० १२१-६)।

हांकै—हाँकता है। (पा० प० १३८-५)।

हांठत—क्रि० अ० (सं० मण्डन, हि० हांडना)—व्यर्थ भटकते फिरते हैं। (सा० ४१-१ नो० १)।

हांड़ी—दे०'हाँड़ी'। (पा०सा० १५-१८-२)

हाँड़ीं—सं० स्त्री० (हि० हँडिया)—हँडिया। उ० काया हाँडी काठ की। (सा० १२-३१-२)।

हांणि—सं० स्त्री० (सं० हानि)—नुकसान, अनिष्ट। उ० पड़ोसी सू रूसणां, तिल तिल सुख की हांणि। (सा० १७-१२-१)।

हांनि—दे० 'हाणि'। (पा० प० २१-४)।

हांम—सं० पु० (काम के अनु० हांम)—काम हाम। (पा० प० १७०-५)।

हांसी खेलौं—(यौ०)-(हि० हंसी+खेल)—हँसी खेल में ही। उ० हांसी खेलौं हरि मिलै, तौ कौण सहै परसान। (सा० २-३०-१)।

हाँसेंही—क्रि० अ० (हि० हँसना)—हँस कर। उ० जो हाँसेंही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागनि कोइ। (सा० ३-२९-२)।

हाकि—क्रि० स० (हि० हाँक+ना (प्रत्य०)—वलपूर्वक हटा दिया, हाँक दिया। उ० कांम क्रोध लोभ मोह, हाकि स्यावज दीन्हां। (प० २१०-६)।

हाकिम—सं० पु० (अ०)—बड़ा अफसर, शासक। (पा० प० ९५-८)।

हाकिमा—हाकिम। (पा० प० १५२-९)।

हाजिर—वि० (अ० हाजिर)-विद्यमान, मौजूद। उ० है हाजिर परतीति न आवै, सो कैसैं परताप धरै। (प० १८३-४)।

हाट—सं० पु० (सं० हट्ट)—बाजार। उ० इत प्रघर उत घर, बणजण आये हाट। (सा० १२-५७-१)।

हाटि—बाजार में। उ० कबीर माया पाषणीं, फंध ले बैठी हाटि। (सा० १६-२-१)।

हाटै—बाजार में। (पा० सा० १९-३-२)।

हाड़—स० पु० (सं० हड्ड)—हड्डी, अस्थि-पिंजर। उ० हाड गला माटी गली, सिर साटैं ब्यौहार। (सा० ४५-२८-२)।

हाड़ि—हड्डी में। उ० पांहण टांकि न तौलिए, हाडि न कीजै वेह। (सा० २६-५-१)।

हाथ—सं० पु० (सं० हस्त)—हाथ। उ० हाथ झाड़ि जैसें चले जुवारी। (प० ९८-६)।

हाथ थैं—हाथ से। उ० हीरा खोया हाथ थैं, जनम गँवाया बादि। (सा० २०-१८-२)।

हाथि—हाथ से, हाथ में। उ० पाँइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपणै हाथि। (सा० १२-४३-२)।

हाथौं—हाथ से। (पा० सा० ३-२३-२)।

हाथ झाड़ि चले—(मुहा०)—खाली हाथ, सब खोकर। उ० हाथ झाड़ि जैसें चले जुवारी। (प० ९८-६)।

हाथि दे—क्रि० स० (सं० हस्त+देना)—पाकर, छूकर। उ० लोभ मिठाई हाथि दे, आपण गया भुलाइ। (सा० ३-३१-२)।

हाथी—सं० पु० (सं० हस्तिन्)—हाथी। उ० कहा भयो दरि बांधे हाथी। (प० ९८-५)।

हाथूं—सं०पु० (हि० हाथ)—(१) पास में ही। उ० हरि-सुमिरण हाथूं घड़ा, वेगे लेहु बुझाइ। (सा० २-३२-२)।

(२) हाथ लेकर। उ० नागे हाथूं ते गये, जिनकै लाख करोड़ि। (सा० १२-३७-२)।

हाबड़ि घाबड़ि—क्रि० वि० (अनु० हड़-बड़)—जल्दी-जल्दी, उतावली से। उ० हावड़ि वावड़ि जनम गवावै। (प० २३९-१)।

हार—सं० पु० (सं०)—माला। उ० सुहागनि गलि सोहै हार, संतनि बिख बिलसै संसार। (प० ३७०-४)।

हारहिं—क्रि० अ० (सं० हार)—पराजित होते हैं। (पा० प० ८८-८)।

हारि गये—क्रि० स० (हि० हारना से)—सफलतापूर्वक पूरा न कर सके। उ० एकै हरि ने नाँव बिन, गए जन्म सब हारि। (सा० १२-२-२)।

हारिया—क्रि० अ० (हि० हारना)—हार गये। उ० हरत इहां ही हारिया, परति पड़ी मुखि धूल। (सा० १२-३२-२)।

हारचा—पराजित हुआ। उ० जे हारचा तौ हरि सवाँ, जे जीत्या तो डाव। (सा० ४५-३० १)।

हारचौ—हारा। (पा० प० ९८-७)।

हारी—वि० (सं० हारिन्)—हरण करने वाला। (पा० प० ४०-९)।

हारे—क्रि० स० (हि० हारना से)—पराजित हो गए। उ० अति अभिमांन वदत नहीं काहू, बहुत लोग पचि हारे। (प० ३९६-४)।

हारै—हार जाता है। (पा० र० ८-२)।

हारौं—पराजित हुआ। (पा० सा० १४-२१-१)।

हारौ—हारा हुआ है। (पा० प० ७१-७)।

हाल (१)—सं० पु० (अ०)—दशा, दुर्दशा, अवस्था। उ० इक दिन ह्वैहै हाल हमारा। (प० ६३-८)।

हाल (२)—दे० 'हाल'। (प० २५८-१)।

हाला—सं० स्त्री० (हिं० हालना)—कंपन, हिलने का भाव। उ० वहु विधि सिप्टि रची दर हाला। (र० ५-५८)।

हाली—वि० (हिं० हालना से)—हिलने-डोलने वाली। (सा० १२-३२-नो०४२)।

हालै—क्रि० अ० (सं० हल्लान, हिं० हालना)—झूमती हिलती है। उ० वो हालै वो चीरिये, साषित संग न वेरि। (सा० २५-४-२)।

हासी—सं० स्त्री० (हिं० हँसना, हँसी)—मजाक, उपहास। उ० साची प्रीति विषै माया सूं, हरि भगतनि सूं हासी। (प० ४०-७)।

हाहा—अव्य० (सं०)—शोक या दुःख-सूचक शब्द। उ० हाहा करते ते मुए, कासनि करौं पुकार। (सा० ४६-३१-२)।

हिंडोल—सं० पु० (सं० हिन्दोल)—हिंडोला। उ० दोऊ कुल हम आगरी, जो हम झूलैं हिंडोल। (प० १८-८)।

हिंडोलनां—हिंडोला। उ० हिंडोलनां तहां झूलै आतम रांम। (प० १८-१)।

हिंदू—सं० पु० (फा०)—हिंदू धर्मावलम्बी। उ० हिंदू मूये रांम कहि, मुसलमान खुदाइ। (सा० ३१-७-१)।

हिए—सं० पु० (सं० हृदय)—दिल, हृदय। (पा० र० १६-६)।

हिकमति—सं० स्त्री० (अ० हिकमत)—कला-कौशल, निर्माण की बुद्धि। उ० या करीम वलि हिकमति तेरी। (प० ६३-१)।

हिचहि—क्रि० अ० (सं० हिक्का)—हिचकता है, संकोच करता है। (पा० प० ८१-४)।

हिंडौ—दे० 'हिंडोल' (१)। हिंडोला। उ० छीकौ छोड़ि उपर हिडौ बांधौ, ज्यूं जुगि जुगि रहौ समाइ। (प० २२-४)।

हित—सं० पु० (स०)—प्रेम, स्नेह। उ० कबीर हट के जीव सूं, हित करि मुखां न बोलि। (सा० १२-५०-१)।

हितकारी—वि० (सं० हितकारिन्)—लाभदायक। उ० गयांनीं सूं वोल्यां हितकारी। (प० ६७-४)।

हिति—वि० (सं० हित+इ [प्रत्य०])—मित्र, खैरख्वाह। उ० हिति चनकी द्वै थूंनी गिरांनी, मोह वलींडा तूटा। (प० १६-६)।

हितु— दे० 'हितू'। (पा० प० ६७-१)।

हितू—सं० पु० (सं० हित)—भलाई चाहने वाला, दोस्त, सम्बन्धी। उ० कबीर सिरजनहार विन, मेरा हितू न कोइ। (सा० ५६-२-१)।

हिम—सं० पु० (सं०)—बर्फ़। उ० पांणीं ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया विलाइ। (सा० ५-१८-१)।

हिय—सं० पु० (सं० हृदय, प्रा० हिअअ)—हृदय, दिल। (पा० र० १६-३)।

हियांहि—हृदय में। (पा० सा० २-४६-२)।

हियांहि—हृदय में। उ० जे लोइण लोहीं चुवै, तौ जांणै हेत हियांहि। (सा० ३-२६-२)।

हिया—हृदय में। (पा० सा० २२-७-१)।

हियाली—सं० स्त्री० (हिं० हिय+रा)—हृदय में, मन में। उ० कबीर तास मिलाइ, जास हियाली तूं वसै। (सा० २८-१०-१)।

हिरदा—सं० पु० (सं० हृदय)—हृदय, अंतःकरण। उ० हिरदा भीतरि हरि वसै, तू ताही सौं ल्यौ लाइ। (सा० २३-११-२)।

हिरदैं—दे० 'हिरदै'। (पा० प० ८४-७)।

हिरदै—सं० पु० (सं० हृदय)—हृदय में। उ० कर सेती माला जपै, हिरदै वहै डंडूल। (सा० २४-१-१)।

हिरनांकस—दे० 'हरनाकस'। (पा० प० २६-१०)।

हिरांनां—क्रि० अ० (सं० हरण, हि० हिराना)—जाता रहा, खो गया। उ० लोह कारनि रे सब मूल हिरांनां। (प० २३४-८)।

हिराइ—क्रि० अ० (सं० हरण, हि० हिराना)—खो गया, लीन हो गया। उ० हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ। (सा० ७-३-१)।

हिलमिल—दे० 'हिलमिलि'। (पा० सा० ७-४-२)।

हिलमिलि—(मुहा०)-मेलजोल के साथ होकर, एक जी होकर। उ० हौं जांनूं जे हिलमिलि खेलूं, तन मन प्रांन समाइ। (प० ३०६-३)।

हिलिमिलि ह्वै करि—(मुहा०)—परस्पर गहरे मित्र होकर। उ० हिलिमिलि ह्वै करि खेलिस्यूं, कदे बिछोह न होइ। (सा० ५६-१-२)।

हीं—प्रत्य०-से। उ० पांणी हीं तैं पातला धूंवां ही तैं भीण। (सा० १३-१२-१)।

हींगला—दे० 'हींगलू'। (पा० सा० २५-२-२)।

हींगलू—सं० पु० (सं० हिंगुल)—इंगुर। उ० बाहरि ढोल्या हींगलू, भीतरि भली मँगारि। (सा० २४-७-२)।

हींन—वि० (सं० हीन)—निकृष्ट, रहित, तुच्छ। (पा० प० ४६-३)।

ही—अव्य० (सं० हि)—शीघ्रताबोधक, बलात्मक। उ० लागत ही मैं मिल गया, पड़्या कलेजै छेक। (सा० १-७-२)।

हीरां—दे० 'हीरा'। उ० जबर मिलैगा पारिषू, तब हीरां की साहि। (सा० ४६-३-२)।

हीरा—सं० पु० (सं० हीरक)—हीरा, बहुमूल्य पत्थर, मोक्ष। उ० हीरा खोया हाथ थैं, जनम गंवाया बादि। (सा० २०-१८-२)।

हीरू—हीरा। उ० जनमत हीरू कहा ले आयो, मरत कहा ले जासी। (प० २५३-३)।

हीरे—हीरा। उ० तौ मुख तैं मोती झड़ैं, हीरे अंत न पार। (सा० ३४-८-२)।

हीरै—अनमोल रतन, आत्मा। उ० तौ हीरै हीरा कैसैं बेधै। (प० २०२-१०)।

हुँत—प्रत्य० (प्रा० विभक्ति, हि० तो)—द्वारा, जरिये से। उ० कोई एक मेलै लवणि, अमीं रसांइण हुँत। (सा० ३३-७-२)।

हुआ—क्रि० अ० (हि० होना)—हो गया। उ० विषै कर्म की क्वंकुली, पहरि हुआ नर नाग। (सा० २०-२१-१)।

हुए—हो गए। (पा० प० १६२-९)।

हुता—(होना क्रिया का पुरानी अवधी का रूप)-था। उ० जा दिन कृत मनां हुता, होता हट न पट। (सा० ५-२८-१)।

हुतासन—सं० पु० (सं० हुताशन)-अग्नि, पंचाग्नि। उ० कहा विभूति जटा पट बाँधें, काजल पैसि हुतासन साधें। (प० २७९-४)।

हुवां—होने से ही। उ० काइर हुवां न छूटिये, कछु सूरा तन साहि। (सा० ४५-१-१)।

हुवा—हुआ। उ० हदे छाड़ि बेहदि गया, हुवा निरंतर बास। (सा० ५-५-१)।

हूआ—होवे। (पा० प० ६०-५)।

हूवा—हुआ। उ० स्वांमीं हूवा सीत का, पैकाकार पचास। (सा० १७-४-१)।

हुरमति—सं० स्त्री० (अ० हुरमत)—इज्जत, मान। उ० कहै कबीर बाप राम राया, हुरमति राखहु मेरी। (प० २६१

-१०) ।

हुलसै—क्रि० अ० (हि० हुलास+ना (प्रत्य०)—उल्लास में आ जाता है। उ० नैन नेह पतंग हुलसै, पसू न पेखै आगि। (प० २४५-५) ।

हुलास—सं० पु० (सं० उल्लास)—उमंग, उत्साह । (पा० सा० २५-१८-१) ।

हुसकां—सं० पु० (?)—आड़े, बहाने । उ० भिस्त हुसकां दोजगां, दुंदर दराज दिवाल । (प० २५८-३) ।

हूं (१)—सर्व (सं० अहम्)—अपनापन, अहंकार। उ० तूं तूं करता तूं भया, मुझ मैं रही न हूँ । (सा० २-९-१) ।

हूं (२)—अव्य० (वलात्मक)—हीं । (पा० प० ७३-६) ।

हूंण—क्रि० अ० (हि० होना)—होने । उ० हूंण न देइ हरि के चरन निवासा । (प० ८२-२) ।

हूंण न देइ—(मुहा०)—होने नहीं देता । (प० ८२-२) ।

हूंणां—होना, वन जाना । उ० स्वामीं हूंणा सोहरा, दोद्धा हूणां दास । (सा० १७-३-१) ।

हूंणा—होना । (सा० १७-३-१) ।

हूंहि—दे० 'हूंहि' । उ० दरोगां वकि वकि हूंहि खुसियां, वे-अकलि वकहि पुमांहि । (प० २५७-७) ।

हूंहि—क्रि० अ० (हि० होना)—होते हैं । उ० जन्म मरन थैं तौ तूं छूटै, सुफल हूंहि सव कांमां । (प० ३९-६) ।

हू—दे० 'हूं' । (पा० प० १०५-७) ।

हूण—मैंवासा भाजै नहीं हूण मतै निज दास । (सा० २४-२५-२) ।

हूती—वि० (हि० होना)—होने वाली, रहने वाली । उ० भीतरि हूती वसत न जांणैं । (प० ४२-७) ।

हृदय—सं० पु० (सं०)—दिल, कलेजा । (पा० प० १४९-१०) ।

हे—अव्य० (सं०)—सम्वोधनसूचक शब्द । उ० भाग तिन्हीं का हे सखी, जिहि घटि परगत होइ । (सा० २९-१८-२) ।

हेत—सं० पु० (सं० हित)—लगाव, अनुराग, स्नेह । उ० सेवैं सालिगरांम कूं, माया सेती हेत । (सा० २३-७-१) ।

हेतु—सं० पु० (सं०)—कारण, वजह । (पा० प० १५४-४) ।

हेरत हेरत—क्रि० स० (सं० आखेट, हि० हेरना)—पता लगाते लगाते । उ० हेरत हेरत हे सखी, रह्या कवीर हिराइ । (सा० ७-३-१) ।

हेराजाइ—क्रि० स० (हि० हेरना+जाना) —ढूंढ़ा जाय । (पा० सा० ८-७-२) ।

हेरी जाइ—ढूंढ़ी जाय । उ० बूंद समानी समद मैं, सो कत हेरी जाइ । (सा० ७-३-२) ।

हेरचा जाइ—हेरा जाय, ढूंढ़ा जाय । उ० समंद समाना बूंद मैं, सो कत हेरचा जाइ । (सा० ७-४-२) ।

हेला—सं० पु० (हि० हल्ला)—धावा, आक्रमण । उ० हेला करै निसांनैं घाऊ, झूझ परै तहां मनमथ राऊ । (र० ५-४६) ।

हैं—दे० 'है' । हैं, मौजूद हैं । उ० अव हरि हैं मैं नांहि । (सा० ५-३५-१) ।

हैंवर—सं० पु० (सं० हमवर)—श्रेष्ठ घोड़ा । उ० हैंवर ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देवा खड़ । (सा० १२-११-२) ।

है (१)—क्रि० अ० (हि० होना)—है, हैं । उ० कवीर भया है केतकी, भवर भये सव दास । (सा० ३०-११-१) ।

है (२)—सं० पु० (सं० हय)—घोड़ा । उ० है गै गैवरसघन घन छत्र धजा फरराइ । (सा० ३०-४-१) ।

हैरान—वि० (अ०)—तंग परेशान । उ० हैरान की अं । (सा० ९-शीर्षक) ।

हैवर—दे० 'हैंवर' । श्रेष्ठ घोड़ा । (पा० (सा० १५-२४-२) ।

हो—अव्य० (सं० हे)—सम्वोधन सूचक ।

(पा० प० १५-८)।

होइ—क्रि० अ० (सं० भवन्, प्रा० होन, हि० होना)—होता है, होकर, होवे। उ० कबीर सूता क्या करे, सूताँ होइ अकाज। (सा० २-१५-१)।
गुण गावै लै लीन होइ, कछू एक मन मैं और। (सा० १३-४-२)।
लेखा देणां सोहरा, जे दिल साँचा होइ। (सा० २२-२-१)।

होइके—होकर। (पा० सा० २०-७-२)।

होइगा—होगा। उ० राम कहैं भला होइगा, नहिं तर भला न होइ। (सा० २-१-२)।

होइगी—होगी। उ० खरी बिगूचनि होइगी, लेखा देती बार। (सा० २२-१-२)।

होइहै—होगा। (पा० प० ८२-३)।

होई—होता है। (पा० प० १४-३)।

होत—होता है। (पा० प० १५-५)।

होता—था। उ० धरती गगन पवन नहीं होता। (सा० ५२७-१)।

होती—हो जाती। उ० भली भई जु गुर मिल्या, नहीं तर होती हांणि। (सा० १-१६-१)।

होतुहै—होता है। (पा० सा० ४-७-१)।

होते—(१) हो जाते। उ० हम भी पांहन पूजते, होते रन के रोझ। (सा० २३-४-१)।
(२)—थे। उ० आप सरीखे करि लिए, जे होते उन पास। (सा० २८-७-२)।

होन—होने। (पा० प० १५६-२)।

होनां—हो जाना। (पा० प० ८२-३)।

होनीं—होनी है। (पा० प० ६०-५)।

होवै—होता है। (पा० प० ८४-४)।

होसी—होता है। (पा० सा० ४-१६-२)।

होह—हो जाओ। स्वीकार कर लो। उ० ज्यूं भावै त्यूं [illegible] हमारे। (प० ३-२)।

होहिं—हो जाते हैं। (पा० र० २०-२)।

ह्वै—हो जाता है। उ० देखैं हीं तन प्रजलै, परस्यां ह्वै पैमाल। (सा० २०-१२-२)।

ह्वै—होकर। (पा० प० १३-४)।

ह्वैगा—होगा। उ० जब दफतर देखैंगा दई, तब ह्वैगा कौंण हवाल। (सा० २२-८-२)।

ह्वै जाइ—हो जाए। उ० कबीर मारूं मन कूं, टूक टूक ह्वै जाइ। (सा० १३-५-१)।

ह्वै रह्या—हो रहा है, हो गया है। उ० अब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि। (सा० २-८-२)।

ह्वैला—होता है। उ० गंगा मैं जे नीर मिलेगा, बिगरि बिगरि गंगोदिक ह्वैला। (प० २७४-५)।

ह्वैसी—हो जाएगा। उ० ह्वैसी आटा लूंण ज्यूं सोना सँवा सरीर। (सा० १२-४८-२)।

ह्वैहै—हो जाएगा। उ० बेगि छाड़ि पछिताइगा, ह्वैहै मूरति भंग। (प० २०-६-२)।

होइमहोइ—(मुहा०)—जो कुछ हो जाए। उ० साधैं सिधि ऐसी पाइये, किंवा होइम होइ। (प० ५-६)।

होरी—सं० स्त्री० (सं० होलिका)—होली का त्यौहार। (पा० प० १४४-१)।

हौं—सर्व० (सं० अहम्)—मैं। उ० नैनां अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झँपेउं। (सा० ११-२-१)।

हौंस—सं० स्त्री० (अ० हवस)—लालसा, प्रबल इच्छा। उ० क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन मांहि। (सा० १-४-२)।

हौंसैं—हौंस के साथ, उमंग के साथ। उ० हथलेव हौंसैं लिया मुसकाल पड़ी पिछांणि। (सा० २४-२४-२)।

हौ—क्रि० अ० (हि० होना)—हो। (पा० प० ५४-३)।

हौवा—दे० 'हवा'। पहली स्त्री। (पैगम्बरी मत के अनुसार)। (पा० र० ५-१)।